सुख पदों ... भाष्य ... है।

सम्पादक

राजनाथ शर्मा, एम० ए०

पुस्तक ...

जो जन ऊधौ मोहिं न बिसारत, तिहिं न बिसारों एक घरी।
मेटौं जनम जनम के संकट, राखों सुख आनन्द भरी॥
जो मोहिं भजै भजौं मैं ताकौं, यह परिमिति मेरे पाइँ परी।
सदा सहाइ करौं वा जन की, गुप्त हुती सो प्रगट करी॥
ज्यों भारत भरुहो कै अण्डा, राखे गज के घंट तरी।
सूरज़दास ताहि डर काकौ, निसि बासर जौ जपत हरी॥
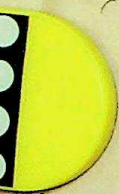
सूर प्रणीत

भ्रमर गीत-सार

[भ्रमर गीत के प्रमुख पदों का संक[illegible] विशद भाष्य सहित]

सम्पादक

राजनाथ शर्मा, एम० ए०

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

परम श्रद्धेय गुरुवर

पंडित जगन्नाथ तिवारी

को सादर

जिनके चरणों में बैठकर साहित्य का

रूप समझा और गुना था।

गुरुदेव!

इसी को अपने अकिंचन शिष्य

की गुरु-दक्षिणा समझकर

स्वीकार करें।

—राजनाथ शर्मा

अपनी बात

'भ्रमरगीत' सूरकृत 'सूरसागर' का सर्वाधिक कलापूर्ण, सरस और हिन्दी-साहित्य में प्रसिद्ध भ्रमरगीत-परम्परा का जनक माना जाता है। सूर ने श्रीमद्भागवत में वर्णित उद्धव-गोपी-सम्वाद के संक्षिप्त से नीरस प्रसंग को अपनी सर्वथा मौलिक उद्भावनाओं द्वारा अत्यन्त विस्तृत रूप प्रदान कर उसे हिन्दी-साहित्य का एक ऐसा प्रसंग बना दिया है जो भविष्य में शताब्दियों तक इसी प्रकार लोकप्रिय बना रहेगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'सूरसागर' में बिखरे हुए 'भ्रमर गीत' के सैकड़ों पदों में से लगभग चार-सौ पदों का संग्रह कर उन्हें 'भ्रमर गीत सार' के नाम से सम्पादित किया था। साथ में उन्होंने कठिन शब्दों से सम्बन्धित टिप्पणियाँ तथा अर्थ भी दे दिये थे।

शुक्लजी द्वारा सम्पादित उपर्युक्त 'भ्रमरगीत सार' का अध्ययन करते समय उसकी कुछ न्यूनताएँ खटकीं। एक तो सम्पादन करते समय उन्होंने भ्रमरगीत-प्रसंग की कथा के क्रम का निर्वाह करने की ओर ध्यान नहीं दिया। इसका कारण शायद यह रहा हो कि 'सूरसागर' के जितने भी प्रकाशित संस्करण मिलते हैं, उनमें भी कथा-क्रम के निर्वाह की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। और शुक्लजी ने उन संस्करणों में उपलब्ध पद-क्रम के अनुसार ही उनका सम्पादन कर दिया हो। परन्तु यदि कथा-क्रम के निर्वाह की ओर पर्याप्त ध्यान दिया जाता तो इस त्रुटि से बचा जा सकता था। हमने प्रस्तुत ग्रंथ में कथा-क्रम के निर्वाह का भरसक प्रत्यन किया है, फिर भी कुछ त्रुटियाँ रह ही गयी हैं।

'भ्रमरगीत-प्रसंग से सम्बन्धित कुछ पद 'सूरसागर' में ऐसे मिलते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि गोपी-उद्धव-सम्वाद समाप्त हो गया है, उद्धव मथुरा लौट चुके हैं और बहुत दिनों से प्रियतम कृष्ण का कुछ भी समाचार न मिलने के कारण गोपियाँ बहुत व्याकुल और त्रस्त हो रही हैं। परन्तु ऐसे पद संख्या में दो-चार ही हैं। दूसरी बात यह कि गोपियाँ बार-बार कुब्जा पर आक्षेप कर कृष्ण के गोकुल न लौटने में कुब्जा का ही प्रमुख हाथ मानती हैं। हमने इस प्रसंग को अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ पद ऐसे भी संगृहीत कर दिये हैं, जिनमें उद्धव के गोकुल जाने का समाचार [illegible]

कुब्जा उन्हें अपने महल में बुलाती है और उनसे आग्रह करती है कि वह उसका सन्देश भी गोपियों तक पहुँचा दें। ये पद कुब्जा की स्थिति को स्पष्ट कर देते हैं। इसके अतिरिक्त हमने उद्धव के मथुरा से प्रस्थान करने तथा गोकुल पहुँचने से सम्बन्धित कुछ पदों का भी संग्रह कर दिया है। साथ ही कृष्ण-उद्धव-सम्वाद द्वारा कृष्ण और उद्धव के भिन्न उद्देश्यों को स्पष्ट करने वाले कुछ पद भी सम्मिलित कर दिये हैं। और अन्त में एक ऐसा पद, जो 'सूरसागर' में संगृहीत 'भ्रमरगीत-प्रसंग' का अन्तिम पद है, इस संग्रह में जोड़ दिया है, जो कृष्ण के मुख से ही भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर रहा है।

यद्यपि कला की दृष्टि से इस पद को उपयुक्त नहीं माना जाना चाहिए। क्योंकि सम्पूर्ण 'भ्रमरगीत' में ज्ञान और भक्ति का जो प्रच्छन्न, सूक्ष्म संघर्ष चलता रहता है, यह पद उसके रूप को स्पष्ट, स्थूल रूप प्रदान कर उसकी व्यंजनात्मक शक्ति को क्षीण कर देता है। फिर भी यह सोचकर इस पद को संगृहीत कर दिया गया है, जिससे 'भ्रमरगीत' के उद्देश्य के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का सन्देह या आशंका न रह जाय। हमें कथा-क्रम का निर्वाह करने के लिए पदों के क्रम में काफी उलट-फेर करना पड़ा है। यद्यपि 'भ्रमरगीत' विशुद्ध रूप से मुक्तक-काव्य है, परन्तु इस मुक्तक-काव्य के प्रत्येक छन्द को अन्य छन्दों के साथ सम्बद्ध कर देने वाली एक सूक्ष्म कथा भी प्रारम्भ से अन्त तक चलती रहती है। कविवर 'रत्नाकर' ने इसी सूक्ष्म कथा का आश्रय ले, अपने 'उद्धव-शतक' को एक खण्डकाव्य का रूप प्रदान कर दिया है। जब 'सूरसागर' में संगृहीत पदों को सुचारु रूप से एक कथा-क्रम में आबद्ध किया जा सकता है, तो फिर ऐसा करने में संकोच क्यों होना चाहिए। हमने इसी कारण पदों के क्रम में उलट-फेर करना उचित समझा है।

शुक्लजी द्वारा संगृहीत एवं सम्पादित 'भ्रमरगीत सार' में दी हुई पाद-टिप्पणियों में से कुछ अर्थ तथा टिप्पणियाँ ऐसी हैं, जो अर्थ का अनर्थ कर देती हैं। इसका कारण यह रहा है कि सूरदास ने अपनी रचना में ब्रजभाषा के कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो विशुद्ध रूप से स्थानीय हैं, परन्तु ब्रज-प्रान्त से बाहर उनका अर्थ बदल जाता है या ठीक नहीं बैठ पाता। उन शब्दों का प्रयोग आज भी ब्रज-प्रान्त में अबाध रूप से होता है। हमने पदों का अर्थ करते समय इस कठिनाई के प्रति पर्याप्त ध्यान दिया है और उसे दूर करने का भरसक प्रयत्न किया है।

हमारे कुछ मित्रों का यह आग्रह था कि हमें व्याख्या करते समय शब्दार्थ नहीं देना चाहिए था, क्योंकि ऐसा करने से अनावश्यक रूप से ग्रंथ की कलेवर-वृद्धि हो जाती है। परन्तु हमने शब्दार्थ देना इसलिए आवश्यक समझा कि ब्रजभाषा के शब्द उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में तो आसानी से समझ लिए जाते हैं, परन्तु अहिन्दी-भाषियों के लिए उन्हें समझ लेना और उनके आधार पर अर्थ स्पष्ट कर लेना आसान नहीं है। इसलिए हमें अपने अहिन्दी-भाषी पाठकों की सुविधा के लिए शब्दार्थ पर विशेष ध्यान देना पड़ा है।

अनेक स्थलों पर पाठान्तर की समस्या उठ खड़ी हुई है। परन्तु पाठ के लिए हमने आचार्य शुक्ल जी द्वारा सम्पादित संस्करण को प्रमाणित माना है। अधिक पाठ-भेद कर देने से विद्यार्थियों की हानि होने की सम्भावना अधिक थी, क्योंकि अभी तक शुक्लजी द्वारा सम्पादित संस्करण ही सर्वाधिक लोकप्रिय रहा है। प्रस्तुत ग्रंथ को एक प्रकार से उसी संस्करण का भाष्य मानना चाहिए।

हमें आशा है कि अपने प्रस्तुत रूप में यह संग्रह पाठकों के लिए उपादेय सिद्ध होगा।

हम 'भ्रमरगीत' के उन अनेक टीकाकारों के, और विशेष रूप से आचार्य शुक्ल के बहुत आभारी हैं, जिनके ग्रंथों से हमें पर्याप्त सहायता और दिशा-निर्देश प्राप्त हुआ है। यदि हमारे इस भाष्य का हिन्दी-संसार ने स्वागत किया तो हम भविष्य में विद्यापति तथा कबीर की रचनाओं का भी प्रामाणिक भाष्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। इस ग्रन्थ की अनुक्रमणिका तैयार करने का सम्पूर्ण श्रेय चिरंजीव सतीश कुमार अग्रवाल को है। प्रतिदान में मेरा अक्षय स्नेह उसके लिए सदैव सुरक्षित है।

गुरु पूर्णिमा, सं० २०२३
लक्ष्मी निवास
गोकुलपुरा, आगरा।

—राजनाथ शर्मा
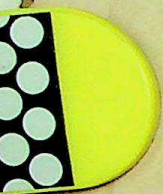
उद्धव का कृष्ण के पास आना

राग बिलावल

तबहिं उपँगसुत आय गए।
सखा सखा कछु अन्तर नाहीं भरि-भरि अंक लए।।
अति सुन्दर तन स्याम सरीखो देखत हरि पछताने।
ऐसे को वैसी बुधि होती ब्रज पठवैं तब आने।।
या आगे रस-काव्य प्रकासे जोग बचन प्रगटावै।
सूर ज्ञान दृढ़ याके हिरदय जुवतिन जोग सिखावै।।१।।

शब्दार्थ—उपँगसुत=उद्धव। अंक लये=गले लगकर मिले। सरीखो=समान। आने=अन्य विषय को लेकर। रस-काव्य=प्रेम की कवित्वपूर्ण बातें। प्रकासे=प्रकाशित करना, कहना। याके=इसके।

भावार्थ—जब कृष्ण ब्रज की मधुर स्मृतियों में डूबे भाव-विभोर हो रहे थे, उसी समय उद्धव वहाँ आ गये। इन दोनों मित्रों में शारीरिक रूप से कोई भी अन्तर नहीं था। दोनों ही श्यामवर्ण और अभिन्न मित्र थे। दोनों आपस में एक-दूसरे के गले से लिपट कर बड़े स्नेहपूर्वक मिले, आपस में एक-दूसरे को आलिंगन-पाश में आबद्ध कर लिया। उद्धव का शरीर भी कृष्ण के ही समान अत्यन्त सुन्दर और श्यामवर्ण था। यह देखकर कृष्ण मन ही मन पछताने लगे। उन्होंने सोचा कि ऐसे सुन्दर शरीर वाले इस उद्धव की बुद्धि भी यदि इसी प्रकार सुन्दर अर्थात् प्रेममार्गीय भक्ति-भावना वाली होती तो कितना अच्छा होता। इसलिए कृष्ण ने सोचा कि इसे किसी अन्य बहाने से ब्रज भेजकर इसकी (योगमार्गी) बुद्धि का संस्कार करना चाहिये। यह तो ऐसा है कि यदि इसके सामने प्रेम की रसमयी बातें कही जायें तो यह योग की

नीरस बातें करने लगता है। इसके हृदय में ज्ञान अर्थात् योगमार्ग के प्रति अत्यन्त दृढ़ आस्था है। इसलिए यह ब्रज जाकर गोपियों को भी योग की बातें ही सिखायेगा। भाव यह है कि गोपियों की अनन्य प्रेमासक्ति देखकर योगमार्ग में इसकी दृढ़ आस्था खंडित हो जायगी और यह प्रेममार्ग का महत्त्व समझने लगेगा।

विशेष—इस पद में भ्रमर गीत का मूल-स्वर ध्वनित हो रहा है। कृष्ण उद्धव को प्रेममार्गीय भक्ति का महत्त्व दिखाने के लिए ही ब्रज भेजनर चाह रहे हैं, न कि गोपियों को ज्ञान का उपदेश देकर अपने प्रति विरक्त करने के लिये। 'वैसी बुधि' से तात्पर्य प्रेममार्गीय भक्ति से है।

श्रीकृष्ण के वचन उद्धव के प्रति

राग सारंग

पहिले करि परिनाम नन्द सों समाचार सब दीजो।
और वहाँ बृषभानु गोप सों जाय सकल सुधि लीजो।।
श्रीदामा आदिक सब ग्वालन मेरे हुतो भेंटियो।
सुख-संदेस सुनाय हमारो गोपिन को दुख मेटियो।।
मंत्री इक बन बसत हमारो ताहि मिले सचु पाइयो।
सावधान ह्वै मेरे हूतो ताही माथ नवाइयो।।
सुन्दर परम किसोर बयक्रम चंचल नयन बिसाल।
कर मुरली सिर मोरपंख पीताम्बर उर बनमाल।।
जनि डरियो तुम सघन बनन में ब्रजदेवी रखवार।
बृन्दाबन सो बसत निरन्तर कबहूँ न होत नियार।।
उद्धव प्रति सब कही स्यामजू अपने मन की प्रीति।
सूरदास किरपा करि पठए यहै सकल ब्रजरीति।।२।।

शब्दार्थ—हुतो=ओर से, लिए। सचु=सुख। बयक्रम=अवस्था। जनि=मत। नियार=अलग। प्रति=से।

प्रसंग—कृष्ण अपने प्रिय ज्ञानी सखा उद्धव को अपना दूत बनाकर ब्रज की कुशल-क्षेम ज्ञात करने के लिए ब्रज भेज रहे हैं; और भेजने से पहले उन्हें ब्रज का लोक-व्यवहार समझा रहे हैं कि उन्हें किस-किस से किस प्रकार मिलना और व्यवहार करना है।

भावार्थ—कृष्ण उद्धव से कहते हैं कि तुम सबसे पहले बाबा नन्द को प्रणाम कर उन्हें यहाँ का सारा समाचार सुनाना। इसके उपरान्त वहाँ वृषभानु गोप (राधा के पिता) के पास जाकर उनका सम्पूर्ण कुशल-क्षेम ज्ञात करना। मेरी ओर से श्रीदामा आदि सम्पूर्ण ग्वालों से भेंट करना और फिर गोपियों को हमारा सुख-संदेश

अर्थात् कुशल-समाचार सुना उनका दुःख (हमारे विरह का) दूर करना। वहाँ वन में हमारा एक मन्त्री (राधा से अभिप्राय है) रहता है, उससे मिलकर सुख प्राप्त करना। जब तुम उसके पास जाओ तो सावधान होकर मेरी ओर से उसे मस्तक झुकाकर प्रणाम करना। (यहाँ कृष्ण उद्धव से सावधान रहने के लिए कह रहे हैं कि वह मन्त्री अर्थात् राधा वन में कृष्ण का वेश धारण कर रहती है, इसलिए उसे देखकर कहीं उद्धव को यह भ्रम न हो जाय कि वह स्वयं कृष्ण तो नहीं।)

हमारा वह मन्त्री परम सुन्दर, किशोर अवस्था वाला है। उसके नेत्र विशाल और चँचल हैं; उसके हाथ में मुरली और सिर पर मोरपंखों का मुकुट होगा, शरीर पर पीताम्बर और वक्ष पर वनमाला धारण किये होगा। वह सघन वन में रहता है, परन्तु तुम वहाँ जाते समय भयभीत मत होना क्योंकि वहाँ ब्रजदेवी सबकी रक्षा करती रहती है। वह ब्रजदेवी सदैव वृन्दावन में निवास करती है और वहाँ से कभी भी दूर नहीं होती। (यहाँ मन्त्री अर्थात् राधा और ब्रजदेवी—दोनों से अभिप्राय लिया जा सकता है।) इस प्रकार कृष्ण ने उद्धव से अपने मन की सारी प्रेमभरी स्थिति की बातें कहीं और उन पर कृपा कर यह कहकर उन्हें ब्रज भेजा कि ब्रज की सम्पूर्ण लोक-रीति यही है। तुम इसी के अनुसार वहाँ व्यवहार करना।

विशेष—(१) उपर्युक्त पद की पाँचवीं पंक्ति में आया 'मन्त्री शब्द विवादास्पद रहा है। काशी नागरी प्रचारिणी द्वारा सम्पादित-प्रकाशित 'सूर-सागर' में 'मंत्री' के स्थान पर 'मित्र' शब्द मिलता है—

"मित्र एक मन बसत हमारैं, ताहि मिलें सुख पाइहौ।
करि करि समाधान नीकी विधि, मौकौं नाथ नाइहौ॥"

—(सूर-सागर, पृ० १३१९)

'मन्त्री' और 'मित्र' शब्दों के भावार्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। मंत्री भी मित्र के समान शुभ मंत्रणा देने वाला होता है। इसलिए यहाँ इन दोनों ही शब्दों को स्वीकार किया जा सकता है।

(२) यहाँ 'मन्त्री' से अभिप्राय स्पष्टतः राधा से है। शुक्लजी ने 'मन्त्री' का अर्थ 'कृष्ण' माना है। ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं—रस रूप और ऐश्वर्य रूप। उद्धव कृष्ण के ऐश्वर्य रूप को देख चुके थे। कृष्ण ने उन्हें ब्रज इसलिये भेजा था कि वह वहाँ जाकर उनके रस-रूप के भी दर्शन कर लें। कृष्ण रस-रूप से सदा वृन्दावन में वास करते हैं। यहाँ 'मन्त्री' शब्द से कृष्ण के उसी रस रूप की ओर संकेत किया गया है। फिर प्रश्न यह उठता है कि—यहाँ 'मन्त्री' शब्द से राधा का अभिप्राय कैसे ग्रहण किया जा सकता है? इसका कारण यह है कि कृष्ण-भक्तों में राधा को कृष्ण का अविभक्त अंग माना जाता है। कृष्ण और राधा एक ही आदि-शक्ति के दो रूप हैं, इसलिए परस्पर अभिन्न हैं।

(३) भक्ति-पद्धति के अनुसार भक्त और भगवान में कोई अन्तर नहीं रहता। भक्ति की चरमावस्था में भक्त भगवद् स्वरूप प्राप्त कर लेता है। इसलिए राधा भी

प्रेम की अनन्यता के कारण कृष्ण-रूप बन गई है । विद्यापति ने भी राधा-कृष्ण की इसी अनन्यता का वर्णन किया है—"राधा माधव, माधव राधा, राधा भेल मधाई ।" रसखान की राधा भी कृष्ण रूप धारण करने की अभिलाषा प्रकट करती है—

"मोर पंखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंज की माल गले पहिरौंगी ।
बाँधि पीताम्बर लै लकुटी बन, गोधन ग्वालन संग फिरौंगी ।।"

सूर का यह 'मंत्री भी कृष्ण-वेश धारण कर वन में रहता है । अतः निश्चित रूप से वह राधा ही है । उसका रूप-वर्णन भी उसे राधा ही सिद्ध करता है । उद्धव भी ब्रज में राधा के रूप में कृष्ण के इसी रस-रूप के दर्शन करने की बात लौटकर कृष्ण से कहते हैं—

"ब्रज मैं एक अचंभौ देख्यो ।
मोर मुकुट पीताम्बर धारे, तुम गाइनि संग पेख्यौ ।।
गोप बाल संग धावत तुम्हरैं, तुम घर घर प्रति जात ।
दूध दहीऽरु मही लै ढारत, चोरी माखन खात ।।
गोपी सब मिलि पकरति तुमकौं, तुम छुड़ाइ कर भागत ।
सूर स्याम नित प्रति यह लीला, देखि देखि मन लागत ।।"

—(सूर-सागर, पृ० १४९३)

इस पद से भी यही सिद्ध होता है कि राधा कृष्ण के वियोग में कृष्ण-रूप धारण कर ब्रज में विचरण करती रहती है । अतः 'मन्त्री' का अर्थ राधा ही मानना चाहिए ।

(४) इस पद में कृष्ण ने उद्धव को ब्रज की लोकरीति समझाई है । उद्धव नागरिक हैं, इसलिए ग्रामीण वातावरण और वहाँ की लोकरीति से अनभिज्ञ हैं । इसीलिए कृष्ण ने उन्हें यह समझाया है कि उन्हें किस क्रम से, किस-किस से, किस प्रकार मिलना और व्यवहार करना चाहिए ।

(५) इस पद से यह भी सिद्ध होता है कि कृष्ण मथुरा में रहते हुए भी ब्रज के लोगों और वहाँ की मधुर स्मृतियों में डूबे रहते थे । इस प्रकार उनके ऐश्वर्य रूप से उनका रस-रूप अधिक श्रेष्ठ और ग्रहणीय है । 'भ्रमर गीत' का मूल स्वर भी यही है । इसका संकेत हमें इसी पद में मिल जाता है ।

हरि गोकुल की प्रीत चलाई ।
सुनहू उपँगसुत मोंहि न बिसरत, ब्रजबासी सुखदाई ।
यह चित होत जाऊँ मैं अबही, यहाँ नहीं मन लागत ।
गोप सुग्वाल गाय बन चारत, अति दुख पायो त्यागत ।।
कहँ माखन चोरी ? कहिं जसुमत 'पूत जेंव' करि प्रेम ।
सूर स्याम के बचन सहित सुनि, ब्यापत आपन नेम ।।३।।

शब्दार्थ—चलाई=कही, चर्चा की । बिसरत=भूलता । जेंव=खाओ ।

सहित—हित या प्रेम सहित । आपन नेम=अपना नियम । अर्थात् उद्धव के योगमार्ग के नियम ।

भावार्थ—उद्धव के आ जाने पर कृष्ण ने उनके सामने गोकुल का प्रेम-प्रसंग छेड़ दिया; अर्थात् गोकुल के प्रेम की चर्चा प्रारम्भ कर दी । उन्होंने कहा कि—हे उद्धव ! सुनो, मुझे अपने प्रेम से सुख देने वाले व्रजवासियों की याद नहीं भूलती, मैं उन्हें सदैव याद किया करता हूँ । मेरा मन करता है कि मैं अभी तुरन्त वहाँ चला जाऊँ । यहाँ मेरा मन नहीं लगता है । वहाँ गोप-ग्वालाओं के साथ मैं वन में गायें चराने जाया करता था । उनसे बिछुड़ते हुए मुझे बहुत दुःख हुआ था । अब न वह माखन की चोरी करना है और न कोई ऐसा है जो यशोदा मैया के समान अत्यन्त प्रेम के साथ आग्रह कर-कर यह कहे कि—'बेटा यह खाले' ।

सूरदास कहते हैं कि कृष्ण के स्नेह भरे इन शब्दों को सुनकर भी उद्धव का मन अपने योगमार्ग के विधि-विधानों में ही डूबा रहा; अर्थात् उद्धव ने कृष्ण की इस प्रेम-भावना को कोई महत्त्व नहीं दिया । योगमार्गी उद्धव प्रेम-भावना को सांसारिक मोहमात्र समझ उसकी अवहेलना करते थे ।

विशेष—(१) आगे चलकर 'ऊधौ मोहि व्रज बिसरत नाहीं' पद में भी इसी स्मृति का पुनः अंकन किया गया है ।

(२) माता यशोदा के स्नेह-दुलार के लिए कृष्ण का हृदय बार-बार व्याकुल होता रहता है । वह उन्हें भूल नहीं पाते ।

राग सोरठ

कहियौ नन्द कठोर भए ।
हम दोउ बीरैं डारि पर-घरै मानो थाती सौंपि गए ।
तनक-तनक तैं पालि बड़े किए बहुतै सुख दिखराए ।।
गोचारन को चलत हमारे पाछै कोसक धाए ।
ये बसुदेव देवकी हमसों कहत आपने जाए ।
बहुरि विधाता जसुमतिजू के हमहिं न गोद खिलाए ।।
कौन काज यह राज नगर को सब सुख सों सुख पाए ?
सूरदास व्रज समाधान करु आजु काल्हि हम आए ।। ४ ।।

शब्दार्थ—बीरैं=भाइयों । पर-घरै=पराये घर में, मथुरा में । थाती=धरोहर । तनक-तनक=छोटे-छोटे से । कोसक=एक कोस, दो मील । बहुरि=फिर । समाधान=सान्त्वना, तसल्ली ।

भावार्थ—कृष्ण उद्धव से कह रहे हैं कि तुम बाबा नन्द से यह कहना कि वह हम दोनों भाइयों के प्रति अब कठोर बन गये हैं । वह हम दोनों भाइयों को पराये घर में (वसुदेव-देवकी के पास) इस तरह डालकर चले गये हैं, मानो किसी की धरोहर को उसे ही वापस कर अपने कर्त्तव्य से छुटकारा पा लिया हो । उन्होंने हम दोनों

भाइयों का पालन-पोषण उस समय किया था, जब हम छोटे-छोटे से बच्चे थे । साथ ही हमें अनेक प्रकार के सुख दिये थे । जब हम गाय चराने के लिये वन में जाते थे तो नन्द बाबा प्रेम-विह्वल हो हमारे पीछे-पीछे एक-एक कोस तक भागे चले जाते थे । यहाँ ये वसुदेव और देवकी हमें अपना पुत्र बताते हैं । साथ ही हमें विधाता (ब्रह्म) समझते हैं और यह कहते हैं कि हमें यशोदा मैया ने गोद में नहीं खिलाया है । (इस पंक्ति का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि विधाता ने हमें यशोदा मैया की गोद में पुनः खेलने का अवसर प्रदान नहीं किया, उस सुख से वंचित कर दिया है ।)

हमने मथुरा के इस राज्य और नगर के सम्पूर्ण सुखों को भोग लिया है, परन्तु यह सुख किस काम का है ? अर्थात् ब्रज के सुखों की तुलना में यहाँ के इन सुखों का कोई भी महत्त्व या मूल्य नहीं है । सूरदास कहते हैं कि कृष्ण उद्धव से कह रहे हैं कि तुम ब्रजवासियों को (हमारा कुशल-क्षेम बताकर) सान्त्वना देना और उनसे कहना कि हम आज-कल में ही अर्थात् शीघ्र ही ब्रज आने वाले हैं ।

विशेष—(१) 'मानो थाती सौंपि गए'—में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है ।

(२) स्मृति संचारी भाव का रम्य चित्रण है ।

(३) 'ये वसुदेव देवकी' पंक्ति में कृष्ण की नवीन नागरिक परिस्थितियों के प्रति विरक्ति, नन्द-यशोदा को अपना वास्तविक माता-पिता समझना, उनका बाल-सुलभ भोलापन आदि विशेषतायें प्रकट होती हैं । 'ये' शब्द वसुदेव-देवकी के प्रति उनके बाल-सुलभ आक्रोश और विरक्ति-भावना को ध्वनित कर पद में एक अद्भुत आकर्षण उत्पन्न कर रहा है ।

(४) बाल्य-कालीन मधुर स्मृतियों का यथातथ्य सांगोपांग चित्रण है ।

(५) रत्नाकर के कृष्ण भी सूर के कृष्ण के समान ही राजा के पद को हेय और तुच्छ समझते हैं । रत्नाकर के कृष्ण कहते हैं—

"प्यारो नाम गोविन्द गुपाल को विहाय,
हाय, ठाकुर त्रिलोक के कहाइ करिहैं कहा ।"

(६) मार्मिकता और स्वाभाविकता की दृष्टि से यह पद अत्यन्त प्रभाव-शाली है ।

राग रामकली

जदुपति लख्यो तेहि मुसकात ।
कहत हम मन रही जोई सोइ भई यह बात ।।
बचन परगट करन लागे प्रेम-कथा चलाय ।
सुनहु उद्धव मोहिं ब्रज की सुधि नहीं बिसराय ।।
रैनि सोवत, चलत, जागत लगत नहिं मन आन ।
नंद जसुमति नारि नर ब्रज जहाँ मेरो प्रान ।।

कहत हरि, सुनि उपँगसुत ! यह कहत हौं रसरीति ।
सूर चित तें टरति नाहीं राधिका की प्रीति ।।५।।

शब्दार्थ—लख्यो=देखा । आन=अन्यत्र या अन्य बातों में । सुनि=सुन ।

भावार्थ—सम्भवतः कृष्ण द्वारा गोकुल का प्रेम-प्रसंग चलाने पर उद्धव मुस्कारने लगे थे । कृष्ण ने उन्हें मुस्कारते हुए देख लिया । वह मन में सोचने लगे कि हम उद्धव के सम्बन्ध में जो सोचते थे । (कि यह दृढ़ योगमार्गी है), वही बात सत्य प्रमाणित हुई । यह जानते हुए भी कृष्ण पुनः ब्रजवासियों की प्रेम-कथा का वर्णन करने लगे । कृष्ण ने कहा कि—हे उद्धव ! सुनो, मैं ब्रज की स्मृति को नहीं भुला पाता । रात को सोते, दिन में जागते और इधर-उधर घूमते समय भी मेरा मन ब्रज के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी नहीं लगता । ब्रज में जहाँ नन्द, यशोदा तथा अन्य नर-नारी अर्थात् गोप-गोपियाँ रहते हैं, मेरे प्राण भी सदैव वहीं उन्हीं के पास पड़े रहते हैं । अर्थात् मैं सदैव उन्हीं की स्मृति में डूबा रहता हूँ । कृष्ण कहते हैं कि हे उद्धव ! सुनो, मैं तुमसे प्रेम की यह रीति कहता हूँ । मेरे हृदय से राधा की प्रीति क्षण भर के लिए भी दूर नहीं हो पाती, अर्थात् प्रेम को रीति यही है कि प्रेमी सदैव अपने प्रेमास्पद के ध्यान में ही डूबा रहे । मैं यहाँ राधा से इतनी दूर रहते हुए भी उसे कभी पल भर के लिए भी नहीं भूल पाता ।

विशेष—यहाँ कृष्ण अत्यन्त कौशल के साथ सम्पूर्ण गोपियों में राधा को अनन्य स्थान प्रदान करते हुए, उनके प्रति अपनी अनन्य प्रीति का संकेत दे रहे हैं ।

राग सारंग

सखा ! सुनो मेरी इक बात ।
वह लतागन संग गोपिन सुधि करत पछितात ।।
कहाँ वह वृषभानुतनया परम सुन्दर गात ।
सुरति आए रासरस की अधिक जिय अकुलात ।।
सदा हित यह रहत नाहीं सकल मिथ्या-जात ।
सुर प्रभु यह सुनो मोसों एक ही सों नात ।।६।।

शब्दार्थ—लतागन=लताओं के समूह । वृषभानुतनया=वृषभानु की पुत्री राधा । मिथ्या-जात=मिथ्या-भावना के कारण उत्पन्न, भ्रमरूप । नात=नाता, सम्बन्ध ।

भावार्थ—ब्रज की मधुर स्मृतियों में लीन कृष्ण उद्धव से कहने लगे कि—हे सखा ! मेरी एक बात सुनो । वन के लताकुंजों में गोपियों के साथ बिताये उन मधुर क्षणों की याद कर मैं पछताता रहता हूँ (कि उन्हें छोड़कर यहाँ क्यों आ गया) । वृषभानु कुमारी राधा, जिसका शरीर परम सुन्दर है, यहाँ कहाँ है ? जब मुझे राधा

और गोपियों के साथ की गई रास-क्रीड़ाओं की याद आती है तो हृदय बहुत व्याकुल होने लगता है।

कृष्ण की इन प्रेम-रसपूर्ण बातों को सुनकर ज्ञानमार्गी उद्धव उनसे कहने लगे कि यह प्रेम सदैव स्थिर नहीं रहता, क्योंकि यह संसार, जिसके प्रति यह प्रेम उत्पन्न होता है, मिथ्या-प्रतीति है, भ्रम है। इसलिए ऐसे इस मिथ्या संसार के प्रति उत्पन्न यह प्रेम भी अस्थिर और भ्रममात्र है। तुम मुझसे यह सिद्धान्त सुनो कि केवल एक ब्रह्म से ही सम्बन्ध रखना चाहिए। क्योंकि केवल वही नित्य, स्थिर और एकरस वाला है।

विशेष—(१) एक प्रकार से इस पद से ही ज्ञान और भक्ति का विवाद आरम्भ हो जाता है। ज्ञानी उद्धव प्रेमी कृष्ण के प्रेम का उपहास करते हुए 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के ज्ञानमार्गी सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे हैं। यही विवाद आगे चलकर गोपी-उद्धव-संवाद में पल्लवित होता है।

(२) कृष्ण बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से बार-बार प्रेम की चर्चा कर ज्ञानमार्गी उद्धव को उकसा रहे हैं, जिससे उन्हें ब्रज भेजकर प्रेम के सात्त्विक रूप के दर्शन करा-कर उनके ज्ञान-गर्व को खंडित किया जा सके।

राग रामकली

सखा ! सुनि एक मेरी बात।
वह लता गृह संग गोपिन, सुधि करत पछितात।।
विधि लिखी नहिं टरत क्यों हूँ, यह कहत अकुलात।
हँसि उपंग सुत वचन बोले, कहा हरि पछितात।।
सदा हित यह रहत नाहीं, सकल मिथ्या जात।
सूर प्रभु यह सुनौ मोसों, एक ही सौं नात।।६-अ।।

शब्दार्थ—लता गृह=कुंज। उपँग सुत=उद्धव। हित=प्रेम। जात=उत्पन्न। नात=नाता, सम्बन्ध।

भावार्थ—कृष्ण ब्रज और गोपियों की याद कर बहुत दुःखी हो रहे हैं। उद्धव संसार को भ्रममात्र घोषित कर प्रेम की अनित्यता और अस्थिरता को समझाते हैं। पहले कृष्ण उद्धव से कहते हैं कि—

हे सखा ! मेरी एक बात सुनो। मैं उन कुंजों की और उन कुंजों में गोपियों के साथ की गई क्रीड़ाओं की याद कर-कर बहुत पछताता रहता हूँ कि ऐसे सुख को त्याग यहाँ क्यों चला आया। परन्तु विधि का लिखा हुआ (भाग्य-रेखा) किसी भी प्रकार बदला या मिटाया नहीं जा सकता। यह कहते हुए कृष्ण अत्यन्त व्याकुल हो उठे। कृष्ण के ये वचन सुन और उनकी व्याकुलता को देख उद्धव हँसकर उनसे कहने लगे कि हे कृष्ण ! उन बातों के लिए तुम क्यों पछताते हो ? यह प्रेम (गोपियों का

प्रेम) सदैव नहीं रहता; अर्थात् गोपियाँ तुम्हें कुछ समय बाद भूल जायेंगी और तुम गोपियों को भूल जाओगे। क्योंकि यह प्रेम इस भ्रमान्तक, भ्रम से उत्पन्न संसार में माया-मोह रखने से ही उत्पन्न होता है। हे प्रभु ! तुम मुझसे यह बात सुनो; अर्थात् समझ लो कि इस संसार में केवल एक ब्रह्म से ही सच्चा नाता होता है। अन्य सारे नाते मिथ्या और दुःख देने वाले हैं।

विशेष—इस पद से ही एक प्रकार से प्रेम और ज्ञान का संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है।

राग रामकली

जब ऊधौ यह बात कही।
तब जदुपति अति ही सुख पायौ, मानी प्रकट सही॥
श्रीमुख कह्यौ जाहु तुम ब्रज कौं, मिलहु जाइ ब्रज लोग।
मो बिन बिरह भरीं ब्रजबाला, जाइ सुनावहु जोग॥
प्रेम मिटाइ ज्ञान परबोधहु, तुम हौ पूरन ज्ञानी।
सूर उपंग सुत मन हरषानै, यह महिमा इन जानी॥६-आ॥

शब्दार्थ—प्रकट=प्रत्यक्ष रूप से। सही=ठीक, उचित। परबोधहु=उपदेश दो। इन=कृष्ण ने।

भावार्थ—उद्धव द्वारा ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य घोषित किये जाने पर कृष्ण ने ऊपर से उनकी बात को सही मान लिया। सूरदास इसी का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि—

जब उद्धव ने कृष्ण से ब्रह्म सम्बन्धी यह बात (कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, अतः उसी से नाता रखना चाहिए) कही, तब यदुपति कृष्ण ने प्रत्यक्ष रूप में; अर्थात् दिखाने के लिए उद्धव की इस बात को सही स्वीकार कर लिया और अत्यन्त सुख प्राप्त किया (सुखी होने का अभिनय किया)। इसके उपरान्त कृष्ण ने अपने श्रीमुख से उद्धव से कहा कि हे उद्धव ! तुम ब्रज को जाओ और वहाँ जाकर ब्रज के लोगों से मिलो। मेरे बिना ब्रजबालाएँ विरह में व्याकुल हो रही होंगी, इसलिए तुम जाकर उन्हें योग-साधना करने की शिक्षा दो। और योग की शिक्षा द्वारा उनके हृदय से प्रेम की भावना को नष्ट कर, दूर कर उनके हृदय में ज्ञान की ज्योति उत्पन्न कर उन्हें सान्त्वना प्रदान करो। तुम यह काम सरलतापूर्वक कर सकते हो, क्योंकि तुम पूर्ण ज्ञानी हो, ज्ञान-मार्ग में पारंगत हो।

कृष्ण की बातें सुन उद्धव मन में अत्यन्त प्रसन्न हुए, यह सोचकर कि इन कृष्ण ने अन्ततः मेरे इस महत्त्व को अथवा ज्ञान के महत्त्व को जान लिया, स्वीकार कर लिया।

विशेष—यहाँ कृष्ण उद्धव को उकसा रहे हैं और इस प्रकार उस भूमिका

का निर्माण कर रहे हैं; जिसका उपसंहार ज्ञान की पराजय और प्रेम की विजय के रूप में होने वाला है।

राग टोली

> **उद्धव ! यह मन निस्चय जानो।**
> **मन क्रम बच मैं तुम्हैं पठावत ब्रज को तुरत पलानो॥**
> **पूरन ब्रह्म, सकल अबिनासी ताके तुम हौ ज्ञाता।**
> **रेख न रूप, जाति, कुल नाहीं जाके नहिं पितु माता॥**
> **यह मत दै गोपिन कहँ आबहु बिरह-नदी में भासति।**
> **सूर तुरत यह जाय कहौ तुम ब्रह्म बिना नहिं आसति॥ ७॥**

शब्दार्थ—क्रम=कर्म। बच=वचन। पलानो=प्रस्थान करो, जाओ। भासति=डूबती हैं। आसति=सामीप्य, मुक्ति।

भावार्थ—उद्धव की ज्ञान-गर्व भरी बातों को सुनकर कृष्ण उनसे कहते हैं कि हे उद्धव ! तुम इस बात को निश्चय जान लो कि मैं तुम्हें मन, कर्म और वचन—तीनों से ब्रज भेज रहा हूँ, इसलिए तुम तुरन्त वहाँ के लिए प्रस्थान करो। भाव यह है कि कृष्ण सच्चे हृदय से उद्धव को ब्रज भेजना चाह रहे हैं। (उद्धव को ब्रज भेजने में दो कार्यों की सिद्धि होती है—एक तो यह कि वहाँ का कुशल-समाचार मिल जायगा, दूसरा यह कि गोपियों के अनन्य प्रेम को देख ज्ञान-गर्वित उद्धव प्रेम के सरल, सीधे मार्ग का महत्त्व समझ सकेंगे।)

तुम्हारा ब्रह्म पूर्ण, अखण्ड और अविनाशी है। तुम ऐसे उस ब्रह्म के ज्ञाता हो। तुम्हारे इस ब्रह्म की न रूपरेखा है, न कोई कुल है और न उसके कोई माता-पिता ही हैं, न कोई जाति है। अर्थात् तुम्हारा ब्रह्म अनादि, अजन्मा, अविनाशी, निराकार और सम्पूर्ण सांसारिक सम्बन्धों से परे है। तुम अपना यह ब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञान गोपियों को सुना आओ, क्योंकि वे मेरे विरह-रूपी नदी में डूब रही हैं। तुम तुरन्त उनके पास जाकर उनसे यह कहो कि ब्रह्म के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। अर्थात् तुम उन्हें यह समझाओ कि वे मुझसे प्रेम करना त्याग कर ब्रह्म का ध्यान करना प्रारम्भ कर दें, तभी उनकी मुक्ति हो सकती है।

विशेष—(१) 'विरह-नदी' में शुद्ध या निरंग रूपक है।

(२) निर्गुण-सम्प्रदाय के अनुसार ब्रह्म के बिना मुक्ति असम्भव है—'ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः।'

(३) इस पद में कृष्ण प्रकारान्तर से उद्धव के ब्रह्म और उनके ज्ञान-गर्व पर व्यंग्य कर रहे हैं। यही व्यंग्य आगे चलकर गोपियों की उक्तियों में फूलता-फलता दिखाई पड़ता है।

राग नट

उद्धव ! बेगि ही ब्रज जाहु ।
सुरति संदेस सुनाय मेटो वल्लभिन को दाहु ।।
काम पावक तूलमय तन बिरह-स्वास समीर ।
भसम नाहिन होन पावत लोचनन के नीर ।।
अजौं लौं यहि भाँति ह्वै है कछुक सजग सरीर ।
इते पर बिनु समाधाने क्यों धरैं तिय धीर ।।
कहौं कहा बनाय तुमसों सखा साधु प्रबीन ?
सूर सुमति बिचारिए क्यों जियै जल बिनु मीन ।। ८ ।।

शब्दार्थ—बेगि=शीघ्र । सुरति=प्रेम । वल्लभिन=प्यारी, गोपियाँ । दाहु=जलन, वियोग की पीड़ा । काम पावक=कामाग्नि, काम की उत्तप्त ज्वाला । तूल मय रुई के समान कोमल । अजौं लौं=आज तक । ह्वै है=होगा । समाधाने=सान्त्वना देना । तिय=नारियाँ ।

भावार्थ—कृष्ण उद्धव से कहते हैं कि हे उद्धव ! तुम शीघ्र ही ब्रज को जाओ । वहाँ जाकर हमारी प्यारी गोपियों को हमारा प्रेम-सन्देश सुना, उनके दुःख को दूर करो । उनके रुई के समान कोमल शरीर काम की अग्नि में जल रहे हैं । विरह के कारण उनकी तीव्र साँसें वायु के समान उनकी कामाग्नि को और अधिक भड़का रही हैं । परन्तु उनके नेत्रों से होने वाली अश्रु-वर्षा के ही कारण उनके शरीर उस कामाग्नि में भस्म नहीं होने पाते । (यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि रोने से मन का दुःख हल्का हो जाता है, इसलिए गोपियाँ रोकर अपने विरह-दुःख को हल्का कर लेती हैं और उनका जीवन बच जाता है ।) इसी कारण आज तक उनके शरीर में अब भी कुछ सजगता बची होगी । अर्थात् उन्हें थोड़ा-बहुत होश होगा । इतने पर भी यदि उन्हें सान्त्वना नहीं प्रदान की गई तो वे किस प्रकार धैर्य धारण करेंगी । हे सखा ! मैं तुमसे इस बात को और किस तरह बना-समझाकर कहूँ । तुम तो स्वयं ही साधु-स्वभाव वाले और चतुर हो। इसलिए मेरी बात को इतने में ही अच्छी तरह से समझ लोगे । तुम अपनी सुन्दर बुद्धि द्वारा स्वयं ही सोचो कि बिना जल के मछली कैसे जीवित रह सकती हैं ? अर्थात् मेरे बिना गोपियाँ कैसे जीवन धारण कर सकती हैं, क्योंकि मैं ही उनका सर्वस्व हूँ ।

विशेष—(१) 'काम पावक·······समीर' में सांगरूपक; 'भसम·······नीर' में काव्य-लिंग; तथा अन्तिम पंक्ति में अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार है ।

(२) ''कहौं कहा····प्रबीन' में व्यंग्यार्थ की छटा दर्शनीय है ।

(३) गोपियों की विरहावस्था का अत्यन्त मार्मिक चित्रण हुआ है ।

राग सारंग

पथिक ! संदेसौ कहियो जाय ।
आवैंगे हम दोनों भैया, मैया जनि अकुलाय ।।
याको बिलगु बहुत हम मान्यो जो कहि पठयो धाय ।
कहँ लौं कीर्ति मानिए तुम्हरी बड़ो कियो पय प्याय ।।
कहियो जाय नंद बाबा सों, अरु गहि पकर्‌यो पाय ।
दोऊ दुखी होन नहिं पावहिं धूमरि धौरी गाय ।।
यद्यपि मथुरा बिभब बहुत है तुम बिनु कछु न सुहाय ।
सूरदास ब्रजबासी लोगनि भेंटत हृदय जुड़ाय ।।९।।

शब्दार्थ—जनि=मत । याको=इसका । बिलग=बुरा मानना । धाय=दाई, पालने-पोसने वाली नौकरानी । पय=दूध । धूमरि=काली श्यामा । धौरी=सफेद । जुड़ाय=प्रसन्न होना ।

भावार्थ—कृष्ण ब्रज जाने के लिए उद्यत उद्धव से कहते हैं कि हे पथिक ! तुम ब्रज में जाकर हमारा यह सन्देश देना कि हम दोनों भाई शीघ्र ही वहाँ आयेंगे । मैया यशोदा से कहना कि वह व्याकुल न हों । उनसे यह भी कहना कि उन्होंने अपने को 'धाय' कहकर यहाँ देवकी के पास जो सन्देश भेजा था, उसका हमने बहुत बुरा माना है । (यशोदा ने देवकी को यह सन्देश भेजा था—'हौं तो धाय तिहारे सुत की, कृपा करत ही रहियो ।') उनसे यह और कहना कि हे मैया ! मैं तुम्हारी कीर्त्ति का कहाँ तक वर्णन करूँ, क्योंकि तुमने ही हमें अपना दूध पिलाकर इतना बड़ा किया है ।

हे उद्धव ! तुम नन्द बाबा के पास जाकर और उनके चरण पकड़ कर हमारी ओर से यह कहना कि वे इसका ध्यान रखें कि काली और सफेद, दोनों प्रकार की गायें दुःखी न होने पायें । उनकी खूब अच्छी तरह से देखभाल करते रहें । यद्यपि यहाँ मथुरा में हमें अपार वैभव प्राप्त है, परन्तु तुम्हारे बिना यह सब कुछ तनिक भी अच्छा नहीं लगता । ब्रजवासियों से मिलकर ही हमारे हृदय को प्रसन्नता और सान्त्वना प्राप्त होती है ।

विशेष—(१) 'धाय' शब्द में कृष्ण के हृदय की सम्पूर्ण वेदना, क्षोभ और आक्रोश उपालम्भ के रूप में अभिव्यक्त हो उठा है । इस शब्द ने इस पद में अद्भुत मार्मिकता और संवेदना उत्पन्न कर दी है ।

(२) कृष्ण द्वारा गायों की चिन्ता करना, सरल ग्रामीण जीवन के प्रति उनके अमित आकर्षण और वैभवपूर्ण नागरिक जीवन के प्रति गहरी विरक्ति का द्योतक है । सम्पूर्ण सूर-काव्य में हमें अनेक स्थलों पर इसी भावना के दर्शन होते हैं । नागरिक जीवन की तुलना में ग्रामीण जीवन अधिक सुखद, सुन्दर और मनोरम होता है, यह सूर के [illegible] का ही सत्य न होकर युग-युग का सत्य है ।

(३) कृष्ण ब्रज को उसके सम्पूर्ण रूप में कितना प्यार करते थे, यह गायों के स्मरण करने से स्पष्ट हो जाता है।

नीके रहियो जसुमति मैया।
आवेंगे दिन चारि पाँच में, हम हलधर दोउ भैया॥
जा दिन तें हम तुमतें बिछुरे, काहु न कह्यो कन्हैया।
कबहूँ प्रात न कियो कलेवा, साँझ न पीन्हीं घैया॥
बंसी बेनु सँभारि राखियो, और अबेर सबेरो।
मति लै जाय चुराय राधिका कछुक खिलौनो मेरो॥
कहियो जाय नंद बाबा सों, निपट निठुर जिय कीन्हो।
सूर स्याम पहुँचाय मधुपुरी बहुरि सँदेस न लीन्हो॥१०॥

शब्दार्थ—पीन्हीं=पी, पान किया। घैया=थन से सीधी निकलती हुई दूध की धारा। अबेर-सबेरो=देर या जल्दी, मौका पाकर। मति=कहीं, न। निपट=नितान्त। मधुपुरी=मथुरा। बहुरि=फिर, लौटकर। सँदेस=खोज-खबर।

भावार्थ—कृष्ण उद्धव से कहते हैं कि हे उद्धव! तुम यशोदा मैया से कहना कि वह अच्छी तरह से रहें अर्थात् व्याकुल न हों। हम दोनों भाई अर्थात् मैं और बलराम चार-पाँच दिन में ही वहाँ पहुँच जायेंगे। उनसे कहना कि जिस दिन से हम तुमसे बिछुड़े हैं, तब से किसी ने भी हमें 'कन्हैया' कहकर नहीं पुकारा है। न कभी प्रातः कलेवा करने को मिला है और न कभी शाम को धारोष्ण (थन से निकलता हुआ गरम-गरम दूध) दूध पीने को नसीब हुआ है। उनसे कहना कि वह मेरी वंशी को सम्हाल कर रखें। कहीं ऐसा न हो कि राधा देर या जल्दी में अर्थात् घात लगाकर मेरा कोई खिलौना न चुरा ले जाय। नन्द बाबा से यह कहना कि उन्होंने अपना हृदय हमारी से ओर बड़ा कठोर बना लिया है, क्योंकि उन्होंने हमें मथुरा पहुँचाने के बाद फिर लौटकर कभी हमारी खोज-खबर तक नहीं ली।

विशेष—(१) यह पद सूर-साहित्य पर इस आक्षेप का उत्तर देता है कि भ्रमरगीत में तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा न होकर, गोपियों का एकपक्षीय प्रेम ही अंकित हुआ है। यहाँ कृष्ण नन्द-यशोदा, राधा तथा यहाँ तक कि अपने खिलौनों, वंशी आदि तक की भी स्मृति कर व्याकुल हो उठे हैं। नन्द-यशोदा के उपेक्षापूर्ण-से लगने वाले व्यवहार के कारण कृष्ण अत्यधिक क्षुभित और दुःखी हैं। बाल्यावस्था की मधुर, रस-भीनी स्मृतियाँ कृष्ण को रह-रहकर व्याकुल करती रहती हैं।

(२) 'काहु न कह्यो कन्हैया'—में माता के दुलार भरे सम्बोधन को पुनः सुनने की मार्मिक व्याकुलतापूर्ण अभिलाषा भरी हुई है।

(३) पाँचवीं पंक्ति में 'बंसी बेनु' शब्द साथ-साथ आये हैं। दोनों का अर्थ एक ही है अर्थात् 'बाँसुरी'। यह पुनरुक्ति यहाँ अनावश्यक प्रतीत होती है। नागरी

प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा सम्पादित-प्रकाशित 'सूर-सागर' के इस पद में यह पुनरुक्ति नहीं मिलती। वहाँ यह पाठ है—

"नोई, बेंत, विषान, बाँसुरी द्वार अबेर सबेरे।
लै जनि जाइ चुराइ राधिका, कछुक खिलौना मेरे ॥"

(४) 'अबेर-सबेर'—एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है—समय-असमय, मौका देखकर।

राग कल्याण

उद्धव मन अभिलाष बढ़ायो।
जदुपति जोग जानि जिय साँचो नयन अकास चढ़ायो ॥
नारिन पै मोको पठवत हौ कहत सिखावन जोग।
मन ही मन अब करत प्रसंसा है मिथ्या सुख-भोग ॥
आयसु मानि लियो सिर ऊपर प्रभु-आज्ञा परमान।
सूरदास प्रभु पठवत गोकुल मैं क्यों कहौं कि आन ॥११॥

शब्दार्थ—जदुपति=कृष्ण। जोग=योग। आयसु=आज्ञा। परमान=प्रमाण। आन=अन्य, अन्य बात।

भावार्थ—कृष्ण की प्रेम-जनित विह्वलता को देख उद्धव मन-ही-मन अत्यन्त आनन्दित हो उठे। उन्होंने यह सोचा कि यदुपति कृष्ण ने हमारे योग-मार्ग को ही सच्चा और वास्तविक मार्ग स्वीकार कर लिया है (इसलिए वह मुझे गोपियों को ज्ञान सिखाने के लिए ब्रज भेज रहे हैं)। यह सोचकर गर्व के मारे उद्धव के नेत्र आकाश की ओर चढ़ गये; अर्थात् वह गर्व में भर ऊपर की ओर देखने लगे। उन्होंने समझा कि कृष्ण मुझे नारियों (गोपियों) के पास इसलिए भेज रहे हैं कि मैं वहाँ जाकर उन्हें योग की बातें सिखाऊँ। उन्होंने सोचा कि अब कृष्ण सांसारिक सुख-भोग को मिथ्या समझकर मेरे योग-मार्ग की मन-ही-मन प्रशंसा कर रहे है। (अथवा सांसारिक सुख-भोग मिथ्या हैं, कृष्ण द्वारा इस तथ्य को स्वीकार कर लेने से उद्धव मन-ही-मन अपने योग-मार्ग की प्रशंसा कर रहे हैं।)

यह विचार कर उद्धव ने कृष्ण की आज्ञा को शिरोधार्य कर लिया। कृष्ण उनके स्वामी और सखा थे, इसलिए उन्होंने कृष्ण की आज्ञा को ही प्रमाण मान लिया; अर्थात् अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया। उन्होंने सोचा कि जब स्वामी कृष्ण ही मुझे इस कार्य (गोपियों को ज्ञानोपदेश देने के लिए गोकुल भेज रहे हैं तो मैं अब इस सम्बन्ध में और क्या बात करूँ; अर्थात् जाने में आनाकानी क्यों करूँ ?

विशेष—(१) 'नयन अकास चढ़ायो'—गर्व में भर ऊपर आसमान की ओर देखने लगना—यह एक बहुप्रचलित मुहावरा है। साथ ही इसमें सूर ने असम्बन्ध में सम्बन्ध दिखाकर अतिशयोक्ति अलंकार का चमत्कार उत्पन्न कर दिया है।

(२) उद्धव के ज्ञान-गर्व और उनकी ज्ञान सिखाने के लिए गोकुल जाने की आतुरता पर सुन्दर व्यंग्य है।

(३) काशी नागरी प्रचारणी सभा के 'सूर-सागर' में इस पद की प्रथम पंक्ति में 'अभिलास' के स्थान पर 'अभिमान' शब्द है।

राग कान्हरौ

तुम पठवत गोकुल कौं जैहौं।
जौ मानिहैं ब्रह्म की बातैं, तो उनसौं मैं कैहौं॥
गदगद बचन कहत मन प्रफुलित, बार-बार समुझैहौं।
आज नहीं जो करौं काज तुब, कौन काज पुनि लैहौं॥
यह मिथ्या संसार सदाई, यह कहिकै उठि ऐहौं॥
सूर दिना द्वै ब्रज जन सुख दै, आइ चरन पुनि गैहौं॥११-अ॥

शब्दार्थ—पठवत=भेज रहे हो। तुब=तुम्हारा। ऐहौं=आऊँगा। गैहौं=पकड़ लूँगा।

भावार्थ—कृष्ण द्वारा ब्रज जाकर गोपियों को योग का सन्देश देने का आदेश सुन उद्धव कह रहे हैं कि—

हे कृष्ण ! तुम मुझे गोकुल भेज रहे हो, इसलिए मैं वहाँ अवश्य जाऊँगा। यदि गोपियाँ मेरी ब्रह्म सम्बन्धी बातों को मान लेंगी तो मैं उन्हें खूब अच्छी तरह से कहकर समझा दूँगा। मैं प्रफुल्लित मन और गद्‌गद्‌ वाणी द्वारा उन्हें बार-बार ब्रह्म-ज्ञान समझाऊँगा। अर्थात् सरस, रोचक ढंग से बार-बार ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश दूँगा। यदि मैं आज तुम्हारे इस पुनीत कार्य को नहीं करूँगा तो फिर तुम्हारा और कौन-सा कार्य पूरा कर सकूँगा। अर्थात् यही तो एक ऐसा कार्य है जो मेरी रुचि के अनुकूल है, इसलिए मैं इसे ही सबसे पहले पूरा करूँगा।

मैं उन्हें समझाऊँगा कि यह संसार सदैव मिथ्या और भ्रमात्मक रहता है, इस संसार के सारे सम्बन्ध माया-मोह के भ्रमात्मक बन्धन के कारण ही सत्य और प्रिय से प्रतीत होते हैं। परन्तु वस्तुतः होते मिथ्या और असार ही हैं। इसलिए हमें इन्हें त्याग देना और निर्गुण-ब्रह्म की उपासना में मन लगाना चाहिए। गोपियों को यह उपदेश देकर मैं वहाँ से उठकर चला जाऊँगा। ज्यादा झंझट में नहीं पड़ूँगा। मैं ब्रज के लोगों को अपनी ज्ञान-वार्त्ता द्वारा दो दिन अर्थात् कुछ समय तक सुख प्रदान कर यहाँ तुम्हारी शरण में लौट आऊँगा और तुम्हारे चरण पकड़ लूँगा।

विशेष—अन्तिम पंक्ति में उद्धव द्वारा ब्रज से लौटकर कृष्ण के चरण पकड़ने की कामना—उद्धव के हृदय में अज्ञात रूप से स्थित उस प्रेम-भावना की ओर संकेत कर रही है जो गोपियों के प्रेम को देख प्रबल वेग के साथ उमड़ने लगी थी। उद्धव एकाएक ही प्रेम-मार्गी नहीं बन गये थे। उनके हृदय में प्रेम का बीज पहले से मौजूद था, जो गोपियों के संसर्ग से विकसित और पल्लवित हो उठा था।

राग विहागरौ

तुरत ब्रज जाहु उपँग सुत आजु ।
ज्ञान बुझाइ खबरि दै आवहु, एक पंथ द्वै काज ।।
जब तैं मधुवन कौं हम आए, फेरि गयौ नहिं कोइ ।
जुवतिन पैं ताही कौं पठवै, जो तुम लायक होइ ।।
इक प्रवीन अरु सखा हमारे, ज्ञानी तुम सरि कौन ।
सोइ कीजौ जातैं ब्रज बाला, साधन सीखैं पौन ।।
श्रीमुख स्याम कहत यह बानी, ऊधौ सुनत सिहात ।
आयसु मानि सूर प्रभु जैहौं, नारि मानिहैं बात ।।११-आ ।।

शब्दार्थ—बुझाई=समझाकर । ताही कौं=उसी को । सरि=समान । जातैं=जिससे । पौन=पवन-अवरोधन, प्राणायाम । सिहात=प्रसन्न होते हैं । आयसु=आज्ञा ।

भावार्थ—कृष्ण गोपियों को समझाने और कुशल-समाचार देने के लिए उद्धव को आदेश दे रहे हैं कि—

हे उद्धव ! तुम आज ही तुरन्त ब्रज के लिए प्रस्थान करो । वहाँ जाकर उन्हें ज्ञान-साधना समझा और सिखा देना तथा साथ ही यहाँ का समाचार भी सुनाकर लौट आना । इस प्रकार एक पंथ दो काज सिद्ध हो जायेंगे । अर्थात् तुम उन्हें ज्ञान-साधना भी सिखा आओगे और हमारा समाचार सुनाकर बदले में उनकी कुशल-मंगल का समाचार भी ले आओगे । हम जबसे यहाँ मथुरा आये हैं, तब से फिर यहाँ से कोई भी वहाँ नहीं गया है । युवतियों के पास योग-साधना की शिक्षा देने के लिए तो केवल उस व्यक्ति को ही भेजा जा सकता है—जो तुम्हारे समान योग्य हो, ज्ञान-मार्ग में पारंगत हो । तुम एक तो अत्यन्त उच्चकोटि के ज्ञानी हो और साथ ही हमारे सखा (मित्र) भी हो । इस संसार में तुम्हारे समान ज्ञानी और दूसरा कौन है ? अर्थात् तुम सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी हो, इसीलिए हम तुम्हें इस काम के लिए भेज रहे हैं । तुम ब्रज पहुँच कर ऐसा ही प्रयत्न करना, जिससे गोपियाँ प्राणायाम-साधना करना सीख लें ।

सूरदास कहते हैं कि कृष्ण के श्रीमुख से कहे हुए इन वचनों को सुनकर उद्धव मन-ही-मन सिहाने अर्थात् प्रसन्न होने लगे । और उन्होंने कहा कि हे स्वामी ! मैं तुम्हारी आज्ञा को शिरोधार्य कर ब्रज जाऊँगा और गोपियाँ मेरी बात मान जायेंगी । अर्थात् मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास है कि गोपियाँ योग-साधना के मार्ग को अवश्य स्वीकार कर लेंगी ।

विशेष—(१) यहाँ कृष्ण उद्धव को सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी घोषित कर उनके ज्ञान-गर्व को, उनके अहं को और उकसा रहे हैं । अहं जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तभी उसका पतन होता है—आगे चलकर सूर ने उद्धव के इसी अहं को पतित और खण्डित होते हुए दिखाया है ।

(२) 'ऊधौ सुनत सिहात'—में 'सिहात' शब्द का साभिप्राय प्रयोग किया गया है। 'सिहाना' का दो अर्थों में प्रयोग होता है—प्रसन्न होना तथा गर्व में भर कर प्रसन्न होना। यहाँ पर यह दूसरे अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। उद्धव कृष्ण द्वारा अपने को सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी घोषित किये जाने पर गर्व भरी प्रसन्नता से भर उठे हैं। व्रज में प्राय: कहा जाता है कि—'बड़ौ सिहाय रह्यौ है', 'ऐसौ चौं सिहाय रह्यौ है'। यहाँ गर्व भरी प्रसन्नता से ही अभिप्राय है।

राग बिहागरौ

स्याम कर पत्री लिखी बनाइ।
नंद बाबा सौं बिनै, कर जोरि जसुदा माइ॥
गोप ग्वाल सखानि कौं, हिलि मिलन कंठ लगाइ।
और ब्रज नर नारि जे हैं, तिन्हिं प्रीति जनाइ॥
गोपिकनि लिखि जोग पठयौ, भाव जानि न जाइ।
सूर प्रभु मन और यह कहि, प्रेम लेत दिढ़ाइ॥ ११–इ॥

शब्दार्थ—कर=हाथ से। बिनै=विनय, प्रणाम। जनाइ=प्रदर्शित कर। दिढ़ाइ=दृढ़ करना।

भावार्थ—सूरदास कृष्ण द्वारा व्रजवासियों के लिए लिखे गये पत्र का वर्णन कर रहे हैं कि—

कृष्ण ने अपने हाथ से खूब सँवार-सँवार कर व्रजवासियों के लिए पत्र लिखा। सबसे पहले उन्होंने बाबा नन्द और माता यशोदा को हाथ जोड़कर प्रणाम लिखा। और फिर ग्वाल-बाल आदि अपने सम्पूर्ण सखाओं को हिल-मिलकर कण्ठ लगाने की, आलिंगन करने की बात लिखी। इनके अतिरिक्त व्रज में अन्य जितने भी और नर-नारी थे, उनके प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित किया। और गोपियों के लिए योग का सन्देश लिखकर भेजा। सूर कहते हैं कि कृष्ण ने गोपियों के लिए योग का सन्देश क्यों लिख भेजा, इसका रहस्य समझ में नहीं आ सकता। सम्भव है कृष्ण के मन में इससे भिन्न कोई अन्य भाव रहा हो और वे योग के सन्देश की बात लिखकर अपने प्रति गोपियों के प्रेम को और अधिक दृढ़ बना रहे हों। अर्थात् गोपियाँ योग-सन्देश की बात सुनकर कृष्ण से और अधिक दृढ़तापूर्वक प्रेम करने लगेंगी।

विशेष—कृष्ण द्वारा भेजे गये योग-सन्देश के मूल में गोपियों के प्रेम-भाव को और अधिक दृढ़ करने का भाव छिपा हुआ था, यह तथ्य अन्तिम पंक्ति से स्पष्ट हो जाता है। परन्तु ज्ञान-गर्वीले उद्धव कृष्ण के इस मूल भाव को समझने में असमर्थ रहे थे, इसी कारण ब्रज में पहुँचने पर उनकी दुर्दशा हुई थी।

राग बिहागरौ

उपँग सुत हाथ दई हरि पाती ।
यह कहियौ जसुमति मैया सौं नहिं बिसरत दिनराती ।।
कहत कहा बसुदेव देवकी, तुमकौं हम हैं जाए ।
कंस त्रास सिसु अतिहि जानिकै, ब्रज मैं राखि दुराए ।।
कहै बनाइ कोटि कोउ बातैं, कही बलराम कन्हाई ।
सूर काज करकै दिन कछु मैं, बहुरि मिलेंगे आई ।।११-ई।।

शब्दार्थ—त्रास=भय । अतिहि=अत्यन्त छोटा । दुराए=छिपाकर । बहुरि=फिर ।

भावार्थ—कृष्ण ने पत्र लिखकर उद्धव को दिया और साथ ही यशोदा माता के लिए मौखिक सन्देश भी भेजा । सूरदास इसी का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि—

कृष्ण ने अपने द्वारा लिखे पत्र को उद्धव के हाथ में सौंप दिया और उनसे कहा कि हे उद्धव ! तुम माता यशोदा से हमारा यह मौखिक सन्देश कह देना कि हे माता ! हमें तुम्हारी याद दिन-रात में एक पल के लिए भी नहीं भूलती । तुम वसुदेव-देवकी द्वारा कही गई इन बातों की ओर तनिक भी ध्यान मत देना कि हमने (वसुदेव-देवकी ने) कृष्ण को जन्म दिया है । यह हमारा पुत्र है । हमने तो कंस के भय के कारण कृष्ण को नन्हा-सा शिशु जानकर उसे ब्रज में छिपाये रखा था । हे माता यशोदा ! चाहे कोई बना-बनाकर इस तरह की करोड़ों बातें कहे और यह भी कहे कि ये बातें बलराम और कृष्ण ने कही हैं तो भी तुम इन बातों पर विश्वास मत करना । हम दोनों भाई कुछ दिन में यहाँ का काम पूरा करके फिर तुम से आ मिलेंगे, तुम्हारे ही पास लौट आयेंगे ।

विशेष—माता यशोदा से वसुदेव-देवकी की कही हुई बातों पर विश्वास न करने का आग्रह कर कृष्ण स्वयं को माता यशोदा का ही पुत्र घोषित कर रहे हैं । यह तथ्य आगे चलकर गोपियों द्वारा कृष्ण पर लगाये गये कृतघ्नता के लांछन को पहले ही दूर कर देता है ।

उद्धव के प्रति कुब्जा के वाक्य

राग गौरी

पाती लिखि ऊधौ कर दीन्ही ।
नंद जसोदहि हित करि दीजौ, हँसि उपँग सुत लीन्ही ।।
मुख बचननि कहि हेत जनायौ, तुम हौ हितू हमारे ।
बालक जानि पठए नृप डर सौं, तुम प्रति पलानहारे ।।

कुबिजा सुन्यौ जात ब्रज ऊधौ, महलहिं लियौ बुलाई।
अपने कर पाती लिखि राधेहिं, गोपिन सहित बढ़ाई।।
मोकौं तुम अपराध लगावति, कृपा भई अनयास।
झुकति कहा मो पर ब्रजनारी, सुनहु न सूरजदास।।११-उ।।

शब्दार्थ—कर=हाथ में। हित करि=प्रेम सहित। हेत=प्रेम। हितू=शुभचिन्तक, हितैषी। राधेहि=राधा के लिए। अनयास=अनायास, एकाएक। झुकति=कुपति होती हो।

भावार्थ—कृष्ण ने ब्रजवासियों के लिए पत्र लिखकर उद्धव को दिया और साथ ही मौखिक सन्देश भी भेजा। इस समाचार को सुन कुब्जा ने उद्धव को बुला कर उनके द्वारा अपना सन्देश भी भेज दिया। सूरदास इसी प्रसंग का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि—

कृष्ण ने पत्र लिखकर उद्धव के हाथ में दे दिया, और उनसे कहा कि हे उद्धव! तुम इस पत्र को प्रेमपूर्वक बाबा नन्द और माता यशोदा को दे देना। यह सुनकर, उद्धव ने हँसकर उस पत्र को ले लिया। इसके उपरान्त कृष्ण ने अपने मुख से वचन कहकर नन्द-यशोदा के प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित किया और कहा कि तुम्हीं हमारे सच्चे शुभचिन्तक हो। वसुदेव-देवकी ने राजा कंस के भय के मारे, हमें बालक जानकर, तुम्हारे पास भेज दिया था। तुमने ही हमारा पालन-पोषण कर हमें इतना बड़ा और इस योग्य बनाया है। इसलिए हम तुम्हारे ही पुत्र हैं, अन्य किसी के भी नहीं।

कृष्ण का पत्र और मौखिक सन्देश लेकर उद्धव जब चलने लगे तो कुब्जा ने यह समाचार सुन लिया कि उद्धव ब्रज को जा रहे हैं। यह सुनकर उसने उद्धव को अपने महल में बुला लिया। उद्धव को बुलाकर कुब्जा ने अपने हाथ से राधा और गोपियों के लिए पत्र लिखकर उद्धव को दे दिया। उसने लिखा कि हे गोपियो! तुम मुझ पर यह अपराध लगाती हो कि मैंने कृष्ण को अपने वश में कर तुमसे विमुख कर दिया है। परन्तु तुम्हारी यह धारणा गलत है, क्योंकि मुझ पर तो कृष्ण की कृपा अनायास ही, एकाएक हो उठी थी। मैंने उन्हें आकर्षित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया था। इसलिए तुम मेरी बात न सुनकर मुझ पर क्यों कुपित हो रही हो? इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है।

राग गौरी

ऊधौ ब्रजहिं जाहु पालागौं।
यह पाती राधा कर दीजौ, यह मैं तुमसौं माँगौं।।
गारी देहिं प्रात उठि मोकौं, सुनति रहति यह बानी।
राजा भए जाइ नन्दनन्दन, मिली कूबरी रानी।।

मो पर रिस पावतिं काहे कौं, बरजि स्याम नहिं राख्यौ।
लरिकाई तैं बाँधति जसुमति, कहा जु माखन चाख्यौ॥
रजु लै सबै हजूर होतिं तुम्ह, सहित सुता ब्रजभान।
सूर स्याम बहुरौ ब्रज जैहैं, ऐसे भए अजान॥११-ऊ॥

शब्दार्थ—रिस पावतिं=क्रोध करती हैं। बरिज=रोक कर, मना कर। रजु=रज्जु, रस्सी। हजूर=हाजिर, प्रस्तुत। सुता ब्रजभान=राधा। बहुरौ=पुनः। अजान=अज्ञानी, मूर्ख।

भावार्थ—कुब्जा राधा के लिए पत्र लिख, उसे उद्धव को देती हुई कह रही है कि—

हे उद्धव! मैं तुम्हारे चरण स्पर्श करती हूँ, तुम ब्रज चले जाओ। मैं तुमसे केवल यह प्रार्थना करती हूँ कि तुम ब्रज पहुँचकर यह पत्र राधा के हाथ में दे देना। मैं बराबर यह बात सुनती रहती हूँ कि रोज प्रातःकाल उठकर वह मुझे गाली दिया करती हैं। कहा करती हैं कि नन्द-नन्दन कृष्ण मथुरा जाकर राजा हो गये हैं और उन्हें वहाँ कुबड़ी रानी मिली है। मेरी समझ में यह नहीं आता कि राधा मुझ पर क्रोध क्यों करती हैं? अपने कृष्ण को ऐसा करने से रोक कर अपने पास क्यों नहीं रख लेतीं?

परन्तु कृष्ण अब ब्रज नहीं जाना चाहते, क्योंकि वहाँ यशोदा माता बचपन से ही जरा-सा मक्खन खाने के अपराध पर कृष्ण को ऊखल से बाँधकर डाल दिया करतीं थीं। अगर उन्होंने थोड़ा-सा मक्खन खा भी लिया तो कौन-सा ऐसा बड़ा अपराध कर बैठे जो उन्हें यह सजा भोगनी पड़ती थी। और जब यशोदा कृष्ण को बाँधती थीं तो राधा सहित सारी गोपियाँ रस्सियाँ ले-लेकर उनकी सेवा में हाजिर हो जाती थीं कि इन रस्सियों से इन्हें कसकर बाँध दो। क्या कृष्ण ऐसे अज्ञानी (मूर्ख) हैं कि ब्रज में भोगी गई ऐसी यातनाओं को सहने के उपरांत भी फिर यहाँ से लौटकर ब्रज जाना चाहेंगे? अर्थात् अब वे कभी ब्रज लौटकर नहीं जायेंगे।

विशेष—अनायास ही दुर्लभ कृष्ण-प्रेम की अधिकारिणी बनी कुब्जा का आत्मविश्वास भरा दम्भ दर्शनीय है।

राग सोरठ

मो पै काहे को झुकति ब्रजनारी?
काहू के भाग मों साझो नहिंन, हरि की कृपा नियारी॥
फलन माँझ जैसे करुइ तूमरि, रहित जो घूरे डारी।
हाथ परी जब गुनी जनन के, बाजति राग दुलारी॥
यह संदेस कुब्जा कहि पठयो, अरु कीन्ही मनुहारी।
तन टेढ़ी सब कोऊ जानत, परसे भइ अधिकारी॥

हौं तो दासी कंसराय की, देखहु हृदय बिचारी।
सूर स्याम करुनाकर स्वामी, अपने हाथ सँवारी ॥११-ए॥

शब्दार्थ—झुकति=टूटती, कोप करती हो। साझो=साझा। नियारी=निराली। तूमरि=लौकी। मनुहारी=विनय। परसे=स्पर्श करने से।

भावार्थ—अपने प्रति गोपियों के क्रोध को समझ, कुब्जा विनय भरे शब्दों में उद्धव द्वारा गोपियों को सन्देश भेज रही है कि—

हे व्रज बालाओ ! तुम मुझ पर क्यों कोप करती हो, टूटी पड़ती हो ? किसी के भाग्य में किसी दूसरे का कोई साझा नहीं होता। सब अपने-अपने भाग्य के अनुसार सुख-दुःख भोगते हैं। भगवान कृष्ण की कृपा बड़ी विचित्र होती है। न जाने कब किस पर उनकी कृपा हो जाय। नारी-समाज में मेरी स्थिति वही थी, जो फलों में कड़वी लौकी की होती है। उसे कोई नहीं अपनाता और घूरे पर फेंक देता है। परन्तु जब घूरे पर पड़ी हुई वह उपेक्षिता लौकी किसी गुणी व्यक्ति के हाथ पड़ जाती है तो वह उससे बीन बना लेता है और फिर वही उपेक्षिता लौकी बीन बनकर मन-मोहक, सुन्दर, प्यारे राग अलापने लगती है। यही दशा मेरी थी। मैं दासी का काम करती थी, कुबड़ी होने के कारण सब मेरी उपेक्षा करते थे, परन्तु मेरा सौभाग्य कि कृष्ण जैसे पारखी की मुझ पर नजर पड़ गई और उन्होंने मुझे उपेक्षा के उस गर्त्त से बाहर निकाल अपना लिया। उनका सान्निध्य और स्नेह पा, मेरे गुण प्रस्फुटित हो उठे और मेरा महत्त्व बढ़ गया।

उद्धव गोपियों से कहते हैं कि कुब्जा ने तुम्हारे लिए यह सन्देश भेजा है और प्रार्थना की है कि सब जानते हैं कि मैं तो शरीर से टेढ़ी (कुबड़ी) थी। परन्तु कृष्ण के हाथ का स्पर्श पाकर उनके योग्य, उनकी कृपा की अधिकारिणी बन गई। तुम अपने मन में सोचकर देख लो कि मैं तो राजा कंस की दासी थी परन्तु सब पर करुणा करने वाले स्वामी कृष्ण ने स्वयं अपने हाथ से मुझे सँवार कर, मेरा कूबड़ापन दूर कर मुझे इस योग्य बना दिया। इसलिए तुम्हें मुझ पर कोप नहीं करना चाहिए।

विशेष—कुब्जा के प्रति सौतिया-डाह से भर गोपियाँ प्रायः उसे भला-बुरा कहती रही हैं। इस पद में कुब्जा स्वयं को सर्वथा निर्दोष घोषित करती हुई गोपियों से कोप न करने की प्रार्थना कर रही है। भगवान् संसार द्वारा उपेक्षितों को अपना कर उन्हें महत्त्वपूर्ण बना देते हैं, यह पद भक्ति-सिद्धान्त के इस तथ्य की भी पुष्टि करता है।

राग धनाश्री

ऊधौ यह राधा सौं कहियौ।
जैसी कृपा स्याम मोंहि कीन्हीं, आपु करत सोइ रहियौ ॥
मो पर रिस पावति बिनु कारन, मैं हौं तुम्हारी दासी।
तुमहीं मन मैं गुनि धौं देखौ, बिनु तप पायौ कासी ॥

कहाँ स्याम को तुम अरधंगिनि, मैं तुम सरि की नाहीं।
सूरज प्रभु कौ यह न बूझिए, क्यों न उहाँ लौं जाहीं ।।११–ऐ।।

शब्दार्थ—मोहिं=मुझ पर। आपु=आप भी। गुनि धौं=विचार कर। अरधंगिनी=अर्द्धाङ्गिनी, पत्नी। सरि=समान। बूझिए=पूछतीं।

भावार्थ—कुब्जा पिछले पद में अभिव्यक्त अपने दम्भ को त्याग उद्धव के हाथ राधा को सन्देश भेजती हुई कह रही है कि—

हे उद्धव! तुम राधा से मेरा यह सन्देश कहना कि जिस प्रकार कृष्ण ने मुझ पर कृपा की है, मुझे अपना लिया है, तुम भी मुझ पर सदैव अपनी वैसी ही कृपा बनाये रखना! हे राधा! तुम बिना कारण ही मुझ पर क्रोध करती रहती हो, मैं तो तुम्हारी दासी हूँ। तुम अपने मन में सोचकर देखो कि मैंने काशी में बिना तपस्या किये ही वह दुर्लभ फल प्राप्त कर लिया है—जो बड़े-बड़े तपस्वी भी नहीं प्राप्त कर पाते, अर्थात् बड़े-बड़े महान् तपस्वियों को भी घोर तपस्या करने पर भी जिन भगवान् कृष्ण के दर्शन तक प्राप्त नहीं हो पाते, मैंने उन्हीं कृष्ण को अनायास ही प्राप्त कर लिया है। मैं ऐसी भाग्यशालिनी हूँ।

हे राधा! तुम्हारी-मेरी कोई बराबरी नहीं है। कहाँ तो तुम कृष्ण की अर्द्धाङ्गिनी हो, और कहाँ मैं उनकी दासी मात्र हूँ। इसलिए मैं तुम्हारी बराबरी कर ही नहीं सकती। पत्नी—पत्नी ही रहती है और दासी—दासी ही। तुम मुझ पर व्यर्थ क्रोध करती हो। तुम स्वयं कृष्ण से ही क्यों नहीं पूछ लेतीं कि वह ब्रज को क्यों नहीं जाते, या क्यों नहीं जाना चाहते?

विशेष—यहाँ कुब्जा अपने विनय-भरे वाक्चातुर्य द्वारा कृष्ण के ब्रज न जाने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व कृष्ण पर ही डालकर स्वयं उस लांछन से मुक्त होने का श्लाघनीय प्रयत्न कर रही है।

राग सारंग

सुनियो एक सँदेसो ऊधो, तुम गोकुल को जात।
ता पाछे तुम कहियो उनसों, एक हमारी बात।।
मात-पिता को हेत जानि कै, कान्ह मधुपुरी आए।
नाहिन स्याम तिहारे प्रीतम, ना जसुदा के जाए।।
समुझौ बूझौ अपने मन में, तुम जो कहा भलो कीन्हो।
कह बालक, तुम मत्त ग्वालिनी, सबै आप-बस की हो।।
और जसोदा माखन-काजै, बहुतक त्रास दिखाई।
तुमहिं सब मिलि दाँवरि दीन्हीं, रंच दया नहिं आई।।
अरु बृषभानुसुता जो कीन्हीं, सो तुम सब जिय जानो।
याही लाज तजी ब्रज मोहन, अब काहे दुख मानो?

सूरदास यह सुनि सूनि बातें, स्याम रहे सिर नाई।
इत कुब्जा उत प्रेम ग्वालिनी, कहत न कछु बनि आई ।।१२।।

शब्दार्थ—हेतु=प्रेम। जाए=उत्पन्न, पुत्र। मत्त=मस्त, मदमाती। आप-बस=अपने वश में। त्रास=दुःख, भय। दाँवरि दीन्हीं=रस्सी से बाँधा। रंच=तनिक भी। नाई=नीचा किये।

प्रसंग—जब कृष्ण ने उद्धव को व्रज जाने और वहाँ सबको उनका सन्देश देने की आज्ञा दी तो कुब्जा ने उन्हें अपने महल में बुला लिया और स्वयं उनके द्वारा गोपियों को यह सन्देश भेजा।

भावार्थ—कुब्जा उद्धव से कहती है कि हे उद्धव ! तुम गोकुल जा रहे हो तो मेरा भी एक सन्देश सुनते जाओ। जब तुम गोपियों से कृष्ण का सन्देश कह चुको तो उनसे मेरी भी एक बात कह देना। उनसे कहना कि अपने माता-पिता (वसुदेव-देवकी, नन्द-यशोदा नहीं) का प्रेम देख और उनका कल्याण करने की भावना के कारण ही कृष्ण मथुरा आये थे। कृष्ण न तो तुम्हारे प्रियतम हैं और न यशोदा के पुत्र ही। तुम लोग स्वयं ही अपने मन में इस बात का विचार करो कि तुम लोगों ने कृष्ण के साथ क्या भलाई की थी ? कहाँ वह नन्हें से बालक और कहाँ तुम मदमस्त ग्वालिनी ! परन्तु तुम सबने मिलकर उन्हें अपने वश में कर लिया था। भाव यह है कि बालक कृष्ण और मदमाती युवती गोपियों का यह प्रेम-सम्बन्ध नितान्त अनुचित और अस्वाभाविक था।

इतना ही नहीं, यशोदा ने मक्खन के लिए कृष्ण को बहुत दुःख दिये थे। तुम सबने मिलकर (षडयन्त्र रचकर) उन्हें रस्सी से बँधवा दिया था। ऐसा करते समय तुम्हें उन पर तनिक भी दया नहीं आई थी। और वृषभानु की बेटी राधा ने उनके साथ जैसा व्यवहार किया था उसे तुम सब मन में अच्छी तरह से जानती हो। राधा के उस व्यवहार के कारण लज्जित होकर कृष्ण ने तुम सबको त्याग दिया है। अब तुम इसके लिए दुःखी क्यों होती हो ? अर्थात् न तुम कृष्ण के साथ ऐसा बुरा व्यवहार करतीं और न वह तुम्हें छोड़कर मथुरा आते। अब पछताने से क्या लाभ ! सूरदास कहते हैं कि कुब्जा की इन बातों को सुन-सुनकर कृष्ण (दुविधा में पड़े) सिर नीचा किए बैठे रहे। वह बड़े असमंजस में पड़ गए थे कि क्या कहें, क्योंकि इधर तो कुब्जा का आकर्षण था और उधर गोपियों का प्रेम व्याकुल कर रहा था। इसीलिए उनसे कुछ भी कहते नहीं बना। वह सिर झुकाए चुपचाप कुब्जा की सौतिया-डाह से भरी बातें सुनते रहे।

विशेष—(१) इसमें कुब्जा के कथन में असूया संचारी भाव का चित्रण हुआ है। कुब्जा सौतिया-डाह से भर गोपियों को जली-कटी सुना रही है और अपनी विजय पर गर्वित हो उच्छृङ्खलता का प्रदर्शन कर रही है।

(२) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'भ्रमर गीत' का सम्पादन करते समय कथा-क्रम का ध्यान नहीं रखा है। इसीलिए इसमें संग्रहीत पदों में कथा का तारतम्य नहीं

मिलता। 'सूर-सागर' में इस पद के पूर्व कई पद ऐसे हैं, जिनमें कुब्जा उद्धव का ब्रज जाना सुनकर उन्हें अपने महल में बुलाती है और विस्तार के साथ अपना सन्देश कहती है। कथा के तारतम्य को जोड़ने के लिए 'सूर-सागर' में आया निम्नलिखित पद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कृष्ण ने उद्धव को पत्र लिखकर दिया—

"पाती लिखि ऊधौ कर दीन्ही।
नन्द जसोदहि हित कर दीजौ, हँस उपंग सुत लीन्ही ॥
मुख बचननि कहि हेत जनायौ, तुम हौ हितू हमारे।
बालक जानि पठए नृप डर सौं, तुम प्रतिपालनहारे ॥
कुबिजा सुन्यौ जात ब्रज ऊधौ, महलहिं लियौ बुलाई।
अपने कर पाती लिखि राधेहिं, गोपिन सहित बढ़ाई ॥
मोकौं तुम अपराध लगावति, कृपा भई अनयास।
झुकति कहा मो पर ब्रजनारी, सुनहु न सूरजदास ॥"

यह पद टूटी हुई-सी कथा-श्रृङ्खला को जोड़ देता है।

राग बिलावल

तब ऊधौ हरि निकट बुलायौ।
लिखि पाती दोउ हाथ दई तिहिं, औ मुख बचन सुनाऔ ॥
ब्रजबासी जाबत नारी नर, जल थल द्रुम बन पात।
जो जिहिं विधि तासौं तैसेहीं, मिलि कहियौ कुसलात ॥
जो सुख स्याम तुमहिं तैं पावत, सो त्रिभुवन कहु नाहिं।
सूरज प्रभु दई सौंह आपुनी, समुझत हौ मन माहिं ॥१२-अ॥

शब्दार्थ—जाबत=यावत, जितने भी। कुसलात=कुशल-समाचार। सौंह=सौगन्ध।

भावार्थ—कृष्ण ने ब्रजवासियों के लिए पत्र लिखकर उसे उद्धव को सौंप दिया और साथ ही मौखिक सन्देश भी भेजा। सूरदास इसी प्रसंग का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि—

तब कृष्ण ने उद्धव को अपने पास बुलाया और अपने दोनों हाथों से, मानो कोई अत्यन्त पवित्र और प्रिय वस्तु हो, उसे उद्धव को सौंप दिया। और इसके उपरान्त उद्धव से बोले—हे सखा! ब्रज में जितने भी नर और नारी हों, उन सबको तथा वहाँ के जल, थल, वृक्ष और वन के पत्ते-पत्ते से—जिसको जिस योग्य समझो, उसी प्रकार से मिलना और हमारी कुशलता का समाचार सुनाना। और उससे कहना कि कृष्ण ने यह कहा है कि तुम्हारे संसर्ग में रहने पर कृष्ण को जैसा सुख मिलता है, वैसा तीनों लोकों में अन्यत्र कहीं भी नहीं प्राप्त होता। कृष्ण ने यह बात अपनी सौगन्ध उठाकर कही है और तुम स्वयं इस बात को अपने मन में भी समझते हो कि कृष्ण तुमसे ही सबसे अधिक प्रेम करते हैं।

विशेष—ज्ञानमार्गी उद्धव द्वारा ब्रज में सर्वाधिक सुख प्राप्त करने का सन्देश भिजवाकर कृष्ण उद्धव के उस भावी प्रयत्न की असफलता की भूमिका प्रस्तुत कर रहे हैं। परन्तु ज्ञान-दम्भी उद्धव ज्ञान-मदोन्मत्त होने के कारण इस रहस्य को नहीं समझ पाते।

राग बिलावल

ऊधौ चले स्याम आयसु सुनि, ब्रज नारिन कौ जोग कह्यौ।
हरि के मन यह प्रेम लहैगौ, वह तौ जिय अभिमान गह्यौ॥
आतुर चल्यौ हरष मन कीन्हे, कृस्न महत करि पठै दियौ।
स्यंदन उहै स्याम सब भूषन, जानि परै नन्द सुवन बियौ॥
जुवती कहा ज्ञान समुझैंगी, गर्व वचन मन कहत चल्यौ।
सूर ज्ञान कौ मान बढ़ाए, मधुवन के मारगहिं मिल्यौ॥११-आ॥

शब्दार्थ—आयसु=आज्ञा। लहैगौ=प्राप्त करेंगे। महत करि=महत्त्व प्रदान कर। पठै दियौ=भेज दिया। स्वयंदन=घोड़े। उहै=वही। सुवन=पुत्र। बियौ=दूसरा। मारगहिं=मार्ग पर।

भावार्थ—उद्धव श्याम की आज्ञा से मथुरा की ओर चल दिए। सूरदास इसी का वर्णन कर रहे हैं कि कृष्ण की आज्ञा सुनकर उद्धव ब्रज की नारियों (गोपियों) को योग की शिक्षा देने चल दिए। उद्धव मन में इस बात का अभिमान कर रहे थे कि अपने इस कार्य में सफल होने पर वह कृष्ण के अभिन्न प्रेम-पात्र बन जायेंगे। यह सोच मन में हर्षित होते हुए, उद्धव आतुर हो चलने लगे कि कृष्ण ने उन्हें इतना महत्त्व प्रदान कर, उन्हें ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी समझ गोपियों को योग सिखाने के लिए भेजा है। उनके रथ के घोड़े भी उसी रथ के से थे, जिस पर बैठ कृष्ण ब्रज से मथुरा को गए थे। उनके सारे आभूषण भी वही थे जो कृष्ण धारण करते थे। ऐसे रूप और वेश-भूषा वाले उद्धव को देखकर ऐसा लगता था—मानो वे नन्द के ही दूसरे पुत्र हों। कृष्ण और उनमें इतनी अधिक समानता थी।

उद्धव मार्ग में चलते हुए मन-ही-मन गर्व से भरे ये वचन कहते जा रहे थे कि ये युवतियाँ (गोपियाँ) ज्ञान जैसे गम्भीर विषय को क्या समझ सकेंगी! इस प्रकार उद्धव मन ही मन ज्ञान की महत्ता पर विचार करते हुए, उसे गोपियों के लिए अगम्य और असाध्य समझते हुए मथुरा से ब्रज को जाने वाले मार्ग पर पहुँच गये।

विशेष—उद्धव ब्रज जाने से पूर्व ही यह जानते थे कि गोपियाँ उनके ज्ञानोपदेश को नहीं समझ सकेंगी। यह जानते हुए भी ब्रज पहुँचकर गोपियों को ज्ञानोपदेश देने का उनका प्रयत्न बुद्धिमानी का सूचक नहीं माना जा सकता। परन्तु सूर ने उनके द्वारा यही प्रयत्न करवाकर ज्ञानमार्गियों के दम्भ और मूढ़ता का आगे चलकर खूब पर्दाफाश किया है।

राग बिलावल

जबहिं चले ऊधौ मधुवन तैं, गोपिन मनहिं जनाइ गई।
बार बार अलि आगे स्रवननि, कछु दुख कछु हिय हर्ष भई॥
जहँ तहँ काग उड़ावन लागी, हरि आवत उड़ि जाहि नहीं।
समाचार कहि जबहिं मनावति, उड़ि बैठत सुनि औचकहीं॥
सखी परस्पर यह कही बातैं, आज स्याम कै आवत हैं।
किधौं सूर कोऊ ब्रज पठयौ, आजु खबरि कै पावत हैं॥१२–इ॥

शब्दार्थ—जनाइ गई=मालूम पड़ गई। अलि=भ्रमर। लागे=मँडराने लगे। मनावति=खुशामद करतीं या मनौती मनातीं। औचकहीं=अचानक ही। कै=या। किधौं=अथवा।

भावार्थ—इधर उद्धव मथुरा से ब्रज के लिए रवाना हुए, उधर गोपियों को शुभ-शकुन होने लगे। सूरदास इसी प्रसंग का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि—

जैसे ही उद्धव मथुरा से चले, गोपियों के मन को इसकी सूचना मिल गई। अर्थात् गोपियों को यह विश्वास-सा होने लगा कि आज उन्हें कोई शुभ-समाचार मिलेगा। क्योंकि भ्रमर बार-बार आकर उनके कानों के पास मँडराने लगा, मानो उनसे प्रियतम कृष्ण के सम्बन्ध में कुछ कह रहा हो। भ्रमर को देखकर उन्हें थोड़ा-सा दुःख भी हुआ और थोड़ा-सा हर्ष भी हुआ। दुःख इसलिए कि भ्रमर अपनी गुँजार द्वारा उनके हृदय में कृष्ण की स्मृति उत्पन्न करने लगा। और सुख इसलिए कि भ्रमर के रूप में कृष्ण के रूप का सादृश्य या उन्हें प्रियतम कृष्ण के आंशिक दर्शन-सा करने का सन्तोष प्राप्त हुआ।

सुख-दुःख मिली इसी मिश्रित भावना से प्रेरित हो, गोपियाँ जहाँ-तहाँ मुँडेरों पर बैठे कौओं को उड़ाने लगीं कि यदि कृष्ण आ रहे हों तो तू उड़ क्यों नहीं जाता। (किसी के द्वारा ऐसे कहने पर यदि कौआ उड़ जाता है तो यह शुभ-शकुन माना जाता है।) जब गोपियाँ कृष्ण के आने का यह समाचार कौए को दे, मन-ही-मन मनौतियाँ मनाने लगतीं तो कौआ उसे सुन उड़कर अचानक फिर वहीं बैठ जाता था। यह देख कर सखियाँ परस्पर ये बातें कहने लगीं कि या तो आज कृष्ण आ रहे हैं या उन्होंने आज किसी को व्रज भेजा है। इसलिए आज हमें कृष्ण का समाचार मिल जायगा।

विशेष—कृष्ण के आने की कल्पना और आशंका मात्र से गोपियों का इस प्रकार उद्वेलित हो उठना, कृष्ण के प्रति उनके अगाध प्रेम और मिलन की व्याकुलता का प्रतीक है। सूरदास ऐसे मनोवैज्ञानिक क्षणों के अत्यन्त कुशल चितेरे हैं।

राग-कल्यान

ऊधौ रथ बैठि चले, ब्रज तन समुहाइ।
मथुरा तैं निकसि परे, गैल माँझ आइ॥

वहै मुकुट पीतांबर, स्याम रूप काछे।
भृगुपद इक बंचित उर, और अंग आछे॥
ज्ञान कौ अभिमान किए, मोकौं हरि पठयौ।
मेरोई भजन थापि, मायां सूख झूठ्यौ॥
मधुवन तें चल्यौ तबहीं गोकुल नियरान्यौ।
देखत ब्रज लोग स्याम आयौ अनुमान्यौ॥
राधा सौं कहति नारि, काग सगुन टेरौ।
मिलिहैं तोहिं स्याम आजु, भयौ बचन मेरौ॥
वैसोइ रथ देखति सब, कहति हरष बानी।
सूरज प्रभु से लागत, तरुनी मुसुकानी॥१२-ई॥

शब्दार्थ—तन=ओर, तरफ। समुहाइ=मुँह कर, सम्मुख। गैल=मार्ग। काछे=धारण किए। आछे=सुन्दर। थापि=स्थापित कर। नियरान्यौ=पास आया। टेरौ=बुलाय, उच्चारण किया।

भावार्थ—पूर्णतः कृष्ण के ही रूप और वेश-भूषा वाले उद्धव कृष्ण की आज्ञानुसार ब्रज में गोपियों को योग सिखाने मथुरा से ब्रज की ओर जा रहे हैं। सूरदास इसी प्रसंग का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि--

उद्धव रथ पर वैठ ब्रज की ओर उन्मुख होकर चल दिये। वह मथुरा से निकल ब्रज को जाने वाले मार्ग पर आ गए। उन्होंने श्याम का-सा ही पीताम्बर और मुकुट धारण कर रखा था। उनके अन्य सम्पूर्ण अंग तो कृष्ण के अंगों के समान और सुन्दर थे, केवल वक्षस्थल पर महर्षि भृगु के चरण का चिह्न नहीं था। (कृष्ण के वक्ष पर महर्षि भृगु के चरण का चिह्न था।) उद्धव मन-ही-मन अपने ज्ञान का अभिमान कर रहे थे कि कृष्ण ने मुझे परम ज्ञानी जानकर ही गोपियों को योग सिखाने भेजा है। ऐसा करके कृष्ण ने मेरी ही साधना-पद्धति (योग-साधना) की स्थापना की है, उसे स्वीकृति प्रदान की है और यह स्वीकार कर लिया है कि संसार का माया-जनित सुख मिथ्या और असार है।

मथुरा से चलने के थोड़ी ही देर बाद उनका रथ गोकुल के पास पहुँच गया। उस रथ की ओर उस पर सवार उद्धव को देख ब्रज के लोगों ने अनुमान किया कि कृष्ण आए हैं। राधा से उसकी सखियाँ कहने लगीं कि कौए ने प्रातःकाल ही शुभ-शकुन की सूचना दे दी थी कि आज प्रियतम आने वाले हैं। सखी राधा से कहने लगी कि आज तुम्हें श्याम मिलेंगे, मेरी यह बात निश्चित जान लो। कृष्ण का-सा रथ देख कर सारी गोपियाँ हर्ष भरी वाणी में कहने लगीं कि यह आगन्तुक स्वामी कृष्ण जैसा ही प्रतीत होता है। यह कहकर सारी तरुणियाँ मुस्कराने लगीं।

विशेष—उद्धव के आगमन को कृष्ण का आगमन समझ गोपियों की

उत्सुकता और हर्ष का हृदयग्राही चित्रण है। साथ ही उद्धव के ज्ञानाभिमान के प्रति संकेत भी द्रष्टव्य है। सूर इन प्रारम्भिक पदों में उद्धव के ज्ञान-गर्व के प्रति संकेत करना कहीं भी नहीं भूलते।

राग बिलावल

उमँगि ब्रज देखन कौं सब धाए।
एकहिं एक परस्पर बूझति, मोहन दूलह आए।।
सोई ध्वजा, पताका सोई, जा रथ चढ़ि जु सिधाए।
श्रुति कुंडल अरु पीत बसन छबि वैसोई साज बनाए।।
आइ निकट पहिचाने ऊधौ, नैन जलज जल छाए।
सूरदास मिटी दरसन आसा, नूतन बिरह जनाए।।१३।।

शब्दार्थ—उमँगि=उमंगित, प्रफुल्लित हो। धाए=दौड़े। बूझति=पूछती हैं। सोई=वैसी ही सिधाए=सिधारे, गए। जलज=कमल। जनाए=उत्पन्न किया।

भावार्थ—उद्धव के ब्रज पहुँच जाने पर वहाँ के लोग हर्षित हो उठे। सूर उसी का वर्णन कर रहे हैं कि—

उद्धव को ब्रज में आया जान, सारे ब्रजवासी उत्साहित और हर्षित हो उन्हें देखने के लिए दौड़े चले आए। सारी गोपियाँ परस्पर एक-दूसरे से पूछने लगी कि क्या दूल्हा (पति) कृष्ण आये हैं? इनके रथ की ध्वजा भी वैसी ही है, पताका भी वैसी ही है और रथ भी वैसा ही है, जिस पर चढ़कर श्याम यहाँ से मथुरा गए थे। यह सारा साज कृष्ण जैसा ही बनाए हुए हैं, कानों के कुण्डल और पीताम्बर की छवि भी वैसी ही है।

यह कहते हुए जब ब्रजवासी उद्धव के निकट आए और यह पहचाना कि ये तो उद्धव हैं, कृष्ण नहीं हैं, तो उनके कमल जैसे सुन्दर नेत्रों में आँसू भर आए। कृष्ण-दर्शन की उनकी आशा नष्ट हो गई और सबके हृदय नए सिरे से फिर विरह-वेदना से भर गए। अर्थात् आशा भंग हो जाने से आशा के कारण शान्त हुआ, विरह फिर नए रूप में उन्हें दग्ध करने लगा।

विशेष—अनुमान के आधार पर उत्पन्न आशा और आशा के कारण उत्पन्न हर्ष और उत्साह फिर एकाएक उस आशा के भंग हो जाने पर उत्पन्न प्रतिक्रिया और परिणाम—इन सम्पूर्ण मानसिक स्थितियों का सूर ने यथार्थ, क्रमिक और मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। सूर मानव मनोविज्ञान के अद्भुत पारखी और कुशल चितेरे थे।

उद्धव का ब्रज में आना

राग मलार

कोऊ आवत है तन स्याम।
वैसेइ पट, वैसिय रथ-बैठनि, वैसिय है उर दाम॥
जैसी हुति उठि तैसिय दौरीं, छाँड़ि सकल गृह-काम।
रोम पुलक, गद्‌गद् भइँ तिहि छन, सोच अंग अभिराम॥
इतनी कहत आय गए ऊधौ, रहीं ठगी तिहि ठाम।
सूरदास प्रभु ह्याँ क्यों आवैं, बँधे कुब्जा-रस स्याम॥१३॥

शब्दार्थ—तन स्याम=काले शरीर वाला। पट=वस्त्र। वैसिय=वैसी ही। बैठनि=बैठने का ढंग। दाम=माला। हुति=थीं। रोमपुलक=रोमांचित होना। अभिराम=सुन्दर। ठाम=स्थान। ठगी=जड़वत्, आश्चर्यचकित। रस=प्रेम।

भावार्थ—उद्धव ब्रज में पहुँच गए। गोपियों ने उन्हें देखकर कहा कि कोई श्याम वर्ण वाला पुरुष आ रहा है। उसके वस्त्र वैसे ही अर्थात् कृष्ण के वस्त्र जैसे ही हैं। रथ में उसके बैठने का ढंग भी कृष्ण जैसा ही है। वह वक्ष पर वैसी ही माला धारण किए हुए है। उसे देखकर गोपियाँ जिस स्थिति में थीं उसी में उठकर, घर के सारे काम-काज छोड़ दौड़ पड़ीं। अत्यधिक आनन्द के कारण उन्हें रोमांच हो आया। वह उस श्याम वर्ण वाले पुरुष (उद्धव) को देख गद्‌गद् हो उठीं। उन्होंने उस क्षण यही सोचा कि सुन्दर-शरीर वाले कृष्ण स्वयं पधारे हैं। गोपियाँ आपस में यह कह ही रही थीं कि इतने में उद्धव उनके पास आ पहुँचे। उन्हें देखकर सारी गोपियाँ स्तब्ध हो जड़वत् वहीं खड़ी की खड़ी रह गईं। (गोपियों की स्तब्धता का कारण यह था कि उन्होंने तो समझा था कि स्वयं कृष्ण आ रहे हैं, परन्तु पास आने पर देखा कि यह तो कोई अन्य पुरुष है।) सूरदास कहते हैं कि कृष्ण के स्थान पर उद्धव को आया देख, गोपियाँ कहने लगीं कि अब कृष्ण यहाँ क्यों आएँगे क्योंकि वह तो वहाँ कुब्जा के प्रेमपाश में बँधे हुए हैं।

विशेष—(१) उद्धव को कृष्ण समझ गोपियों द्वारा कृष्ण का स्मरण करने में 'स्मरण' अलंकार, तथा भ्रम से उद्धव को कृष्ण समझ लेने में 'भ्रान्तिमान' अलंकार है।

(२) रोमपुलक, गद्‌गद् आदि में श्रृङ्गार रस के अयत्नज अनुभाव पुलक की स्थिति का मनोरम चित्रण है।

(३) अन्तिम पंक्ति में 'बँधे कुब्जा-रस स्याम' में कुब्जा के प्रति गोपियों के असूया भाव (सौतिया डाह) का मार्मिक चित्रण है।

(४) कृष्ण की कल्पना में मग्न गोपियों द्वारा कृष्ण के स्थल पर उद्धव को देख, स्तब्ध रह जाने में परस्पर-विरोधी भावों का मनोवैज्ञानिक परिवर्तन और अभाव अत्यन्त स्वाभाविक है।

उद्धव का ब्रज में दिखाई पड़ना

राग मलार

है कोई वैसीई अनुहारि ।
मधुवन तें इत आवत सखि री ! चितौ तु नयन निहारि ।।
माथे मुकुट, मनोहर कुंडल, पीत बसन रुचिकारि ।
रथ पर बैठि कहत सारथि सों, ब्रज तन बाँह पसारि ।।
जानति नाहिंन पहिचानति हौं, मनु बीते जुग चारि ।
सूरदास स्वामी के बिछुरे, जैसे मीन बिनु बारि ।।१४।।

शब्दार्थ—अनुहारि=बनावट, रूपरेखा । इत=इधर । चितौ=सोच । रुचिकारि=रुचिर, सुन्दर । तन=ओर, तरफ । पसारि=फैलाकर । वारि=जल ।

भावार्थ—उद्धव को ब्रज में आया हुआ देख कोई गोपी अपनी सखी से कहती है कि हे सखी ! देख, कोई बिल्कुल वैसी ही (कृष्ण की-सी) रूपरेखा वाला मालूम पड़ता है । तू स्वयं अपने नेत्रों से देख और सोच कि वह मथुरा से इधर की ओर आ रहा है (अतः कृष्ण ही होने चाहिए) । उसके माथे पर मुकुट, कानों में मनोहर कुण्डल और शरीर पर सुन्दर पीले वस्त्र (पीताम्वर) है । वह रथ पर बैठा हुआ ब्रज की ओर बाँह फैलाकर अपने सारथी से कुछ कह रहा है । मैं उसे जानती तो नहीं कि कौन है, परन्तु ऐसा लगता है कि इसे कुछ-कुछ पहचानती अवश्य हूँ । ऐसा मालूम होता है मानो चार युग पहले; अर्थात् बहुत पहले इसे कहीं देखा हो । सूरदास कहते हैं कि उद्धव को देखकर अपने स्वामी कृष्ण से बिछुड़ी हुई गोपियाँ उसी प्रकार विरह-वेदना के कारण छटपटा रही हैं जैसे मछली पानी के बिना छटपटाती है ।

विशेष—(१) 'जैसे मीन बिनु बारि' में 'धर्मलुप्तोपमालंकार' है ।

(२) उद्धव और कृष्ण के रूप एवं वेश-साम्य को देखकर ही गोपियों को ऐसा भास हो रहा है, मानो बहुत पहले इस व्यक्ति से कभी जान-पहिचान रही हो । भूली हुई-सी स्मृति का सुन्दर अंकन हुआ है ।

राग बिलावल

जबहिं कह्यौ ये स्याम नहीं ।
परी मुरछि धरनी ब्रजबाला, जो जहँ रही सु तहीं ।।
सपने की रजधानी ह्वै गइ, जो जागीं कछु नाहीं ।
बार-बार रथ ओर निहारहिं, स्याम बिना अकुलाहीं ।।
कहा आइ करिहैं ब्रज मोहन, मिली कूबरी नारी ।
सूर कहत सब ऊधौ आए, गई काम सर मारी ।।१४-अ।।

शब्दार्थ—मुरछि=मूर्च्छित होकर। तहीं=वहीं। सपने की रजधानी=कल्पना का आनन्द। काम सर=काम-वाण।

भावार्थ—उद्धव को कृष्ण जान उमंगित ब्रजबालाओं को जब यह ज्ञात हुआ कि ये कृष्ण नहीं हैं, उस समय हुई उनकी व्याकुल दशा का चित्रण करते हुए सूरदास कह रहे हैं कि—

उद्धव को देख और पहचान कर जब उपस्थित लोगों ने यह कहा कि ये कृष्ण नहीं हैं तो यह सुनकर सारी ब्रजबालाएँ मूर्च्छित हो, धरती पर गिर पड़ीं। जो जहाँ खड़ी थी, वह वहीं गिर पड़ी। जिस प्रकार कोई व्यक्ति स्वप्न देखता है कि वह राजा बन गया है और राजधानी के सारे सुख-वैभव उसके हो गए हैं और जब उसकी आँखें खुलती हैं, स्वप्न भंग हो जाता है तो उसे कुछ भी नहीं दिखायी पड़ता, स्वप्न में प्राप्त वह राजधानी गायब हो जाती है, उद्धव को देख गोपियों की स्थिति भी उसी स्वप्न से जागे हुए व्यक्ति की हो उठी थी। उन्होंने कल्पना की थी कि कृष्ण आए हैं और वे उनसे मिलने की कल्पना से हर्षित हो उठी थीं। परन्तु कृष्ण के स्थान पर उद्धव को आया देख, उनका वह सारा हर्ष और उत्साह चकनाचूर हो गया। वे बार-बार रथ की ओर देखती थीं और श्याम को उसमें न पा व्याकुल हो उठती थीं।

निराश और हताश हो गोपियाँ कहने लगीं कि अब कृष्ण ब्रज में आकर क्या करेंगे, किस लिए यहाँ आयेंगे, क्योंकि वहाँ उन्हें कुबड़ी नारी (कुब्जा) मिल गई है। यहाँ सब यह कह रहे हैं कि उद्धव आए हैं। सूरदास कहते हैं कि यह सुनकर सारी गोपियाँ कामदेव के वाणों से आहत हो गईं। अर्थात् उन्हें विरह-वेदना दग्ध करने लगी। (यहाँ 'काम सर मारी' का अर्थ 'कामोद्दीपन' न मानकर 'विरह-वेदना का नए सिरे से प्रज्ज्वलित हो उठना' माना जायेगा।)

विशेष—(१) 'सपने की रजधानी ह्वै गइ' के रूप में सूर ने एक प्रसिद्ध लोकोक्ति का प्रयोग कर गोपियों की आशा भंग होने का संक्षेप में हृदयग्राही और मार्मिक चित्रण किया है।

(२) इस लोकोक्ति के कारण 'लोकोक्ति' अलंकार माना जाएगा।

राग सोरठ

देखो नन्दद्वार रथ ठाढ़ो।
बहुरि सखी सुफलकसुत आयो पर्यो सँदेह उर गाढ़ो॥
प्रान हमारे तबहिं गयो लै अब केहि कारन आयो।
जानति हौं अनुमान सखी री ! कृपा करन उठि धायो॥
इतने अन्तर आय उपँगसुत तेहि छन दरसन दीन्हो।
तब पहिचानि सखा हरिजू को परम सुचित तन कीन्हो॥
तब परनाम कियो अति रुचि सों और सबहिं कर जोरे।
सुनियत रहे तैसेई देखे, परम चतुर मति-भोरे॥

तुम्हरो दरसन पाय आपनो जन्म सफल करि जान्यो ।
सूर ऊधो सों मिलत भयो, सुख ज्यों झख पायो पान्यो ।।१५।।

शब्दार्थ—सुफलकसुत=अक्रूर । गाढ़ो=गहरा । उपंगसुत=उद्धव । सुचित=स्वस्थ । भोरे=भोले । पान्यो=पानी । झख=मछली ।

भावार्थ—उद्धव का रथ नन्द के दरवाजे पर आकर खड़ा हो गया । गोपियों ने उस रथ को नन्द के घर के सामने खड़ा हुआ देखा । यह देख एक गोपी अपनी सखी से कहने लगी कि हे सखी ! मेरे हृदय में यह गहरा सन्देह हो रहा है कि कहीं अक्रूर फिर तो नहीं आ गए हैं । (पहले अक्रूर आकर कृष्ण-बलराम को अपने साथ रथ पर बैठा कर मथुरा ले गए थे । गोपियाँ उसी प्रसंग को लक्ष्य कह रही हैं) । वह अक्रूर तो हमारे प्राण कृष्ण को उसी समय अपने साथ ले गए थे, अब फिर किस लिए यहाँ आए हैं ? हे सखी ! मैं अनुमान कर रही हूँ कि वह इस बार सम्भवतः हम पर कृपा करने के लिए पधारे हैं ।

गोपियाँ आपस में ये बातें कर ही रही थीं कि उसी समय उद्धव ने उनके पास आकर उन्हें अपने दर्शन दिए । तब उद्धव को कृष्ण के सखा के रूप में पहचान कर गोपियाँ स्वस्थ चित्त और प्रसन्न हुईं । अर्थात् अक्रूर-सम्बन्धी उनकी शंका दूर हो गई । सबने बड़े प्रेम के साथ उद्धव को हाथ जोड़कर प्रणाम किया । फिर वे उद्धव से कहने लगीं कि हम तुम्हारे सम्बन्ध में जैसा सुना करती थीं, तुम वैसे ही अत्यन्त चतुर वृद्धि वाले और भोले हो । तुम्हारे दर्शन पाकर हम अपने जन्म को सफल हुआ समझती हैं (क्योंकि तुम हमारे प्रियतम कृष्ण के परम-प्रिय सखा हो) । सूरदास कहते हैं कि गोपियों को उद्धव से मिलकर वैसा ही सुख प्राप्त हुआ, जैसे जल से बिछुड़ी हुई मछली को पुनः जल प्राप्त करने पर होता है ।

विशेष—(१) 'ज्यों झख पायो पान्यो' में उपमालंकार है ।

(२) गोपियों द्वारा उद्धव को 'परम चतुर मति भोरे' कहना भावी गोपी-उद्धव-विवाद और उसके गोपियों के अनुकूल परिणाम के प्रति संकेत कर रहा है । उद्धव अन्त में सचमुच भोले ही निकले ।

कहौ कहाँ तें आए हौ ।
जानति हौं अनुमान मनो, तुम जादवनाथ पठाए हौ ।।
वैसोई बरन, बसन पुनि वैसेई, तन भूषन सजि ल्याए हौ ।
सरबसु लै तब संग सिधारे, अब का पर पहिराए हौ ।।
सुनहु मधुप ! एकैं मन सब को, सो तो वहाँ लैं जाए हौ ।
मधुवन की मानिनी मनोहर, ततँहि जाहु जहँ भाए हौ ।।
अब यह कौन सयानप ? ब्रज, पर का कारन उठि धाएहौ ।
सूर जहाँ लौ स्यामगात है, जानि भले करि पाए हौ ।।१६।।

शब्दार्थ—जादवनाथ=यादवों के स्वामी कृष्ण। बरन=वर्ण, रंग। पहिराए=ले जाने के लिए। सयानप=चतुराई। स्यामगात=काले शरीर वाले।

भावार्थ—उद्धव को देखकर गोपियाँ उनसे पूछने लगीं कि यह बताओ, तुम कहाँ से पधारे हो? हमारा अनुमान कि शायद यादवनाथ कृष्ण ने तुम्हें यहाँ भेजा है। तुम्हारा रंग वैसा ही है, ऊपर से तुमने वैसे ही वस्त्र धारण कर रखे हैं और वैसे ही आभूषणों से अपने शरीर को सजा कर यहाँ आए हो। कृष्ण तो हमारा सर्वस्व उसी समय अपने साथ लेकर चले गए थे, अब तुम और क्या लेने के लिए यहाँ पधारे हो? (इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि तुम अक्रूर के रूप में हमारे सर्वस्व कृष्ण को तो पहले ही अपने साथ ले गए थे, अब यहाँ हमारे पास और बचा ही क्या है, जिसे ले जाने के लिए पुनः पधारे हो।)

हे मधुप! सुनो। हम सबका एक ही तो मन था, उसे तो कृष्ण अपने साथ लेकर वहाँ (मथुरा में) जम गए हैं। तुम्हारी मथुरा की नारियाँ मानवती और सुन्दर हैं, इसलिए तुम वहीं लौट जाओ जहाँ तुम्हारा मन लगता है। भाव यह है कि गोपियाँ मधुप के बहाने कृष्ण और कुब्जा पर व्यंग्य कर रही हैं कि यहाँ तो हम सब कृष्ण पर अपना तन-मन न्यौछावर करने को सदैव उद्यत रहती थीं, इसलिए कृष्ण हमसे ऊब कर यहाँ से चले गए। परन्तु मथुरा की कुब्जा जैसी नारियाँ मान करने वालीं और हमसे अधिक सुन्दर हैं, इसलिए कृष्ण उन्हें रिझाने में व्यस्त रहते हैं और वहीं उनका मन अधिक लगता है। आसानी से प्राप्त हुई वस्तु के प्रति आकर्षण नहीं रह जाता, गोपियाँ यहाँ इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के प्रति संकेत कर रही हैं।

अब यहाँ आने में तुम्हारा क्या अभिप्राय है? इसमें तुम्हारी क्या दुरभिसन्धि (षड्यंत्र) है। अब पुनः उठकर ब्रज पर किसलिए चढ़ाई की है? हमारा सर्वस्व तो पहले ही ले गए, अब और क्या चाहते हो? सूरदास कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि जहाँ तक काले शरीर वालों का सम्बन्ध है, हम उन्हें खूब अच्छी तरह से जान और समझ चुकी हैं (कि ये सब धोखेबाज होते हैं)। काले कृष्ण हमारा मन ले गए, काले अक्रूर हमारे सर्वस्व कृष्ण को ले गए। और अब काले शरीर वाले तुम हमारे साथ कौन-सा धोखा करने आए हो?

विशेष—(१) इस पद में आए 'मधुप' सम्बोधन से ही भ्रमरगीत का उपालम्भ प्रारम्भ हो जाता है।

(२) 'सूर सागर' में इस पद से पहले एक पद मिलता है, जिसमें स्पष्ट रूप से 'मधुप' के गोपियों के बीच आने का उल्लेख हुआ है—

"इहिं अन्तर मधुकर इक आयौ।"

इसलिए इस पद में आए 'मधुप' को हमें इसी प्रसंग के सन्दर्भ में लेना चाहिए।

३

राग नट

ऊधौ कहौ हरि कुसलात।
कह्यौ आवन किधौ नाहीं, बोलिए मुख बात।।
एक छिन जुग जात हमकौं, बिनु सुने हरि प्रीति।
आपु आए कृपा कीन्ही, अब कहौ कछु नीति।।
तब उपंग सुत सबनि बोले, सुनौ श्रीमुख जोग।
सूर सुनि सब दौरि आइं, हटकि दीन्हौ लोग।।१६–अ।।

शब्दार्थ—कुसलात=कुशल समाचार। आवन=आने के लिए। जात= व्यतीत होता है। हटकि=हटा दिया।

भावार्थ—उद्धव के व्रज-आगमन पर गोपियाँ उद्धव के पास एकत्र हो उनसे पूछ रही हैं कि—हे उद्धव ! हमें कृष्ण के कुशल-क्षेम का समाचार सुनाओ। तुम अपने मुख से हमें यह बताओ कि कृष्ण ने यहाँ आने के लिए कहा है अथवा नहीं। बिना कृष्ण के प्रेम भरे शब्द सुने, हमें एक-एक क्षण एक-एक युग के समान लम्बा बीतता लगता है। तुम यहाँ आए हो, यह हम पर बहुत बड़ी कृपा की है। अब कुछ नीति की बातें कहो। गोपियों के इन वचनों को सुनकर उद्धव सबको सम्बोधित कर कहने लगे कि हे गोपियो ! अब कृष्ण के श्रीमुख द्वारा कहे गए योग को सुनो। (यहाँ 'जोग' शब्द में श्लेष है। इसके दो अर्थ हैं—योग-सन्देश तथा योग अर्थात् मिलन का सन्देश। यहाँ उद्धव का अभिप्राय योग-सन्देश से है, परन्तु गोपियाँ उसे मिलन का सन्देश समझ उत्साह से भर उठती हैं।) उद्धव की बातें सुन सारी गोपियाँ दौड़ी हुई उद्धव के पास आ एकत्र हो गईं और उन्होंने वहाँ उपस्थित सम्पूर्ण पुरुषों को वहाँ से हटा दिया। भाव यह है कि नारी होने के कारण वे अपने पुरुषों के सामने कृष्ण का मिलन का सन्देश सुनने में संकोच का अनुभव करतीं, इसीलिए उन्होंने पुरुषों को वहाँ हटा दिया।

विशेष—(१) इस पद से गोपी-उद्धव सम्वाद अपने सहज-स्वाभाविक रूप में प्रारम्भ होता है। परन्तु योग का दोनों के द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करने के कारण विरोध का श्रीगणेश हो जाता है। सूर का यह वाक्-चातुर्य दर्शनीय है।

(२) 'जोग' में श्लेष अलंकार है।

राग केदारौ

गोपी सुनहु हरि संदेस
गए सँग अक्रूर मधुबन, हत्यौ कंस नरेस।।
रजक मार्‌यौ बसन पहिरे, धनुष तोर्‌यौ जाइ।
कुबलया चानूर मुष्टिक, दिए धरनि गिराइ।।

मातु पितु के बन्द छोरे, वासुदेव कुमार।
राज दीन्हौ उग्रसेनहिं, चौंर निज कर ढार।।
कह्यौ तुमकौं ब्रह्म ध्यावन, छाँड़ि विषय विकार।
सूर पाती दई लिखि मोहिं, पढ़ौ गोप कुमारि।।१६–आ।।

शब्दार्थ—हत्यौ=वध किया। रजक=धोबी। बसन=वस्त्र। बन्द=बन्धन। चौंर=चँवर।

भावार्थ—गोपियों द्वारा पूछे जाने पर उद्धव उन्हें पहले मथुरा में घटी घटनाएँ सुनाते हैं और फिर संक्षेप में कृष्ण का योग-सन्देश। उद्धव कहते हैं कि—

हे गोपियो! कृष्ण का सन्देश सुनो। कृष्ण यहाँ से अक्रूर के साथ मथुरा गए। वहाँ जाकर उन्होंने राजा कंस का वध किया, कंस के धोबी को मार उससे छीन वस्त्र पहने और फिर राज-सभा में जा धनुष तोड़ा। साथ ही कुवलया नामक हाथी और चाणूर और मुष्टिक नामक मल्लों (पहलवान) को घूँसे मार धरती पर गिरा दिया। इसके उपरान्त उन्होंने कंस के कारागार में बन्द अपने माता-पिता देवकी-वसुदेव को मुक्त किया। और उग्रसेन को राज्य दे, उन्हें राजसिंहासन पर आसीन कर अपने हाथ से उनके ऊपर चँवर डुलाया।

कृष्ण ने तुम्हारे लिए यह सन्देश भेजा है कि तुम्हें सम्पूर्ण सांसारिक विषय-विकारों को त्याग कर ब्रह्म का ध्यान करना चाहिए। इस सम्बन्ध में उन्होंने तुम्हारे लिए एक पत्र लिखकर मुझे दिया है। हे गोप कुमारियो! तुम उस पत्र को पढ़ो।

विशेष—इस पद से योग का उपदेश प्रारम्भ हो जाता है। यह सन्देश कृष्ण का ही है, इसका विश्वास दिलाने के लिए उद्धव गोपियों से कृष्ण का पत्र पढ़ने का आग्रह कर रहे हैं।

राग बिहागरौ

गोपी सुनहु हरि संदेस।
कह्यौ पूरन ब्रह्म ध्यावहु, त्रिगुन मिथ्या भेष।।
मैं कहौं सो सत्य मानहु, सगुन डारहु नाखि।
पंच त्रयगुन सकल देही, जगत ऐसौ भाषि।।
ज्ञान बिनु नर मुक्ति नाहीं, यह विषय संसार।
रूप रेख न नाम जल थल, वरन अबरन सार।।
मातु पितु कोउ नाहिं नारी, जगत मिथ्या लाइ।
सूर सुख दुख नहीं जाकैं, भजौ ताकौं जाइ।। १६–इ।।

शब्दार्थ—भेष=रूप। नाखि=उलँघ कर, दूर कर। भाषि=प्रतीत होता है। अबरन=रंग रहित।

भावार्थ—उद्धव विस्तारपूर्वक गोपियों को निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप समझाते हुए कह रहे हैं कि—हे गोपियो ! कृष्ण का सन्देश सुनो। उन्होंने कहा है कि तुम पूर्ण ब्रह्म का ध्यान करो, उसकी आराधना करो। त्रिगुण—सत-रज-तम—से युक्त हमारा यह शरीर या संसार मिथ्या है, असत्य है। मैं तुमसे जो बात कहता हूँ उसे सत्य मान तुम सगुण को पार कर जाओ। अर्थात् सगुण को त्याग सत्य-स्वरूप निर्गुण की उपासना करो। यह शरीर तो पंचभूत—स्थल जल, अग्नि, वायु, आकाश—तथा तीन गुणों से युक्त और निर्मित है। सारा संसार भी इन्हीं के द्वारा निर्मित है। इसी कारण वह हमें दृष्टिगोचर होता हुआ-सा प्रतीत होता है। वस्तुतः है मिथ्या और असार ही। यह संसार विषय-वासनाओं से अनुरक्ति उत्पन्न कर जीव को इसके मोह में बाँध देता है। मनुष्य की इस सांसारिक बन्धन से मुक्ति ज्ञान बिना नहीं हो सकती। अर्थात् ज्ञान की साधना कर ज्ञानोदय होने पर ही जीव इस संसार को मिथ्या समझ उसके बन्धन से मुक्त हो, पूर्ण ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है।

इस माया-जनित संसार में न कोई किसी का माता-पिता होता है, और न पत्नी। ये सम्पूर्ण सांसारिक सम्बन्ध इस संसार को ही सत्य मान लेने के कारण होते हैं। परन्तु यह संसार वस्तुतः है मिथ्या और भ्रमात्मक। इसलिए तुम उस ब्रह्म का भजन करो जो सुख-दुःख की भावना से परे रहता है। अर्थात् निर्गुण-ब्रह्म सुख-दुःख की भावना से सर्वथा मुक्त और परे है।

विशेष—इस पद में संसार को मिथ्या मान, शंकराचार्य के अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया गया है।

राग नट

ऊधौ को उपदेस सुनौ किन कान दै ?
सुन्दर स्याम सुजान पठायो मान दैं ॥ ध्रुव ॥
कोउ आयो उत तायँ जितै नँदसुवन सिधारे।
वहै बेनु-धुनि होय मनो आए नँदप्यारे ॥
धाईं सब गलगाजि कै ऊधौ देखे जाय।
लै आईं ब्रजनाथ पै हो, आनँद उर न समाय ॥
अरघ आरती, तिलक, दूब, दधि माथे दीन्ही।
कंचन-कलस भराय आनि परिकरमा कीन्ही ॥
गोप-भीर आँगन भई मिलि बैठे यादवजात।
जलझारी आगे धरी, हो, बूझति हरि-कुसलात ॥
कुसल-छेम बसुदेव, कुसल देवी कुबजाऊ।
कुसल-छेम अक्रूर, कुसल नीके बलदाऊ ॥

पूछि कुसल गोपाल की रहीं सकल गहि पाय।
प्रेम-मगन ऊधो भए, हो, देखत ब्रज को भाय।।
मन-मन ऊधो कहै यह न बूझिय गोपालहि।
ब्रज को हेतु बिसारि जोग सिखवत ब्रजबालहि।।
पाती बाँचि न आवई रहे नयन जल पूरि।
देखि प्रेम गोपीन को, हो, ज्ञान-गरब गयो दूरि।।
तब इत-उत बहराय नीर नयनन में सोख्यो।
ठानी कथा प्रबोध बोलि सब गुरू समोख्यो।।
जो ब्रत मुनिवर ध्यावहीं पर पावहिं नहिं पार।
सो ब्रत सीखो गोपिका, हो, छाँड़ि विषय-बिस्तार।।
सुनि ऊधो के बचन रहीं नीचे करि तारे।
मनो सुधा सों सींचि आनि बिषज्वाला जारे।।
हम अबला कह जानहीं जोग जुगति की रीति।
नंदनंदन ब्रत छाँड़ि कैं, हो, को लिखि पूजें भीति ?
अबिगत, अगह, अपार, आदि अवगत है सोई।
आदि निरंजन नाम ताहि रंजै सब कोई।।
नैन नासिका-अग्र है तहाँ ब्रह्म को बास।
अबिनाशी बिनसै नहीं, हो, सहज ज्योति-परकास।।
घर लागै औघूरि कहे मन कहा बँधावै।
अपनो घर परिहरे कहो कहे घरहि बतावै ?
मूरख जादवजात हैं हमहिं सिखावत जोग।
हमको भूली कहत हैं, हो, हम भूली किधौं लोग ?
गोपिहु तें भयो अंध ताहि दुहुँ लोचन ऐसे !
ज्ञाननैन जो अंध ताहि सूझै धौं कैसे ?
बझै निगम बोलाइ कै, कहै बेद समुझाय।
आदि अंत जाके नहीं, हो, कौन पिता को माय ?
चरन नहीं, भुज नहीं, कहौ, ऊखल किन बाँधो ?
नैन नासिका मुख नहीं, चोरि दधि कौने खाँधो ?
कौन खिलायो गोद में, किन कहे तोतरे बैन ?
ऊधो ताको न्याव है, हो, जाहि न सूझैं नैन।।

हम बूझति सतभाव न्याय तुम्हरे मुख साँचो।
प्रेम-नेम रसकथा कहौ कंचन की काँचो।।
जो कोउ पावै सीस दै ताको कीजै नेम।
मधुप हमारी सौं कहौ, हो जोग भलो किधौं प्रेम।।
प्रेम-प्रेम सों होय प्रेम सों पारहि जैए।
प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमाथ पैए।।
एकै निहचै प्रेम को जीवन-मुक्ति रसाल।
साँचो निहचै प्रेम को, हो, जो मिलिहैं नँदलाल।।
सुनि गोपिन को प्रेम नेम ऊधो को भूल्यो।
गावत गुन-गोपाल फिरत कुंजन में फूल्यो।।
छन गोपिन के पग धरै, धन्य तिहारो नेम।
धाय-धाय द्रुम भेंटहीं, हो, ऊधो छाके प्रेम।।
धनि गोपी, धनि गोप, धन्य सुरभी बनचारी।
धन्य-धन्य! सो भूमि जहाँ बिहरे बनवारी।।
उपदेसन आयौ हुतो मोहिं भयो उपदेस।
ऊधो जदुपति पै गए, हो, किए, गोप को बेस।।
भूल्यो, जदुपति नाम, कहत गोपाल गोसाँई।
एक बार ब्रज जाहु, देहु गोपिन दिखराई।।
गोकुल को सुख छाँड़ि कैं, कहाँ बसे हौ आय।
कृपावंत हरि जानि कै, हो, ऊधो पकरे पाय।।
देखत ब्रज को प्रेम, नेम कछु नाहिंन भावै।
उमड़्यो नयननि नीर, बात कछु कहत न आवै।।
सूर स्याम भूतल गिरे, रहे नयन जल छाय।
पोंछि पीतपट सों कह्यौ, 'आए जोग सिखाय'? ।।१७।।

शब्दार्थ—किन=क्यों नहीं। कान दै=ध्यान देकर। उत ताँय=उधर से। जितै=जिधर। धाईं=दौड़ीं। गजगाजि कै=आनन्दित हो शोर मचाती हुई। ब्रज-राज=नन्द। यादवजात=यादव वंश में उत्पन्न=उद्धव। जलझारी=जलपात्र। बूझति=पूछती हैं। कुसलात=कुशल-क्षेम। भाय=भाव। बूझिय=समझ में आना। हेतु=प्रेम। बहराय=बहला कर। सोख्यों=सुखा लिया। प्रबोध=उपदेश देना। समोख्यो=सहेज कर कहा। तारे=पुतली, आँखें। भीति=दीवाल। अविगत=शाश्वत। अगह=अगम्य, अग्रहणीय। अवगत=जाना जाता है! रंजै=शोभित।

नासिका-अग्र=नाक का अग्र भाग। घर लागै=ठिकाने लगता है। औघूरि=घूमकर। परिहरे=त्याग कर। किधौं=अथवा। निगम=शास्त्र। खाँघो=खाया। काँचो=काँच। सीस दै=प्राण देकर। सौं=सौगन्ध। परमारथ=स्वर्ग, मोक्ष। निहचै=निश्चय। रसाल=मधुर। नेम=नियम, योग। फूल्यो=मगन। छाके=छक जाना, अघा जाना। सुरभी=गाय।

प्रसंग—सूरदास ने इस लम्बे पद में, संक्षेप में, भ्रमर गीत की पूरी कथा का वर्णन कर दिया है। प्रारम्भिक गोपी-उद्धव का प्रेम और ज्ञान सम्बन्धी वाद-विवाद, उसमें गोपियों की विजय, उद्धव का प्रेम-भावना से विभोर हो मथुरा लौट, कृष्ण के सम्मुख प्रेम की महत्ता का वर्णन करना आदि का अङ्कन किया गया है। इसे भ्रमर-गीत का सार-तत्त्व माना जा सकता है।

भावार्थ—उद्धव के आने पर जब सम्पूर्ण गोपियाँ शोर मचाती हुई दौड़कर उनके पास जा पहुँचीं और उनके उस शोर-गुल में जब उद्धव की बातें सुनाई न पड़ने लगीं तो एक गोपी ने अन्य गोपियों को सम्बोधित कर कहा कि—

तुम उद्धव के उपदेश को ध्यान देकर क्यों नहीं सुनतीं ? सुन्दर, सुजान कृष्ण ने इन्हें सम्मान देकर हमारे पास भेजा है। जिधर नन्द-पुत्र कृष्ण यहाँ से गए थे, यह सज्जन उसी दिशा से यहाँ पधारे हैं। वंशी की ध्वनि भी वैसी ही हो रही है, मानो स्वयं नन्द के लाड़ले कृष्ण यहाँ आए हों और वंशी बजा रहे हों। गोपी की यह बात सुनते ही सारी गोपियाँ आनन्दित हो, शोर मचाती दौड़ पड़ीं और उन्होंने जाकर उद्धव के दर्शन किए। इसके उपरान्त वे उद्धव को ब्रजराज नन्द के पास ले आईं। वे इतनी अधिक आनन्दित हो रही थीं कि आनन्द उनके हृदय में समा नहीं रहा था। उन्होंने उद्धव को अर्घ्य दिया, उनकी आरती उतारी और घास और दही मिलाकर उनके माथे पर तिलक लगाया। इसके उपरान्त सोने के पात्र में जल भरकर उद्धव की परिक्रमा दी। उद्धव के आने का समाचार सुन, नन्द के आँगन में गोपों की भीड़ जमा हो गई। उद्धव उन सबसे मिल-भेंट कर बैठ गए। गोपियों ने उद्धव के सामने जल से भरी सुराही रख दी और फिर कृष्ण का कुशल-क्षेम पूछने लगीं। इसके उपरान्त उन्होंने पूछा कि वसुदेव और देवकी, देवी कुब्जा, अक्रूर, बलराम—सब कुशल-पूर्वक तो हैं,? और अन्त में पुनः कृष्ण का कुशल-समाचार पूछकर सारी गोपियाँ उद्धव के चरण पकड़ कर बैठ गईं।

ब्रजवासियों का कृष्ण के प्रति इतना गहन प्रेम-भाव देखकर उद्धव प्रेम-भावना में निमग्न हो गए और मन-ही-मन कहने लगे कि गोपाल कृष्ण की यह बात समझ में नहीं आती कि वे ब्रजवासियों के इस प्रेम को भुलाकर उन्हें योग सिखाना चाहते हैं। यह सोचकर उद्धव ने नेत्रों में आँसू भर आए और उनसे कृष्ण द्वारा ब्रजवासियों के लिए भेजी गई चिट्ठी नहीं पढ़ी गई। कृष्ण के प्रति गोपियों के इस प्रेम को देखकर उनका ज्ञान-गर्व नष्ट हो गया। तब अपने मन को इधर-उधर बहलाकर उन्होंने अपने नेत्रों के जल को सुखा डाला। अर्थात् प्रयत्न कर उस प्रेम-विभोरावस्था से स्वयं

को मुक्त कर अपना कार्य (योग का उपदेश देना) करने के लिए स्वस्थ-चित्त हो बैठ गए। फिर उन्होंने निश्चय कर लिया कि इन्हें ज्ञानोपदेश देना ही है। यह निश्चय कर उन्होंने गुरु के उपदेश के समान सहेजकर रखे ज्ञानोपदेश को सबको सुनाना प्रारम्भ कर दिया।

उन्होंने कहा कि हे गोपियो! तुम सांसारिक विषय-प्रपंचों को त्यागकर उस व्रत को सीखो जिस व्रत का श्रेष्ठ मुनिगण सदैव ध्यान करते रहते हैं, परन्तु फिर भी उसका पूर्ण रूप से पालन न कर पाने के कारण अपने प्रयत्न में असफल रहते हैं। अर्थात् मैं तुम्हें वह व्रत सिखा रहा हूँ, जिसका पूरा रहस्य मुनिगण भी नहीं जानते। भाव यह है कि मुनिगण चिन्तन करने पर भी जिस परमब्रह्म का रहस्य नहीं जान पाते, मैं तुम्हें उसी परमब्रह्म को जानने का रहस्य बता रहा हूँ। उद्धव की ये बातें सुनकर गोपियाँ नीचे नेत्र कर बैठी रह गईं। उनकी दशा उस लता के समान हो गई, जिसे पहले तो अमृत द्वारा सींचा गया हो और फिर विष की ज्वाला में दग्ध कर दिया गया हो। भाव यह है कि उद्धव के दर्शन कर गोपियों का मुरझाया मन प्रफुल्लित हो उठा था परन्तु उनके ये वचन सुनकर वे पुनः अत्यन्त वेदना से भर उठी थीं। उद्धव के दर्शन अमृत के समान जीवनदायक थे, और उनके ब्रह्म-सम्बन्धी ये वचन विष के समान प्राणघातक थे।

गोपियाँ उद्धव से कहने लगीं कि हम तो अबला हैं, हम योग की युक्तियों की बातें क्या जानें? साक्षात् नन्दनन्दन कृष्ण से प्रेम करने के व्रत को छोड़कर, ऐसा कौन है, जो दीवार पर चित्र खींचकर उसकी पूजा करे। अर्थात् हम तो साकार, प्रत्यक्ष कृष्ण से प्रेम करती हैं, फिर उन्हें छोड़कर तुम्हारे ब्रह्म के काल्पनिक चित्र अथवा असली को त्यागकर नकली की पूजा क्यों करें? तुम्हारा ब्रह्म तो अजेय, अगम्य, अपार आदि के रूप में जाना जाता है; और फिर भी तुम कहते हो उसे जान लेना सम्भव है। जिसका नाम तो आदि निरंजन है परन्तु उसे सब लोग प्रसन्न करने का प्रयत्न करते रहते हैं। अर्थात् जो सुख-दुःख से परे है, उसे कैसे प्रसन्न किया जा सकता है? भाव यह है कि तुम्हारा ब्रह्म जब इतना अज्ञेय है, फिर उसकी उपासना करने से क्या लाभ? तुम्हारे ब्रह्म का निवास नेत्र और नासिका के अग्रभाग अर्थात् त्रिकुटी पर कहा जाता है। वह अविनाशी है, कभी नष्ट नहीं होता, वह सहज ज्योति-स्वरूप है। तुम्हारे कथनानुसार तुम्हारे ब्रह्म का यही रूप है और तुम कहते हो कि हमें उसी ब्रह्म का चिन्तन करने में मन को केन्द्रित करना चाहिए। परन्तु मन का स्वभाव तो ऐसा होता है कि वह घूम-फिर कर पुनः अपने ठिकाने पर आ जाता है। उसे कह-सुनकर किसी स्थान पर बाँधना अर्थात् केन्द्रित करना असम्भव है। इसलिए यह सम्भव नहीं है कि साकार-साक्षात् परम सुन्दर कृष्ण में रमा हुआ हमारा मन तुम्हारी बातों को मानकर ब्रह्म की उपासना करने लगे। यह हो सकता है कि शायद क्षण भर को यह तुम्हारी बात मान ले, परन्तु फिर घूम-फिरकर अपने उसी पुराने ठिकाने अर्थात् कृष्ण के पास पहुँच जायगा। जो व्यक्ति अपने घर को त्याग देता है, फिर वह अन्य

किस घर को अपना बता सकता है ? अर्थात् अपना घर त्याग कर वह गृहहीन की भाँति सदैव इधर-उधर ही भटकता रहेगा। भाव यह है कि हमारा एक आश्रय है—कृष्ण का प्रेम। हम उसे त्यागकर ब्रह्म की खोज में गृहहीन के समान क्यों भटकती फिरें ? अपना सच्चा आश्रय त्याग इधर-उधर की ठोकरें क्यों खाती फिरें ?

ये उद्धव तो मूर्ख हैं जो हमें योग सिखाते हैं। ये हमको भूली हुई अर्थात् भ्रमित, पथभ्रष्ट कहते हैं। परन्तु विचार कर देखो कि हम भ्रम में पड़ी हुई हैं अथवा वे लोग जो हमें ऐसा उपदेश दे, घर त्याग बाहर भटकने की शिक्षा दे रहे हैं। हे उद्धव ! तुम तो हम गोपियों से भी अधिक अन्धे हो रहे हो। अर्थात् तुम्हारे तो दोनों नेत्र फूट गए हैं—बाहरी और ज्ञान-नेत्र; दोनों ही नष्ट हो चुके हैं। जिसके ज्ञान-नेत्र भी फूट गए हों, उसे फिर सत्य के दर्शन कैस हो सकते हैं ? शास्त्रों की साक्षी देकर जिस ब्रह्म के सम्बन्ध में विचार किया जाता है, वेदों की दुहाई देकर जिसे समझाने का प्रयत्न किया जाता है, जिसका न आदि है और न अन्त, न यह मालूम कि उसका कौन पिता है और कौन माता, जिसके न चरण हैं और न भुजायें—यदि तुम्हारा ब्रह्म ऐसा ही है तो यह बताओ कि ऊखल से किसे बाँधा गया था ? (माता यशोदा ने गोपियों की शिकायत पर कृष्ण को ऊखल से बाँध दिया था।) यदि उसके आँखें, नाक, मुख नहीं हैं तो दही चुराकर किसने खाया था ? किसने उसे गोद में खिलाया था ? (माता यशोदा ने।) किसने तोतली वाणी बोली थी ? (कृष्ण ने।) हे उद्धव ! तुम्हारी ये बातें तो उसे ही ठीक और न्यायपूर्ण लग सकती हैं जो आँखों से अन्धा हो। परन्तु तुम तो नेत्रों वाले और ज्ञानी हो. इसीलिए हम तुम्हें ही न्यायाधीश मानकर सच्चे भाव से तुम्हारे मुख से ही इस बात का निर्णय कराना चाहती हैं कि हमारी प्रेम-साधना और तुम्हारी योग साधना में से कौन स्वर्ण से समान निर्मल और खरी है, तथा कौन काँच के समान तुच्छ और तनिक से आघात से नष्ट हो जाने वाली है ? योग-साधना तो उसके लिए करनी चाहिए जिसको अपने प्राण देकर भी प्राप्त किया जा सके (परन्तु तुम्हारा ब्रह्म तो ऐसा है कि उसे कोई प्राप्त ही नहीं कर पाता, इसलिए उसकी आराधना करना व्यर्थ है। इसलिए हे मधुप ! तुम्हें हमारी सौगन्ध है, ठीक-ठीक बता दो कि हमारा प्रेम अच्छा है या तुम्हारा योग ?

इसके उपरान्त गोपियाँ प्रेम की महत्ता का वर्णन करती हुई कहती हैं कि प्रेम, प्रेम से होता है और प्रेम द्वारा ही इस संसार के पार जाया जा सकता है। सारा संसार इस प्रेम के ही बन्धन में बँधा हुआ है। प्रेम द्वारा ही परमार्थ अर्थात् मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है। यह निश्चित मत है कि प्रेम द्वारा ही मधुर जीवन-मुक्ति की प्राप्ति सम्भव है। अगर प्रेम-सम्बन्धी यह मत निश्चित अर्थात् सत्य है तो हमें नन्दलाल की प्राप्ति अवश्य ही होगी। अथवा यदि नन्दलाल मिल जायँ, तभी यह निश्चित माना जा सकेगा कि प्रेम सच्चा है।

गोपियों की प्रेम-सम्बन्धी बातों को सुनकर उद्धव अपनी योग-साधना को भूल गए। अर्थात् प्रेम से प्रभावित हो गए। वह उमंगित होकर कृष्ण के गुण गाते हुए

कुंजों में घूमने लगे। कभी गोपियों के चरण पकड़ लेते और कहते कि तुम्हारी यह प्रेम-साधना धन्य है ! उद्धव प्रेम में इतने गहरे डूब गए, इतने तृप्त हो गए कि दौड़-दौड़कर वृक्षों से लिपटने लगे (क्योंकि कृष्ण ने इन वृक्षों के नीचे क्रीड़ाएँ की थीं)। वह कहने लगे कि ये गोप-गोपियाँ धन्य हैं, वन में चरने वाली ये गायें धन्य हैं ! यह भूमि धन्य है जहाँ बनवारी कृष्ण ने विहार किया था। मैं इन गोपियों को उपदेश देने आया था परन्तु यहाँ आकर उल्टा मुझे ही उपदेश प्राप्त हो गया। अर्थात् मैं योग-साधना के भ्रामक मार्ग पर भटक रहा था, यहाँ आकर गोपियों के प्रेम में मुझे सच्चा मार्ग मिल गया।

इसके उपरान्त उद्धव गोप का वेश धारण कर यदुपति कृष्ण के पास मथुरा पहुँचे। वह कृष्ण को 'यदुपति' कहना भूल गए, जैसा कि पहले कहा करते थे, और 'गोपाल गोसाईं कहकर सम्बोधित करने लगे। उन्होंने कृष्ण से कहा कि तुम एक बार ब्रज जाकर गोपियों को अपने दर्शन दे आओ। तुम गोकुल के ऐसे सुख को त्याग कर यहाँ मथुरा में कहाँ आ बसे हो ! यह कहकर कृष्ण को सब पर कृपा करने वाले जानकर उद्धव ने (अपने पूर्व ज्ञान-गर्व के अपराध से लज्जित हो) कृष्ण के चरण पकड़ लिए। ब्रज के उस प्रेम को देखकर अब उद्धव को अपनी योग-साधना अच्छी नहीं लगती थी। प्रेमाधिक्य के कारण उनके नेत्रों में जल भर आया और कण्ठ गद्गद् हो जाने के कारण उनसे कुछ भी नहीं कहा गया। वह प्रेम-विह्वल होकर कृष्ण के सामने पृथ्वी पर गिर पड़े। उनके नेत्रों में आँसू भरे हुए थे। कृष्ण ने अपने पीताम्बर से उनके आँसू पोंछे और कहा कि—'योग सिखा आए ?'

विशेष—इस लम्बे पद में सूर ने भ्रमर गीत की कथा संक्षेप में कहकर निर्गुण-पंथियों पर गहरा व्यंग्य किया है, और अन्त में उद्धव को प्रेम-विह्वल दिखाकर योग पर प्रेम की विजय स्थापित की है।

राग धनाश्री

हमसों कहत कौन की बातें ?
सुनि ऊधो ! हम समुझत नाहीं फिर पूँछति हैं तातें ॥
को नृप भयो कंस किन मार्‌यो को बसुद्यौ-सुत आहि ?
यहाँ हमारे परम मनोहर जीजतु हैं मुख चाहि ॥
दिनप्रति जात सहज गोचारन गोप सखा लै संग।
बासरगत रजनीमुख आवत करत नयन गति पंग ॥
को ब्यापक पूरन अविनासी, को बिधि-बेद-अपार ?
सूर बृथा बकवाद करत हौ, या ब्रज नंद कुमार ॥१८॥

शब्दार्थ—तातें=इसलिए। बसुद्यौ सुत=वसुदेव का पुत्र। आहि=है।

जीजतु हैं=जीती हैं। चाहि=देखकर। बासरगत=दिन समाप्त हो जाने पर। रजनीमुख=सन्ध्या। पंग=स्तब्ध।

भावार्थ—जब उद्धव गोपियों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देते हुए उन्हें ब्रह्म के सम्बन्ध में बताने लगे तो गोपियाँ उनसे कहने लगीं कि हे उद्धव! तुम हमसे किसकी बातें कह रहे हो। हमारी समझ में तुम्हारी बातें नहीं आतीं, इसीलिए तुमसे दुबारा पूछ रही हैं। यह बताओ कि कौन राजा हो गया है, कंस को किसने मारा, और कौन वसुदेव का पुत्र है? (तुम्हारा यह कृष्ण कोई और होगा।) यहाँ तो हमारे परम सुन्दर कृष्ण हैं जिनके सुन्दर मुख को देख-देखकर हम जीती रहती हैं। वह नित्यप्रति अपने सखा-गोपों को साथ लेकर सहज भाव से गायों को चराने वन में जाया करते थे और दिन डूबने पर सन्ध्या समय जब घर लौटकर आते थे तो हम सबके नेत्र उनकी अद्भुत शोभा को देख स्तब्ध रह जाते थे। हम टकटकी बाँधे उनके सौन्दर्य को देखती रह जाती थीं। तुम्हारा यह सर्वव्यापी, पूर्ण, अविनाशी ऐसा कौन-सा ब्रह्म है—ब्रह्मा और वेद भी जिसका पार नहीं पा सकते? सूरदास कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि तुम्हारा ब्रह्म-सम्बन्धी यह सारा कथन व्यर्थ का प्रलाप है। हमारे इस ब्रज में तो नन्दकुमार कृष्ण ही सबके सर्वस्व और ब्रह्म के समान हैं। अर्थात् यहाँ तो वे केवल नन्दकुमार ही बने रहेंगे।

भाव यह है कि कृष्ण का परिवर्तित रूप मथुरावासियों को ग्राह्य हो सकता है, परन्तु यहाँ ब्रज में तो वह सदैव नन्दकुमार के रूप में ही जाने-माने जाते हैं, न कि वसुदेव-पुत्र, कंस-निकन्दन, राजा कृष्ण के रूप में।

विशेष—गोपियाँ अपने वाग्वैदग्ध्य द्वारा उद्धव की ब्रह्म-स्थापना को अत्यन्त सहज-सरल रूप में निस्सार बना देती हैं।

राग सारंग

तू अलि! कासों कहत बनाय?
बिन समुझे हम फिर बूझति हैं एक बार कहौ गाय।।
किन वै गबन कीन्हों सकटनि चढ़ि सुफलकसुत के संग।
किन वै रजक लुटाइ बिबिध पट पहिरे अपने अंग?
किन हति चाप निदरि गज मार्‍यो किन वै मल्ल मथि जाने?
उग्रसेन बसुदेव-देवकी किन वे निगड़ हठि भाने?
तू काको है करत प्रसंसा, कौने घोष पठायो?
किन मातुल बधि लयो जगत जस कौन मधुपुरी छायो?
माथे मोरमुकुट बनगुंजा, मुख मुरली-धुनि बाजै।
सूरजदास जसोदानंदन गोकुल कह न बिराजै।।१६।।

शब्दार्थ—गाय=गाकर, समझाकर, धीरे-धीरे। सकटनि—रथों। सुफलक-

सुत=अक्रूर। रजक=धोबी। पट=वस्त्र। हृति=तोड़ा। चाप=धनुष। निदरि=निरादर करके। मथि जाने=पछाड़े। निगड़=हथकड़ी-बेड़ी। भाने=तोड़ी। घोष=अहीरों की बस्ती, गोकुल। मातुल=मामा। बनगुंजा=वन के गुंजा। कह न=कहाँ न।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे मधुप! तुम ये समझ में न आने वाली ज्ञान की बातें बना-बनाकर किससे कह रहे हो? तुम्हारी ये बातें हमारी समझ में नहीं आतीं, इसीलिए हम तुमसे पूछ रही हैं। एक बार गाकर अर्थात् धीरे-धीरे समझाते हुए अपनी ये बातें हमें फिर बताओ। यह बताओ कि अक्रूर के साथ रथ पर बैठकर कौन यहाँ से गया था? किसने (कंस के) धोबी के वस्त्र लुटवा दिए थे और किसने अपने शरीर पर उन तरह-तरह के राजसी वस्त्रों को धारण किया था? किसने धनुष को तोड़ा था और कंस के कुवलयापीड़ नामक उस मदमस्त हाथी की तनिक भी परवाह न कर मार डाला था? किसने कंस के चाणूर, मुष्टिक नामक पहलवानों को पछाड़ कर समाप्त कर दिया था? किसने उग्रसेन, वसुदेव और देवकी की बेड़ियों को आग्रहपूर्वक तोड़कर उन्हें बन्धन से मुक्त किया था? तू किसकी (किस ब्रह्म की) इतनी प्रशंसा कर रहा है? तुझे यहाँ इस अहीरों की बस्ती गोकुल में किसने भेजा है? किसने अपने मामा (कंस कृष्ण का मामा था) का वध कर संसार में यश प्राप्त किया है और कौन सारी मथुरा पर छाया हुआ है, अर्थात् वहाँ शासन कर रहा है?

सूरदास कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि मस्तक पर मोर-मुकुट और गले में वन के गुंजों की माला धारण करने वाले परम प्रिय कृष्ण अपने मुख से मुरली बजाते रहते हैं, वही हमारे सर्वस्व हैं। यह बताओ कि ऐसे वह यशोदानन्दन कृष्ण इस गोकुल में कहाँ नहीं विराजमान हैं? अर्थात् कृष्ण गोकुल के कण-कण में व्याप्त हैं।

विशेष—(१) इसमें गोपियाँ उद्धव का उपाहास करती हैं। इस उपहास में असंगति है, जो दो प्रकार की है: (अ) सैद्धान्तिक असंगति—उद्धव निर्गुणवादी हैं और गोपियाँ सगुणवादी। (ब) रुचि असंगति—उद्धव को कृष्ण का राजसी रूप प्रिय है और गोपियों को उनका ग्राम्य रूप।

(२) उपर्युक्त पद में कई अन्तर्कथाएँ आई हैं। कृष्ण जब अक्रूर के साथ मथुरा पहुँचे तो उन्होंने कंस के धोबी से वस्त्र माँगे और न देने पर उसके सारे वस्त्र लुटवा दिए। कंस के धनुष की अनेक रक्षक रक्षा करते रहते थे। कृष्ण ने उन रक्षकों का वध कर उस प्रसिद्ध धनुष को तोड़ डाला। उन्होंने उनको मारने के लिए कंस द्वारा भेजे गए कुवलयापीड़ नामक विशाल मदमत्त गज के दाँत उखाड़कर उसे मार डाला और कंस के चाणूर और मुष्टिक नामक पहलवानों को पछाड़ कर उनका वध कर दिया।

(३) इसमें गोपियाँ कृष्ण के साकार रूप की स्थापना कर उद्धव के निर्गुण-वादी सिद्धान्त का उपहास कर रही हैं।

राग केदार

गोकुल सबैं गोपाल-उपासी।
जोग-अंग साधत जे ऊधो, ते सब बसत ईसपुर कासी।।
यद्यपि हरि हम तजि अनाथ करि, तदपि रहति चरननि रसरासी।
अपनी सीतलताहि न छाँड़त, यद्यपि है ससि राहु-गरासी।।
का अपराध जोग लिखि पठवत, प्रेम भजन तजि करत उदासी।
सूरदास ऐसी को बिरहिन, माँगती मुक्ति तजे गुनरासी ? ।।२०।।

शब्दार्थ—जोग-अंग=अष्टांग योग। ईसपुर=महादेव की नगरी अर्थात् काशी। रसरासी=प्रेम में पगी हुई। गरासी=ग्रसित होना। उदासी=विरक्त, वैरागी।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि यहाँ गोकुल में तो सभी गोपाल-कृष्ण की उपासना करने वाले हैं। हे उद्धव ! जो अष्टांग-योग की साधना करते हैं वे सब महादेव की नगरी काशी में ही निवास करते हैं; यहाँ नहीं रहते। यद्यपि कृष्ण ने हमें त्याग कर अनाथ बना दिया है, फिर भी हम उनके चरणों के अनुराग में ही निमग्न रहती हैं। अर्थात् प्रेमपूर्वक सदैव उनके चरणों का ही ध्यान करती रहती हैं। यद्यपि राहु चन्द्रमा को ग्रस लेता है, परन्तु फिर भी चन्द्रमा अपने स्वाभाविक गुण शीतलता को कभी नहीं त्यागता। भाव यह है कि हम पर चाहे जैसी विपत्ति या कष्ट क्यों न पड़े परन्तु हम अपना स्वभाव अर्थात् कृष्ण से प्रेम करना कभी नहीं त्याग सकतीं। आखिर हमसे ऐसा कौन-सा अपराध बन पड़ा है, जिसके दण्डस्वरूप कृष्ण ने हमारे लिए पत्र में योग की बातें लिख भेजी हैं और हमें प्रेम का भजन करना त्यागकर वैरागी बनने का उपदेश दे रहे हैं ? यहाँ गोकुल में ऐसी कौन-सी विरहिणी है जो सम्पूर्ण गुणों की राशि कृष्ण को त्यागकर मुक्ति की कामना करे। अर्थात् हम कृष्ण-प्रेम के सम्मुख निर्गुण उपासना से प्राप्त मुक्ति को कोई महत्व नहीं देतीं।

विशेष—(१) 'ससि राहु-गरासी' में उदाहरण अलङ्कार है।

(२) गोपियाँ कृष्ण-प्रेम के सम्मुख मुक्ति को भी तुच्छ समझती हैं। यहाँ सूरदास उस भक्ति-सिद्धान्त की स्थापना कर रहे हैं, जिसके अनुसार भक्त मुक्ति की आकांक्षा न कर, सदैव भगवद् प्रेम में ही लीन बना रहना चाहता है। मुक्ति की कामना तो योगमार्गी ही करते हैं।

राग सारंग

हम तो नंदघोष की बासी।
नाम गोपाल, जाति-कुल गोपहि, गोप-गोपाल-उपासी।।

गिरिवरधारी, गोधनचारी, बृन्दावन-अभिलासी।
राजा नन्द, जसोदा रानी, जलधि नदी जमुना सी ॥
प्रान हमारे परम मनोहर, कमलनयन सुखरासी।
सूरदास प्रभु कहौं कहाँ लौं, अष्ट महासिधि दासी ॥२१॥

शब्दार्थ—नन्दघोष=नन्द का गाँव, गोकुल। वासी=निवासिनी। उपासी=उपासिका। गोधनचारी=गायों को चराने वाले। अभिलासी=अनुराग, प्रेम रखने वाले।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हम तो बाबा नन्द के गाँव की निवासिनी हैं। हमारा नाम गोपाल है, जाति और कुल गोपों का है। गोप होने के कारण गोपाल (कृष्ण) की उपासिका हैं। (कृष्ण भी गायों का पालन करने के कारण 'गोपाल' कहलाते हैं, इस कारण गोप-वंशी गोपियों का उनसे निकट का घनिष्ठ सम्बन्ध है।) हमारे गोपाल गोवर्धन पर्वत को धारण करने वाले, गायों रूपी धन को चराने वाले, और वृन्दावन से अनुराग रखने वाले हैं। नन्द हमारे राजा और यशोदा हमारी रानी हैं। और हमारे यहाँ समुद्र-सी विशाल यमुना बहती है। भाव यह है कि—हमारा अपना एक राज्य है, जिसके अपने राजा-रानी हैं, अपनी प्रजा है और यमुना समुद्र के समान जिसकी सीमा का निर्धारण करती है। कमल के समान सुन्दर नेत्रों वाले परम मनोहर, सम्पूर्ण सुखों की राशि श्रीकृष्ण हमारे प्राण हैं अर्थात् हमें प्राणों के समान प्रिय हैं। हम तुमसे उनका और अधिक वर्णन क्या करें! कृष्ण के प्रेम से प्राप्त सुख की तुलना में आठों महासिद्धियों से प्राप्त सम्पूर्ण सुख नगण्य प्रतीत होते हैं।

विशेष—आठ सिद्धियाँ इस प्रकार मानी गई हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, ईशित्व, तथा वशित्व। 'अमरकोश' में आठ सिद्धियाँ यही बताई गई हैं।

राग धनाश्री

जोवन मुँहचाही को नीको।
दरस परस दिनरात करति हैं कान्ह पियारे पी को ॥
नयनन मूँदि-मूँदि किन देखौ बँध्यौ ज्ञान पोथी को।
आछे सुन्दर स्याम मनोहर और जगत सब फीको ॥
सुनौ जोग को का लै कीजै, यहाँ ज्यान है जी को?
खाटी मही नहीं रुचि मानै, सूर खवैया घी को ॥२२॥

शब्दार्थ—मुँहचाही=प्रियतम को प्रिय लगने वाली प्रिया। नीको=अच्छा। परस=स्पर्श। ज्ञान पोथी को=पुस्तकीय ज्ञान। आछे=अच्छे। ज्यान=जियान, हानि। मही=मट्ठा, छाछ। खवैया=खाने वाला।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि इस संसार में उसी प्रेमिका का जीवन अच्छा अर्थात् सफल है, जिसे उसका प्रियतम चाहता हो। भाव यह है कि गोपियाँ कुब्जा से ईर्ष्या करती हुई कह रही हैं कि जीवन तो कुब्जा का ही अच्छा है, क्योंकि वह अपने प्रियतम कृष्ण की चहेती प्रिया है। वह दिन-रात अपने प्रियतम कृष्ण के दर्शन करती रहती है और उनके शरीर का स्पर्श-सुख उसे प्राप्त होता रहता है। हे उद्धव ! नेत्रों को मूँद-मूँदकर भले ही ब्रह्म को देखने का प्रयत्न करते रहो, परन्तु यह सब तो पुस्तकीय ज्ञान के समान अव्यावहारिक है। अर्थात् केवल नेत्र मूँद कर ध्यान करने से प्रियतम की प्राप्ति सम्भव नहीं होती। हमारे लिए तो केवल एक कृष्ण ही सुन्दर और मनोहर हैं। उनके सामने हमें सारा संसार फीका अर्थात् नीरस प्रतीत होता है। हे उद्धव ! हमारी बात सुनो। हम तुम्हारे इस योग को लेकर क्या करें, क्योंकि इसमें तो प्राण-हानि का भय है। क्योंकि योग-साधना करने से हमसे हमारे प्राण-प्रिय कृष्ण बिछुड़ जायेंगे, फिर हम उनके बिना जीवित कैसे रहेंगी ? जिस प्रकार शुद्ध घी खाने वाले व्यक्ति को खट्टी छाछ अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार कृष्ण के प्रेमामृत का पान करने वाले हमारे इस हृदय को तुम्हारी नीरस योग की बातें अच्छी नहीं लगतीं।

विशेष—(१) 'जोग···जी को' में वृत्यानुप्रास; 'घी को' में उदाहरण; 'प्यारे पी' तथा 'स्याम सुन्दर' में छेकानुप्रास; और 'खाटी मही' में 'लोकोक्ति' अलंकार हैं।

(२) 'जीवन मुँहचाही को नीको' में गोपियाँ असूया भाव से ग्रसित हो कुब्जा से ईर्ष्या प्रकट कर रही हैं।

राग काफी

आयो घोष बड़ो ब्योपारी।
लादि खेप गुन ज्ञान-जोग की, ब्रज में आय उतारी॥
फाटक दै कर हाटक माँगत, भोरै निपट सु धारी।
धुर हीं तें खोटी खायो है, लये फिरत सिर भारी॥
इनके कहे कौन डहकावै, ऐसी कौन अजानी ?
अपनो दूध छाँड़ि को पीवै, खार कूप को पानी॥
ऊधौ जाहु सबार यहाँ तें, बेगि गहरु जनि लावौ।
मुँहमाँग्यो पैहो सूरज प्रभु, साहुहि आनि दिखावौ॥२३॥

शब्दार्थ—घोष=अहीरों का गाँव। खेप=माल का बोझ। फाटक=फटकन, भूसा। हाटक=स्वर्ण। धारी=धारणा बनाकर, समझकर। धुर=प्रारम्भ, मूल। डहकावै=ठगाया जाय, धोखा खाय। अजानी=अज्ञानी। खार कूप=खारी जल का कुँआ। सबार=शीघ्र। बेगि=जल्दी। गहरु=देर, विलम्ब। आनि=लाकर। साहु=महाजन।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव के ज्ञान-योग के उपदेश पर व्यंग्य करती हुई आपस

कह रही हैं कि आज हमारी इस अहीरों की बस्ती में एक बहुत बड़ा व्यापारी आया है। उसने ज्ञान और योग के गुणों से सम्पन्न माल की खेप यहाँ ब्रज में (बेचने के लिए) उतारी है। इसने यहाँ के लोगों को इतना अधिक भोला समझ लिया है कि फटकन (निस्सार वस्तु, ज्ञान-योग समर्थित ब्रह्म) देकर वह उसके बदले में हमसे स्वर्ण (स्वर्ण के समान बहुमूल्य और प्रिय कृष्ण) माँगता है। परन्तु इस व्यापारी का माल खोटा है, इसलिए प्रारम्भ से ही इसे अपने इस व्यापार में हानि उठानी पड़ रही है। अर्थात् इसका माल कोई भी नहीं खरीदता, इसलिए यह उसका भारी बोझ सिर पर उठाये इधर-उधर भटकता फिर रहा है। यहाँ ब्रज में ऐसा कौन अज्ञानी है जो इसकी बातों में आकर धोखा खा जाय अर्थात् इसका माल खरीद ले। अपने घर का मीठा दूध त्यागकर, ऐसा कौन मूर्ख है जो खारे कुँए का पानी पीये ?

हे उद्धव ! तुम यहाँ से शीघ्र ही चले जाओ, तनिक भी देर मत लगाओ। यदि तुम अपने साहु (महाजन, कृष्ण जिन्होंने तुम्हें यहाँ पर माल देकर बेचने भेजा है) को यहाँ लाकर हमें उनके दर्शन करवा दो तो बदले में मुँहमाँगी कीमत मिलेगी।

विशेष—(१) सम्पूर्ण पद में अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है। उद्धव के ज्ञान-योग को निस्सार वस्तु घोषित कर उसका तिरस्कार किया गया है।

(२) यहाँ कृष्ण-प्रेम अथवा कृष्ण को स्वर्ण के समान अमूल्य और स्पृहणीय तथा ज्ञान-योग से प्राप्त ब्रह्म को निस्सार वस्तु के समान उपेक्षणीय घोषित किया गया है।

(३) 'भर्त्सना' संचारी के साथ-साथ स्मृति और आवेग भी हे।

(४) सम्पूर्ण पद में रूपक और अन्योक्ति का संकर रूप है।

'फाटक····सुधारी' में लोकोक्ति, 'खार कूप को पानी' में दृष्टान्त अलंकार हैं।

(५) सम्पूर्ण पद में व्यंजित व्यंग्य निर्गुण-सम्प्रदाय पर मार्मिक चोट कर रहा है।

जोग ठगौरी ब्रज न बिकेहै।
यह ब्योपार तिहारो ऊधो ! ऐसोई फिरि जैहै ॥
जापै लैं आए हौ मधुकर, ताके उर न समैहै।
दाख छाँड़ि कै कटुक निबौरी, को अपने मुख खैहै ?
मूरी के पातन के केना, को मुक्ताहल देहै।
सूरदास प्रभु गुनहि छाँड़ि कै, कौ निर्गुन निरबैहै ? ॥२४॥

शब्दार्थ—ठगौरी=ठगाई से भरा सौदा। फिरि जैहै=लौटा दिया जायगा। जापै=जिसके पास। निबौरी=नीम का फल। केना=सौदा। मुक्ताहल=मोती। निरबैहै=निभाएगा, साधना करेगा।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव के ज्ञान-योग पर व्यंग्य करती हुई उनसे कह रही हैं कि हे उद्धव ! तुम्हारा यह ठगी और धूर्त्तता से भरा हुआ सौदा (ज्ञान-योग) यहाँ ब्रज

में कहीं भी नहीं बिक सकेगा। तुम्हारा यह माल यहाँ से ऐसे ही लौटा दिया जायेगा। इसे यहाँ कोई भी नहीं खरीदेगा। तुम जिसके लिए यह माल लाये हो, उसके हृदय में यह नहीं समा सकेगा; अर्थात् वह इसे पसन्द नहीं करेगा। ऐसा कौन मूर्ख है जो अपने मुख से दाख (अंगूर) का खाना छोड़ कर निबौरी खायेगा। तथा मूली के पत्तों के बदले में मोती देगा। अर्थात् तुम्हारा यह ब्रह्म निबौरी के समान कड़ुआ और मूली के पत्तों के समान तुच्छ और व्यर्थ है, तथा हमारे कृष्ण अंगूर के समान मधुर और मोती के समान बहुमूल्य हैं। ऐसा कौन है जो सम्पूर्ण गुणों के भण्डार (सगुण रूप) हमारे प्रभु कृष्ण को छोड़ कर तुम्हारे गुणहीन (निर्गुण ब्रह्म) के साथ अपना निर्वाह करेगा अर्थात् उसकी उपासना करेगा।

विशेष—'दाख····निबौरी'—में अन्योक्ति; 'मूरी····मुक्ताहल' में तुल्योगिता, 'गुन निर्गुन' में श्लेष; तथा प्रथम पंक्ति में रूपक अलंकार है।

राग नट

आए जोग सिखावन पाँड़े।
परमारथी पुराननि लादे, ज्यों बनजारे टाँड़े॥
हमरी गति पति कमलनयन की, जोग सिखैं ते राँड़े।
कहौ मधुप, कैसे समायँगे, एक म्यान दो खाँड़े॥
कहु षटपद, कैसे खैयतु है, हाथिन के सँग गाँड़े।
काको भूख गई बयारि भखि, बिना दूध घृत माँड़े॥
काहे को झाला लै मिलवत, कौन चोर तुम डाँड़े।
सूरदास तीनों नहिं उपजत, धनिया धान कुम्हाँड़े॥२५॥

शब्दार्थ—परमारथी=परमार्थ की शिक्षा देने वाले। टाँड़े=सौदा, व्यापार का माल। राँड़े=विधवा। खाँड़े=तलवारें। षटपद=छः पैरों वाला भ्रमर। गाँड़े=गन्ना। बयारि=हवा। भखि=खाकर। माँड़े=रोटी। झाला=झल्ल, बकवाद। डाँड़े=दण्ड दिया। कुम्हाँड़े=कुम्हड़ा, काशीफल, कद्दू।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव पर व्यंग्य करती हुई कह रही हैं कि तुम पण्डा के समान परमार्थ की शिक्षा देने वाले पुराणों के बोझ को (उनमें भरे ज्ञान के बोझ को) उसी प्रकार अपने सिर पर लादे फिर रहे हो जैसे बनजारा (घूम-घूमकर माल बेचने वाला व्यापारी) अपने ऊपर बेचने के लिए माल लादे घूमता रहता है। (यहाँ 'पुराननि' शब्द से पुरानी अथवा बासी वस्तु से भी अभिप्राय ग्रहण किया जा सकता है। अर्थात् ब्रह्म व्यर्थ की वस्तु है जिसे उद्धव गोपियों के सिर मढ़ना चाहते हैं।) हमारी गति-पति अर्थात् हमें शरण और प्रतिष्ठा देने वाले तो कमल जैसे सुन्दर नेत्रों वाले एकमात्र कृष्ण ही हैं। योग वही सीखेंगी जो विधवा अर्थात् अनाथ होंगी। हमारे

नाथ कृष्ण तो मौजूद हैं; फिर हम योग क्यों सीखें ? (हिन्दुओं में विधवा नारियाँ ही योग-साधना करती हैं, सधवा नहीं ।)

हे मधुप ! यह बताओ कि एक म्यान में दो तलवारें कैसे समा सकती हैं ? अर्थात् हमारे हृदय में तो कृष्ण समाए हुए हैं, अब वहाँ ब्रह्म और कैसे समा सकता है ? यह असम्भव है । हे षट्पद ! यह बताओ कि हाथी के साथ गन्ना कैसे खाया जा सकता है ? क्योंकि हाथी तो एक ही बार में अनेक गन्नों को खा जाता है और मनुष्य एक ही गन्ने को खाने में काफी समय लगा देता है । इसलिए गन्ना खाने में हाथी के साथ स्पर्धा नहीं की जा सकती—यह असम्भव है । उसी प्रकार यह भी असम्भव है कि हम अबला नारियाँ योग-मार्ग की कठिन और दुरूह साधना करने में समर्थ हो सकेंगी । यह बताओ कि बिना दूध, घी और रोटी खाए केवल वायु-भक्षण करने से (प्राणायाम करने से) किसकी भूख दूर हो सकती है ? जैसे यह असम्भव है, वैसे ही हमारे लिए योग-साधना करना भी असम्भव है । तुम किसलिए बातें गढ़-गढ़कर व्यर्थ की बकवाद कर रहे हो । हमने ऐसी क्या चोरी की है जिसे तुम चोर की तरह दंड देने यहाँ आए हो । अथवा तुम ऐसे कहाँ के साहूकार हो जो हमें चोर समझकर दंड देना चाहते हो । तुम तो स्वयं चोर हो जो हमारे सर्वस्व कृष्ण को हमसे चुरा ले जाने के लिए वहाँ आए हो । तुम्हें यह बात मालूम है कि जिस प्रकार धनिया, धान और काशीफल की खेती एक साथ नहीं होती, ऐसा होना असम्भव है, उसी प्रकार यह भी असम्भव है कि हम कृष्ण को त्याग कर तुम्हारे ब्रह्म को स्वीकार कर लें ।

विशेष—(१) ब्रज में धनिए की खेती जाड़ों में, धान की खेती वर्षा ऋतु में, तथा काशीफल की खेती गर्मियों में होती है । इन तीनों को एक साथ एक ही खेत में पैदा नहीं किया जा सकता ।

(२) सूर ने इस पद में विभिन्न उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि असंभव बात को सम्भव नहीं बनाया जा सकता । अर्थात् गोपियाँ कृष्ण को त्यागकर उद्धव के ब्रह्म को स्वीकार नहीं कर सकतीं ।

(३) 'एक म्यान दो खाँड़े' में लौकोक्ति; 'परमारथी····टाँड़े' में उपमा अलंकार है । ४, ५ और ७वीं पंक्तियों में लोकोक्ति अलंकार के माध्यम से लोकोक्तियों और मुहावरों का सुन्दर-सार्थक प्रयोग किया गया है ।

(४) इस पद में सगुण और निर्गुण की एक साथ उपासना असम्भव बताई गई है । एक मुसलमान कवयित्री ने यही बात इस प्रकार कही है—

"शेख तू तस्बीह में जुन्नार के डोरे न डाल,
या मुसलमाँ की तरफ रह या बिरहमन की तरफ ।"

राग बिलावल

ए अलि ! कहा जोग में नीको !
तजि रसरीति नंदनंदन की, सिखवत निर्गुन फीको ।।

देखत सुनत नाहिं कछु स्रवननि, ज्योति-ज्योति करि ध्यावत।
सुन्दर स्याम दयालु कृपानिधि, कैसे हौ बिसरावत ?
सुनि रसाल मुरली-सुर की धुनि, सोइ कौतुक रस भूलैं।
अपनी भुजा ग्रीव पर मेलैं, गोपिन के सुख फूलैं ॥
लोककानि कुल को भ्रम प्रभु मिलि-मिलि कै घर बन खेली।
अब तुम सूर खवावन आए, जोग जहर की बेली ॥२६॥

शब्दार्थ—ध्यावत=ध्यान करते हैं। नीको=अच्छा। बिसरावत=भूलना। मेलैं=डालते थे। लोककानि=लोक की मर्यादा। खेली=खेल डाला, कुछ भी न समझा। बेली=बेल, लता, बूटी।

भावार्थ—गोपियाँ भ्रमर के माध्यम से उद्धव से कह रही हैं कि हे मधुप ! तुम्हारे इस योग में ऐसी कौन-सी अच्छाई है, जिसके लिए तुम हमें नन्द-नन्दन कृष्ण के सुन्दर प्रेम को त्याग कर नीरस निर्गुण की उपासना-पद्धति सिखाना चाह रहे हो। तुम योगमार्गी लोग न तो नेत्रों से कुछ देख पाते हो और न कानों से ही कुछ सुन पाते हो। केवल 'ज्योति-ज्योति' कहकर उसका व्यर्थ ही ध्यान करने का प्रयत्न करते रहते हो। अर्थात् तुम्हारा ब्रह्म ज्योति-स्वरूप अवश्य हो सकता है, परन्तु वह न तो हमारे कृष्ण के समान दर्शनीय है और न मधुर सरस बातें कर मुरली-ध्वनि ही सुना सकता है। हम अपने ऐसे सुन्दर, दयालु, कृपा के सागर कृष्ण को तुम्हारे इस ब्रह्म के लिए कैसे भुला दें ? अथवा, समझ में नहीं आता कि तुम उस नीरस ब्रह्म के लिए ऐसे सुन्दर कृष्ण को कैसे भुला देते हो !

हम तो उनकी मधुर मुरली-ध्वनि को सुनकर, उसके आनन्द में निमग्न हो उस प्रेमरस में अपना सब-कुछ भूल जाती थीं, पूर्ण तन्मय हो जाती थीं। यह देख कृष्ण हमारे गले में अपनी भुजाएँ डाल देते थे और हम सारी गोपियाँ सुख से फूल उठती थीं। हमने अपने स्वामी कृष्ण के साथ घर और वन में प्रेम-क्रीड़ाएँ कर लोक की मर्यादा और कुल के गौरव और मर्यादा के भ्रम को नष्ट कर दिया था, उनकी कुछ भी परवाह नहीं की थी; अर्थात् हमने कृष्ण के साथ राग-रंग करने में लोक और कुल की भ्रान्तिपूर्ण मर्यादाओं की तनिक भी चिन्ता नहीं की थी कि संसार या घर वाले क्या कहेंगे। अब तुम हमें उस अमृत के समान मधुर-मादक कृष्ण-प्रेम को त्यागने का उपदेश देकर अपने विष-फल उत्पन्न करने वाली योग-रूपी इस लता के फल खिलाने यहाँ आए हो। अर्थात् तुम्हारा यह योग का उपदेश हमारे लिए विष के समान प्राणघातक होगा और कृष्ण का प्रेम अमृत के समान मधुर और जीवन-प्रदायक है।

विशेष—'जोग-जहर की बेली' में रूपक अलंकार है।

राग मलार

हमरे कौन जोग व्रत साधै ?
मृगत्वच, भस्म, अधारि, जटा को, को इतनौ अवराधै ?
जाकी कहूँ थाह नहिं पैए, अगम, अपार, अगाधै।
गिरिधर लाल छबीले मुख पर, इते बाँध को बाँधै ?
आसन पवन बिभूति मृगछाला ध्याननि को अवराधै ?
सूरदास मानिक परिहरि कै, राख गाँठि को बाँधैं ? ॥२७॥

शब्दार्थ—साधैं=साधना करे। मृगत्वच=मृगछाला। अधारि=साधुओं की हाथ टिकाने की लकड़ी। अवराधै=आराधना करे। अगाधै=अथाह। बाँध=बन्धन, आडम्बर। पवन=प्राणायाम से अभिप्राय है।

भावार्थ—गोपियाँ योग-साधना की कठिनाइयों, बाहरी बन्धनों और प्रयत्नों की आलोचना करती हुई उद्धव के कह रही हैं कि हे उद्धव ! हमारे यहाँ तुम्हारे इस योग-व्रत की साधना कौन करे ? कौन इतनी झंझट मोल ले ? कौन मृगछाला, भस्म, आधारी आदि वस्तुओं को इकट्ठा करता फिरे और फिर सिर पर जटा बाँधे ? इतनी मुसीबतें मोल लेकर कौन तुम्हारे ब्रह्म की इतनी आराधना करता फिरे ? तुम्हारा ब्रह्म तो ऐसा है कि जिसकी कहीं भी थाह नहीं पाई जा सकती, जो अगम्य, अपार और अथाह है। फिर ऐसे ब्रह्म को प्राप्त कैसे किया जा सकता है ? इसलिये ये सब प्रयत्न करना व्यर्थ है। हमारे सुन्दर सलौने कृष्ण के छबीले मुख के दर्शन करने के लिए तो किसी को भी इतने आडम्बर नहीं करने पड़ते। उन्हें प्राप्त करने के लिए आसन, प्राणायाम, भस्म, मृगछाला आदि को एकत्र करना और फिर उनका ध्यान करना आदि बातों की तनिक भी जरूरत नहीं पड़ती। अर्थात् जब तुम्हारे ब्रह्म का ध्यान करने के लिए इन सारी वस्तुओं का जुटाना आवश्यक है तो फिर ऐसा कौन मूर्ख है जो इन सारे प्रपंचों में पड़ उसकी आराधना करे ? यह बताओ कि ऐसा कौन मूर्ख है जो अपने माणिक्य को त्याग कर उसके स्थान पर राख को अपनी गाँठ में बाँधे ? अर्थात् हमारे कृष्ण मणि के समान अमूल्य हैं और तुम्हारा ब्रह्म राख के समान तुच्छ है।

विशेष—(१) इस पद में सगुण मार्गीय सहज-सरस भक्ति और योगमार्गीय क्लिष्ट, कृच्छ साधना का अन्तर दिखाते हुए भक्ति की श्रेष्ठता और सरलता स्थापित की गई है।

(२) अष्टांग-योग के साधनों का उल्लेख किया गया है। ये साधन आठ माने गये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। ऊपर इन्हीं में से कुछ का उल्लेख हुआ है।

राग धनाश्री

हम तो दुहूँ भाँति फल पायो।
जो ब्रजनाथ मिलैं तो नीको, नातरु जग जस गायो॥

कहँ वै गोकुल की गोपी सब बरनहीन लघुजाती।
कहँ वै कमला के स्वामी सँग, मिलि बैठीं इक पाँती ।।
निगमध्यान मुनिज्ञान अगोचर, ते भए घोषनिवासी।
ता ऊपर अब साँच कहो, धौं मुक्ति कौन की दासी ?
जोग-कथा, पा लागों ऊधो, ना कहु बारंबार।
सूर स्याम तजि और भजै, जो ताकी जननी छार ।।२८।।

शब्दार्थ—नीको=अच्छा, ठीक। नातरु=नहीं तो। लघुजाती=नीच जाति की। पा लागौं=पैर पड़ती हूँ। छार=भस्म, राख; यहाँ धिक्कार से अभिप्राय है।

भावार्थ—गोपियाँ अपने कृष्ण-प्रेम की प्रशंसा करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि इस कृष्ण-प्रेम का फल हमें तो दोनों ही तरह से पूरा-पूरा मिल जायगा। यदि हमारे इस विरह के कारण अन्त में हमें ब्रजनाथ कृष्ण की पुनः प्राप्ति हो गई तो बहुत ही अच्छा रहेगा। यदि वह हमें न मिले तो भी संसार हमारा यश गाता रहेगा कि गोपियाँ कृष्ण-प्रेम में आजीवन एकनिष्ठ रही थीं। यह तो हमारा परम सौभाग्य है कि हमें कृष्ण से प्रेम करने का अवसर मिला। क्योंकि हमारी और कृष्ण की कोई समानता ही नहीं थी। कहाँ हम नीच जाति की वर्णहीन गोकुल की गोपियाँ, और कहाँ थे लक्ष्मी के स्वामी ब्रह्मस्वरूप कृष्ण ! यह हमारा परम सौभाग्य ही था कि हमें उनके साथ एक पंक्ति में बराबर की हैसियत से बैठती थीं। अर्थात् ऐसे महान् कृष्ण हमें प्रेम करने योग्य समझ अपनी बराबरी का पद प्रदान करते थे।

वेद भी जिस भगवान् का सदैव ध्यान करते रहते हैं, जिसे पूर्ण ज्ञानी मुनिगण भी प्रयत्न करने पर प्राप्त नहीं कर पाते, वही भगवान इन अहीरों की बस्ती में आकर यहाँ रहे थे। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण सत्य यह है कि यह बताओ कि तुम्हारी मुक्ति किसकी दासी है ? (मुक्ति को ब्रह्म की दासी माना गया है।) इसलिए हे उद्धव ! हम तुम्हारे चरण पकड़कर तुमसे यह प्रार्थना करती हैं कि तुम बार-बार अपनी इस योग-कथा को हमें मत सुनाओ। हमारा तो यह मत है कि जो कृष्ण को त्यागकर किसी अन्य का भजन करता है उसकी माता को धिक्कार है।

विशेष—(१) इस पद में कृष्ण के प्रति गोपियों के अनन्य प्रेम और उनके दैन्य भाव का सुन्दर चित्रण हुआ है।

(२) दैन्य भाव के उदय के कारण बदलती हुई मानसिक दशाओं का अंकन मनोरम है। यहाँ दैन्य भाव के कारण उपालम्भ का भाव तिरोहित हो गया है।

(३) अन्तिम पंक्ति में अभिव्यक्त भावना तुलसी में भी मिलती है—

"पुत्रवती युवती जग सोई। रघुपति भगत जासु सुत होई।।"

(४) अन्तिम पंक्ति में लोकोक्ति अलंकार है।

राग धनाश्री

हमतें हरि कबहूँ न उदास।
राति खवाय पिवाय अधर-रस, क्यों बिसरत सो ब्रज को बास ।।

तुम सों प्रेमकथा को कहिबो, मनहुँ काटिबो घास।
बहिरो तान-स्वाद कह जानै, गूँगो बात-मिठास।।
सुनु री सखी, बहुरि फिरि ऐहैं, वे सुख विविध बिलास।
सूरदास ऊधो अब हमको, भयो तेरहों मास।।२६।।

शब्दार्थ—राति=प्रेमपूर्वक। काटिबो घास=घास काटना, बेकार मगज मारना। तान-स्वाद=संगीत का आनन्द। बात-मिठास=बातों का मीठापन। बहुरि=फिर। तेरहों मास=अवधि बीत जाना।

भावार्थ—गोपियों को इस बात पर अटल विश्वास है कि उनके कृष्ण उन्हें कभी विस्मृत नहीं कर सकते। इसी भाव को स्पष्ट करती हुई वे उद्धव से कह रही हैं कि हमारे हरि हमारे प्रति कभी भी विरक्त नहीं हो सकते, क्योंकि वह ब्रज के अपने उस जीवन को कैसे भूल सकते हैं, जहाँ हमने उन्हें प्रेमपूर्वक मक्खन खिलाया था और अपने अधर-रस का पान कराया था। परन्तु हे उद्धव ! तुम्हारे सामने इस प्रेमकथा का वर्णन करना घास काटने के समान व्यर्थ है। क्योंकि तुम इस प्रेम-कथा के महत्व को उसी प्रकार नहीं समझ सकते, जिस प्रकार बहरा व्यक्ति संगीत की चढ़ती-उतरती तानों के स्वाद को; तथा गूँगा बात करने की मिठास को नहीं जान सकता।

इसके उपरान्त एक गोपी अपनी सखी से कहती है कि हे सखी ! सुन, हमारे जीवन में वही सुख और विविध विलास-क्रीड़ाएँ फिर आयेंगी। अर्थात् कृष्ण यहाँ लौट कर आएँगे और हम सब फिर उनके साथ तरह-तरह की विलास-क्रीड़ाएँ कर, वही पहले जैसा सुख प्राप्त करेंगी। अब तो उनके आने की अवधि भी बीत चुकी है। इसलिए पूर्ण आशा है कि कृष्ण अब शीघ्र ही आने वाले हैं।

विशेष—(१) इस पद में सूर ने 'मनहु काटिबो घास', 'भयो तेरहों मास' आदि ग्रामीण मुहावरों का प्रयोग कर लोकगीतों की छटा उत्पन्न कर दी है।

(२) 'बहिरो····बात-मिठास' में निदर्शना अलंकार; 'मनहूँ काटिबो घास' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

(३) एक वर्ष में बारह मास होते हैं। तेरहवें मास के लगने से यह अभिप्राय है कि अब अवधि समाप्ति हो गई है, उसी प्रकार जैसे बारहवें मास में एक वर्ष समाप्त होकर तेरहवें मास से नया वर्ष प्रारम्भ हो जाता है।

राग कान्हरो

पूरनता इन नयन न पूरी।
तुम जो कहत स्रवननि सुनि समुझत, ये याही दुख मरति बिसूरी।।
हरि अंतर्यामी सब जानत, बुद्धि बिचारत बचन समूरी।
वै रस रूप रतन सागर निधि, क्यों मनि पाय खवावत धूरी।।

रहु रे कुटिल, चपल, मधु लंपट, कितव संदेस कहत कटु कूरी।
कहँ मुनिध्यान कहाँ ब्रजयुवती ! कैसे जात कुलिस करि चूरी।।
देखु प्रगट सरिता, सागर, सर, सीतल सुभग स्वाद रुचि रूरी।
सूर स्वातिजल बसैं जिय चातक, चित लागत सब झूरी।।३०।।

शब्दार्थ—पूरनता=पूर्णता। न पूरी=नहीं जँचती। बिसूरी=बिलख-बिलख कर। समूरी=पूर्ण रूप से, जड़-मूल से। धूरी=धूल, मिट्टी। कितव=धूर्त्त, छली। कूरी=क्रूर, निष्ठुर। कुलिस—वज्र। रूरी=अच्छी। झूरी=नीरस, फीका।

भावार्थ—उद्धव ने गोपियों से कहा था कि कृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं। गोपियाँ इसी बात पर व्यंग्य करती हुई उनसे कह रही हैं कि तुमने पूर्ण ब्रह्म का जो वर्णन किया है, उसकी वह पूर्णता हमारे इन नेत्रों में पूरी तरह से समा नहीं पाती, इन्हें वह जँचती नहीं। तुम हमसे इस सम्बन्ध में जो बातें कह रहे हो, उसे हम कानों से सुन-कर समझ रही हैं। परन्तु हमारी इसी बात के कारण ये हमारी आँखें दुःखी हो बिलख-बिलख कर मरी जा रही हैं। कारण है कि या तो इन्हें वह पूर्णता कहीं दिखाई नहीं देती या इन्हें यह भय है कि कहीं हम तुम्हारी बातें मानकर कृष्ण को त्याग तुम्हारे ब्रह्म को स्वीकार न कर लें। ऐसा हो जाने पर कृष्ण के सौन्दर्य में पगी हुई इन आँखों को फिर कृष्ण के मधुर रूप के दर्शन करने को नहीं मिलेंगे। इसी भय के कारण ये इतनी दुःखी हो रही हैं।

सब यह जानते हैं कि भगवान अन्तर्यामी हैं। जब हम बुद्धि द्वारा इस पर पूरी तरह से विचार करती हैं तो हमें भी तुम्हारी यह बात सत्य प्रतीत होती है कि भगवान अन्तर्यामी हैं। परन्तु हमारे कृष्ण तो प्रेम, रूप और रत्नों के समान अमूल्य गुणों के अथाह सागर हैं। हमने जब ऐसे कृष्ण रूपी मणि को प्राप्त कर लिया है तो फिर तुम हमें धूल के समान तुच्छ—अपने ब्रह्म को अपना लेने का उपदेश क्यों दे रहे हो ? यह तो गाँठ की मणि को त्याग कर धूल फाँकने के समान ही मूर्खता का कार्य है।

इसके उपरान्त गोपियाँ खीझ कर भ्रमर के माध्यम से उद्धव को जली-कटी सुनाने लगती हैं। वे भ्रमर को सम्बोधन कर कहती हैं कि रे कुटिल, चंचल, मधु के लोभी, धूर्त्त भ्रमर, ठहर जा ! तू हमें ऐसा कड़वा और कठोर सन्देश क्यों सुना रहा है ? यह तो बता कि कहाँ मुनियों की ब्रह्म विषयक कठोर और क्लिष्ट साधना तथा कहाँ कोमल शरीर वाली ब्रज की युवतियाँ ! इन दोनों में कहाँ समानता है अर्थात् ब्रजयुवतियाँ ऐसी क्लिष्ट साधना करने में कैसे समर्थ हो सकती हैं ? जैसे वज्र को तोड़कर चूर-चूर करना असम्भव है, वैसे ही हमारे लिए इस साधना को करना असम्भव है। यह देख कि इस संसार में नदी, सागर, सरोवर आदि शीतल, मधुर जल से आपूरित हैं। उनका जल पीने में मीठा और अच्छा लगता है। परन्तु स्वाति-

जल के प्रेमी चातक के हृदय में तो केवल स्वातिजल ही एकमात्र ऐसा जल है जिसे वह पान कर सकता है। अन्य सारे जल उसे नीरस और फीके प्रतीत होते हैं। भाव यह है कि तुम्हारा ब्रह्म भले ही अच्छा हो, परन्तु हमें तो एकमात्र कृष्ण ही प्रिय लगते हैं। इसलिए हम तुम्हारे ब्रह्म को स्वीकार नहीं कर सकतीं।

विशेष—(१) गोपियाँ चातक का उदाहरण देकर अपने प्रेम की अनन्यता घोषित कर रही हैं। निर्गुण ब्रह्म की अवहेलना न कर, उसे अच्छा मानकर भी, गोपियाँ कृष्ण के सम्मुख उसे महत्त्व देने को प्रस्तुत नहीं हैं।

(२) चातक—प्रेम की अनन्यता का आदर्श प्रतीक माना गया है। तुलसी ने भी चातक-प्रेम को अनन्य बताते हुए कहा—

"बध्यौ बधिक, पर्‌यो पुन्य जल, उलट उठायी चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट, मरनेहु लगी न खोंच।।"

(३) सम्पूर्ण पद में छेकानुप्रास और वृत्यानुप्रास कई स्थलों पर आए हैं। 'कहै मुनि····चूरी' में निदर्शना अलंकार है।

(४) 'सरिता सागर सर' में दुष्क्रमत्व दोष है।

तेरो बुरो न कोऊ मानै।
रस की बात मधुप नीरस, सुनु, रसिक होत सो जानै।।
दादुर बसैं निकट कमलन के, जन्म न रस पहिचानै।
अलि अनुराग उड़न मन बाँध्यो, कहे सुनत नहिं कानै।।
सरिता चलै मिलन सागर को, कूल मूल द्रुम भानै।
कायर बकै, लोह तें भाजै, लरै जो सूर बखानै।।३१।।

शब्दार्थ—रसिक=प्रेमी। दादुर=मेंढक। मूल=जड़ सहित। भानै=नष्ट करना, तोड़ डालना। लोह=लोहा, हथियार। सूर=वीर।

भावार्थ—जब उद्धव बार-बार गोपियों को ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश देने लगे तो गोपियाँ भ्रमर के माध्यम से उन पर व्यंग्य करती हुई कहने लगीं कि हे नीरस स्वभाव वाले भ्रमर! सुन! तेरी बात का यहाँ कोई भी बुरा नहीं मानता। क्योंकि प्रेम की बातें तो वही जान सकता है जो स्वयं प्रेमी और रसिक होता है। अर्थात् तू तो मधु के लोभ में फूल-फूल पर मँडराता रहता है, किसी एक फूल से प्रेम नहीं करता। फिर तू प्रेम की बातों में कैसे रस ले सकता है। मेंढक जीवन भर कमलों के पास जल में रहता है, परन्तु फिर भी कमल-रस के महत्त्व को नहीं जान पाता और न उससे प्रेम ही करता है। दूसरी ओर भ्रमर कमल का अनुरागी होता है, उसका मन कमल में बँधा रहता है, इसलिए वह दूर से उड़कर कमल के पास पहुँच जाता है और मार्ग की किसी भी विघ्न-बाधा की तनिक भी चिन्ता नहीं करता। किसी के कहने-सुनने की ओर जरा भी ध्यान नहीं देता। भाव यह है कि उद्धव प्रेम-

स्वरूप कृष्ण के पास रहते हुए भी उनसे प्रेम करना न सीख सके, परन्तु गोपियों का मन तो भ्रमर के समान उड़कर सदैव उन्हीं के पास पहुँचने का प्रयत्न करता रहता है और किसी भी लोक, कुल, जाति की मर्यादा के बन्धनों की तनिक-सी भी परवाह नहीं करता।

जब नदी अपने प्रियतम सागर के प्रेम में उमड़ कर उससे मिलने के लिए चल पड़ती है तो मार्ग में मर्यादा स्वरूप दोनों तटों पर खड़े उन वृक्षों को जड़ से उखाड़ कर नष्ट कर देती है जो उसके उन्मुक्त प्रवाह में बाधा उपस्थित करते हैं। हे उद्धव ! कायर व्यक्ति केवल बकते ही रहते हैं और हथियार देखकर भाग खड़े होते हैं, परन्तु असली वीर तो उसे ही कहा जाता है जो युद्ध में सम्मुख होकर लड़ता है। भाव यह है कि उद्धव तो व्यर्थ की बकवाद कर रहे हैं—कायर हैं, क्योंकि प्रेम करना रण-क्षेत्र में युद्ध करने के समान साहस का काम है। इसलिए कोरी बातें बनाने वाले उद्धव प्रेम के क्षेत्र में नहीं टिक सकते।

विशेष—(१) 'दादुर' और 'अलि' की प्रतीकात्मक योजना प्रभावशाली है।

(२) भ्रमर कमल का प्रेमी माना गया है। दादुर और भ्रमर के इस अन्तर का उल्लेख जायसी ने भी किया है—

"भँवर आइ बनखंड संग, लेहि कँवल कै बास।
दादुर बास न पावई, भलहि जो आछै पास॥"

(३) 'तेरो''''मानै' में वक्रोक्ति अलंकार तथा 'दादुर''''बखानै' में उल्लेख; सरिता''''''भानै' में अप्रस्तुत प्रशंसा; तथा 'काया''''''बखानै' में अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

(४) प्रेममार्ग की दृढ़ता और एकनिष्ठता का प्रतिपादन किया गया है।

घर ही के बाढ़े रावरे !
नाहिंन मीत बियोगवस परे, अनवउगे अलि बावरे !
भुख मरि जाय चर नहिं तिनुका, सिंह को यहै स्वभाव रे !
स्रवन सुधा-मुरली के पोषे, जोग-जहर न खवाव रे !
ऊधो हमहि सीख का देहो ? हरि बिनु अनत न ठाँव रे !
सूरदास कहा लै कीजै, थाही नदिया नाव रे ! ॥३२॥

शब्दार्थ—बाढ़े=बढ़-बढ़कर बातें करने वाले। रावरे=आप। अनवउगे= अँगवोगे, सहोगे। अनत=अन्यत्र। पोषे=पाले। थाही=उथली, थाही हुई, थाह ली हुई।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रहीं हैं कि तुम जैसे ज्ञान-योग की बातें करने वाले तो घर में बढ़-बढ़कर डींगें हाँकने वाले लोगों के समान कोरी बातें करने वाले ही होते हैं, उनसे करते कुछ भी नहीं बन पड़ता। हे बावले भ्रमर ! सुनो ! तुमने

अभी तक अपने प्रिय का वियोग नहीं सहा। जब इस वियोग को सहोगे, तब मालूम पड़ेगा कि यह कितना दुःखदायी और प्राणान्तक होता है। (तुम पर वही कहावत चरितार्थ होती है कि—'जाके पाँव न फटी बिवाई, सो का जानै पीर पराई।') सिंह का यह स्वभाव होता है कि माँस न मिलने पर वह भूखा भले ही मर जायगा, परन्तु कभी घास नहीं खायगा। अर्थात् हम अपने प्रेम-व्रत में सिंह के ही समान दृढ़ हैं। प्रेम करेंगी तो कृष्ण से ही, भले ही इसमें प्राप्त वियोग-व्यथा के कारण हमारे प्राण हीं क्यों न चले जायँ। परन्तु हम तुम्हारे ब्रह्म को स्वीकार नहीं कर सकतीं। हे भ्रमर! हमारे ये कान मुरली की अमृत के समान मीठी ध्वनि से पाले-पोषे गए हैं, अर्थात् उसके अभ्यस्त हैं। अब तुम हमारे इन कानों को जहर के समान कड़वे और प्राण-घातक योग की बातें सुनाकर व्यथित मत करो। हमें ये बातें अच्छी नहीं लगतीं। हे उद्धव! तुम हमें भला क्या उपदेश दोगे? हमारे लिए तो कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कहीं भी शरण पाने को स्थान नहीं है। कृष्ण-प्रेम में लीन हम गोपियों के लिए तो यह संसार उस उथली नदी के समान है जिसे पार करने के लिए नाव की जरूरत ही नहीं पड़ती। फिर हम इसे पार करने के लिए तुम्हारी योग-रूपी नाव को लेकर क्या करेंगी? भाव यह है कि यह संसार तुम योग-मार्गियों के लिए अथाह और अगम्य हो सकता है, परन्तु हमारे लिए तो कृष्ण-प्रेम का अवलम्ब ग्रहण कर लेने पर इसे पार कर लेना अत्यन्त सरल है।

विशेष—(१) 'सुधा-मुरली' में रूपक; 'भुख·······स्वभाव' में उदाहरण, 'स्रवन·······खवाव' में विषम; तथा अन्तिम पंक्ति में तुल्योगिता और लोकोक्ति अलंकार हैं।

(२) तृतीय पंक्ति का भाव-साम्य एक अन्य कवि की इस पंक्ति में द्रष्टव्य है—

'केहरि तृण नहीं चर सकै जो ब्रत करै पचास।'

(३) योगमार्गियों द्वारा संसार-सागर को पार करना दुस्साध्य बताए जाने वाले सिद्धान्त पर गहरा व्यंग्य है। प्रेमियों को यह संसार—सरल, ग्राह्य और मधुर प्रतीत होता है।

राग मलार

स्याम मुख देखे ही परतीति।
जो तुम कोटि जतन करि सिखवत, जोग ध्यान की रीति॥
नाहिंन कछू सयान ज्ञान में, यह हम कैसे मानैं।
कहौ कहा कहिए या नभ को, कैसे उर में आनैं॥
यह मन एक, एक वह मूरति, भृंगकीट सम माने।
सूर सपथ दै बूझत ऊधो, यह ब्रज लोग सयाने॥३३॥

शब्दार्थ—परतीति=प्रतीति, विश्वास। जतन=यत्न। सयान=चालाकी।

नभ=शून्य। आनैं=लाएँ। भृङ्गकीट=बिलनी नामक एक कीड़ा होता है जिसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वह अन्य कीड़ों को पकड़कर उन्हें अपने रूप में परिवर्तित कर लेता है।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि अब तो कृष्ण का मुख देखकर ही अर्थात् उनके दर्शन करने पर ही हमें यह विश्वास हो सकेगा कि वास्तविकता क्या है। तुम जो करोड़ों यत्न करके हमें योग और ध्यान करने की रीतियाँ सिखा रहे हो परन्तु हमारा विश्वास उन पर नहीं जम पाता। हम इस बात को कैसे मान लें कि तुम्हारे इस ज्ञान के उपदेश में कोई चालाकी या दुरभिसन्धि नहीं है। अर्थात् तुम अवश्य किसी स्वार्थ की सिद्धि के लिए ही हमें ज्ञान का उपदेश दे रहे हो। (यहाँ गोपियाँ सम्भवतः कृष्ण के कुब्जा के प्रति अनुराग पर अप्रत्यक्ष रूप से आरोप कर रही हैं कि कृष्ण यह चाहते हैं कि गोपियाँ उन्हें भूल जायँ और वह कुब्जा के साथ रंगरेलियाँ मनाते रहें।)

यह बताओ कि हम तुम्हारे इस विशाल आकाश (शून्य; ब्रह्म को शून्य माना गया है) को अपने नन्हें से हृदय में कैसे समेट लें, आत्मसात् कर लें? हमारा यह मन एक है और इसमें वही एक मूर्त्ति (कृष्ण की) समाई हुई है। यह मन और कृष्ण की मूर्ति मिलकर भृङ्ग और कीट के समान एक रूप हो चुके हैं। अर्थात् हमारे हृदय पूर्णरूप से कृष्णमय बन गए हैं। हे उद्धव! ब्रज के यह चतुर लोग तुम्हें शपथ देकर यह पूछते हैं कि ऐसा होना क्या सम्भव है? अर्थात् हमारे कृष्णमय हृदय क्या तुम्हारे योग की साधना कर सकते हैं? क्योंकि इनमें तो एकमात्र कृष्ण ही समाए हुए हैं। इसलिए ऐसा होना सम्भँव नही है।

विशेष—(१) इस पद में गोपियों के अनन्य प्रेम की स्थापना की गई है।

(२) 'नभ' से यहाँ दो तात्पर्य ग्रहण किये जा सकते हैं। एक, नभ इतना विशाल है कि उसे नन्हें से हृदय में स्थान नहीं दिया जा सकता। दूसरा, यह कि शून्य को हृदय में स्थान देने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि शून्य अन्ततः शून्य ही रहेगा। उससे कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। यहाँ शून्य से वास्तविक अभिप्राय ब्रह्म से है।

(३) 'कहौ..........आनैं' में रूपकातिशयोक्ति तथा 'भृङ्ग कीट सम' में उपमा अलंकार है।

(४) प्रेम की अनन्यता में प्रेमी और प्रेमिका अथवा उपासक और उपास्य एकरूप हो जाते हैं। उनमें कोई अन्तर नहीं रहता। 'भृंगकीट सम' से यही अभिप्राय है।

राग धनाश्री

लरिकाई कौ प्रेम, कहौ अलि, कैसे करिकै छूटत?
कहा कहौं ब्रजनाथ-चरित अब, अन्तरगति यों लूटत॥

चंचल चाल मनोहर चितवनि, वह मुसुकानि मंद धुन गावत।
नटवर भेस नंदनंदन को, वह विनोद गृह बन तें आवत ।।
चरनकमल की सपथ करति हौं, यह सँदेश मोहि विषसम लागत।
सूरदास मोहि निमिष न बिसरति, मोहन मूरति सोवत जागत ।।३४।।

शब्दार्थ--लरिकाई=बचपन। अन्तरगति=मन, चित्त की वृत्ति। निमिष= पलभर को भी।

भावार्थ—कृष्ण और गोपियों का साथ बचपन से रहा है। और बचपन का यह प्रेम अत्यन्त दृढ़ और सदैव एकरस रहने वाला होता है। इसे भुलाना सम्भव नहीं होता। यहाँ गोपियाँ इसी बाल-साहचर्य-सम्भूत प्रेम की एकनिष्ठता का उल्लेख करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि हे भ्रमर! यह बताओ कि बचपन में साथ-साथ रहने से उत्पन्न हुआ प्रेम किस प्रकार छूट या टूट सकता है? हम ब्रजनाथ कृष्ण के चरितों अर्थात् क्रीड़ाओं का कहाँ तक वर्णन करें। अब उनके उन चरितों का ध्यान हमारे मन को सहज रूप से उनकी ओर आकर्षित करता रहता है। उनका स्मरण आते ही हम अपनी सुध-बुध भूल जाती हैं। उनकी वह चंचलता से भरी चाल, वह मनोहर चितवनि, वह मोहक मुस्कान और उनका वह मन्द स्वर के साथ गाना—हमें कभी भी नहीं भूलता। उनका वह नटवर का वेश धारण किए विनोद करते हुए वन से घर की ओर लौटना—हमारी स्मृति में सदैव छाया रहता है।

हम कृष्ण के चरण-कमल की शपथ उठाकर कहती हैं कि उनका यह सन्देश (उन्हें भूलकर ब्रह्म की आराधना करने का सन्देश) हमें विष के समान घातक लगता है। हमें तो सोते और जागते हुए—दोनों अवस्थाओं में उनकी वह मोहक मूर्त्ति क्षण-भर के लिए भी नहीं भूलती।

विशेष—(१) यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि बचपन का साहचर्य सम्भूत प्रेम कभी भी समाप्त नहीं होता। सूरदास यहाँ इसी तथ्य के प्रति संकेत कर रहे हैं। बचपन के संस्कार अमिट रहते हैं।

(२) इस पद में जीवन के सुमधुर पक्षों से युक्त तर्क तथा सुन्दर रूपों की अवतारणा के कारण भावना का मनोरम स्फुरण दृष्टव्य है। 'लरिकाई कौ प्रेम' में एक अद्भुत मार्मिकता और हृदय को छू लेने की शक्ति है।

(३) 'स्मृति' संचारी भाव का चित्रण है।

(४) उपमालंकार।

राग सोरठ

अटपटि बात तिहारी ऊधो, सुनै सो ऐसी को है?
हम अहीरि अबला सठ, मधुकर! तिन्हैं जोग कैसे सोहै?
बूचिहि खुभी, आँधरी काजर, नकटी पहिरै बेसरि।
मुँडली पाटी पारन चाहै, कोढ़ी अंगहि केसरि।।

बहिरी सों पति मतो करै, सो उतर कौन पैं पावै ?
ऐसो न्याव है ताको ऊधो, जो हमैं जोग सिखावै ॥
जो तुम हमको लाए कृपा करि, सिर चढ़ाय हम लीन्हे ।
सूरदास नरियर जो विष को, करहिं बंदना कीन्हे ॥३५॥

शब्दार्थ—बूचिहि=कनकटी, जिसका कान कटा हुआ हो । खुभी=लौंग, कान का एक गहना । आँधरी=अन्धी । वेसरि=नथ । मुँडली=जिसका सिर मुँडा हो । पाटी पारन=बालों में माँग निकालना । मतौ करै=सलाह करे । उतर=उत्तर । नरियर=नारियल ।

भावार्थ—गौपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! यहाँ ऐसी कौन है जो तुम्हारी योग की इन अटपटी बातों को सुने, अर्थात् उनकी ओर ध्यान दे । हे दुष्ट मधुकर ! हम तो अवला और जाति की अहीर नारियाँ हैं । यह बताओ कि हमें तुम्हारा यह योग कैसे शोभा दे सकता है ? यह तो वैसी ही अनहोनी बात होगी, जैसे कनकटी कानों में लौंग पहनने का, अन्धी आँखों में काजल लगाने का, नकटी नाक में नथ पहनने का, घुटमुण्डी सिर पर बालों की पटियाँ पाड़ने का, माँग काढ़ने का, कोढ़ी अपने कोढ़ से गलित अंगों में केसर लगाने का प्रयत्न करे । यदि कोई पति अपनी बहरी पत्नी से कोई विचार-विमर्श करने का प्रयत्न करे तो किससे उत्तर पा सकेगा ? बहरी पत्नी न सुन पाने के कारण पति की बातों का उत्तर नहीं दे सकेगी । हे उद्धव ! जो हमको योग सिखाने का प्रयत्न करता है उसकी स्थिति ऐसी ही शोचनीय समझनी चाहिए (जैसी कि उपर्युक्त उदाहरणों में बताई गई है) । अर्थात् ऐसा प्रयत्न करना नितान्त हास्यास्पद और असम्भव है ।

तुम कृपा करके जो कुछ हमारे लिए लाए हो, उसे हमने सादर सिर चढ़ाकर स्वीकार कर लिया है । परन्तु तुम्हारा यह योग का उपदेश तो उस विषभरे नारियल के समान दूर से ही वन्दना करने के योग्य है, जिसे स्वीकार कर, ग्रहण कर लेने पर प्राण संकट में पड़ जाते हैं । भाव यह है कि तुम्हारा यह सन्देश हमारे प्रियतम का सन्देश होने के कारण हमारे लिए वन्दनीय है, परन्तु परिणाम में घातक होने के कारण स्वीकार करने योग्य नहीं है । इसलिए हम दूर से ही इसे प्रणाम करती हैं ।

विशेष—तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम पंक्ति में मालोपमा तथा अन्तिम पंक्ति में उपमा अलंकार है ।

इस पद में विभिन्न उदाहरण देकर यह सिद्ध किया गया है कि गोपियों के लिए योग-साधना करना सर्वथा असम्भव और हास्यास्पद है ।

राग सारंग

हरि काहे के अन्तर्यामी ?
जौ हरि मिलत नहीं यहि औसर, अवधि बतावत लामी ॥

अपनी चोप जाय उठि बैंठे, और निरस बेकामी।
सो कह पीर पराई जानैं, जो हरि गरुड़ागामी ॥
आई उघरि प्रीति कलई सी, जैसे खाटी आमी।
सूर इते पर अनख मरित हैं, ऊधो, पीवत मामी ॥३६॥

शब्दार्थ—अन्तर्यामी=सर्वज्ञ। औसर=अवसर। लामी=लम्बी। चोप=चाह, चाव, इच्छा। निरस=नीरस। बेकामी=निष्काम। आमी=अमिया, आम। अनख=अनखनाकर, कुढ़कर। पीवत मामी=बात को पी जाना, चुप्पी साध जाना।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि (तुम जो यह कहते हो कि हरि अन्तर्यामी हैं तो यह बात गलत है क्योंकि) हरि कैसे अन्तर्यामी हैं, सबके हृदय की बात जानने वाले हैं? (यदि वह हमारे हृदय की बात जानते होते तो) क्या इस अवसर पर (हमारे उनके विरह में अत्यधिक व्याकुल होने के अवसर पर) आकर हमसे मिलते नहीं? इसके विपरीत, वह तो अपने आने की और भी लम्बी अवधि बता रहे हैं; अर्थात् बहुत दिनों बाद आने का सन्देश भेज रहे हैं। वह तो यहाँ से अपनी ही इच्छानुसार उत्साहपूर्वक वहाँ (मथुरा) जा बैठे हैं और वहाँ जाकर पूर्णतः नीरस स्वभाव के और निष्काम बन गए हैं। अर्थात् अब उनके हृदय में हमसे मिलने की कामना ही नहीं रही है। वस्तुतः बात यह है कि जो कृष्ण गरुड़ पर सवारी करने वाले हैं, कभी पैदल नहीं चलते, वह पैदल चलने वालों के पैरों में फटी हुई बिवाइयों के कष्ट को क्या जानें? भाव यह है कि कृष्ण को तो वहाँ जाकर कुब्जा का प्रेम प्राप्त हो गया और वह हमें भूल गए। इसलिए उन्हें हमारे विरह की वेदना नहीं सताती। फिर वह विरह-वेदना के कष्ट को कैसे अनुभव कर सकते हैं?

जैसे खट्टे आम द्वारा बर्तन पर कढ़ाई हुई कलई उतर जाती है और बर्तन का असली रूप सामने आ जाता है, उसी प्रकार अब उनके प्रेम की असलियत हमारे सामने खुल गई है। अर्थात् वह हमसे प्रेम नहीं करते थे, प्रेम की बनावटी बातें कर हमें बहलाए रखते थे। यह सब जान लेने पर भी हम इस बात पर कुढ़-कुढ़कर मरी जा रही हैं कि वह हमारे प्रेम के सम्बन्ध में मौन साध कर बैठ गए हैं। न तो यह कहते हैं कि हमसे प्रेम नहीं करते, और न यह ही कहते हैं कि हमसे प्रेम करते हैं।

विशेष—(१) 'आई उघरि प्रीति कलई' के रूप में सुन्दर लोकोक्ति का प्रयोग किया गया है।

(२) 'गरुड़ागामी' में अर्थ श्लेष; तथा चौथी और पाँचवीं पंक्ति में उपमालंकार है।

राग विहागरौ

बरु वै कुब्जा भलो कियो ।
सुनि-सुनि समाचार ऊधो, मो कछुक सिरात हियो ।।
जाको गुन, गति, नाम, रूप, हरि हार्‌यो, फिरि न दियो ।
तिन अपनो मन हरत न जान्यो, हँसि-हँसि लोग जियो ।।
सूर तनक चन्दन चढ़ाय तन, ब्रजपति बस्य कियो ।
और सकल नागरि नारिन को, दासी दाँव लियो ।।३७।।

शब्दार्थ—सिरात हियो=हृदय ठण्डा होता है, सांत्वना मिलती है। हार्‌यो=हर लिया। तिन=उन्होंने। तनिक=जरा सा। बस्य कियो=वश में कर लिया। नागरि=नागरिकाओं, नगर में रहने वाली नारियों। दासी=कुब्जा। बरु=तो भी।

भावार्थ—गोपियाँ दुर्जन-दोष-न्याय पद्धति के आधार पर कृष्ण के कुब्जा-प्रेम पर व्यंग्य करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि उस कुब्जा ने (कृष्ण को अपने वश में करके) तो भी बहुत अच्छा काम किया। हे उद्धव ! इस समाचार से (कि कुब्जा ने कृष्ण को अपने वश में कर लिया है) हमारे हृदय को थोड़ी-सी ठण्डक पहुँचती है, सान्त्वना प्राप्त होती है। अब तक तो कृष्ण का यह स्वभाव रहा था कि एक बार जिसका भी गुण, गति (शरणाश्रय), नाम और रूप उन्होंने हर लिया था, फिर लौटा-कर उसे कभी भी नहीं दिया। अर्थात् वह सदैव दूसरों का सर्वस्व हरण करते रहे थे, उन्हें अपने वश में पूरी तरह करते रहे थे। उन्हीं कृष्ण ने (कुब्जा द्वारा) अपने मन को हरण किया जाता हुआ नहीं जान पाया। कृष्ण की इस पराजय को सुनकर सब लोग (सारा संसार) हँस-हँसकर जीवित रहते हैं। अर्थात् कृष्ण का उपहास करते हुए हँसी के मारे मरे जा रहे हैं। उस कुब्जा ने तो उनके शरीर पर तनिक-सा चन्दन का लेप करके ही अपने वश में कर लिया। और इस प्रकार (मथुरा की) सम्पूर्ण नागरि-काओं (नगर की स्त्रियों) को पराजित कर उनके ऊपर विजय प्राप्त की। भाव यह है कि दासी कुब्जा सम्पूर्ण नगर की चतुर स्त्रियों को पराजित कर दाँव मार ले गई। एक दासी अन्य नागरिकाओं की प्रतिद्वन्द्विता में जीत गई।

विशेष—(१) इस पद में दुर्जन-दोष-न्याय (प्रतिपक्षी को हराने के लिए, उसके तर्क की पुष्टि करना, उसी के दाँव पर उसे हरा देना) पद्धति द्वारा गोपियाँ कुब्जा द्वारा कृष्ण पर प्राप्त विजय पर व्यंग्य कर रही हैं। उनका कहना है कि कृष्ण अपने को बहुत समझते थे, अन्त में उन्हें हारना भी पड़ा तो एक कुबड़ी दासी द्वारा ही।

(२) 'तनक चन्दन चढ़ाय' में भी गहरा व्यंग्य है। गोपियाँ तो कृष्ण पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करती रहीं, फिर भी कृष्ण उन्हें छोड़ गए और अब कुब्जा ने जरा-सा चन्दन का लेप करके ही उन्हें इतना अधिक अपने वश में कर लिया है कि उन्हें यहाँ आने की फुरसत तक नहीं मिलती।

(३) सम्पूर्ण पद में व्यंग्य की ध्वनि व्याप्त है। असूया संचारी का गहरा प्रभाव है। कृष्ण की गोपियों के प्रति निष्ठुरता पर गहरा व्यंग्य है।

(४) 'सुनि····हियो' में काव्यलिंग अलंकार है।

बिलग जनि मानहु, ऊधौ प्यारे !
वह मथुरा काजर की कोठरि, जे आर्वाहं ते कारे ।।
तुम कारे, सुफलकसुत कारे, कारे मधुप भँवारे।
तिनके संग अधिक छबि उपजत, कमलनैन मनियारे ।।
मानहु नील माट तें काढ़े, लै जमुना ज्यों पखारे।
ता गुन स्याम भई कालिंदी, सूर स्याम-गुन न्यारे ।।३८।।

शब्दार्थ—बिगल=बुरा। मनिहारे=मणिधारी, काला सर्प। माट=मटका। काढ़े=निकाले। पखारे=धोए। कालिंदी=यमुना।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे प्यारे उद्धव ! हमारी बातों का बुरा मत मानना ! तुम जो हमें ज्ञान-योग सिखाने आए हो, उसमें तुम्हारा कोई भी दोष नहीं है, क्योंकि जहाँ से तुम आए हो वह मथुरा तो काजल की कोठरी के समान है। इसीलिए वहाँ से जो भी यहाँ आता है, काला ही होता है। तुम काले हो, अक्रूर भी काले हैं, और उभर की ओर से उड़कर आने वाले भ्रमर भी घोर काले हैं। इन सम्पूर्ण काले लोगों के साथ कमल-नेत्रों वाले कृष्ण मणिधारी काले सर्प के समान भयंकर हैं। क्योंकि उन्होंने हमें डसकर अपने विरह रूपी विष से व्याकुल बना रखा है।

तुम सब लोगों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो तुम सब नीले रंग से भरे हुए एक मटके में पड़े थे और किसी ने तुम्हें उसमें से निकाल कर यमुना में धोकर साफ करने का प्रयत्न किया था। तुम्हारे शरीर से छूटे हुए उस नीले रंग के कारण ही यमुना का जल भी नीला हो गया है। इन काले लोगों के गुण ऐसे ही निराले (अद्भुत) होते हैं।

विशेष—(१) शुक्लजी ने 'मनिहारे' शब्द का अर्थ 'सुहावना' और 'रौनक' माना है। परन्तु यह अर्थ संगत नहीं प्रतीत होता। यहाँ कवि मथुरा के सभी काले लोगों में काले कृष्ण की श्रेष्ठता की स्थापना करना चाह रहा है। और कहा जाता कि मणिधारी सर्प भयंकर रूप से काला, भयंकर और तेजस्वी होता है। इसीलिए यहाँ कृष्ण की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए 'मणिधारी सर्प' अर्थ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। सौन्दर्य के लिए उसी पंक्ति में 'छबि' शब्द का पहले ही प्रयोग हो चुका है। प्रभाव की दृष्टि से भी यही अर्थ अधिक संगत है।

(२) 'मानहु····काढ़े' में अहेतु को मानकर उत्प्रेक्षा की गई है, अत: हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है; 'ता गुन····कालिन्दी' में अपना गुन त्याग दूसरे का गुण धारण कर लेने के कारण तद्गुण अलंकार है; तथा 'स्याम' में श्लेष है।

राग सारंग

अपने स्वारथ को सब कोऊ।
चुप करि रहौ, मधुप रस-लंपट ! तुम देखे अरु बोऊ ॥
औरौ कछू सँदेस कहन को, कह पठियो किन सोऊ।
लीन्हें फिरत जोग जुवतिन को, बड़े सयाने दोऊ ॥
तब कत मोहन रास खिलाई, जो पै ज्ञान हुतोऊ ?
अब हमरे जिय बैठो यह पद 'होनी होउ सो होऊ' ॥
मिटि गयो मान परेखो ऊधौ, हिरदय हतो सो होऊ।
सूरदास प्रभु गोकुलनायक, चित-चिन्ता अब खोऊ ॥३६॥

शब्दार्थ—बोऊ=वह भी। किन=क्यों नहीं। सोऊ=वह भी। हुतोऊ=था। परेखो=पश्चात्ताप, दुःख।

भावार्थ—गोपियाँ खीझकर बहुत दुःखी हो उद्धव को जली-कटी सुना रहीं हैं कि हे उद्धव ! इस संसार में सब अपने ही स्वार्थ को देखने वाले होते हैं। दूसरों की कोई भी चिन्ता नहीं करता। हे रस-लोभी मधुप ! तुम अब चुप रहो, ज्यादा बातें न बनाओ। हमने तुम्हें भी देख-परख लिया और उन्हें भी, अर्थात् कृष्ण को भी। तुम दोनों ही एक समान स्वार्थी हो। कृष्ण ने यदि तुम्हें हमारे पास और भी कुछ सन्देश कहने के लिए भेजा हो तो उसे भी क्यों नहीं कह डालते ? अथवा उन्होंने तुम्हें और कुछ सन्देश देने के लिए क्यों नहीं कहा ? तुम दोनों बड़े चतुर मालूम पड़ते हो कि युवतियों के लिए योग लिए फिरते हो। अर्थात् तुम भी हमें योग का सन्देश दे रहे हो और उन्होंने भी तुम्हें यही सन्देश देने के लिए हमारे पास भेजा है।

यदि कृष्ण सचमुच ज्ञान को इतना महत्त्व देते थे तो उन्होंने हमारे साथ रास क्यों रचाया था, रास-लीला क्यों की थी ? अब तो हमने यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि जो होगा सो देखा जायगा (परन्तु हम कृष्ण-प्रेम को नहीं त्यागेंगी)। हे उद्धव ! कृष्ण की उपेक्षा और मौन के प्रति हमारे हृदय में अब तक जो कुछ भी मान और पश्चात्ताप की भावनाएँ थीं, अब वह भी जाती रहीं। अर्थात् अब हमें अपने प्रेम की उपेक्षा के कारण न तो मान है और न कृष्ण से किसी प्रकार की शिकायत या उलाहना ही है। हमारे कृष्ण तो गोकुल के स्वामी हैं; इसलिए तुम अपने मन की सारी चिन्ता दूर कर दो। भाव यह है कि हमें इस बात का दृढ़ विश्वास है कि हमारे कृष्ण गोकुल के स्वामी हैं, इसलिए हमारी सारी चिन्ताएँ स्वयं ही दूर कर देंगे। अतः तुम अपनी इस चिन्ता को दूर कर दो कि तुम हमें योग-मार्ग स्वीकार कराने में असफल रहे।

विशेष—(१) इसमें कृष्ण की स्वार्थपरता और गोपियों के अनन्य प्रेम का

एक साथ चित्रण हुआ है। साथ ही गोपियों का यह दृढ़ विश्वास भी ध्वनित हो रहा है कि कृष्ण हमारे ही हैं।

(२) अमर्ष संचारी की व्यंजना है।

तुम जो कहत सँदेसो आनि।
कहा करौं वा नँदनंदन सों, होत नहीं हितहानि ।।
जोग-जुगुति किहि काज हमारे जदपि महा सुखखानि ?
सने सनेह स्याम सुन्दर के हिलि मिलि कै मन मानि ।।
सोहत लोह परसि पारस ज्यों सुबरन बारह बानि।
पुनि वह चोप कहाँ चुंबक ज्यों लटपटाय लपटानि ।।
रूपरहित नीरासा निरगुन निगमहु परत न जानि।
सूरजदास कौन बिधि तासों अब कीजै पहिचानि ।।४०।।

शब्दार्थ—आनि=अन्य, दूसरा। हितहानि=प्रेम की हानि। परसि=स्पर्श कर। बारह बानि=बारह बानी सोना, बारह कलाओं के साथ चमकने वाले सूर्य के समान उज्ज्वल, खरा। चोप=चाह, इच्छा, आकर्षण। नीरासा=आशाहीन, निष्काम।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! तुम हमें कृष्ण-प्रेम का सन्देश न सुनाकर जो दूसरा ही (योग का) सन्देश सुना रहे हो, उसे सुनकर हम क्या करें, क्योंकि हमसे नन्दनन्दन कृष्ण के प्रेम की हानि नहीं हो सकती। हम उनसे प्रेम करना नहीं छोड़ सकतीं। (तुम्हारे कथनानुसार) यद्यपि योग-साधना महान् सुखों को प्रदान करने वाली है, परन्तु वह हमारे किस काम की ? अर्थात् योग-साधना करने पर हमें कृष्ण-प्रेम को त्यागना पड़ेगा और यह सम्भव नहीं है। हमारा सर्वस्व सुख तो उसी कृष्ण-प्रेम में निहित है। हमारा मन तो श्यामसुन्दर के साथ हिल-मिल कर उनके स्नेह में पूरी तरह से पग चुका है। जिस प्रकार लोहा पारस पत्थर का स्पर्श पाकर बारह बानी खरा सोना बन जाता है, परन्तु सोना बन जाने पर उसमें वह उत्साह या आकर्षण नहीं रह जाता जो उसे चुम्बक के प्रति आकर्षित कर उससे चिपका देता है। भाव यह है कि योग-साधना द्वारा भले ही हमारा मन निर्मल, खरा सोना बन जाय, परन्तु उसकी प्रेम-भावना पूरी तरह नष्ट हो जायगी और यही प्रेम-भावना हमारा सर्वस्व है। और तुम्हारा ब्रह्म तो निष्काम, निर्गुण और ऐसा अगम्य है कि वेद भी उसका ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाते। अब यह बताओ कि तुम्हारे ऐसे ब्रह्म के साथ हम किस प्रकार परिचय प्राप्त करें ? अर्थात् हम अबला उसका ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकती हैं ? यह असम्भव है। जब परिचय ही नहीं होगा तो हम उससे कैसे प्रेम कर सकेंगी !

विशेष—(१) प्रेम में आकर्षण प्रधान रहता है। गोपियाँ योग-साधना कर उससे वंचित नहीं होना चाहतीं।

(२) 'सोहत····लपटानि' में दृष्टान्त अलंकार, तथा 'सने····स्यामसुन्दर' में अनुप्रास अलंकार है।

अँखियाँ हरि-दरसन की भूखी।
कैसे रहैं रूपरसराची ये बतियाँ सुनि रूखी।।
अवधि गनत इकटक मग जोवत तब एती नहीं झूखी।
अब इन जोग-सँदेसन ऊधो अति अकुलानी दूखी।।
बारक वह मुख फेरि दिखाओ दुहि पय पिवत पतूखी।
सूर सिकत हठि नाव चलायो ये सरिता हैं सूखी।।४१।।

भावार्थ—रूपरसराची=रूप के रस में पगी हुईं। गनत=गिनते हुए। झूखी=संतप्त हुईं, दुःखी हुईं। बारक=एक बार। पतूखी=पत्ते का दोना। पय=दूध। सिकत=रेत, बालू।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हमारी आँखें तो कृष्ण के दर्शन करने की भूखी हैं, लालायित हैं। ये आँखें कृष्ण के रूप और प्रेम में पगी हुई हैं, पूर्णतः अनुरक्त हैं। फिर तुम्हारी ये योग की नीरस बातें सुनकर ये कैसे धैर्य धारण करें? जब ये आँखें कृष्ण के लौटकर आने की अवधि का एक-एक दिन गिनती हुईं टकटकी बाँध मार्ग की ओर देखा करती थीं, उस समय भी इतनी अधिक संतप्त नहीं हुईं थीं। परन्तु अब तुम्हारे इन योग के सन्देशों को सुनकर अत्यन्त व्याकुल और दुःखी हो उठी हैं। हमारी तुमसे केवल यही एक प्रार्थना है कि हमें कृष्ण के उस मुख के एक बार दर्शन करा दो, जिस मुख से वह पत्ते के दोने में दूध दुहकर पान किया करते थे। तुम हमें योग का उपदेश देकर वैसा ही असम्भव कार्य करने का प्रयत्न कर रहे हो, जैसे कोई सूखी हुई नदी की बालू में हठपूर्वक नाव चलाने का प्रयत्न करे। अर्थात् कृष्ण-प्रेम में अनुरक्त हमारे हृदय पर तुम्हारे योग का प्रभाव पड़ना असम्भव है।

विशेष—(१) कृष्ण की विभिन्न चेष्टाओं, छवियों के अंकन के साथ-साथ विकल्प, चिन्ता और उन्माद संचारी भावों का मार्मिक चित्रण हुआ है।

(२) वल्लभ-सम्प्रदाय की पुष्टिमार्गीय विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है। रागानुगा भक्ति में उपास्य के रूप और रस की प्रधानता रहती है। यहाँ कृष्ण का रूप और उससे उत्पन्न प्रेमरस ही गोपियों को अभीष्ट है। इसलिए उनके लिए योग-उपदेश अग्रहणीय और हास्यास्पद है।

(३) 'बारक····पतूखी' में स्मरण अलंकार; 'सूर····सूखी' में निदर्शना अलंकार तथा 'ये सरिता हैं सूखी' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

(४) सूखी नदी में नाव चलाने का प्रयत्न करने के लौकिक व्यवहार के उदाहरण द्वारा निर्गुण ब्रह्म का निराकरण और असम्भाव्यता प्रदर्शित की गई है।

(५) विप्रलम्भ शृङ्गार का पूर्ण रूप प्रस्तुत है—मूलभाव रति, आलम्बन कृष्ण, आश्रय गोपियाँ तथा उद्दीपन उद्धव-ज्ञान उपदेश।

राग धनाश्री

हम तौ कान्ह केलि की भूखी।
कैसे निरगुन सुनहिं तिहारो बिरहिनि बिरह-बिदूखी ?
कहिए कहा यहौ नहिं जानत काहि जोग है जोग।
पा लागौं तुमहीं सो वा पुर बसत बावरे लोग॥
अंजन, अभरन, चीर, चारु वरु नेकु आप तन कीजै।
दंड कमंडल, भस्म, अधारी जो जुवतिन को दीजै॥
सूर देखि दृढ़ता गोपिन की ऊधो यह ब्रत पायो।
कहै 'कृपानिधि' हो कृपाल हो ! प्रेमै पढ़न पठायो॥४३॥

शब्दार्थ—केलि=क्रीड़ा। बिदूखी=दु:खी। जोग=योग्य। जोग=योग। अभरन=आभरण, आभूषण। चारु=सुन्दर। प्रेमै=प्रेम को ही।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हम तो कृष्ण के साथ क्रीड़ा करने की ही भूखी हैं, लालायित हैं। तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म के उपदेश को हम कैसे सुनें। हम तो कृष्ण के विरह में व्यथित विरहिणी नारियाँ हैं। तुम तो यह भी नहीं जानते कि तुम्हें हमसे क्या कहना चाहिए। तुम्हें यह भी नहीं मालूम कि तुम्हारा योग किस योग्य है। भाव यह है कि तुम हम विरहिणी नारियों को निर्गुण की आराधना करने का उपदेश दे रहे हो, यह अनुचित बात है। तुम्हारा योग तो योगियों के योग्य है, न कि हम अबला नारियों के। परन्तु यह सब न जानकर तुम हमसे अनुचित बातें कह रहे हो। हे उद्धव ! हम तुम्हारे पैर पकड़ती हैं, हमसे ऐसी बातें मत करो। तुम्हें देखकर हमें ऐसा लगता है कि वहाँ मथुरा में सारे लोग तुम जैसे ही बावले हैं। क्योंकि कृष्ण ने भी तो हमें तुम्हारे द्वारा यही सन्देश भेजा है, इसलिए वह भी बावले हैं।

यदि तुम हम युवतियों को दण्ड, कमण्डल, भस्म, अधारी आदि योग-साधना की चीजें धारण करने के लिए कहते हो तो तनिक अपने शरीर पर हमारा अंजन, आभूषण, सुन्दर वस्त्र आदि धारण करके तो देख लो कि वह तुम्हें शोभा देते हैं या नहीं। जिस प्रकार हमारा यह शृङ्गार-प्रसाधन तुम्हारे लिए अनुपयुक्त है, उसी प्रकार योग की वस्तुएँ हमारे लिए भी अनुपयुक्त हैं। सूरदास कहते हैं कि गोपियाँ की यह दृढ़ता (प्रेम की अनन्यता) देखकर उद्धव को यह विश्वास हो गया कि कृपानिधि, कृपालु भगवान कृष्ण ने उन्हें यहाँ प्रेम का पाठ पढ़ने के लिए ही भेजा है (न कि गोपियों को योग का उपदेश देने के लिए)।

विशेष—(१) इस पद की अन्तिम पंक्ति में कवि आगे चलकर योग और ज्ञान पर होने वाली प्रेम और भक्ति की विजय का पूर्वाभास दे रहा है।

(२) 'काहि जोग है जोग' में यमक अलंकार है।

(३) कृष्ण-भक्त कवि परमानन्ददास ने गोपियों के कृष्ण-प्रेम की अनन्यता का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहा है—

"जो गोपिन के प्रेम न होतो, पावन भगति पुरान।
तौ सब औघढ़ पंथहि होतो, कथत गमैया ज्ञान॥"

राग मलार

काहे को गोपीनाथ कहावत ?
जो पैं मधुकर कहत हमारे गोकुल काहे न आवत ?
सपने की पहिचानि जानि कै हर्माहि कलंक लगावत।
जो पै स्याम कूबरी रीझे सो किन नाम धरावत ?
ज्यों गजराज काज के औसर औरै दसन दिखावत।
कहन सुनन को हम हैं ऊधो, सूर अनत बिरमावत॥४३॥

शब्दार्थ—कूबरी=कुबड़ी, कुब्जा। किन=क्यों नहीं। धरावत=रखते। दसन=दाँत। बिरमावत=विश्राम करते हैं।

भावार्थ—गोपियाँ कुब्जा के प्रति असूया भाव से भर, कृष्ण के 'गोपीनाथ' नाम पर व्यंग्य करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि वह कृष्ण स्वयं को अब भी गोपीनाथ (गोपियों के स्वामी) क्यों कहलवाते हैं ? हे मधुकर ! यदि वह हमारे (नाथ) कहलाते हैं तो गोकुल लौटकर क्यों नहीं आते ? वह एक तरफ तो यह कहते हैं कि हमारी उनकी सपने (स्वप्न) की-सी अर्थात् बहुत थोड़ी-सी जान-पहचान है और फिर स्वयं को 'गोपीनाथ' भी कहलवाते हैं। ऐसा कहकर वह हम पर क्यों कलंक लगाते हैं ? अगर वह उस कुबड़ी दासी कुब्जा पर ही रीझ गये हैं तो अपना नाम उसी के नाम पर 'कुब्जानाथ' या 'कुब्जापति' क्यों नहीं रख लेते ? भाव यह है कि उन्हें 'गोपीनाथ' समझकर सारा संसार हमें कलंकिनी समझ रहा है, क्योंकि यदि वे हमारे स्वामी होते तो हमारे पास न रहकर कुब्जा के पास वहाँ क्यों रहते ? उनका यह काम तो हाथी के दाँत दिखाने के समान है। (कहावत है कि हाथी के दाँत खाने के और तथा दिखाने के और होते हैं) अर्थात् कृष्ण की कथनी और करनी में परस्पर असंगति है। कहने-सुनने के लिए तो हम उनकी प्रेमिकाएँ हैं (क्योंकि वह 'गोपीनाथ' कहलाते हैं), परन्तु वह किसी अन्य के (कुब्जा के) प्रेम में मग्न रहकर विश्राम करते हैं अर्थात् रहते कहीं दूसरी ही जगह हैं।

विशेष—(१) इस पद में 'गोपीनाथ' शब्द का प्रयोग कर गोपियाँ कृष्ण के कपट-प्रेम और निष्ठुरता पर मार्मिक व्यंग्य कर रही हैं और साथ ही कुब्जा के प्रति अपने असूया भाव का भी प्रकाशन कर रही हैं। इसलिए यहाँ असूया संचारी प्रधान है।

(२) अनुप्रास और दृष्टांत अलंकार हैं।

कहाँ लौं कीजै बहुत बड़ाई।
अतिहि अगाध अपार अगोचर, मनसा तहाँ न जाई।।
जल बिनु तरँग, भीति बिनु चित्रन, बिन चित ही चतुराई।
अब ब्रज में अनरीति कछू यह, ऊधो आनि चलाई।।
रूप न रेख, बदन, बपु जाके, संग न सखा सहाई।
ता निर्गुन सों प्रीति निरन्तर, क्यों निबहै री माई ?
मन चुभि रही माधुरी मूरति, रोम-रोम अरुझाई।
हौं बलि गई सूर प्रभु ताके, जाके स्याम सदा सुखदाई ।।४४।।

शब्दार्थ—मनसा=मन। अनरीति=अनोखी, विपरीत रीति। वपु=शरीर। बदन=मुख।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव के निर्गुण ब्रह्म पर व्यंग्य करती हुई उनसे कह रही हैं कि तुम्हारी बड़ाई (प्रशंसा) हम कहाँ तक करें ? तुम्हारी बातें बड़ी ही विचित्र हैं। तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म अत्यन्त अगाध, अपार और न दिखाई देने वाला है। वह इतना अगम्य है कि मन भी वहाँ तक नहीं पहुँच सकता। अर्थात् वह मन की पहुँच से भी परे है। तुम्हारा यह सम्प्रदाय बड़ा विचित्र है। वहाँ अपेक्षित उपादानों के अभाव में ही वस्तुओं का निर्माण होता है। उसमें विना जल के तरंग उत्पन्न होती हैं, बिना भीत (दीवार) के चित्रों का अङ्कन किया जाता है, और बिना चित्त के ही चतुराई दिखाना सम्भव होता है। हे उद्धव ! तुमने यहाँ ब्रज में आकर ऐसी यह अनोखी रीति चलाई है कि इस प्रकार की असम्भव बातें कह-कहकर हमें बहलाना और अपने जाल में फँसना चाह रहे हो।

तुम्हारे ब्रह्म की न कोई रूपरेखा (आकार) है, न उसके मुख और शरीर है तथा न कोई सखा और सहायक ही उसके साथ रहते हैं। ऐसी स्थिति में यह बताओ कि तुम्हारे ऐसे निर्गुण ब्रह्म के साथ बराबर प्रेम का निर्वाह करना कैसे सम्भव है ! (यहाँ 'माई' शब्द कोई विशेष अर्थ न देकर केवल गोपियों की आश्चर्य-भावना को ही अभिव्यक्त कर रहा है, जैसे यह कहना कि हाय मैया, ऐसा कैसे हो सकता है !) हमारे कृष्ण में तो ये सारे गुण हैं, इसीलिए हमारा उनके साथ प्रेम का निर्वाह निरंतर चलता रहेगा। हमारे मन में कृष्ण की मधुर-सुन्दर मूर्ति चुभ रही है (गड़ गई है) और वह हमारे रोम-रोम में समाई हुई है। अर्थात् हम सदैव उनकी उसी माधुरी मूर्ति का ध्यान करती रहती हैं। हम तो, उन लोगों पर बलिहारी जाती हैं, जिन्हें हमारे प्रभु कृष्ण सदैव सुखदायी लगते हैं। अर्थात् जो कृष्ण प्रेमी हैं, हम उन पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को उद्यत रहती हैं।

विशेष—इस पद में शंकराचार्य के वेदान्त (अद्वैतवाद) का निरूपण कर

उसका खण्डन करते हुए वल्लभाचार्य के उपादानवाद और सूर के परिणामवाद की स्थापना की गई है।

(२) 'जल बिनु····न जाई' में अभिव्यक्त शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादन तुलसी की निम्न पंक्तियों में भी ऐसा ही मिलता है—

"केशव कहि न जाय का कहिए।
शून्य भीति पर चित्र रंग नहिं, तन बिन लिखा चितेरे॥"

(३) सूर ने 'सूर-सागर' के आरम्भ में ब्रह्म के निर्गुण रूप को ही प्रधानता देते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से सगुण रूप को ही ग्राह्य मान कर निम्नलिखित पंक्तियाँ कही हैं—

"रूप रेख गन जाति जुगुति बिन, निरालम्ब मन चक्रत धावै।
सब विधि अगम बिचारहि ताते, सूर सगुन लीला पद गावै॥"

वस्तुतः सगुणमार्गी भी मूलतः निर्गुणवादी ही हैं। वे व्यावहारिक सुलभता के कारण ही सगुण रूप को स्वीकार करते हैं।

राग सारंग

जाय कहौ बूझी कुसलात।
जाके ज्ञान न होय सो मानै, कही तिहारी बात॥
कारो नाम, रूप पुनि कारो, कारे अंग सखा सब गात।
जो पै भले होत कहूँ कारे, तौ कत बदलि सुता लै जात॥
हमको जोग, भोग कुबजा को—काके हिय समात?
सूरदास सेए सो पति कै पाले, जिन्ह तेहि पछितात॥४५॥

शब्दार्थ—कुसलात=कुशल-क्षेम। गात=शरीर। जात=जाते। सेए=सेवा की। पाले=पालन किया।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि तुम कृष्ण से जाकर यह कहना कि हम उनका (गोपियों का) कुशल-क्षेम पूछ आए हैं। (अथवा गोपियों ने तुम्हारा कुशल-क्षेम पूछा है।) और उनसे यह भी कहना कि तुम्हारी बात (योग-मार्ग को अपना लेने की) वही मान सकता है जो अज्ञानी होगा। उनका (कृष्ण का) नाम भी काला (श्याम) है, ऊपर से रङ्ग भी काला है और उनके सारे सखाओं (अक्रूर, उद्धव) के शरीर के सारे अंग भी काले हैं। अर्थात् तुम सब लोग तन-मन से काले अर्थात् कपटी हो। यदि कहीं काले रङ्ग के लोग भले आदमी होते तो अपने पुत्र को यहाँ छोड़कर बदले में यहाँ से लड़की को क्यों ले जाते? गोपियों के कहने का भाव यह है कि काले लोग हमेशा बुरे होते हैं। इसी कारण वसुदेव अपने काले पुत्र कृष्ण को यहाँ पटक कर बदले में यहाँ से लड़की को ले गए थे और इस प्रकार उन्होंने काले रङ्ग वाले कृष्ण से अपना पीछा छुड़ा लिया था। (तुम सब काले लोग इतने खराब हो

कि) हमारे लिए तो योग-साधना उचित बताते हो और कुब्जा के लिए भोग-साधना। तुम्हारी यह अनोखी बात किसके हृदय में समा सकती है ? कौन इसे स्वीकार कर सकता है ? यह सरासर तुम्हारा अन्याय है। कृष्ण के ऐसे छलभरे व्यवहार के लिए केवल हमीं (गोपियाँ) अकेली नहीं पछतातीं, जिन्होंने पति के समान मान उनकी सेवा की थी, बल्कि वे नन्द-यशोदा भी पछताते हैं, जिन्होंने उन्हें पाल-पोसकर बड़ा किया था।

विशेष--(१) यहाँ गोपियाँ काले रंग पर गहरा व्यंग्य करती हुई उन्हें कपटी और धोखेबाज बता रही हैं। नन्ददास की गोपियाँ भी यही बात कहती हैं—

"कोऊ कहै री विश्व माँझ जेते हैं कारे,
कपट कुटिल कौ कीट परम मानुष मसि हारे।
एक स्याम तन परस कै जरत आज लौं अंग,
ता पाछै यह मधुप ह्व लायौ जोग भुजंग।
कहा इनको दया।"

(२) कृष्ण का जन्म होने पर वसुदेव आधी रात को चुपचाप कृष्ण को गोकुल पहुँचा आए थे और वहाँ से नन्द की पत्नी रोहिणी की नवजात कन्या को ले मथुरा लौट आए थे। उन्हें कंस द्वारा कृष्ण को मार दिए जाने का भय था, क्योंकि भविष्य-वाणी के अनुसार कृष्ण द्वारा ही कंस की हत्या होनी थी। कंस इसी कारण उन्हें मार डालना चाहता था।

अब कत सुरति होति है, राजन् ?
दिन दस प्रीति करी स्वारथ-हित, रहत आपने काजन॥
सबै अयानि भईं सुनि मुरली, ठगीं कपट की छाजन।
अब मन भयो सिंधु के खग ज्यों, फिरि-फिरि सरत जहाजन॥
वह नातो टूटो ता दिन तें, सुफलकसुत-सँग भाजन।
गोपीनाथ कहाय सूर प्रभु, कत मारत हौ लाजन॥४६॥

शब्दार्थ—सुरति=स्मृति। काजन=कार्यों के लिए। अयानि=अज्ञानी। छाजन=कपटपूर्ण व्यवहार। सरत=बढ़ता है। भाजन—भाग गए।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण के विश्वासघात पर दुःखी हो व्यंग्य करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि अब कृष्ण को हमारी याद क्यों आती होगी, क्योंकि अब तो वह राजा बन गए हैं। उन्होंने अपने स्वार्थ-वश हमसे दस दिन (कुछ समय) तक प्रेम किया था और अब तो वह अपने राज-काज में इतने व्यस्त रहते होंगे कि उन्हें हमारा ध्यान तक नहीं आता होगा। हम सब उनकी मुरली की सुरीली मादक ध्वनि को सुनकर इतनी अज्ञानी बन गईं थीं कि अपनी सुध-बुध भूल गईं थीं, उन्होंने प्रेम करने का ढोंग रचकर हमें ठग लिया था, अपने प्रेम-जाल में फँसा लिया था। अब तो हमारा

मन जहाज के पक्षी के समान हो गया है जो बार-बार उसी जहाज पर आश्रय पाने के लिए उसकी ओर ही बढ़ता है। अर्थात् अब गोपियों को कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कहीं भी आश्रय, सुख-सन्तोष नहीं मिलता, और न मिल सकता है। कृष्ण से हमारा वह नाता तो उसी दिन से टूट गया, जब वह अक्रूर के साथ हमें यहाँ छोड़ अकेले भाग गए थे, मथुरा चले गए थे। हमें दुःख तो इस बात का है कि हमसे स्नेह का नाता तोड़ देने पर भी वह स्वयं को 'गोपीनाथ' कहलवा कर हमें लज्जित क्यों करते हैं ? हम इस सम्बोधन के कारण लाज से मरी जा रही हैं, क्योंकि इससे हमें कलंक लगता है।

विशेष—(१) इसमें 'गोपीनाथ' सम्बोधन को लेकर पिछले पद की भावना को ही भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त किया गया है।

(२) 'सिन्धु के खग ज्यों' में उपमा अलंकार है।

राग सोरठ

लिखि आई ब्रजनाथ की छाप।
बाँधे फिरत सीस पर ऊधो, देखत आवै ताप ।।
नूतन रीति नंदनंदन की, घर-घर दीजत थाप।
हरि आगे कुब्जा अधिकारी, तातें है यह दाप ।।
आए कहन जोग अवराधो, अबिगत-कथा की जाप।
सूर सँदेसो सुनि नहिं लागै, कहौ कौन को पाप ।।४७।।

शब्दार्थ—छाप=चिह्न, मुहर, यहाँ पत्र से अभिप्राय है। ताप=बुखार। थाप=स्थापित करना, थोपना। आगे=बढ़कर। दाप=दर्प, घमण्ड। अवराधो=साधना करो। अबिगत-कथा=निराकार ब्रह्म की गाथा।

भावार्थ—उद्धव द्वारा लाए गए कृष्ण के पत्र पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ आपस में कह रही हैं कि अरे देखो ! इस पत्र पर तो ब्रजनाथ कृष्ण की मोहर लगी हुई है। अर्थात् योग का सन्देश देने वाला यह पत्र सचमुच कृष्ण ने ही भेजा है। और उद्धव इस पत्र को अपने सिर पर लगाए (पुराने जमाने में पत्र को सुरक्षित रखने के लिए पगड़ी में खोंस लिया जाता था) फिर रहे हैं; यह देखकर क्रोध और क्षोभ के कारण सबको बुखार-सा चढ़ने लगता है। यह कृष्ण की नवीन रीति है कि उनके आदेशानुसार उद्धव घर-घर में इस पत्र के सन्देश की स्थापना करते फिर रहे हैं; कृष्ण को भूल निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने का सन्देश दे रहे हैं।

अब स्थिति यह है कि वहाँ कृष्ण की कुछ भी नहीं चलती। कुब्जा उनसे भी अधिक अधिकार रखती है। तभी उसे इतना घमण्ड हो गया है कि उसने इस पत्र पर कृष्ण की मोहर लगाकर इसे प्रामाणिक बना दिया है। भाव यह है कि गोपियों को यह सन्देह है कि इस पत्र पर कृष्ण की मोहर कुब्जा ने ही लगाई है, न कि स्वयं

कृष्ण ने। इसलिए यह सन्देश कृष्ण का न होकर वस्तुतः कुब्जा द्वारा ही भेजा हुआ है। कुब्जा गोपियों को सताना चाहती है, इसलिए उद्धव उसके संकेत पर ही यहाँ निर्गुण-अगम्य ब्रह्म की कथा सुनाकर योग-साधना द्वारा उसे प्राप्त करने का उपदेश दे रहे हैं। यह बताओ कि ऐसे अनुचित, अनर्गल सन्देश को सुनकर किसे पाप नहीं लगेगा? अर्थात् हम तो कृष्ण की अनन्य अनुरागिनी हैं, इसलिए कृष्ण को त्याग ब्रह्म की उपासना करने का सन्देश सुनकर ही हमें पाप लगता है, क्योंकि यह पतिव्रत धर्म के विरुद्ध उपदेश है। भाव यह है कि सच्चे प्रेमी के लिए अपने प्रियतम को छोड़ अन्य किसी से प्रेम करना तो दूर रहा, ऐसी बातें सुनने से भी पाप लगता है।

विशेष—(१) यहाँ कुब्जा के प्रति गोपियों का असूया संचारी भाव है।

(२) इस पद में गोपियों का कृष्ण के प्रति स्वकीया भाव प्रकट हो रहा है। यह वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद के सिद्धान्तों के विपरीत भाव है। क्योंकि शुद्धाद्वैतवाद में स्वकीया प्रेम की अपेक्षा परकीया प्रेम को ही स्वीकार किया गया है। इससे प्रमाणित होता कि सूरदास ने सर्वांशतः वल्लभ-मत का ही प्रतिपादन नहीं किया है। यद्यपि सूर का प्रधान आकर्षण परकीया प्रेम की ओर ही रहा है, जैसा कि अन्य अनेक पदों से प्रमाणित है। इस प्रकार सूर ने गोपियों के प्रेम में स्वकीया और परकीया प्रेम का सम्मिश्रण कर, उसे और अधिक गहन और एकनिष्ठ बना दिया है।

राग सारंग

फिरि-फिरि कहा सिखावत बात?
प्रातकाल उठि देखत ऊधो, घर-घर माखन खात॥
जाकी बात कहत हौ हमसों, सो है हमसों दूरि।
ह्याँ है निकट जसोदानंदन, प्रान-संजीवन मूरि॥
बालक संग लये दधि चोरत, खात खवावत डोलत।
सूर सीस सुनि चौंकत नावहिं, अब काहे न मुख बोलत?॥४८॥

शब्दार्थ—ह्याँ=यहाँ। लये=लिए हुए।

भावार्थ—उद्धव द्वारा बार-बार निर्गुण ब्रह्म के उपदेश की बात सुन गोपियाँ खीझकर उनसे कहती हैं कि तुम हमें बार-बार यह बात सिखाने का प्रयत्न क्यों कर रहे हो—क्योंकि हमारे जीवन में तो कृष्ण इतने गहरे समा गए हैं कि हम नित्य प्रातःकाल उठकर उन्हें घर-घर मक्खन खाते हुए देखती हैं। तुम जिस निर्गुण ब्रह्म की बात हमसे कह रहे हो, वह तो हमसे बहुत दूर है। इसके विपरीत, यहाँ तो हमारे प्राणों के लिए संजीवन बूटी के समान जीवन-संचारक यशोदानन्दन कृष्ण सदैव हमारे समीप ही रहते हैं। हमें वह आज भी बालकों को साथ लिए दही चुराते, स्वयं खाते और अपने साथियों को खिलाते घूमते हुए दिखाई पड़ते हैं। और जब हम उन्हें इस चोरी के लिए टोकती हैं, उन्हें चोरी करते पकड़ लेती हैं, तो वह चौंककर, लज्जित

हो सिर झुकाकर, चुपचाप खड़े रह जाते हैं। तब हम उनसे पूछती हैं कि अब तुम क्यों नहीं बोलते, अपनी चोरी की सफाई क्यों नहीं देते ? इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि हे उद्धव ! तुम हमारी इन बातों को सुन चौंककर सिर नीचा किए क्यों बैठे रह गए हो ? अब बोलते क्यों नहीं ? ब्रह्म का उपदेश क्यों नहीं देते ? भाव यह है कि गोपियों की उपर्युक्त बातें सुन, कृष्ण के प्रति उनके गहन प्रेम का अनुभव कर उद्धव चौंककर स्तम्भित हो बैठे रह गए थे।

विशेष—(१) इस पद में कृष्ण के प्रति गोपियों के अगाध-अनन्य प्रेम पर प्रकाश डाला गया है। गोपियाँ अब भी कृष्ण की उन लीलाओं का स्मरण कर यह अनुभव-सा करती हैं कि कृष्ण अब भी उसी रूप में गोकुल में बाल-क्रीड़ाएँ करते रहते हैं। स्मृति द्वारा प्रत्यक्ष का-सा अनुभव करने लगना, एकान्त प्रेमनिष्ठा का प्रतीक होता है।

(२) 'फिरि-फिरि', 'घर-घर' में पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार; तथा 'ह्याँ.......... डोलत' में स्मरण अलंकार है।

(३) उद्धव को भी ब्रज में वही अनुभव हुआ था जो गोपियों को होता रहता था। उन्होंने भी वहाँ कृष्ण को विचरण और क्रीड़ा करते देखा था। ब्रज से लौटकर उन्होंने कृष्ण से अपने इस सम्भ्रम का उल्लेख करते हुए कहा था—

"ब्रज में सम्भ्रम मोहि भयौ।
तुम्हरौ ज्ञान सन्देसौ प्रभु जू, सबै जु भूलि गयौ॥
तुम ही सौं बालक किसोर बपु, मैं घर-घर प्रति देख्यौ।
मुरलीधर घनस्याम मनोहर, अद्भुत नटवर पेख्यौ॥"

सम्भव है राधा ही ब्रज में कृष्ण-रूप धारण कर ये लीलाएँ करती रही हो, जिससे सबको कृष्ण का भ्रम हो जाता रहा हो।

राग धनाश्री

अपने सगुन गोपालै, माई ! यहि बिधि काहे देत ?
ऊधो की निरगुन बातैं मीठी कैसे लेत।
धर्म, अधर्म कामना सुनावत सुख औ मुक्ति समेत॥
काकी भूख गई मनलाडू सो देखहु चित चेत।
सूर स्याम तजि को भुस फटकै मधुप तिहारे हेत ?॥४६॥

शब्दार्थ—लेत=स्वीकार कर, ग्रहण करें। मनलाडू=मन के लड्डू खाने से। भुस फटकै=व्यर्थ परिश्रम करे।

भावार्थ—उद्धव के निर्गुण ब्रह्म की तुलना में अपने सगुण ब्रह्म (कृष्ण) को श्रेष्ठ प्रमाणित करती हुई गोपियाँ आपस में कह रही हैं कि हे सखी ! हम अपने सगुण रूप गोपाल (कृष्ण) को किस तरह और क्यों उद्धव को दे दें ? और उद्धव की

निर्गुण-विषयक इन बातों को (जो वस्तुत: विष के समान प्राणघातक हैं) मीठी (ग्रहण योग्य, प्रिय) मानकर कैसे स्वीकार कर लें ? उद्धव हमें धर्म-अधर्म तथा कामना की बातें बताते हैं और यह लालच देते हैं कि (निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने से) हमें सुख और मुक्ति—दोनों की प्राप्ति होगी। परन्तु उद्धव की ये सारी बातें हमारी समझ में नहीं आती क्योंकि ये असंगत और असम्भव हैं ? मन में विचार कर देखो कि मन के लड्डू खाने से आज तक किसकी भूख शान्त हुई है ? भाव यह है कि उद्धव लड्डू के समान प्रत्यक्ष ग्रहणीय कृष्ण-प्रेम को त्याग, अलक्ष्य, अगम्य अनिर्गुण ब्रह्म की आराधना करने और उसके फलस्वरूप सुख और मुक्ति को प्राप्त करने का उपदेश दे रहे हैं। यह तो ऐसा ही है, जैसे सामने की प्रत्यक्ष वस्तु को त्याग, किसी नितान्त काल्पनिक वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न करना। गोपियाँ भ्रमर को सम्बोधन कर कह रही हैं कि हे मधुप ! यहाँ ऐसा कौन है जो तुम्हारे लिए अपने कृष्ण को त्याग, भूसा फटकने का व्यर्थ का प्रयत्न करे; अर्थात् तुम्हारे निस्सार ब्रह्म को प्राप्त करने की कोशिश करे। भाव यह है कि ब्रह्म की आराधना करना उसी प्रकार व्यर्थ किसी काम में सिर खपाना है, जिसका कोई अच्छा परिणाम ही न निकले।

विशेष—(१) इस पद में 'भुस फटकै' मुहावरे का सूर ने बड़ा सार्थक प्रयोग किया है। साथ ही 'मनलाड़ू' की लोकोक्ति का भी अत्यन्त सुन्दर-सार्थक प्रयोग हुआ है।

(२) 'भुस फटकै' और 'मनलाड़ू' दोनों में ही लोकोक्ति अलङ्कार है।

राग सारंग

हमको हरि की कथा सुनाव।
अपनी ज्ञान कथा हो, ऊधो ! मथुरा ही लै गाव ।।
नागरि नारि भले बूझैंगी, अपने बचन सुभाव।
पा लागों, इन बातनि, रे अलि ! उनही जाय रिझाव ।।
सुनि प्रियसखा स्यामसुन्दर के, जो पै जिय सति भाव।
हरिमुख अति आरत इन नयननि, बारक बहुरि दिखाव ।।
जो कोउ कोटि जतन करै, मधुकर, बिरहिनि और सुहाव ?
सूरजदास मीन को जल बिनु, नाहिन और उपाव ।।५०।।

शब्दार्थ—गाव=गाओ। नागरि नारि=नागरिकाएँ, नगर की स्त्रियाँ। बूझेंगी=समझेंगी। सतिभाव=सच्चा भाव, सहानुभूति। आरत=व्याकुल, उत्सुक। बारक=एक बार। बहुरि=फिर।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव के मुख से निरन्तर योग की बातें सुनकर ऊब उठी हैं। उन्हें वह अच्छी नहीं लगतीं। इसलिए वह उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव ! तुम हमें केवल कृष्ण की कथा ही सुनाओ, उन्हीं के सम्बन्ध में बताओ। तुम अपनी

इस ज्ञान-कथा को अपने साथ लौट कर मथुरा ही ले जाओ और वहीं के लोगों को गा-गाकर सुनाओ। वहाँ की नागरिक स्त्रियाँ अपने चतुर स्वभाव और वार्त्तालाप के कारण तुम्हारी इन बातों को अच्छी तरह से समझ सकेंगी। अर्थात् वे तो इस प्रकार की बातें सुनने और कहने की अभ्यस्त हैं, इसलिए उनकी समझ में तुम्हारी ये ज्ञान की बातें आसानी से आ जायेंगी।

हे भ्रमर! हम तेरे पैर पड़ती हैं। तू अपनी इन बातों द्वारा उन्हीं के पास जाकर उन्हें रिझाने का प्रयत्न कर। हे उद्धव! तुम हमारी बात सुनो। यदि तुम श्यामसुन्दर के प्रिय सखा हो और यदि तुम्हारे हृदय में हमारे प्रति सहानुभूति का भाव है तो कृष्ण का मुख देखने के लिए व्याकुल हमारे इन नेत्रों को एक बार फिर उस प्रिय मुख के दर्शन करा दो। हे मधुप! कोई चाहे करोड़ों उपाय कर ले, परन्तु विरहिणियों को (अपने प्रियतम की चर्चा के अतिरिक्त) अन्य किसी प्रकार की कोई बात कभी अच्छी लग सकती है, सुहा सकती है? जिस प्रकार मछली के लिए जल के अतिरिक्त और कोई भी जीवन धारण करने का उपाय नहीं रहता, उसी प्रकार हमें भी कृष्ण-चर्चा के अतिरिक्त अन्य कोई भी बात अच्छी नहीं लगती। अर्थात् केवल कृष्ण ही हमारी गति-पति हैं।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में गोपियों के अनन्य कृष्ण-प्रेम का सरल, मार्मिक और प्रभावशाली चित्रण हुआ है। साथ ही मथुरा की नागरिकाओं के माध्यम से कुब्जा पर व्यंग्य किया गया है।

(२) अनुप्रास अलंकार के अतिरिक्त 'मीन……उपाव' में निदर्शना अलंकार है।

राग कान्हरो

अलि हो! कैसे कहौं हरि के रूप-रसहि?
मेरे तन में भेद बहुत विधि, रसना न जानै नयन की दसहि॥
जिन देखे ते आहि बचन बिनु, जिन्हैं बचन दरसन न तिसहि।
बिन बानी भरि उमगि प्रेमजल, सुमिरि वा सगुन जसहि॥
बार-बार पछितात यहै मन, कहा करैं जो बिधि न बसहि।
सूरदास अंगन की यह गति, को समुझावै या छपद पसुहि॥५१॥

शब्दार्थ—रसना=जिह्वा, जीभ। दसहि=दिशा को। आहि=हैं। तिसहि =उसे। न बसहि=वश में नहीं है। छपद=षट्पद, भ्रमर। पसुहि=पशु को, मूर्ख को।

भावार्थ—एक गोपी भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कह रही है कि हे मधुप! मैं कृष्ण के रूप-रस का वर्णन कैसे करूँ? मेरे इस शरीर के विभिन्न अंगों में परस्पर बहुत भेद है। एक अंग केवल एक ही कार्य कर सकता है। इसी कारण मेरी

जिह्वा मेरे नेत्रों की दशा को नहीं जानती। अर्थात् मेरी वाणी ने कृष्ण के उस रूप को देखा ही नहीं है, इसलिए उसका वर्णन ही नहीं कर सकती। और जिन्होंने (नेत्रों ने) उस रूप को देखा है, उनके पास उसका वर्णन करने के लिए वाणी नहीं है; और जो (जिह्वा) बोल सकती है, उसे उसके दर्शन नहीं हो पाते। नेत्र बोल नहीं सकते, इसलिए कृष्ण के उस सगुण रूप और उसके यश का स्मरण कर उमंगित हो प्रेमजल (प्रेम के आवेग के कारण उमड़ते हुए आँसू) से भर उठते हैं। अर्थात् नेत्रों में आँसू उमड़ने लगते हैं। अपनी इस विवशता के कारण मेरा यह मन बार-बार पछताता है। आखिर यह मन क्या करे, क्योंकि विधाता या भाग्य पर किसी का भी वश नहीं चलता। अर्थात् हमारे भाग्य में ही कृष्ण का वियोग होना लिखा था, तो हम इसका प्रतिकार करने में अपने को सर्वथा असमर्थ पाती हैं। सूरदास कहते हैं कि गोपियाँ कह रही हैं कि अपने अंगों की इस दशा को (विवशता को) छः पैर वाले इस मूर्ख भ्रमर को कौन समझाए ? यह मूर्ख है, इसलिए हमारी बात इसकी समझ में नहीं आएगी। क्योंकि यह प्रेम के महत्त्व को नहीं जानता।

विशेष—(१) अन्तिम पंक्ति में 'या छपद' के स्थान पर 'पाछपद' पाठ भी मिलता है। इसका अर्थ है—पीछे हटने वाला अर्थात् अड़ियल। इसके अनुसार इस पंक्ति का यह अर्थ होगा—'जो पीछे हटने वाले पशु (अश्व) के समान आगे न बढ़ पीछे ही हटना जानता है, उस मूर्ख को आगे बढ़ने के लिए कैसे प्रेरित किया जा सकता है ?' परन्तु पहला पाठ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

(२) गोपियों के कहने का भाव यह है कि कृष्ण का रूप-सौन्दर्य अनिर्वचनीय है। इसी को कवि ने अंगों की विषमता का रूपक बाँधकर बड़े मार्मिक ढंग से व्यक्त किया है। यहाँ वाग्वैदग्ध का चमत्कार दृष्टव्य है।

(३) अन्तिम पंक्ति में अमर्श या खीझ संचारी भाव है।

(४) ब्रह्म की अनिर्वचनीयता का समर्थन उपनिषदों में भी मिलता है। जैसे—'न शक्यते वर्णयितु गिरा सदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।' निर्गुण और सगुण—ब्रह्म के दोनों ही रूपों के उपासक साधन की अन्तिम अर्थात् चरम स्थिति में पहुँचकर मौन रह जाते हैं। वह उस साक्षात्कार का अनुभव तो करते हैं, परन्तु उसे व्यक्त करने में असमर्थ रहते हैं। उनकी स्थिति 'गूँगे के गुड़' की-सी हो जाती है।

(५) नयन और वाणी की इस विषमता का तुलसी ने भी वर्णन किया है—

"गिरा अनयन नयन बिनु बानी।"

सूरदास ने भी एक अन्य पद में इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"जो मेरी अँखियन रसना होती कहती रूप बनाइ री।"

राग सारङ्ग

हमारे हरि हारिल की लकरी।
मन-बच-क्रम नदनन्दन सों, उर यह दृढ़ करि पकरी॥

जागत, सोवत, सपने सौंतुख कान्ह कान्ह जक री।
सुनतहि जोग लगत ऐसो अलि ! ज्यों करुई ककरी ।।
सोई व्याधि हमें लै आए, देखी सुनी न करी।
यह तौ सूर तिन्हैं लै दीजैं, जिनके मन चकरी ।।५२।।

शब्दार्थ—हारिल की लकरी=एक पक्षी जो अपने पंजों में सदैव कोई-न कोई लकड़ी का टुकड़ा या तिनका पकड़े रहता है। क्रम=कर्म। सौंतुख=प्रत्यक्ष। जक-—रटन, धुन। करई—कड़वी। व्याधि—बीमारी। चकरी—चंचल, चकई के के समान सदैव अस्थिर रहने वाला।

भावार्थ—कृष्ण के प्रति अपने दृढ़ प्रेम का वर्णन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हमारे लिए तो हमारे कृष्ण हारिल पक्षी की लकड़ी के समान बन गए हैं। अर्थात् जिस प्रकार हारिल पक्षी, चाहे किसी भी दशा में हो, सदैव अपने पंजों में लकड़ी को पकड़े रहता है, उसी प्रकार हम भी निरन्तर कृष्ण का ही ध्यान करती रहती हैं। हमने अपने मन, वचन और कर्म से नन्दनन्दन रूपी लकड़ी को अर्थात् कृष्ण के रूप और उसकी स्मृति को अपने मन द्वारा कसकर पकड़ लिया है। अब हमसे कोई भी नहीं छुड़ा सकता। हमारा मन जागते, सोते, स्वप्न या प्रत्यक्ष में, चाहे किसी भी दशा में क्यों न हो, सदैव 'कृष्ण-कृष्ण' की ही रट लगाये रहता है, उन्हीं का स्मरण करता रहता है।

हे भ्रमर ! तुम्हारी योग की बातें सुनते ही हमें ऐसा लगता है, मानो कड़वी ककड़ी खा ली हो। अर्थात् ये योग की बातें हमें नितान्त अरुचिकर लगती हैं। तुम तो हमारे लिए ऐसी मुसीबत (बीमारी) ले आए हो, जिसे हमने न तो कभी देखा, न सुना और न कभी भुगता ही है। अर्थात् हम तुम्हारी इस योग रूपी बीमारी से पूर्ण रूपेण अपरिचित हैं। इसलिए इस बीमारी को तो तुम उन लोगों को जाकर दो, जिनके मन चकई के समान सदैव चंचल रहते हैं। भाव यह है कि हमारे हृदय तो कृष्ण-प्रेम में दृढ़ और स्थिर हैं। योग की बातें वही स्वीकार कर सकते हैं, जिनकी आस्था दृढ़ नहीं होती। कभी किसी के प्रति आकर्षित होते हैं और कभी किसी के प्रति। योग का उपदेश तो उन्हें दिया जाता है, जिनका चित्त अस्थिर होता है। परन्तु हमारी चित्त-वृत्ति तो पहले से ही कृष्ण-प्रेम में स्थिर हो चुकी है। इसलिए तुम्हारा यह योग हमारे लिए व्यर्थ है।

विशेष—(१) यहाँ निर्गुण के उपदेश को 'व्याधि' कहकर उसकी अवहेलना की गई है। साथ ही यह भाव प्रकट किया गया है कि योग-साधना तो चंचल-अस्थिर चित्त वालों के लिए ही उपयोगी होती है, न कि दृढ़ प्रेम-व्रत वालों के लिए। इसलिए भक्त के लिए योग-साधना व्यर्थ है।

(२) विरह की प्रलापावस्था का चित्रण है।

(३) 'सुनतहि····ककरी' में उपमालंकार है।

फिरि-फिरि कहा सिखावत मौन ?
दुसह बचन अलि यों लागत उर, ज्यों जारे पर लौन ।।
सिंगी, भस्म, त्वचामृग, मुद्रा, अरु अवरोधन पौन ।
हम अबला अहीर, सठ मधुकर ! घर बन जानै कौन ।।
यह मत लै तिनहीं उपदेसौ, जिन्हैं आजु सब सोहत ।
सूर आज लौं सुनी न देखी, पोत सूतरी पोहत ।।५३।।

शब्दार्थ—दुसह=असह्य, कठोर । जारे पर लौन=जले पर नमक । त्वचा-मृग=मृगछाला । अवरोधन=रोकना । पौन=पवन, प्राणयाम से भाव है । लौं=तक । पोत=माला की गुरिया । सूतरी=सुतली ।

भावार्थ—उद्धव द्वारा बार-बार योग-साधना करने का उपदेश देने पर गोपियाँ झल्लाकर उनसे कहती हैं कि तुम बार-बार हमें मौन साधने की शिक्षा क्यों दे रहे हो ? अर्थात् हमें अपने दुःख को भी नहीं कहने देते । (यहाँ 'मौन' से अभिप्राय योग-साधना के मौन से है, अतः यहाँ दो अर्थ निकलते हैं । पहला, योग-साधना की मौन-साधना; दूसरा, गोपियों को कुछ भी न कहने देना ।) हे भ्रमर ! हमें तुम्हारे ये असह्य कठोर वचन ऐसा कष्ट दे रहे हैं, जैसे कोई जले पर नमक छिड़क रहा हो । भाव यह है कि गोपियाँ एक तो पहले ही कृष्ण-वियोग के कारण दुःखी हो रही हैं, ऊपर से उद्धव उन्हें कृष्ण को त्याग ब्रह्म प्राप्ति के लिए योग-साधना करने का उपदेश देकर और अधिक कष्ट पहुँचा रहे हैं ।

तुम हमसे कहते हो कि हम सिंगी, भस्म, मृगछाला तथा मुद्रा धारण कर प्राणायाम-साधना करें । परन्तु हे मूर्ख मधुकर ! यह तो समझ ले कि हम अबला और जाति की मूर्ख अहीर स्त्रियाँ हैं । हमारी समझ में तुम्हारी ये बातें कैसे आ सकती हैं और तुम्हारी इस कठिन योग-साधना को हम कैसे कर सकती हैं ? क्योंकि योग-साधना तो वन में होती है, तो फिर हम अपने घर को कैसे वन बना दें, वन के समान निर्जन कैसे कर दें ? यह इसलिए असम्भव है क्योंकि इस घर में कृष्ण-सम्बन्धी पुरानी स्मृतियाँ समाई हुई हैं, उन्हें हम कैसे भुला दें ? इसलिए तुम अपना उपदेश जाकर उन्हें ही दो जिन्हें आजकल सब कुछ करना शोभा देता है; अर्थात् तुम यह योग का उपदेश उस कुब्जा को जाकर सुनाओ जो आज सब तरह से कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त कर खुशहाल बनी हुई है । हम तो वैसे ही वैरागिनी हो रही हैं, हमें इसकी क्या जरूरत है । जरूरत तो उस कुब्जा को है, जो भोगों में लिप्त है । हमने आज तक किसी को मोटी सुतली में माला के गुरियों को पिरोते हुए न तो कभी देखा है और सुना ही है । यह असम्भव है । और हमें योग का उपदेश देकर तुम भी ऐसा ही असम्भव और अनुचित कार्य कर रहे हो । इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि हमारी बुद्धि तो सुतली के समान मोटी है और तुम्हारा ज्ञानोपदेश गुरियों के छेद के समान

बहुत सूक्ष्म और पतला है। इसलिए हमारी मोटी बुद्धि में तुम्हारी ये ज्ञान की सूक्ष्म बातें नहीं समा सकतीं।

विशेष—(१) गोपियों की झल्लाहट का सुन्दर चित्रण है।

(२) 'मौन' शब्द में श्लेष है। योगी वाणी का संयम प्राप्त करने में लिए मौन-साधना किया करते हैं। यह योग का एक उपलक्षण होता है।

(३) 'दुसह बचन····लौन' में उपमालंकार तथा 'जारे पर लौन' में लोकोक्ति अलंकार है।

राग जैतश्री

प्रेमरहित यह जोग कौन काज गायो ?
दीनन सों निठुर बचन कहे कहा पायो ?
नयनन निज कमलनयन सुन्दर मुख हेरो।
मूँदन ते नयन कहत कौन ज्ञान तेरो ?
तामें कहु मधुकर ! हम कहा लैन जाहीं।
जामें प्रिय प्राननाथ नंदनंदन नाहीं ?
जिनके तुम सखा साधु बातें कहु तिनकी।
जीवैं सुनि स्यामकथा दासी हम जिनकी ।।
निरगुन अबिनासी गुन आनि आनि भाखौ।
सूरदास जिय के जिय कहाँ कान्ह राखौ ? ।।५४।।

शब्दार्थ—काज=काम। हेरो=देखा। लैन=लेने के लिए। आनि आनि=अन्य-अन्य, दूसरी। भाखौ=कहते हो। जिय के जिय=प्राणों के प्राण।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव की योग-साधना की बातें बार-बार सुनकर बहुत दु:खी हो उठती हैं और उनसे अपनी कृष्ण-प्रेम की विवशता का वर्णन करती हुई कहती हैं कि तुमने इस योग के गीत यहाँ हमारे सामने क्यों गाए, जिनमें प्रेम के लिए कोई स्थान ही नहीं है। यह बताओ कि हम दुखियों को ऐसे कठोर वचन (योग के) कहकर तुम्हें क्या मिल गया ? हमारे इन नेत्रों ने कमल-नयन कृष्ण के सुन्दर मुख के दर्शन किये हैं। यह तुम्हारा कैसा ज्ञान है कि तुम हमसे अपने उन्हीं नेत्रों को मूँद कर (बन्द कर) योग-साधना करने को कहते हो। अर्थात् हम अपने नेत्र मूँद कर तुम्हारे निराकार ब्रह्म के दर्शन के लिए क्यों भटकती फिरें ? हे मधुकर ! हमें यह बताओ कि तुम्हारे इस योग की, जिसमें हमारे प्रिय प्राणनाथ नन्दनन्दन ही नहीं हैं, साधना हम किस लालच से करें ?

तुम तो हमें उन्हीं की बातें बताओ जिनके तुम सच्चे मित्र हो। हम उनकी

दासी हैं। उनकी बातें सुनने से हमें पुनः प्राण मिल जायेंगे, हम पुनः जी उठेंगी। मगर तुम उनकी बातें न कर निर्गुण, अविनाशी ब्रह्म के सम्बन्ध में कुछ दूसरी बातें सुना रहे हो। और ये बातें करते समय तुम हमारे प्राणों के भी प्राण कृष्ण को न जाने कहाँ छिपाकर रख लेते हो। अर्थात् उनके सम्बन्ध में हमें कुछ भी नहीं बताते।

विशेष—यहाँ गोपियों की उपालम्भ देने की भावना दब गई है और उनके व्यथित हृदय की दीन-भावना उभर आई है। इसलिए इसमें व्यंग्य की मार्मिकता न होकर हृदय के निश्छल, सरल उद्गारों के ही दर्शन होते हैं। साथ ही कृष्ण के प्रति गोपियों की अनन्य भावना की मार्मिकता भी मिलती है।

राग केदारो

जानि चालो, अलि, बात पराई।
ना कोउ कहै सुनै या ब्रज सें, नइ कीरति सब जाति हिराई॥
बूझैं समाचार मुख ऊधो, कुल की सब आरति बिसराई।
भले संग बसि भई भली मति, भले मेल पहिचान कराई॥
सुन्दर कथा कटुक सी लागति, उपजत उर उपदेश खराई।
उलटी नाव सूर के प्रभु को, बहे जात माँगत उतराई॥५५॥

शब्दार्थ—जनि चालो=मत चलाओ, मत कहो। पराई=दूसरे की। नइ= नई। हिराई=खोई, नष्ट। आरति=दुःख, कष्ट। बिसराई=भुला दी। कटुक= कड़ुवी। खराई=खारापन, खरी। उलटी=उलट गई है। उतराई=पारिश्रमिक।

भावार्थ—गोपियाँ पिछले पद के भाव को ही पल्लवित करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि हे मधुप! तुम यहाँ (कृष्ण के अतिरिक्त) अन्य किसी की भी बातें मत करो। यहाँ ब्रज में ऐसी बातें न तो कोई करता है और न सुनना ही पसन्द करता है। तुम्हारे बार-बार इन्हीं बातों को दुहराने से तुम्हारी वह सारी नई कीर्त्ति नष्ट हुई जा रही है जो तुमने यहाँ कृष्ण के सखा के रूप में आकर प्राप्त की है। अर्थात् सब लोग तुम्हारे विरुद्ध हुए जा रहे हैं। हे उद्धव। हम तुम्हारे ही मुख से कृष्ण के सम्बन्ध में यह जानना चाहती हैं कि—क्या उन्होंने अपने कुल की सारी विपदाओं, कष्टों को भुला दिया है; अर्थात् क्या अब उन्हें अपने कुल की तनिक भी चिन्ता नहीं रही है? वहाँ मथुरा में उन्हें अच्छे लोगों का सत्संग मिला और उसके परिणामस्वरूप उनकी बुद्धि भी ऐसी ही भली हो गई। अपनी उसी नई बुद्धि के कारण उन्होंने हमसे तुम जैसे भले लोगों की जान-पहिचान कराई। अर्थात् तुम्हें यहाँ ऐसा सन्देश देने के लिए भेजा। (यहाँ गोपियाँ काकुवक्रोक्ति का प्रयोग कर यह कहना चाह रही हैं कि मथुरा के बुरे लोगों की संगति के कारण ही कृष्ण की ऐसी मति हो गई है जो उन्होंने उद्धव को यहाँ योग का सन्देश देने भेजा है।)

(तुम्हारी अपनी समझ के अनुसार तुम्हारी) यह सुन्दर ब्रह्म-कथा हमें कड़वी-

सी, अरुचिकर लगती है और इसे सुनकर हमारे हृदय में खारापन अर्थात् विरक्ति-सी उत्पन्न होती है; अर्थात् हमें तुम्हारी यह ब्रह्म-कथा तनिक भी नहीं सुहाती। कृष्ण का यह कैसा अद्भुत न्याय है कि बीच मँझधार में नाव उलट जाने से यात्री तो जल में बहे चले जा रहे हैं और मल्लाह उन बहते यात्रियों से उतराई का पारिश्रमिक माँग रहा है। भाव यह है कि गोपियाँ तो वैसे ही कृष्ण के वियोग में अत्यधिक व्याकुल और व्यथित हो रही थीं, ऊपर से कृष्ण ने उन्हें योग-साधना करने का सन्देश भेजकर और भी गहरा आघात पहुँचाया है। यह कृष्ण का सरासर घोर अन्याय है। यह वैसा ही अन्याय है, जैसे वहे जा रहे यात्रियों से नाव का किराया माँगना।

विशेष—(१) यहाँ काकुवक्रोक्ति द्वारा मथुरावासियों पर 'उलटी नाव' द्वारा कृष्ण के अन्याय पर गहरी चोट की गई है।

(२) पूरे पद में लोकोक्ति अलंकार तथा 'भले····कराई' में विपरीत लक्षण अलंकार और काकुवक्रोक्ति है।

राग मलार

याकी सीख सुनै ब्रज को, रे ?
जाकी रहनि कहनि अनमिल, अलि, कहत समुझि अति थोरे ॥
आपुन पद-मकरंद सुधारस, हृदय रहत नित बोरे।
हमसों कहत बिरस समझौ, है गगन कूप खनि खोरे ॥
धान को गाँव पयार ते जानौ, ज्ञान विषय रस भोरे।
सूर सो बहुत कहे न रहै, रस गूलर को फल फोरे ॥५६॥

शब्दार्थ—याकी=इसकी। अनमिल=परस्पर विरोधी। आपुन=स्वयं। बोरे=डुबोए। बिरस=रसहीन। खनि=खोदकर। खोरे=नहाए। पयार=पयाल, धान के डण्ठल। भोरे=भोले। फोरे=फोड़ने पर।

भावार्थ—गोपियाँ खीझकर भ्रमर के माध्यम से कृष्ण पर व्यंग्य करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि इनकी योग-साधना की इस शिक्षा को यहाँ ब्रज में कौन सुनेगा? जिसके रहन-सहन और कथनी में अर्थात् कथनी और करनी में इतना विरोध रहता है, उसकी बातों को कौन सुनना पसन्द करेगा? हे भ्रमर! हम इस बात को खूब अच्छी तरह से समझ-बूझकर ही अत्यन्त संक्षेप में तुमसे कह रही हैं। इन उद्धव की हालत तो यह है कि स्वयं तो कृष्ण के चरणों के मकरन्द रूपी अमृतरस में सदैव अपने हृदय को डुबोए रहते हैं और हमने यह कहते हैं कि हम उन चरणों को रसहीन (नीरस) समझ लें। यह तो ऐसी ही असम्भव बात है—जैसे कोई आकाश में कुँआ खोदकर उसके जल में नहाने का प्रयत्न करे। (इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि कृष्ण स्वयं तो कुब्जा के चरणों में सदैव ध्यान लगाए रहते हैं और हमसे अपनी उपासना त्याग, ब्रह्म को नीरस मान, योग-साधना द्वारा उसकी प्राप्ति करने की बात कहते हैं। यह उनका सरासर अन्याय और ढोंग है।

धान का गाँव तो उसके चारों ओर फैले पयाल (धान के डण्ठल) से ही जान

लिया जाता है कि इस गाँव में धान पैदा होता है। हे उद्धव ! तुम हमें तो ज्ञान का उपदेश देकर विषय-रस से विरक्त होने को कह रहे हो और स्वयं कृष्ण के चरणों के प्रेम में भोले अर्थात् बावले बने रहते हो। अर्थात् तुम्हारी कथनी और करनी में स्पष्ट अन्तर है। इसलिए अब हमसे इस सम्बन्ध में अधिक बातें मत कहलवाओ, क्योंकि अधिक कहने से वही स्थिति हो जायगी जैसे गूलर के फल को फोड़ देने से होती है। जिस प्रकार गूलर का फल ऊपर से देखने में सुन्दर लगता है, परन्तु उसे फोड़ने पर उसमें भरे कीड़ों को देखकर मन में उसके प्रति विरक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार तुम अधिक कहलवाकर हमसे अपनी असलियत क्यों खुलवाना चाहते हो ? बात को दबी-ढकी ही रहने दो।

विशेष—(१) गोपियाँ उद्धव और कृष्ण के ढोंगी रूप का उद्घाटन कर उनकी कथनी और करनी को परस्पर विरोधी सिद्ध कर रही हैं।

(२) 'गूलर के फल फोरे'—लोकोक्ति का प्रयोग कर कवि ने इस पद में गहन मार्मिकता और संवेदनशीलता उत्पन्न कर दी है।

(३) 'आपुन····बोरे' में तद्गुण; 'गगन····खोरे' में निदर्शना; 'धान····जानो' तथा 'गूलर····फोरे' में लोकोक्ति अलंकारों का प्रयोग हुआ है।

निरखत अंक स्याम सुन्दर के, बारबार लावति छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलि कै, ह्वै गइ स्याम स्याम की पाती॥
गोकुल बसत संग गिरिधर के, कबहुँ बयारि लगी नहिं ताती।
तब की कथा कहा कहौं ऊधो, जब हम बेनुनाद सुनि जाती॥
हरि के लाड़ गनति नहिं काहू, निसिदिन सुदिन रासरसमाती।
प्राननाथ तुम कब धौं मिलौगे, सूरदास प्रभु बालसंघाती॥५७॥

शब्दार्थ—निरखत=देखते ही। अंक=अक्षर। लावति=लगाती हैं। मसि =स्याही। पाती=चिट्ठी, पत्री। बयारि=हवा। ताती=गरम। लाड़=प्रेम। गनति=गिनतीं, समझतीं। माती=मस्त। बालसंघाती=बचपन के साथी, बाल-मित्र।

भावार्थ—कृष्ण की पत्री को देखकर गोपियाँ कितनी विह्वल हो उठी थीं, सूरदास उनकी उसी विह्वल दशा का चित्रण कर रहे हैं कि श्यामसुन्दर कृष्ण के पत्र में लिखे उनके अक्षरों को देख-देखकर गोपियाँ बार-बार उस पत्र को स्नेह-विह्वल हो अपनी छाती से लगा लेती हैं। प्रेमाधिक्य के कारण उनके नेत्रों से अश्रु वर्षा हो रही है। आँखों के जल (आँसू) तथा उस पत्र के कागज पर लिखे काली स्याही के अक्षर आपस में मिलने के कारण (आँसू पत्र पर टपकने के कारण) श्याम का वह पत्र काले रंग का हो गया है। स्याही भीगकर सारे कागज पर फैल गई है। अथवा उस पत्र में ही उन्हें श्याम के साकार दर्शन हो रहे हैं। वह पत्र ही मानो श्याम बन गया है। उस पत्र को देखकर गोपियों के मन में पूर्वकाल की स्मृतियाँ उदय हो रही हैं और वे

कहती हैं कि जब हम यहाँ गोकुल में गिरिधर कृष्ण (यहाँ रक्षक रूप से भाव है) के साथ रहती थीं, तब हमें कभी गर्म हवा नहीं लगी थी। अर्थात् कभी कोई कष्ट नहीं हुआ था। हे उद्धव ! हम तुम से उस समय की क्या-क्या बातें बताएँ कि जब हम कृष्ण की वंशी-ध्वनि को सुनकर (उनके पास वन में) जाती थीं (तब कितनी तरह की क्रीड़ाएँ होती थीं) उस समय हम कृष्ण के प्रेम को पाकर इतनी गर्वित हो उठती थीं कि अपने सामने किसी को कुछ नहीं समझती थीं। वे कितने अच्छे दिन थे, जब हम रात-दिन रास-रंग के आनन्द में उन्मत्त बनी रहती थीं। यह स्मरण कर गोपियाँ अत्यन्त कातर हो कृष्ण को पुकारती हुई कहती हैं कि हे प्राणनाथ ! हे बालापन के साथी ! अब तुम हमें कब दर्शन होंगे ? कब हमसे मिलोगे ?

विशेष—(१) इस पद में भी कृष्ण-प्रेम-विह्वल गोपियों की कातर अवस्था का चित्रण हुआ है। कृष्ण का पत्र उन्हें पूर्व स्मृतियों में डुबो और भी अधिक कातर बना रहा है।

(२) 'स्याम स्याम' में यमक; 'लोचन-जल....पाती' में तदगुण; 'गिरिधर' को यदि साभिप्राय (रक्षक के अर्थ में) माना जाय तो परिकरांकुर अलङ्कार हैं।

राग मारू

मोहिं अलि दुहूँ भाँति फल होत।
तब रस-अधर लेति मुरली, अब भई कुबरी सौत ॥
तुम जो जोगमत सिखवन आए, भस्म चढ़ावन अंग।
इन बिरहिनि में कहुँ कोउ देखी, सुमन गुहाये मंग ॥
कानन मुद्रा पहिरि मेखली, धरे जटा आधारी।
यहाँ तरल तरिवन कहँ देखे, अरु तनसुख की सारी ॥
परम बियोगिनि रटति रैन दिन, धरि मनमोहन-ध्यान।
तुम तो चलो बेगि मधुबन को, जहाँ जोग को ज्ञान ॥
निसदिन जीजतु है या ब्रज में, देखि मनोहर रूप।
सूर जोग लै घर-घर डोलौ, लेहु-लेहु धरि सूप ॥५८॥

शब्दार्थ—दुहूँ भाँति=दोनों ही दशाओं में। जोगमत=योग-साधना। मंग= माँग। तरल=चंचल। तरिवन=कर्णफूल। तनसुख=एक प्रकार का कपड़ा। सारी=साड़ी।

भावार्थ—गोपियाँ भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कह रही हैं कि हे भ्रमर ! हमें तो दोनों ही अवस्थाओं में (कृष्ण के समीप रहने में अथवा उनसे दूर रहने में) एक-सा ही फल मिलता है। जब कृष्ण यहाँ पास रहते थे तब मुरली उनके अधर-रस का पान किया करती थी। वह सदैव मुरली को अपने अधर पर धरे बजाया करते थे। और अब वह कुब्जा हमारी सौत बन गई है और उनके अधर-रस का पान किया

करती है। भाव यह है कि हम तो दोनों ही दशाओं में उनके अधर-रस से सदैव वंचित ही रहीं। तुम जो यहाँ इन विरहणियों को योग-साधना सिखाने और उनके शरीर पर भस्म चढ़ाने के लिए आए हो, तो तुमने क्या इनमें से कोई ऐसी भी देखी है जिसने अपनी माँग को फूलों से सजा रखा हो ? तुम हमें उपदेश दे रहे हो कि हम कानों में मुद्रा पहिन कर मेखला (मूँज की करधनी), जटाजूट और अधारी धारण करें। परन्तु क्या तुमने यहाँ किसी को कानों में चंचल (सदैव हिलते-चमकते रहने वाले) कर्णफूल और शरीर पर तनसुख की झीनी साड़ी धारण किए हुए देखा है ? भाव यह है कि विरहिणी गोपियाँ सम्पूर्ण साज-शृङ्गार को त्याग, पहले ही योगिनी का-सा उदास सादा वेश धारण किए रहती हैं।

ऐसी ये परम वियोगिनी गोपियाँ रात-दिन मनमोहन कृष्ण का ध्यान करती हुईं उन्हीं का नाम रटती रहती हैं। (तुम उन्हें ब्रह्म का ध्यान करने की क्या शिक्षा दे रहे हो !) इसलिए अब तुम शीघ्र ही मथुरा को लौट जाओ, जहाँ सब योग के पारखी हैं। वहीं तुम्हारे इस योग की कदर हो सकेगी। हम तो इस ब्रज में रात-दिन कृष्ण के उसी मनोहर रूप को देख-देखकर जीवित रहती हैं। तुम यहाँ व्यर्थ ही अपने योग को लिए घर-घर घूमते फिर रहे हो; और उसी प्रकार सबको अपने योग की विशेषताएँ बता-बताकर उसे ग्रहण कर लेने का आग्रह कर रहे हो, जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने ग्राहकों से आग्रह करे कि उसके माल को सूप से अच्छी तरह छान-फटक कर ले लिया जाय। परन्तु इतने पर भी यहाँ तुम्हें अपने इस निस्सार योग का कोई भी ग्राहक नहीं मिलेगा, क्योंकि यह इतना रद्दी और व्यर्थ है कि यहाँ इसकी कोई उपयोगिता ही नहीं है।

विशेष—इस पद की प्रारम्भिक पंक्तियों में कुब्जा और मुरली के प्रति गोपियों के असूया भाव का तथा शेष पद में योग की निस्सारता का मनोरंजक चित्रण हुआ है। अंतिम पंक्ति में निहित व्यंग्य योग पर गहरी चोट कर रहा है।

राग धनाश्री

रहु रे मधुकर ! मधुमतवारे।
कहा करौं निर्गुन लै कै, हौं जीवहु कान्ह हमारे ।।
लोटत नीच पराग पँक में, पचत न आपु सम्हारे।
बारम्बार सरक मदिरा की, अपरस कहा उघारे ।।
तुम जानत हमहूँ वैसी हैं, जैसे कसुम तिहारे।
घरी पहर सबको बिलमावत, जेते आवत कारे ।।
सुन्दर स्याम कमल-दल लोचन, जसुमति-नंद-दुलारे।
सूर स्याम को सर्बस अर्प्यो, अब कापै हम लेंहि उधारे ।।५६।।

शब्दार्थ—पचत=कष्ट उठाना। सरक=मद्यपात्र, नशा, सुड़कना। अपरस=

रसहीन । उघारे=उघाड़ने से, खोलने से । बिलमावत=विश्राम देते हैं । कापै=किस पर । उधारे=उधार, कर्ज ।

भावार्थ—गोपियाँ अपने कृष्ण के प्रति प्रेम की एकान्त निष्ठा और दृढ़ता की भ्रमर की उच्छृंखला से तुलना करती हुईं भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कह रही हैं कि रे मधु के पीछे मतवाले बने रहने वाले मधुप ! ठहर जा ! चुप रह ! हम तेरे निर्गुण ब्रह्म को लेकर क्या करें ? हमारी तो बस एक ही कामना है कि हमारे कृष्ण चिरंजीवी हों । रे नीच ! तू निरन्तर पुष्पों के पराग की कीचड़ में लोटता रहता है, कष्ट उठाता है और इतना मतवाला हो जाता है कि तुझे अपने शरीर का भी होश नहीं रहता । अथात् तू नशे से मत्त हो अपनी सारी सुध-बुध भूल जाता है । तू बार-बार उसी मदिरा को सुड़कता (घूँट भरता) रहता है और अपने घिनौने रहस्य को स्वयं ही क्यों खोलता फिरता है ? अथवा अपना रहस्य क्यों खुलवाता है, क्योंकि नीरस व घिनौनी बातें उघाड़ने से कोई लाभ नहीं होता ।

शायद तुम्हारा यह भ्रम है कि हम भी तुम्हारे उन फूलों के ही समान हैं जो सारे काले भौंरों को थोड़ी देर तक अपने ऊपर विश्राम करने देते हैं, जो उनके पास आते हैं । अर्थात् जिस प्रकार फूल कुलटा नारियों के समान अपने पास आने वाले प्रत्येक व्यक्ति (भ्रमर) का मनोरंजन करते हैं, तुम हमें भी उन फूलों के ही समान कुलटा समझते हो । इसलिए सोचते हो कि हम अपने प्रिय कृष्ण को त्याग तुम्हारे ब्रह्म (पर-पुरुष) को स्वीकार कर लेंगी । परन्तु यह सोचना तुम्हारा भ्रम है । हमने तो यशोदा और नन्द के लाड़ले, कमल जैसे नेत्रों वाले सुन्दर सलौने श्याम को ही अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया है । अब हमारे पास कोई भी ऐसी वस्तु नहीं रही जिसे गिरवी रखकर कर्ज ले सकें । अर्थात् हम अपना सर्वस्व (हृदय) तो कृष्ण को दे चुकी हैं । अब तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म की आराधना करने के लिए दूसरा मन किससे उधार लाएँ ? एक मन था, वह तो कृष्ण के के साथ चला गया । भाव यह है कि हम कृष्ण-प्रेम को त्याग, तुम्हारे ब्रह्म को स्वीकार करने में नितान्त असमर्थ हैं । पतिव्रता नारियाँ केवल एक ही पुरुष (पति) की आराधना करती हैं !

विशेष—(१) इस पद में भ्रमर और पुष्प के रूपक द्वारा कवि ने गोपियों के वासनाहीन प्रेम का निरूपण किया है । गोपियाँ कृष्ण से वासनामय प्रेम न कर, आध्यात्मिक प्रेम करती थीं जो पतिव्रता नारियों के पति-प्रेम के समान दृढ़, अनन्य और निर्मल होता है । गोपियों का यह रूप परकीया के स्थान पर स्वकीया-नायिका का ही अधिक प्रतीत होता है ।

(२) श्लेष से पुष्ट रूपक अलंकार है ।

(३) 'सरक' अर्थ 'मद्यपात्र' के स्थान पर सुड़कना या घूँट भरना ही अधिक संगत है । इसलिए हमने इसी अर्थ को माना है ।

अपनी सी कठिन करत मन निसिदिन ।
कहि-कहि कथा मधुप समुझावति, तदपि न रहत नंदनंदन बिन ।।

बरजत श्रवन सँदेस, नयन जल, मुख बतियाँ कछु और चलावत।
बहुत भाँति चित धरत निठुरता, सब तजि और यहै जिय आवत ॥
कोटि स्वर्ग सम सुख अनुमानत, हरि-समीप समता नहिं पावत।
थकित सिंधु-नौका के खग ज्यों, फिर-फिर फेर वहै गुन गावत ॥
जे बासना न बिदरत अन्तर, तेइ तेइ अधिक अनूअर दाहत।
सूरदास परिहरि न सकत तन, बारक बहुरि मिल्यो है चाहत ॥६०॥

शब्दार्थ—अपनी सी=भरसक। वहै=वही, उनके ही। बिदरत=फटता। अन्तर=हृदय। अनूअर=अनुत्तर, निरन्तर। दाहत=दग्ध करना। परिहरि=त्यागना।

भावार्थ—गोपियों को कृष्ण-प्रेम के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी शान्ति नहीं मिलती। वे उन्हें भुलाने के बहुत प्रयत्न करती हैं, परन्तु सफल नहीं हो पातीं। गोपियाँ अपनी इसी विवश स्थिति का वर्णन करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुप! हम रात-दिन अपने मन को कठोर, दृढ़ बनाने का भरसक प्रयत्न करती रहती हैं। हम तरह-तरह की अन्य कथाएँ कह-कहकर इसे बहलाने की कोशिश करती हैं परन्तु यह फिर भी नन्दनन्दन के बिना नहीं रहता। सदैव उन्हीं की याद में डूबा रहता है। हम अपने कानों को उनका सन्देश सुनने से रोकती हैं; उनकी स्मृति कर नेत्रों में आँसू न आएँ—इसका प्रयत्न करती हैं तथा मुख से कृष्ण की बातें न कर अन्य प्रसंगों की चर्चा करती रहती हैं। हम अनेक प्रकार से अपने मन को कठोर बनाने की कोशिश करती हैं—परन्तु अन्य सारी बातों को छोड़कर बार-बार हमारे मन में यही विश्वास पक्का होता जाता है कि जो सुख कृष्ण का सान्निध्य (सामीप्य) प्राप्त करने से मिलता है, उसकी तुलना कल्पना-जनित करोड़ों स्वर्गों में प्राप्त सुखों से भी नहीं की जा सकती। अर्थात् कृष्ण-सान्निध्य से प्राप्त सुख ही सर्वश्रेष्ठ है।

हमारी दशा सागर में चलने वाली नौका (जहाज) के उस थके हुए पक्षी के समान हो रही है जो बार-बार जहाज पर से उड़कर जाता है और कहीं भी आश्रय न पा, पुनः उसी जहाज पर लौट आता है। हमारा मन भी उस पक्षी के समान क्षण-भर के लिए अन्य बातों में रम जाने का प्रयत्न करता है, परन्तु बार-बार लौटकर फिर कृष्ण के उन्हीं गुणों को गाने लगता है। हमारे हृदय में केवल एक ही वासना (इच्छा) रह गई है कि किसी प्रकार कृष्ण हमें एक बार फिर मिल जाएँ। इसी वासना के कारण हमारा यह हृदय विदीर्ण नहीं हो पाता। इस वासना के कारण ही हमारा हृदय अधिकाधिक कृष्ण-वियोग में निरन्तर दग्ध होता रहता है। हम अपने इस शरीर को इसी कारण नहीं त्याग सकतीं, मरना नहीं चाहतीं, क्योंकि यह शरीर उनसे एक बार फिर मिलना चाहता है।

विशेष—(१) कृष्ण-प्रेम में विवश बनीं गोपियों का प्रभावशाली चित्रण है।

वे प्रयत्न करने पर भी उन्हें भुलाने में अपने को विवश पाती हैं। यह प्रेम की एकान्त निष्ठा का प्रतीक है।

(२) मिलन की आशा गोपियों को विरह की मरणान्तक व्यथा को ही सहन करने की शक्ति प्रदान कर रही है।

(३) 'थकित····खग' में उपमालंकार है।

राग सारंग

बिगल जनि मानौ हमरी बात।
डरपति बचन कठोर कहति, मति बिनु पति यों उठि जात॥
जो कोउ कहत जरे अपने कछु फिरि पाछे पछितात।
जो प्रसाद पावत तुम ऊधो, कृस्न नाम लै खात॥
मन जु तिहारो हरिचरनन तर, अचल रहत दिनरात।
'सूर स्याम तें जोग अधिक' केहि, कहि आवत यह बात? ॥६१॥

शब्दार्थ—बिलग=बुरा। मति=बुद्धि, विवेक। पति=मर्यादा। उठि जात=नष्ट हो जाती है। जरे अपने=अपना जी जलने पर। प्रसाद=सम्मान। तर=नीचे।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव को खूब जली-कटी सुनाने के उपरान्त अपनी करनी पर थोड़ा पछताती हुईं सी उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव! तुम हमारी बात का बुरा मत मानना। हमें तुमसे कठोर वचन कहते हुए भय लगता है क्योंकि विवेकहीन बातें करने से व्यक्ति की मर्यादा उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार तुम्हारी हो गई है, क्योंकि तुम हमसे कृष्ण को त्यागने और निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने की बातें कर रहे हो। यदि कोई अपने मन के जलने अर्थात् पीड़ित होने पर कुछ ऊट-पटाँग बातें कह भी देता है तो फिर उसके लिए मन ही मन पछताता भी रहता है। अर्थात् तुमने हमें दुःखदायी बातें सुनाई थीं, इसलिए हमारे मुख से कठोर वचन निकल गये थे, जिनके लिए हमें पश्चाताप हो रहा है।

हे उद्धव! तुम्हें यहाँ जो इतना प्रसाद (सम्मान) मिल रहा है वह केवल कृष्ण के नाम के कारण (तुम कृष्ण के सखा हो) ही मिल रहा है और इसी कारण तुम उस सम्मान का उपभोग कर रहे हो। तुम्हारा मन रात-दिन कृष्ण के चरणों में दृढ़ बना रहता है। इतने पर भी तुमसे ऐसी बात कैसे कही जा सकीं कि योग कृष्ण से श्रेष्ठ है। भाव यह है कि कृष्ण-भक्त होने पर भी तुम ऐसी अनर्गल बातें क्यों कर रहे हो कि योग कृष्ण से श्रेष्ठ है? क्या यह तुम्हारी कृतघ्नता नहीं है?

विशेष—इस पद में अपढ़, गँवार गोपियों की प्रगलभता प्रकट हो रही है कि वे किस प्रकार उद्धव को कृष्ण-भक्त प्रमाणित कर उन्हें लज्जित कर रही हैं। एक

तरफ तो उद्धव से क्षमा-सी माँग रही हैं और दूसरी तरफ उन्हें कृतघ्न भी सिद्ध कर रही हैं।

राग बिलावल अति सूधो सनेह को मारग है ---- घनानन्द

काहे को रोकत मारग सूधो ?
सुनहु मधुप ! निर्गुन-कंटक तें राजपंथ क्यों रूँधौ ?
कै तुम सिखै पठाए कुब्जा, कै कही स्यामघन जू धौं ?
बेद पुरान सुमृति सब ढँढ़ौ जुवतिन जोग कहूँ धौं ?
ताको कहा परेखो कीजै जानत छाछ न दूधौ।
सूर मूर अक्रूर गए लै, ब्याज निबेरत ऊधौ ॥६२॥

शब्दार्थ—सूधो=सीधा, सरल। राजपंथ=राजपथ के समान प्रशस्त और बाधा-रहित। सिखै=सिखाकर। धौं=शायद। सुमृति=स्मृति। परेखो=बुरा मानना, उलाहना देना। मूर=मूल धन। निबेरत=वसूल करते हैं।

भावार्थ—प्रेम का मार्ग सबसे अधिक सरल होता है। इसलिए उद्धव द्वारा बारम्बार योग-साधना को अपनाने का आग्रह करते रहने पर गोपियाँ उनसे कहती हैं कि तुम हमारे सीधे-सरल प्रेम के मार्ग में क्यों बाधा डालते हो ? हे मधुप ! हमारी बात सुनो। तुम काँटों के समान कष्टदायक अपने योग-मार्ग द्वारा राजपथ के समान प्रशस्त, सीधे-सरल हमारे प्रेम-मार्ग को क्यों रोक रहे हो ? अर्थात् तुम्हारा योग-मार्ग टेढ़ा-मेढ़ा और अनेक प्रकार की कष्टकर साधनाओं से भरा हुआ है, इसलिए हम अपने सीधे-सरल प्रेम-मार्ग को त्याग उसे कैसे स्वीकार कर लें ? हमें तो यह सन्देह होता है कि या तो तुम्हें कुब्जा ने सिखा-पढ़ाकर यहाँ हमारे पास भेजा है या कृष्ण ने ही हमें अपने कुब्जा-प्रेम में बाधक समझ तुम्हें यह सन्देश देकर यहाँ भेजा है, जिससे वह हमसे मुक्त होकर केवल कुब्जा के ही प्रेम में डूबे रहें। कुब्जा को इस बात का भय है कि कहीं कृष्ण पुनः गोपियों की याद कर, उसे त्याग, गोपियों के पास न लौट जायँ। अपने-अपने इसी भय के कारण ही दोनों ने हमारे पास कदाचित् यह सन्देश भेजा है, जिससे हम कृष्ण को भूल जाएँ।

वेद, पुराण, स्मृतियाँ आदि सम्पूर्ण ग्रन्थों का अध्ययन कर देख लो। उनमें तुम्हें यह आदेश कहीं भी नहीं मिलेगा कि युवतियों को योग-साधना करनी चाहिए। परन्तु उस मूर्ख की बातों का क्या बुरा माना जाय, दुःखी हुआ जाय, जो दूध और छाछ में भी अन्तर नहीं जानता। भाव यह है कि गोपियों के कृष्ण दूध के समान सर्वगुण-सम्पन्न हैं और उद्धव का निर्गुण ब्रह्म छाछ के समान सारहीन अतः व्यर्थ है। हे उद्धव ! मूलधन (कृष्ण) को तो यहाँ आकर अक्रूर ले गए थे और अब तुम उसकी ब्याज वसूल करने यहाँ आए हो। भाव यह है कि गोपियों के लिए कृष्ण तो मूलधन के समान थे, जिसे अक्रूर ले गए। अब गोपियों के पास केवल कृष्ण की स्मृति बची

थी, उद्धव उसे भी ब्याज के रूप में वसूल करने आए हैं। अर्थात् वे कहते हैं कि कृष्ण को भुलाकर निर्गुण ब्रह्म की उपासना करो।

विशेष—(१) इस पद में प्रेम-मार्ग को राजपथ के समान सरल, प्रशस्त और सीधा तथा योग-मार्ग को कंटकाकीर्ण, दुरूह और अगम्य बताकर दोनों की सुन्दर तुलना की गई है।

(२) घनानन्द ने भी प्रेम-मार्ग को अत्यन्त सीधा और सरल बताया है—
"अति सूधो सनेह कौ मारग है, जहँ नैकु सयानप बाँक नहीं।"

(३) अन्तिम पंक्ति के भाव को रत्नाकरजी ने इस प्रकार पल्लवित किया है--
"लै गयो अक्रूर क्रूर तब सुख-मूर कान्ह,
आए तुम आज प्रान-ब्याज उगहन कौं।"

(४) 'निर्गुन कंटक' में रूपक; 'राजपथ' में रूपकातिशयोक्ति; 'मूर····ऊधो' में लोकोक्ति अलंकार है।

(५) उग्रता संचारी भाव है।

राग मलार

बातन सब कोऊ समुझावै।
जेहि बिधि मिलन मिलैं वै माधव, सो बिधि कोउ न बतावै॥
जद्यपि जतन अनेक रचीं पचि, और अनत बिरमावै।
तद्यपि हठी हमारे नयना, और न देखे भावै॥
बासर-निशा प्रानबल्लभ तजि, रसना और न गावै।
सूरदास प्रभु प्रेमहिं लगि करि, कहिए जो कहि आवै॥६३॥

शब्दार्थ—बातन=बातों द्वारा। पचि=थक गईं। अनत=अन्यत्र। बिरमावै=विश्राम करते हैं। भावै=अच्छा लगना। बासर-निशा=रात-दिन। रसना=जिह्वा। लगि=नाते से।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव की बातों से खीझकर उनसे कहती हैं कि सब लोग हमें बातों से ही समझाने का प्रयत्न करते रहते हैं। परन्तु वह उपाय कोई भी नहीं बताता जिसके द्वारा कृष्ण का हमसे मिलन हो सके। यद्यपि हम उनसे मिलने के अनेक यत्न कर-कर थक गईं परन्तु वह अन्यत्र ही (मथुरा में कुब्जा के पास) विश्राम करते रहे, आनन्द करते रहे। परन्तु इतने पर भी हमारे ये हठीले नेत्र ऐसे हठी हैं कि इन्हें और किसी की ओर देखना अच्छा ही नहीं लगता। हमारी जिह्वा रात-दिन अपने प्राणवल्लभ कृष्ण के गुण-गान करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं गाती। सदैव उन्हीं की रट लगाए रहती है। हे उद्धव! तुम हमारे इस कृष्ण-प्रेम के लिए जो कहना चाहो कहते रहो, परन्तु हम तो मनसा-वाचा-कर्मणा एकमात्र कृष्ण की ही

अनुरागिनी हैं। इसलिए हमारे ऊपर तुम्हारे इन उपदेशों का कोई भी प्रभाव पड़ना सर्वथा असम्भव है।

विशेष—(१) इस पद में अमर्श संचारी भाव है।

(२) गोपियों की एकान्त कृष्ण-प्रेम-निष्ठा द्रष्टव्य है।

(३) इसमें व्यंग्य न होकर, गोपियों की कातरता और विवशता प्रकट हो रही है।

राग सारंग

निर्गुन कौन देस को बासी ?
मधुकर ! हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी ॥
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी ?
कैसो बरन, भेस है कैसो, केहि रस में अभिलासी ॥
पावैगो पुनि कियो, आपनो जो रे ! कहैगो गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सो, सूर सबै मति नासी ॥६४॥

शब्दार्थ—सौंह=सौगन्ध, कसम। बरन=वर्ण, रंग। गाँसी=गाँस या कपट की बात। ठग्यो सो=ठगा हुआ-सा, स्तम्भित। नासी=नष्ट हो गई।

भावार्थ--गोपियाँ उद्धव से निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध में मनोरंजक प्रश्न पूछती हुई उनका मजाक-सा उड़ा रही हैं। वे उद्धव से भ्रमर के माध्यम से पूछती हैं कि हे मधुप ! तुम्हारा यह निर्गुण किस देश का रहने वाला है ? (हम तो अपने सगुण कृष्ण का निवास-स्थान जानती हैं।) हे मधुकर ! हमें हँसकर अर्थात् प्रसन्न मन से यह सब समझा दो (कहीं बुरा मान क्रुद्ध मत हो उठना)। हम तुम्हें सौगन्ध देकर सच-सच पूछ रही हैं। तुम्हारे साथ हँसी (मजाक) नहीं कर रही हैं। यह बताओ कि तुम्हारे उस निर्गुण ब्रह्म का कौन पिता है, कौन उसकी माँ कहलाती है, कौन उसकी पत्नी है और कौन-सी दासी उसकी सेवा-टहल करती है ? उसका रंग और वेश-भूषा कैसी है और उसे कौन-सा रस (कार्य) अच्छा लगता है ? (ब्रह्म इन सम्पूर्ण सम्बन्धों एवं विशेषताओं से रहित बताया गया है, इसलिए गोपियाँ जान-बूझकर उद्धव का मजाक उड़ाने के लिए उनसे ऐसे प्रश्न पूछ रही हैं। अपने कृष्ण का तो उन्हें सारा अता-पता मालूम है। उनके अनुसार ब्रह्म को भी ऐसा ही होना चाहिए।)

फिर गोपियाँ भ्रमर को सावधान करती हुई कहती हैं कि--रे भ्रमर ! यदि तूने कोई कपट की बात कही, झूठ बोला, तो फिर अपनी करनी का फल तुझे भुगतना पड़ेगा। गोपियों के मुख से निकलीं इन बातों को सुनकर उद्धव मौन हो ठगे से चुपचाप खड़े रह गए। उनकी बुद्धि मारी गई, नष्ट हो गई। अर्थात् वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो कुछ भी उत्तर नहीं दे सके। स्थिति यह थी कि वेद और उपनिषद् तक जिस ब्रह्म

नन्ददास की टरट
हाथ, पाँव नहिं नासिका नैन बैन नहिं कान

के स्वरूप का निर्धारण करने में असमर्थ रहे थे, उसका उद्धव किस प्रकार निरूपण करते।

विशेष—(१) इस पद में गोपियों का व्यंग्य भाव दृष्टव्य है। वह उद्धव का मजाक भी उड़ाती जाती हैं और यह भी विश्वास दिलाती जाती हैं कि वह सचमुच जिज्ञासु हैं, उनकी हँसी नहीं उड़ा रहीं।

(२) द्वितीय पंक्ति में 'हँसि समुझाय' वाक्यांश गोपियों की इस आशंका को प्रकट कर रहा है कि कहीं उद्धव उनकी बात का बुरा न मान जाएँ। साथ ही अन्त में उद्धव को झूठ न बोलने के लिए सावधान कर धमकी भी देती हैं।

(३) यह पद व्यंग्य-काव्य का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। गोपियों का वाग्वैदग्ध्य दृष्टव्य है। व्यंग्यात्मक-शैली द्वारा निर्गुण-ब्रह्म का खण्डन किया गया है।

(४) वेद ब्रह्म के सम्बन्ध में कहते हैं—'न तस्य प्रतिमा अस्ति'; तथा उपनिषद् ब्रह्म के सम्बन्ध में 'नेति-नेति' कहकर बताते हैं—'न तत्रचक्षुर्गच्छिति न वाग् गच्छित न मनः।' फिर बिचारे उद्धव उस ब्रह्म का निरूपण कैसे कर पाते !

राग केदारा

नाहिंन रह्यो मन में ठौर।
नंदनंदन अछत कैसे आनिए उर और ?
चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति।
हृदय तें वह स्याम मूरति छन न इत-उत जाति।।
कहत कथा अनेक ऊधो लोक-लाभ दिखाय।
कहा करौं तन प्रेम-पूरन घट न सिंध समाय।।
स्याम गात सरोज-आनन ललित अति मृदु हास।
सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास।।६५।।

शब्दार्थ—ठौर=स्थान। अछत=रहते, विद्यमान रहते। आनिए=लाएँ। लोक-लाभ=सांसारिक लाभ। गात=शरीर। रूप कारन=रूप के लिए।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण-प्रेम को त्यागने और निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार करने में, अपनी विवशता प्रकट करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि अब हमारे इस मन में (कृष्ण के अतिरिक्त) अन्य किसी के भी लिए स्थान नहीं रहा है। हे उद्धव ! यह बताओ कि इस हृदय में नन्दनन्दन कृष्ण के विद्यमान रहते हुए हम किसी अन्य (तुम्हारे ब्रह्म) को कैसे ले आएँ, कैसे स्थापित कर दें ? अर्थात् हम तुम्हारे ब्रह्म को स्वीकार करने में असमर्थ हैं। यह तो तभी सम्भव हो सकता है, जब इस हृदय से कृष्ण निकल जाएँ, और ऐसा होना नितान्त सम्भव है। चलते हुए इधर-उधर देखते, दिन में जागते और रात को सोते समय स्वप्न में कृष्ण की वह मधुर मूर्ति क्षण-भर

के लिए भी हमारे हृदय से हटकर इधर-उधर नहीं जाती। अर्थात् हम प्रत्येक अवस्था में कृष्ण का ही ध्यान करती रहती हैं।

हे उद्धव ! तुम हमें (ब्रह्म-सम्बन्धी) अनेक प्रकार की कथाएँ सुना-सुनाकर हमें सांसारिक-लाभ होने का प्रलोभन दिखा रहे हो कि (हम सांसारिक आवागमन से मुक्त हो, मुक्ति-लाभ करेंगी)। परन्तु हम करें क्या ? हमारा यह नन्हा-सा शरीर तो कृष्ण-प्रेम से लबालब भरा हुआ है। हमारे इस नन्हें से हृदय में तुम्हारा विशाल, अनन्त ब्रह्म उसी प्रकार नहीं समा सकता जिस प्रकार एक छोटे से घड़े में सागर नहीं समा सकता। हमारे कृष्ण का शरीर साँवला-सलौना है, उनका मुख कमल के समान मोहक है और उनका हास्य अत्यन्त मधुर है। हमारे ये नेत्र तो कृष्ण के ऐसे ही रूप का दर्शन करने के लिए व्याकुल बने रहते हैं।

विशेष—(१) इस पद में गोपियाँ अपने हृदय में कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए भी स्थान न होने की बात कहती हैं। रहीम और कबीर ने इसी भाव को नेत्रों के माध्यम से व्यक्त किया है। रहीम कहते हैं—

"प्रियतम छबि नयनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिर जाय॥"

कबीर के नेत्रों मे तो काजल तक के लिए स्थान नहीं रहा है—

"कबिरा काजर रेखहू, अब तो दई न जाय।
नैनन प्रीतम रमि रहा, दूजा कहाँ समाय॥"

(२) इस पद में व्यक्त गोपियों की विवशता और उनकी एकान्त, दृढ़ प्रेम-निष्ठा अत्यन्त मार्मिक बन पड़ी है। ऐसे पद अपनी स्वाभाविक-सरल हृदय की निश्छल उक्तियों द्वारा अपना गहरा प्रभाव डालते हैं। वर्णन में कवि की भाव-विभोरता अप्रतिम है।

राग मलार

ब्रजजन सकल स्याम-ब्रतधारी।
बिन गोपाल और नहिं जानत, आन कहैं ब्यभिचारी॥
जोग मोट सिर बोझ आनि कै, कत तुम घोष उतारी ?
इतनी दूरि जाहु चलि कासी, जहाँ बिकति है प्यारी॥
यह सँदेस नहिं सुनै तिहारो, है मंडली अनन्य हमारी।
जो रसरीति करी हरि हमसों, सो कत जात बिसारी ?
महामुक्ति कोऊ नहिं बूझै, जदपि पदारथ चारी।
सूरदास स्वामी मनमोहन, मूरति की बलिहारी॥६६॥

शब्दार्थ—स्याम ब्रतधारी=कृष्ण-प्रेम का व्रत धारण करने वाले। आन=अन्य को। मोट=गठरी। घोष=अहीरों का गाँव। प्यारी=मँहगी (पंजाबी शब्द

है) अनन्य=अनौखी, विचित्र। रसरीति=प्रेम-क्रीड़ाएँ। बिसारी=भुलाई। पदारथ चारी=चार पदार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष।

भावार्थ—सम्पूर्ण व्रजवासी कृष्ण-प्रेम की तुलना में मुक्ति को भी तुच्छ समझते हैं। गोपियाँ इसी भाव को व्यक्त करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि सम्पूर्ण व्रज-वासी एकमात्र कृष्ण से ही प्रेम करने का व्रत (दृढ़ता) धारण करने वाले हैं। वे कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी से भी प्रेम नहीं कर सकते। हम गोपाल-कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को भी नहीं जानतीं। यदि हम किसी अन्य की (तुम्हारे ब्रह्म की) बातें करें तो हम व्यभिचारिणी कहलायेंगी। अथवा यदि कोई हमसे किसी अन्य की बातें करता है तो हम उसे व्यभिचारी समझेंगी। हे उद्धव! तुमने अपनी यह योग की गठरी का बोझा लाकर यहाँ अहीरों के गाँव में क्यों उतारा है? अर्थात् यहाँ इसे कोई खरीदना पसन्द नहीं करेगा। इसलिए तुम इसे दूर काशी में जाकर बेचो। वहाँ तुम्हें इसकी अच्छी कीमत मिल जायेगी, क्योंकि वहाँ यह योग बहुत मँहगा बिकता है। वहाँ इसकी बहुत माँग है। (काशी योगियों का केन्द्र माना जाता था।)

यहाँ तुम्हारे इस योग के सन्देश को कोई भी नहीं सुनेगा। हमारी यह मंडली (गोपियों की मण्डली) बड़ी अनोखी है, विचित्र है। इसमें से कोई भी तुम्हारी इस बात को सुनना पसन्द नहीं करेगी, क्योंकि सब कृष्ण-प्रेम की ही अनुरागिनी हैं। कृष्ण ने हमारे साथ जो प्रेम-क्रीड़ाएँ की थीं उनकी स्मृति कैसे भुलाई जा सकती है? यद्यपि तुम्हारी इस महामुक्ति द्वारा हमको चारों पदार्थों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—की प्राप्ति हो सकती है, फिर भी यहाँ तुम्हारी इस महामुक्ति को कोई कौड़ियों में भी मोल लेना पसन्द नहीं करेगा। भाव यह है कि गोपियों को तो कृष्ण-प्रेम में ही उक्त चारों पदार्थों की उपलब्धि हो चुकी है, फिर वे इस मुक्ति को लेकर क्या करेंगी! गोपियाँ कहती हैं कि हम तो अपने मनमोहन स्वामी कृष्ण की सुन्दर मूर्त्ति पर ही न्यौछावर हैं।

विशेष—(१) 'जदपि पदारथ चारी' से यह अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है कि—हमें तो कृष्ण-प्रेम में चारों पदार्थों की प्राप्ति हो चुकी है और तुम्हारे ब्रह्म की उपासना इनमें से केवल एक ही पदार्थ—मुक्ति (मोक्ष) को देने वाली है। इसलिए हम उसे लेकर क्या करें?

(२) यहाँ गोपियाँ कृष्ण-प्रेम की तुलना में मुक्ति को तुच्छ सिद्ध कर रही हैं। स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त ने भी यही बात कही है—

"जो जन तुम्हारे पद कमल के असल मधु को जानते हैं।
वे मुक्ति की भी कर अनिच्छा तुच्छ उसको मानते हैं।।"

(३) 'मण्डली अनन्य हमारी' कहकर गोपियाँ अपने प्रेम की एकाग्रता का प्रदर्शन कर रही हैं। उस प्रेम की, जिसे कोई भी आकर्षण या लालच डिगा नहीं सकता।

राग धनाश्री

कहति कहा ऊधो सों बौरी।
जाको सुनत रहे हरि के ढिग, स्याम सखा यह सो री !
हमको जोग सिखावन आयो, यह तेरे मन आवत ?
कहा कहत री ! मैं पत्यात री, नहीं सुनी कहनावत ।।
करनी भली भलेई जानैं, कपट कुटिल की खानि।
हरि को सखा नहीं री माई ! यह मन निसचय जानि ।।
कहाँ रास-रस कहाँ जोग-जप ? इतनो अंतर भाखत।
सूर सबै तुम कत भईं बौरी, याकी पति जो राखत ।।६७।।

शब्दार्थ—बौरी=बावली, पगली। ढिग=पास, समीप। पत्यात=विश्वास करती हूँ। कहनावत=कहावत। भाखत=कहता है, बताता है। पति=विश्वास, सम्मान।

भावार्थ—गोपियाँ योग का सन्देश लाने वाले उद्धव को धूर्त्त समझ, उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से खूब खरी-खोटी सुनाती रही हैं। एक गोपी दूसरी से कहती है कि हे बावली ! तू उद्धव से क्या कह रही है ? अरी पगली ! यह तो कृष्ण का वही सखा है जो उनके पास ही रहता है। इसके सम्बन्ध में तो हम बहुत दिनों से सुनती चली आ रही हैं। अथवा यह तो कृष्ण का वही सखा है, जिसके सम्बन्ध में कृष्ण जब यहाँ हमारे पास रहते थे, तब बताया करते थे। क्या तू यह सोचती है कि यह यहाँ हमको योग सिखाने के लिए आया है ? अरी, तू कह क्या रही है ? मुझे तो इस बात का विश्वास ही नहीं होता (कि यह यहाँ योग सिखाने आया है)। तूने वह कहावत सुनी होगी कि अच्छे काम करना केवल वही जानते हैं जो स्वयं सज्जन और भले होते हैं। और कुटिल (नीच) मनुष्य तो कपट की खान अर्थात् भयानक कपटी होते हैं। इसलिए हे सखी ! यह तू मन में निश्चय जान ले कि यह कृष्ण का सखा नहीं है। कोई धूर्त्त है जो कृष्ण का सखा बनकर हमें छलने के लिए यहाँ आया है। क्योंकि कृष्ण भले हैं, अतः उनका सखा भी सज्जन होना चाहिए। परन्तु यह तो धूर्त्त है जो हमारे कृष्ण-प्रेम जैसे सुन्दर, अच्छे काम को अच्छा ही नहीं मान रहा।

यह तो सोचो कि कहाँ रास-क्रीड़ा का आनन्द और कहाँ योग-साधना और तपस्या करना ! यह कितनी परस्पर विरोधी विषम बातें कह रहा है। अर्थात् कृष्ण-प्रेम के आनन्द की योग-साधना से कोई तुलना ही नहीं की जा सकती। क्या तुम सब पागल हो गई हो जो इसकी बात पर विश्वास करती हो अथवा इसका सम्मान किए चली जा रही हो ? यह तो कोई धूर्त्त है, इसलिए इसे यहाँ से अपमानित कर भगा दो।

विशेष—(१) इस पद में अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का आधार ग्रहण कर गोपियाँ उद्धव को खूब खरी-खोटी सुना रही हैं। इस पद का व्यंग्य अत्यन्त मार्मिक

और चुभ जाने वाला है। सम्पूर्ण भ्रमर-गीत में गहरे व्यंग्य और आक्रोश के क्षेत्र में इस पद को अप्रतिम माना जा सकता है।

(२) गोपियों द्वारा आपस में बातें करने का ढंग, दूसरी को बावली, पगली कहना, 'री' शब्द का बार-बार प्रयोग कर आपस में सम्बोधन करना आदि विशेषताएँ गोपियों के उत्कृष्ट वाग्वैदग्ध्य के ज्वलन्त प्रमाण हैं। कहावत के प्रयोग ने इस पद के सौन्दर्य को बहुत बढ़ा दिया है।

राग रामकली

ऐसेई जन दूत कहावत।
मोको एक अचचभो आवत, यामें ये कह पावत ?
बचन कठोर कहत, कहि दाहत, अपनी महत गँवावत।
ऐसी परकृति परति छाँह की, जुवतिन ज्ञान बुझावत॥
आपुन निलज रहत नखशिख लौं, एते पर पुनि गावत।
सूर करत परसंसा अपनी, हारेहु जीति कहावत॥६८॥

शब्दार्थ—मोको=मुझे। यामें=इसमें। कह=क्या। महत=महत्ता, इज्जत। परकृति=प्रकृति या संसर्ग या छाया का प्रभाव। बुझावत=समझाते हैं। एते पर=इतने पर भी।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव के योग-सन्देश पर कटाक्ष करती हुई आपस में कह रही हैं कि ऐसे ही लोगों को दूत कहा जाता है जो असली बात न कहकर इधर-उधर की झूठी बातें गढ़कर सुनाया करते हैं। (यहाँ 'दूत' शब्द पर व्यंग्य है।) भाव यह है कि कृष्ण ने उद्धव को यहाँ योग का सन्देश देने के लिए नहीं भेजा है, कुछ और सन्देश भेजा होगा। परन्तु ये उसे न कहकर हमें अपनी तरफ से योग का सन्देश दे रहे हैं। मुझे इस बात का आश्चर्य होता है कि ऐसा करके इन्हें क्या मिल जाता है, क्या लाभ होता है। ऐसे लोग दूसरों से कठोर वचन कहते हैं (हमसे कृष्ण को भुला ब्रह्म की उपासना करने को कहते हैं) और ऐसे वचन कह-कहकर दूसरों को दग्ध करते हैं (हमें जलाते हैं) तथा ऐसा करके स्वयं अपने ही हाथों अपनी इज्जत खो बैठते हैं। अर्थात् कोई भी ऐसे आदमियों का सम्मान नहीं करता।

संगति का व्यक्ति पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह ऊटपटांग काम करने लगता है। उद्धव इसके प्रमाण हैं। यह कुब्जा और कृष्ण की संगति में रहने के कारण ही युवतियों को ज्ञान समझाने यहाँ आए हैं जो नितांत अनुचित कार्य है। ऐसे लोग स्वयं तो नख से शिख तक अर्थात् पूरी तरह से निर्लज्ज होते हैं और अपने अनुचित कार्यों पर लज्जित न होकर निरन्तर अपनी ही हाँके चले जाते हैं। तथा अपने मुँह से स्वयं अपनी ही प्रशंसा करते हुए अपनी पराजय को भी अपनी विजय घोषित करते रहते

हैं; अर्थात् उद्धव से हमारी बातों का उत्तर तक देते नहीं बनता । परन्तु फिर भी पराजय स्वीकार न कर बराबर ब्रह्म की ही रट लगाए चले जा रहे हैं ।

विशेष—गोपियों की उद्धव के प्रति कही गईं कटूक्तियाँ संस्कृत की इस कहावत को याद करा देती हैं—"लज्जामेकां परित्यज्य त्रैलोक्य विजयी भवेत् ।"

राग धनाश्री

प्रकृति जोई जाके अँग परी ।
स्वान-पूँछ कोटिक जा लागै, सूधि न काहु करी ।।
जैसे काग भंच्छ नहिं छाँड़ै, जनमत जौन घरी ।
धोये रंग जात कहु कैसे, ज्यों कारी कमरी ?
ज्यों अहि डसत उदर नहिं पूरत, ऐसी धरनि धरी ।
सूर होउ सो होउ सोच नहिं, तैसे हैं एउ री ।।६६।।

शब्दार्थ—प्रकृति=स्वभाव । सुधि=सीधी । भच्छ=भक्ष्य, खाने योग्य वस्तु । जनमत=जन्म लेते ही । जौन घरी=जिस घड़ी । अहि=सर्प । धरनि धरी=टेक पकड़ रखी है । एउ=ये भी ।

भावार्थ—उद्धव द्वारा बार-बार निर्गुण का उपदेश देते रहने पर गोपियाँ झल्ला उठाती हैं और इसे उनका स्वभाव घोषित कर उन पर फबतियाँ (कटूक्तियाँ) कस रही हैं । कोई गोपी अन्य गोपियों से कहती है कि जिसका जैसा स्वभाव पड़ जाता है, वह बदल नहीं पाता । करोड़ों प्रयत्न करने पर भी आज तक कोई भी कुत्ते की पूँछ को सीधा नहीं कर पाया है, क्योंकि पूँछ का स्वभाव ही सदैव टेढ़ी बनी रहने का पड़ गया है । वह सीधी हो ही नहीं सकती । कौआ जिस घड़ी जन्म लेता है, भक्ष्या-भक्ष्य (खाने न खाने योग्य पदार्थ) खाने का अपना स्वभाव नहीं छोड़ता । यह बताओ कि धोने पर भी कहीं काले कबम्ल का रंग दूर हो सकता है ! (सूरदास प्रभु कारी कामरि चढ़ै न दूजौ रङ्ग ।) यद्यपि दूसरों को डसने से सर्प का पेट नहीं भरता परन्तु उसका स्वभाव ही ऐसा पड़ गया है कि वह बिना दूसरों को डसे रह ही नहीं सकता । ये उद्धव भी ऐसे ही हैं । इन्हें इस बात की चिन्ता नहीं कि इनकी इन बातों का परिणाम क्या निकलेगा । यह तो इनका स्वभाव है कि इन्हें दूसरों को दुःख देने में आनन्द आता है, इसलिए ये हमें बराबर दुःखी किये चले जा रहे हैं ।

विशेष—(१) गोपियाँ स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-सा करती हुई उद्धव पर बड़े मार्मिक कटाक्ष कर रही हैं । उर्दू के मशहूर शायर अकबर इलाहाबादी ने भी कुछ-कुछ इसी प्रकार की बात कही है । उनका और सूर का भाव-साम्य दृष्टव्य है—

"आदत जो पड़ी हो पहले से, वह दूर भला कब होती है ।
पाकिट में रखी चुनौटी है, पतलून के नीचे धोती है ।।

× × ×

"नसीहत का असर क्या खाक होगा ऐसे पागल पर ।
चढ़ाते हो गुलाबी रंग तुम भी काले कम्बल पर ।।"

(२) 'स्वान-पूँछ····करी' में अर्थान्तरन्यास अलंकार है ।

राग रामकली

तौ हम मानै बात तुम्हारी ।
अपनो ब्रह्म दिखावहु ऊधो, मुकुट-पितांबरधारी ।।
भजि हैं तब ताको सब गोपी, सहि रहि हैं बरु गारी ।
भूत समान बतावत हमको, जारहु स्याम बिसारी ।।
जे मुख सदा सुधा अँचवत हैं, ते विष क्यों अधिकारी ।
सूरदास प्रभु एक अंग पर, रीझि रहीं ब्रजनारी ।।७०।।

शब्दार्थ—गारी=गाली । भूत=छायामात्र, आकारहीन । जारहु=दग्ध करते हो । बिसारी=भुलाकर । अँचवत हैं=आचमन करते हैं, पान करते हैं ।

भावार्थ—गोपियाँ अपने वाग्वैदग्ध्य द्वारा उद्धव के सामने एक शर्त रख उन्हें पुनः छकाने का प्रयत्न करती हुई उनसे कहती हैं कि हे उद्धव ! हम तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लेने की बात एक शर्त पर मान सकती हैं । वह शर्त यह है कि यदि तुम अपने निर्गुण ब्रह्म को हमें मुकुट और पीताम्बर धारण किए हुए (जैसा कि कृष्ण का रूप है) दिखा दो । अर्थात् यदि ब्रह्म कृष्ण का वेश धारण कर उनके सामने आएगा तो वे उसे स्वीकार कर लेंगी । ऐसा होने पर सम्पूर्ण गोपियाँ तब उसका ही भजन करने लगेंगी । चाहे इसके लिए उन्हें संसार से (चरित्रहीन होने की) गाली ही क्यों न खानी पड़े । परन्तु तुम तो अपने ब्रह्म को छायामात्र (आकारहीन) बताते हो । और चाहते हो कि हम कृष्ण को भूलकर उसे स्वीकार कर लें । ऐसा कहकर तुम हमें और अधिक जला रहे हो, दुःखी कर रहे हो । क्योंकि हम इधर तो कृष्ण को भुला देंगी और उधर तुम्हारे आकारहीन (आभास मात्र) ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकेंगी । जो मुख सदैव अमृत का पान करने के अभ्यस्त बन चुके हैं, वे विष-पान कैसे कर सकते हैं ? अर्थात् हम तो अमृत के समान मधुर, जीवनदायक कृष्ण के दर्शन करने की अभ्यस्त बन चुकी हैं । अब तुम्हारे इस जहर के समान घातक (क्योंकि ऐसा करने से हमारे कृष्ण हमसे छूट जायेंगे) ब्रह्म को कैसे अपना लें ? हे उद्धव ! ये सम्पूर्ण ब्रज-नारियाँ तो अपने प्रभु कृष्ण के मनोहर शरीर पर ही रीझ रही हैं । ये उन्हें त्याग तुम्हारे शरीर-हीन, निराकार ब्रह्म को स्वीकार नहीं कर सकतीं ।

विशेष—इस पद में गोपियों की चतुरता द्रष्टव्य है । वह जानती हैं कि उद्धव उनकी शर्त को पूरा नहीं कर सकेंगे, इसीलिए उनके सामने ऐसी अनोखी शर्त रख रही हैं ।

राग बिलावल

यहै सुनत ही नयन पराने।
जबहीं सुनत बात तुव मुख की, रोवत रमत ढराने।।
बारम्बार स्यामघन घन तें, भाजत फिरत लुकाने।
हमकों नहिं पतियात तबहिं तें, जब ब्रज आपु समाने।।
नातरु यहौ काछ हम काछति, वै यह जानि छपाने।
सूर दोष हमरे सिर धरिहौ, तुम हौ बड़े सयाने।।७१।।

शब्दार्थ—पराने=भाग खड़े हुए। रमत=व्यस्त हो गए। ढराने=ढले, ढुलक गए। लुकाने=छिपने। पतियात=विश्वास करते। आपु=आप। समाने=आए हैं, समाए हैं। नातरु=नहीं तो। काछ काछति=वेश धारण करतीं। छपाने=छिप गए हैं।

भावार्थ—गोपियों को निर्गुण ब्रह्म का उपदेश सुनना भयानक लगता है। यहाँ अपने नेत्रों की व्याकुल, भयभीत दशा का वर्णन करती हुईं वे उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! तुम्हारी इसी तरह की बातें सुनते ही हमारे ये नेत्र भयभीत हो भाग खड़े हुए हैं। जैसे ही ये तुम्हारे मुख से ऐसी बातें सुनते हैं, तुरन्त रोने में व्यस्त हो जाते हैं और ढुलक जाते हैं अर्थात् बन्द हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि ये नेत्र तो रूप-दर्शन के उपासक हैं। तुम्हारी बातें सुनकर इन्हें यह आशंका होने लगती है कि यदि हमने तुम्हारी बात मानकर कृष्ण को त्याग निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लिया तो ये कृष्ण-दर्शन से सदैव के लिए वंचित हो जायेंगे। इसी कारण ये भयभीत हो भाग खड़े हुए हैं। अब तो इनकी यह दशा हो गई है कि वर्षा ऋतु में काले रंग के बादलों को देखकर ये उनसे छिपने के लिए इधर-उधर भागते फिरते हैं। क्योंकि एक तो उन काले मेघों को देखकर इन्हें कृष्ण की याद और अधिक सताने लगती है, तथा दूसरा कारण यह है कि ये काले रंग वालों से इतने डर गए हैं कि उनसे बचते फिरते हैं, क्योंकि सभी काले रंग वालों ने इन्हें धोखा ही दिया है। काले कृष्ण इन्हें छोड़कर चले गए, काले अक्रूर इनके प्रिय कृष्ण को यहाँ से भगा ले गए और अब काले उद्धव उन कृष्ण की स्मृति तक को छीन ले जाने के लिए यहाँ पधारे हैं।

हे उद्धव ! जब से आप यहाँ ब्रज में आकर समा गए हैं, सबके ऊपर छा गए हैं, तब से हमारे ये नेत्र हमारा भी विश्वास नहीं करते। ये यह जानकर छिप गये हैं कि कहीं हम तुम्हारी बातों में आकर इनके कृष्ण को त्याग तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार न कर लें। यद्यपि हमारे नेत्र इस भय के कारण छिप न जाते तो हम तुम्हारे कहे अनुसार वही वेश (योगियों का वेश) धारण कर लेतीं, तुम्हारी योग-साधना को स्वीकार कर लेतीं। परन्तु जब ये नेत्र ही हमारे काबू में नहीं रहे तो हम ब्रह्म-दर्शन किन नेत्रों से कर सकेंगी ? इसी कारण हम तुम्हारी बात स्वीकार करने में असमर्थ हैं। यद्यपि

इसमें दोष हमारा न होकर हमारे इन नेत्रों का ही है, परन्तु हम जानती हैं कि तुम इतने चतुर हो कि सारा दोष हमारे सिर पर ही मढ़ दोगे, थोप दोगे ।

विशेष—गोपियों का चातुर्य और वाग्वैदग्ध्य द्रष्टव्य है । वह निर्गुण को स्वीकार न करने का सारा दोष अपने नेत्रों के सिर थोप उद्धव को मूर्ख बना रही हैं ।

राग धनाश्री

नयननि वहै रूप जौ देख्यो ।
तौ ऊधो यह जीवन जग को, साँचु सफल करि लेख्यो ।।
लोचन चारु चपल खंजन, मनरंजन हृदय हमारे ।
रुचिर कमल मृग मीन मनोहर, स्वेत अरुन अरु कारे ।।
रतन जटित कुण्डल श्रवननि वर, गंड कपोलनि झाँई ।
मनु दिनकर-प्रतिबिंब मुकुर महँ, ढूँढ़त यह छबि पाई ।।
मुरली अधर बिकट भौहैं करि ठाढ़े होत त्रिभंग ।
मुकुतमाल उर नीलसिखर तें, धँसि धरनी ज्यों गङ्ग ।।
और भेस को कहै बरनि सब, अँग-अँग केसरि खौर ।
देखत बनैं, कहत रसना सो सूर बिलोकत और ।।७२।।

शब्दार्थ—लेख्यो=समझें । चारु=सुन्दर । श्रवननि=कान । गंड=गर्दन । झाईं=परछाईं । मुकुर=दर्पण । त्रिभंग=तीन जगह से टेढ़ा शरीर । मुकुतमाल= मोतियों की माला । नीलशिखर=पर्वत का नीला शिखर, चोटी । धँसि=घुसकर । धरनी=पृथ्वी । खौर=तिलक, छाप । और=अन्य ।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण के अद्‌भुत मनोहर रूप का, जो उनके नेत्रों ने देखा है, उद्धव से वर्णन कर रही हैं कि हे उद्धव ! यदि हम अपने इन नेत्रों से कृष्ण के उसी रूप के पुनः दर्शन कर लें तो इस संसार में अपने जीवन धारण करने को सच-मुच सफल हुआ मान लें, सार्थक हुआ समझ लें । इसके उपरान्त गोपियाँ कृष्ण के रूप का वर्णन करती हैं कि कृष्ण के खंजन के समान सुन्दर और चंचल नेत्र हमारे हृदय को प्रफुल्लित करने वाले हैं । वे नेत्र कमल, मृग और मछली के समान सुन्दर और मनोहर हैं । उनमें श्वेत, लाल और काले—तीनों रंगों का अद्‌भुत मिश्रण है । अर्थात् उनमें इन तीनों रंगों की अद्‌भुत छटा दिखाई पड़ती है । (पुतली काली होती है, उसके आसपास का भाग श्वेत होता है, तथा लाल डोरे होते हैं । ऐसे नेत्र मोहक माने जाते हैं ।)

नेत्रों के वर्णन के उपरान्त गोपियाँ कृष्ण के कानों में लटकते कुंडलों के सौन्दर्य का वर्णन कर रही हैं कि उनके सुन्दर कानों में रत्नों से जड़े हुए कुंडल लटकते रहते हैं, जिनकी परछाईं उनके गंडस्थल (गर्दन) तथा कपोलों पर झलकती रहती है । उनके कारण ऐसा सौन्दर्य उत्पन्न होता है—मानो सूर्य दर्पण में अपना प्रति-

बिम्ब ढूँढ़ रहा हो और उससे ऐसी शोभा उत्पन्न हो रही हो। यहाँ कुंडल सूर्य तथा दर्पण कपोल और गंडस्थल के समान हैं। जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ कर सतरंगा हो उठता है, वैसे ही विभिन्न प्रकार के रंगों वाले रत्नों से जटित कुंडलों का प्रतिबिम्ब गंडस्थल और कपोलों पर पड़ सतरंगा बन अद्भुत छवि उत्पन्न कर रहा है। गंडस्थल और कपोल दर्पण के ही समान स्वच्छ और चिकने हैं, इसी कारण उन पर पड़कर कुंडलों की परछाईं प्रतिबिम्बित हो उठती है।

कृष्ण अधरों पर मुरली रख, उसको बजाने के प्रयत्न में अपनी भौंहें टेढ़ी कर जब त्रिभंगी मुद्रा में खड़े होते हैं तो उनकी वह त्रिभंगी छवि हतारे मन को मोह लेती है। (मुरली बजाते समय गर्दन, कमर और पैर तिरछी मुद्रा में रहते हैं, इसी कारण उसे त्रिभंगी—तीन जगह से टेढ़ी छवि कहा जाता है।) कृष्ण के वक्षस्थल पर पड़ी मोतियों की माला ऐसा सौन्दर्य उत्पन्न करती है, मानो पर्वत के नीले शिखर से उतर गंगा धरती पर आ गई हो। (यहाँ नीली ग्रीवा नील शिखर, मोतियों की माला सफेद रंग की गंगा तथा विस्तृत वक्षस्थल सपाट धरती के समान है।) हम कृष्ण के अन्य वेश का वर्णन और कहाँ तक करें! केसर के तिलकों से शोभायमान उनके सम्पूर्ण अंग देते ही बनते हैं। अर्थात् उनका वर्णन नहीं किया जा सकता, उनके सौन्दर्य का ज्ञान तो उन्हें देखने पर ही होता है। उस सौन्दर्य का वर्णन करना इसलिए असम्भव है, क्योंकि उन्हें देखते तो नेत्र हैं जो वर्णन नहीं कर सकते, और वर्णन करती है जिह्वा जो देख नहीं सकती। इन दोनों इन्द्रियों की इसी अपूर्णता और विषमता के कारण ही उस सौन्दर्य का वर्णन करना असम्भव है, क्योंकि एक की अनुभूति का वर्णन दूसरा करने में असमर्थ रहता है। गोपियों के कहने का वास्तविक भाव यह है कि कृष्ण का सौन्दर्य अनिर्वचनीय है।

विशेष—(१) सम्पूर्ण पद में कृष्ण के अनिर्वचनीय अनिन्द्य सौन्दर्य का वर्णन किया गया है और यह भाव व्यक्त किया गया है कि ऐसे सौन्दर्य का दर्शन कर लेने पर अपने इस सांसारिक जीवन को सफल हुआ समझना चाहिए।

(२) अन्तिम पंक्ति का भाव तुलसी में दो प्रकार से अभिव्यक्त हुआ मिलता है—

"अबस देखिए देखन जोगू।" तथा **"गिरा अनयन नयन बिनु वाणी।"**

(३) 'रुचिर·······अरु कारे'—पंक्ति में तीन रंगों के मिश्रण के भाव से मिलता-जुलता रसलीन कवि का एक अत्यन्त प्रसिद्ध दोहा है—

"अमिय हलाल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवहिं इकबार॥"

(४) 'लोचन····हमारे' में लुप्तोपमा; 'रुचिर····कारे' में क्रमालंकार; 'मनु····पाई' में वस्तूत्प्रेक्षा; तथा 'धरनी····गंग' में पूर्णोपमा अलंकार हैं।

राग नट

नयनन नंदनंदन ध्यान।
तहाँ लै उपदेश दीजै जहाँ निरगुन ज्ञान ॥
पानिपल्लव-रेख गनि गुन-अवधि बिधि-बँधान।
इते पर कहि कटुक बचनन हनत जैसे प्रान ॥
चंद्र कोटि प्रकास मुख, अवतंस कोटिक भान।
कोटि मन्मथ वारि छबि पर निरख दीजित दान ॥
भृकुटि कोटि कुदण्ड रुचि अवलोकनी संधान।
कोटि बारिज बंक नयन कटाच्छ कोटिक बान ॥
कंबु ग्रीवा रतनहार उदार उर मनि जान।
आजानुबाहु उदार अति कर पद्म सुधानिधान ॥
स्याम तन पटपीत की छबि करै कौन बखान ?
मनहु निर्तत नील घन में तड़ित अति दुतिमान ॥
रासरसिक गोपाल मिलि मधु अधर करती पान।
सूर ऐसे रूप बिनु कोउ कहा रच्छक आन ? ॥७३॥

शब्दार्थ—गनि=गिनकर, समझ कर। गुन-अवधि=सर्वगुण-सम्पन्न। बिधि-बँधान=ब्रह्मा की रचना। इते पर=इतने पर भी। हनत=मारते हो। अवतंस=कुण्डल,मुकुट। भान=भानु, सूर्य। मन्मथ=कामदेव। दीजित=दिया है। कुदंड=कोदण्ड, धनुष। अवलोकनी=चितवन। संधान=धनुष की प्रत्यंचा खींचना। बारिज=कमल। कंबु=शंख। उदार उर=विस्तृत वक्षस्थल। मनि=मणियों की माला। आजानुबाहु=घुटनों तक लम्बी भुजाएँ। सुधानिधान=अमृत सागर। निर्तत=नृत्य करती हुई। तड़ित=बिजली। दुतिमान=द्युतिमान, प्रकाशमान। आन=अन्य।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव के नीरस निर्गुण ब्रह्म की तुलना में अपने अद्‌भुत, अनिन्द्य सौन्दर्यशाली प्रियतम कृष्ण के रूप का वर्णन कर, मानो यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रही हैं कि ऐसी रूपराशि के सामने तुम्हारे इस अरूप, नीरस ब्रह्म को यहाँ कौन स्वीकार करेगा ? वह उद्धव से कहती हैं कि—

हे उद्धव ! हमारे ये नेत्र सदैव नन्दनन्दन का ही ध्यान करते रहते हैं। उन्हें अन्य कोई भाता ही नहीं है। इसलिए तुम अपने निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान का प्रचार वहीं जाकर करो जहाँ इस ज्ञान के पारखी लोग रहते हों। तुम्हारा ब्रह्म तो गुणहीन (निर्गुण) है, परन्तु हम अपनी पत्तों के समान कोमल हथेली की रेखाओं को गिन-गिन कर ब्रह्मा द्वारा निर्मित अपने उस भाग्य पर गर्वित होती रहती हैं, जिसके कारण हमें

ऐसे सर्वगुण-सम्पन्न (गुणों की सीमा) हमारे प्रियतम कृष्ण मिले। अथवा हम अपनी हस्तरेखाओं को गिन-गिनकर विधाता के इस भाग्य-लेख पर आश्चर्य करती रहती हैं कि सर्वगुण-सम्पन्न कृष्ण अवधि बीत जाने पर भी लौटकर क्यों नहीं आए ? हम तो उनके वियोग के कारण पहले से ही दुःखी थीं। इतने पर भी तुम (हम पर तरस न खाकर) कृष्ण को भूल जाने के कठोर वचन कह-कहकर हमारे प्राणों को मारे डाल रहे हो। हमें और अधिक दुःखी कर रहे हो। हमारे प्राणों के प्राण कृष्ण को हमसे छीन लेना चाहते हो।

हमारे कृष्ण इतने सुन्दर हैं कि उनके मुख की कान्ति करोड़ों चन्द्रमाओं के सम्मिलित प्रकाश के समान उज्ज्वल और शान्तिदायक है। और उनके मुकुट (अथवा कुण्डलों) का प्रकाश करोड़ों सूर्य के प्रकाश के समान देदीप्यमान है। कृष्ण की छवि (सौन्दर्य) पर करोड़ों कामदेवों को न्यौछावर किया जा सकता है। उनकी उस छवि को देखकर ही हमने उन पर अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है। उनकी भृकुटियाँ करोड़ों धनुषों के समान बंकिम (धनुषाकार झुकी हुई) और सुन्दर हैं। और उनकी चितवन धनुष की खिंची हुई प्रत्यंचा को देख देखने वाले भयभीत व स्तम्भित हो उसकी ओर टकटकी लगाते हैं वैसे ही कृष्ण की उस मोहक चितवन को देख, देखने वाले ठगे से खड़े रह जाते हैं।) उनके बाँके नेत्र करोड़ों कमलों के समान सुन्दर हैं। और उन नेत्रों के कटाक्ष करोड़ों बाणों के समान मर्मभेदी और घायल कर देने वाले हैं।

उनकी शंख के समान सुन्दर ग्रीवा (गर्दन) में रत्न-जटित हार शोभायमान है और उस हार में नीचे लटकती हुई मणि (कौस्तुम्भ मणि) उनके विशाल वक्षस्थल पर शोभित है। उनकी घुटनों तक लम्बी भुजाएँ अत्यन्त उदार अर्थात् सबकी सहायता करने वाली हैं। और उनके कमल के समान सुन्दर हाथ अमृत के सिन्धु के समान सबको जीवन-दान देने वाले अर्थात् रक्षा करने वाले हैं। पीताम्बर (पीला रेशमी वस्त्र) धारण किए हुए उनके साँवले शरीर की शोभा का कौन वर्णन कर सकता है ! अर्थात् वह अनिर्वचनीय है। उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है—मानो अत्यन्त प्रकाशमान विद्युत (बिजली) नीले बादल में नृत्य कर रही हो। (यहाँ हवा से फरफराता पीताम्बर चंचल चमकती बिजली, तथा कृष्ण का साँवला शरीर काले मेघ के समान है।

हम ऐसे ही अद्भुत शोभाशाली, रास क्रीड़ा करने के प्रेमी गोपाल कृष्ण के साथ मिलकर उनके अधरामृत का पान किया करती थीं। हे उद्धव ! अब तुम्हीं बताओ कि ऐसे अद्भुत रूप वाले कृष्ण के अतिरिक्त कोई दूसरा हमारी रक्षा कैसे कर सकता है ! इसीलिए हम ऐसे कृष्ण को त्याग तुम्हारे निराकार निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार नहीं कर सकतीं। हमारे इस वियोग के दुःख को तो केवल हमारे वही कृष्ण दूर कर सकते हैं, अन्य कोई भी नहीं।

विशेष—(१) कृष्ण के सर्वाङ्ग-सुन्दर रूप का प्रभावशाली वर्णन किया गया

है । कृष्ण अद्भुत सौन्दर्यशाली होने के साथ-साथ सबके रक्षक और सहायक भी हैं । उनकी तुलना में निर्गुण ब्रह्म हेय है ।

(२) इस पद में विभिन्न अलङ्कारों का सुन्दर-सफल प्रयोग कर सूर ने मानो सौन्दर्य को साकार-सा रूप प्रदान कर दिया है । इसमें निम्नलिखित अलङ्कार आये हैं—

'चन्द्र····भान' में उपमा; 'कोटि मन्मथ·······दान' में प्रतीप; 'भृकुटि·······बान' में सांगरूपक; 'कम्बु ग्रीवा' में वाचक लुप्तोपमा; 'मनहु·········दुतिमान' में वस्तूत्प्रेक्षा ।

राग जैतश्री

देन आए ऊधो मत नीको ।
आवहु री ! सब सुनहु सयानी, लेहु न जस को टीको ।।
तजन कहत अम्बर, आभूखन, गेह नेह सब ही को ।
सीस जटा, सब अंग भस्म, अति सिखवत निर्गुन फीको ।।
मेरे जान यहै जुवतिन को, देत फिरत दुख पी को ।
तेहि सर-पंजर भए स्याम तन, अब न गहत डर जी को ।।
जाकी प्रकृति परी प्रानन सों, सोच न पोच भली को ।
जैसे सूर ब्याल डसि भाजत, का मुख परत अमी को ? ।।७४।।

शब्दार्थ—नीको=अच्छा । तजन=छोड़ने के लिए । अम्बर=वस्त्र । यहै =यही । पी=प्रियतम । सर-पंजर=वाणों का घेरा, समूह । पोच=बुरी । भली= अच्छी । ब्याल=सर्प । अमी=अमृत ।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव को, उनके योग-उपदेश के कारण, स्वभाव से ही हत्यारा घोषित करती हुईं, आपस में कह रही हैं कि हे सखी ! ये उद्धव हमें बड़ा अच्छा उपदेश देने यहाँ आए हैं । हे चतुर सखियो ! तुम सब यहाँ आकर इनकी बातों को सुनकर यश का टीका क्यों नहीं ले लेतीं ? (यहाँ काकुवक्रोक्ति से यह ध्वनि निकलती है कि तुम इनकी बातें सुनकर और उन्हें स्वीकार कर कहीं इस यश की अधिकारिणी मत बन जाना कि तुमने कृष्ण को त्याग निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लिया था ।) अर्थात् इनकी बातें सुनकर इनका सत्संग करने का यश अर्जित क्यों नहीं कर लेतीं ? यह हमसे कहते हैं कि हम वस्त्र, आभूषण, घर और प्रेम-भावना आदि सबको त्याग दें । और शीस पर जटा तथा सारे अंगों पर भस्म लगा लें । ये हमें ऐसे ही अत्यन्त निर्गुण ब्रह्म को अपना लेने की शिक्षा दे रहे हैं । मुझे तो ऐसा लगता है कि यही वह व्यक्ति है जो युवतियों को उनके प्रियतमों के वियोग का दुःख देता फिरता है । अर्थात् यही युवतियों के पतियों को योग का उपदेश दे, उन्हें अपनी पत्नियों से अलग कर उन्हें वियोग का दुःख देता रहता है । अथवा यह युवतियों को

योग की शिक्षा दे उन्हें अपने पतियों के प्रति विरक्त बना, पतियों को पत्नियों के वियोग के दुःख से पीड़ित करता फिरता है।

यह अपना यह काम अपने उपदेश रूपी वाणों द्वारा किया करते हैं। उन्हीं उपदेश रूपी वाणों (वाण काले रंग के होते हैं) के समूह के कारण इनका (उद्धव का) शरीर काला पड़ गया है। अर्थात् इनके पास इन उपदेश रूपी काले वाणों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, इसीलिए इन वाणों से ढका इनका शरीर काला दिखाई देता है। इन वाणों के कारण ही अब इनको किसी पर भी प्रहार करने में तनिक भी भय नहीं लगता। ये स्वयं को अजेय मानते हैं। बात यह है कि जिसका स्वभाव उसके प्राणों में समा जाता है अर्थात् पक्का स्वभाव बन जाता है, वह व्यक्ति अपने उस स्वभाव के अनुसार ही कार्य करता है और उसे करते समय वह कार्य के भले या बुरे होने की परवाह नहीं करता। उससे उसे लाभ हो या न हो, वह इसकी चिन्ता नहीं करता। जैसे सर्प का यह जन्मजात स्वभाव होता है कि वह दौड़कर दूसरों को डस लेता है। क्या ऐसा करने से उसके मुख में अमृत पड़ जाता है या उसे डसने में अमृत का-सा स्वाद मिलता है? परन्तु उसका स्वभाव ही ऐसा होता है, इसी कारण वह ऐसे व्यर्थ के काम करता है, जिससे उसे स्वयं तो काई लाभ नहीं होता, परन्तु दूसरों की जान चली जाती है।

ऐसा ही क्रूर स्वभाव इन उद्धव का है। ये अपने स्वभाव से विवश होकर ही दूसरों को प्रिय-वियोग का दुःख देते फिर रहे हैं, यद्यपि इससे इन्हें स्वयं कुछ भी लाभ नहीं होता।

विशेष—(१) गोपियाँ उद्धव को स्वभाव से क्रूर सिद्ध कर उन पर व्यंग्य कर रही हैं।

(२) 'तैन····टीको' में विपरीत लक्षण; 'जैसे····अमी को' में दृष्टान्त; तथा 'मेरे····पी को' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

राग सारंग

प्रीति करि दीन्हीं गरे छुरी।
जैसे बधिक चुगाय कपटकन, पाछे करत बुरी।।
मुरली मधुर चेंप कर, काँपो, मोरचन्द्र ठटवारी।
बंक बिलोकन लूक लागि बस, सकी न तनहिं सम्हारी।।
तलफत छाँड़ि चले मधुबन को, फिरि कै लई न सार।
सूरदास वा कलप-तरोवर, फेरि न बैठी डार।।७५।।

शब्दार्थ—कन=अनाज के दाने। बुरी=बुराई, बुरी हालत। काँपो=कम्पा, नोंक पर लासा लगा हुआ चिड़ियों को चिपकाकर पकड़ने वाला बाँस। मोरचन्द्र=मोर के पंख जिन पर चन्द्रमा-सा बना रहता है। ठटवारी=टटिया। लूक लागि=

आग लग जाने के कारण। तनहि=शरीर को। फिरि कै=लौटकर। सार=खबर। कलप-तरोवर=कल्पवृक्ष।

भावार्थ—कृष्ण ने पहले तो गोपियों के प्रति अपना प्रगाढ़ प्रेम प्रदर्शित किया और फिर एकाएक उन्हें त्यागकर मथुरा चले गए और वहाँ से निर्गुण-उपासना का सन्देश भेज दिया। गोपियाँ प्रेम के क्षेत्र में कृष्ण द्वारा किए गए इस विश्वासघात से उत्पन्न वेदना का उद्धव से उल्लेख करती हुई कह रही हैं कि—

कृष्ण ने हमारे प्रति प्रेम प्रदर्शित कर हमारे गले पर छुरी चला दी है; हमारी हत्या कर डाली है। उन्होंने हमारे साथ वैसा ही व्यवहार किया है, जैसे बहेलिया पहले तो कपट कर पक्षियों को चुगने के लिए दाना डालता है और फिर उन्हें पकड़ कर उसकी बुरी गति बनाता है। अर्थात् कृष्ण ने पहले तो हमें अपने प्रेम के कपट-जाल में फाँस लिया और फिर हमें अपने वियोग में तड़पता हुआ छोड़ मर्मान्तिक पीड़ा पहुँचा रहे हैं। उन्होंने मुरली के मधुर स्वर रूपी लासा (चिपकाने वाला पदार्थ) को अपने हाथ रूपी बाँस पर लगाकर कम्पा बनाया और फिर मयूरपंखों के मुकुट की टटिया बना उसके पीछे छिपकर हम गोपियों रूपी चिड़ियों को अपने प्रेम-जाल में फाँस लिया। और फिर अपनी तिरछी चितवन रूपी आग में हमें दग्ध होने के लिए डाल दिया। अर्थात् अपनी तिरछी चितवन द्वारा हमारे हृदय में प्रेम की ज्वाला-सी फूँक दी। और प्रेम की इस ज्वाला के कारण हम अपना होश-हवास खो बैठीं। विवश पक्षी के समान कृष्ण रूपी बहेलिए के पूर्णतः वश में हो गई।

फिर कृष्ण ने यह किया कि जिस प्रकार बहेलिया अपने जाल में फँसे पक्षियों को खाने के लिए आग में तड़पा-तड़पाकर भूनता है, उसी प्रकार कृष्ण हमें अपने वियोग में तड़पता हुआ छोड़कर मथुरा चले गए और फिर कभी भी लौटकर हमारी खोज-खबर तक नहीं ली। इसके बाद हम फिर कभी भी कृष्ण रूपी उस कल्पवृक्ष की डाल पर न बैठ सकीं, कृष्ण का संसर्ग-सुख न प्राप्त कर सकीं। अर्थात् कृष्ण कल्पवृक्ष के समान हमारी सम्पूर्ण मनोकामनाओं को पूर्ण किया करते थे, हमें आश्रय दे हमारी रक्षा करते थे। उनके यहाँ से चले जाने के बाद हमें वह सुख कभी प्राप्त न हो सका। हम आश्रयहीन पक्षियों के समान भकटती फिर रही हैं, क्योंकि उस कृष्ण रूपी कल्प-वृक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी भी वृक्ष पर आश्रय लेना हमारे लिए असम्भव है।

विशेष—(१) सम्पूर्ण पद में बहेलिये की उपमा से पुष्ट सांगरूपक प्रस्तुत किया गया है। कृष्ण का विश्वासघात और निष्ठुरता, साथ ही उनके प्रति गोपियों के असीम, अखंडित अनुराग का मार्मिक चित्रण हुआ है।

(२) इस पद में व्यंग्य न होकर दैन्य मिश्रित उपालम्भ है। दैन्य संचारी है और उसके साथ ही भर्त्सना भी है।

(३) प्रथम पंक्ति में उपमा अलंकार है।

राग धनाश्री

कोउ ब्रज बाँचत नाहिंन पाती ।
कत लिखि लिखि पठवत नँदनँदन, कठिन बिरह की काती ।।
नयन सजल, कागद अति कोमल, कर अँगुरी अति ताती ।
परसत जरै, बिलोकत भीजै, दुहूँ भाँति दुख छाती ।।
क्यों समुझैं ये अंक सूर सुनु, कठिन मदन-सर-घाती ।
देखे जियहिं स्याम सुन्दर के, रहहिं चरन दिनराती ।।७६।।

शब्दार्थ—बाँचत=पढ़ता । पाती=पत्री, पत्र । काती=छुरी । ताती=गर्म । परसत=स्पर्श करते ही । अंक=अक्षर । मदन-सर-घाती=कामदेव के वाणों के समान घातक ।

भावार्थ—कृष्ण की जिस पाती को गोपियाँ—'निरखत अंक स्याम सुन्दर के बार-बार लावति छाती' वाली उतावली के साथ पढ़ने को व्याकुल हो उठी थीं, अब उस पाती को पढ़ना नहीं चाहतीं । क्यों नहीं पढ़ना चाहतीं ? सूरदास यहाँ इसी का स्पष्टीकरण कर रहे हैं । गोपियाँ कहती है कि—

इस ब्रज में कोई भी कृष्ण की पाती नहीं पढ़ता । न मालूम नन्दनन्दन हमारी इस कठोर, दुःखदायी विरहावस्था में छुरी के समान प्राणघातक ऐसी पातियाँ लिख-लिखकर हमारे पास क्यों भेजते हैं ? इस पाती को पढ़ना हमारे लिए इसलिए और भी असम्भव हो रहा है क्योंकि इसका कागज अत्यन्त कोमल है, हमारे नेत्रों में आँसू भरे हुए हैं और वियोग की अग्नि के कारण हमारे हाथ की उँगलियाँ गर्म हो रही हैं। यदि हम उँगलियों से इसे छूती हैं तो यह पाती छूते ही जलने लगती है, नेत्रों से इसकी ओर देखती हैं तो आँसू गिरने से भीग जाती है । इस प्रकार दोनों ही दशाओं में इसे न पढ़ सकने के कारण हमारे हृदय को बहुत दुःख हो रहा है । हे सखी ! सुन ! हम कृष्ण के लिखे इन अक्षरों को कैसे समझें, क्योंकि ये अक्षर हमें कामदेव के कठोर वाणों के समान प्राणान्तक पीड़ा पहुँचा रहे हैं । अर्थात् अपने प्रियतम कृष्ण द्वारा लिखे हुए इन अक्षरों को देख हमारे हृदय में प्रियतम की स्मृति भयंकर काम-भावना उत्पन्न कर हमें अत्यधिक दुःख पहुँचा रही है । हम तो श्यामसुन्दर कृष्ण को देखकर तथा रात-दिन उनके चरणों में ही पड़ी रहकर जीवित रह सकती हैं ।

विशेष—(१) पाँचवीं पंक्ति में लुप्तोमा अलंकार है।
(२) 'नयन सजल····छाती', में अक्रमत्व दोष है ।

राग जैतश्री

मुकुति आनि मंदे में मेली ।
समुझि सगुन लै चले न ऊधो ! ये सब तुम्हरे पूँजि अकेली ।।

कै लै जाहु अनत ही बेचन, कै लै जाहु जहाँ विष-बेली ।
याहि लागि को मरै हमारे, बृन्दाबन पायँन-तर पेली ।।
सीस धरे घर-घर कत डोलत, एकमते सब भई सहेली ।
सूर वहाँ गिरिधरन छबीलो, जिनकी भुजा अंस गहि मेली ।।७७।।

शब्दार्थ—मंदे=सस्ता बाजार । मेली=उतारी । पूँजि=पूँजी, मूलधन । पायन-तर=पैरों के नीचे कुचल दिया । एकमते=एकमत । अंस=कन्धा । मेली=रख ली ।

भावार्थ—गोपियाँ अपनी दैन्य-भावना, कातरता और विरह-व्याकुलता को त्याग पुनः उद्धव के योग-सन्देश और उससे प्राप्त मुक्ति पर व्यंग्य बाण छोड़ने लगती हैं। वे उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव ! तुमने अपना यह मुक्ति का सौदा यहाँ मन्दे बाजार में आकर उतारा है। अर्थात् तुम्हें यहाँ इसका कोई भी ग्राहक नहीं मिलेगा। ऐसा लगता है कि तुम वहाँ से सगुन विचार कर (अच्छी सायत देखकर) नहीं चले थे, इसीलिए यह यहाँ नहीं बिकेगी। तुम्हारे पास यही तो एकमात्र छोटी-सी पूँजी है। अर्थात् यदि यह यहाँ नहीं बिकी तो फिर तुम्हारा क्या हाल होगा ? छोटी-सी पूँजी डूब जाने से तुम्हारा दिवाला निकल जायगा। इसलिए ऐसा करो कि या तो इसे किसी दूसरे स्थान पर बेचने के लिए ले जाओ, या फिर वहाँ ले जाओ जहाँ वह विष की बेल अर्थात् हमारी-तुम्हारी दोनों की मुसीबत की जड़ कुब्जा रहती है। (गोपियों को सन्देह है कि उद्धव द्वारा यह योग-सन्देश कुब्जा का ही भेजा हुआ है, न कि कृष्ण का। इसी कारण वे उसे विष-बेल कह रही हैं।) वह तुम्हारी इस मुक्ति का महत्त्व समझती है, इसलिए इसे खरीद लेगी।

यहाँ वृन्दावन में कौन इसके लिए अपनी जान खपाए। यहाँ तो इसे पैरों के नीचे कुचल दिया जाता है। अर्थात् यहाँ सब इसे अत्यन्त तिरस्कृत समझते हैं। तुम इसके बोझ को अपने सिर पर रखे घर-घर क्यों घूमते-फिरते हो ? यहाँ इसे कोई भी नहीं खरीदेगा। क्योंकि हम सारी सखियाँ इस बात में एकमत हो गई हैं कि इसे न खरीदा जाय। वह अद्भुत सौन्दर्यशाली गिरिवरधारी कृष्ण तो वहीं तुम्हारी मथुरा में ही हैं, जिनकी भुजा को (उस कुब्जा ने) अपने कन्धे पर रख लिया है। अर्थात् कृष्ण सदैव कुब्जा के गले में बाँहें डाले उसी के प्रेम में रंगरेलियाँ करते रहते हैं। वही दोनों तुम्हारी इस मुक्ति के महत्त्व को समझकर खरीद लेंगे। भाव यह है कि अत्यधिक भोग के उपरान्त ही विरक्ति की भावना उत्पन्न होती है और व्यक्ति सब-कुछ त्याग संन्यासी बन जाना चाहता है। कृष्ण और कुब्जा भोगी हैं, इसलिए इस मुक्ति की जरूरत उन्हें ही है। गोपियाँ तो वैसे ही विरह में संन्यासिनी-सी बनी, सम्पूर्ण भोगों से विरक्त, उदासीन रहती हैं। वे इस मुक्ति को लेकर क्या करेंगी ?

विशेष—(१) इस पद में कुब्जा और कृष्ण पर गोपियों द्वारा गहरा कटाक्ष किया गया है। साथ ही मुक्ति को हेय और तिरस्कृत घोषित किया गया है : और इस सबके माध्यम से बेचारे उद्धव की कसकर दुर्गत की गई है।

(२) अन्तिम पंक्ति में यदि 'गिरिधरन' के स्थान पर 'गिरिधर न' पाठ माना जाय तो इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा—

वहाँ अर्थात् तुम्हारी मुक्ति में हमारा छबीला गिरिवरधारी कृष्ण नहीं मिलेगा, जिसकी भुजाओं को अपने कन्धे पर रख हमने उसके आलिंगन का सुख प्राप्त किया था।

राग कान्हारी

हम, अलि, गोकुलनाथ अराध्यो।
मन-बच-क्रम हरि सों धरि पतिव्रत, प्रेमयोग-तप साध्यो॥
मातु-पिता हित-प्रीति निगम-पथ, तजि दुख-सुख-भ्रम नाख्यो।
मानऽपमान परम परितोषी, अस्थिर थित मन राख्यो॥
सकुचासन, कुलसील परस करि, जगतबंद्य करि बन्दन।
मानऽपवाद पवन-अवरोधन, हित-क्रम काम-निकन्दन॥
गुरुजन-कानि अगिनि चहुँदिसि, नभ-तरनि-ताप बिनु देखे।
पिवत धूम-उपहास जहाँ तहँ, अपजस श्रवन-अलेखे॥
सहज समाधि बिसारि बपु करी, निरखि निमेख न लागत।
परम ज्योति अतिअंग-माधुरी, धरत यहै निसि जागत॥
त्रिकुटी सँग भ्रू-भंग तराटक, नैन-नैन लगि लागे।
हँसन प्रकास, सुमुख कुंडल मिलि, चंद्र सूर अनुरागे॥
मुरली अधर श्रवन धनि सो, सुनि अनहद सब्द प्रमाने।
बरसत रस रुचि-बचन-संग, सुख-पद-आनंद-समाने॥
मंत्र दियो मनजात भजन लगि, ज्ञान ध्यान हरि ही को।
सूर, गुरु कहौं, कौन करै अलि, कौन सुनै मत फीको? ॥७८॥

शब्दार्थ—अराध्यो=आराधना की। निगम-पथ=वेदों द्वारा निर्धारित मार्ग। नाख्यो=लाँघा, पार किया। परितोषी=सन्तोषी। थित=स्थित, स्थिर। सकुचासन=संकोच का आसन। परस करि=स्पर्श कर। काम-निकन्दन=काम-भावना पर विजय प्राप्त की। कानि=लज्जा, मर्यादा। तरनि=सूर्य। बपु=शरीर। निमेख=निमिष, पल। त्रिकुटी=त्रिकूट-चक्र, दोनों भौंहों के बीच का स्थान। तराटक=त्राटक, योग के छः कर्मों में से एक, टकटकी बाँधकर किसी एक बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित करना। मनजात=कामदेव। अलेखे=सुनी-अनसुनी कर देना। समाने=समा जाना, लीन हो जाना।

भावार्थ—गोपियाँ अपनी कृष्ण की आराधना को किसी भी योग-साधना से

कम नहीं समझतीं । इसीलिए वे अपनी प्रेम-साधना को योगियों की योग-साधना के समान बताती हुईं उद्धव से कहती हैं कि—

हे भ्रमर ! हमने तो गोकुलनाथ कृष्ण की आराधना की है। हमने मन, वचन और कर्म (मनसा-वाचा-कर्मणा) से कृष्ण के प्रति पातिव्रत-धर्म धारण कर प्रेम रूपी योग की साधना और तपस्या की है । जिस प्रकार योगी संसार के सम्पूर्ण बन्धनों से स्वयं को मुक्त कर सुख-दुःख के भ्रम से मुक्त हो, समरसता की स्थिति में स्थित हो तपस्या करता है, उसी प्रकार हमने भी अपने माता-पिता और अन्य हितैषियों के प्रेम को, तथा लोक और शास्त्र के पथ (मर्यादा) को त्यागकर सुख-दुःख और भ्रम—तीनों की अवस्थाओं को पार कर लिया है । अथवा हमने योगियों के ही समान माता-पिता-हितैषियों की प्रीति, वेद-शास्त्र के मार्ग तथा माया-जनित सुख-दुःख को भ्रम मान कर त्याग दिया है । और इस प्रकार योगियों के समान निर्द्वन्द्वावस्था (समरसता) की स्थिति को प्राप्त कर लिया है । हम मान या अपमान—दोनों ही अवस्थाओं में पूर्ण सन्तोष का अनुभव करती हैं, उनसे विचलित नहीं होतीं । इस प्रकार हमने अपने अस्थिर (चंचल) मन को इतना स्थिर (कृष्ण-प्रेम में एकाग्र) कर लिया है कि हम पर इस मान या अपमान का कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

जिस प्रकार योगी आसन बिछाकर बैठता है, जल को हाथ में लेकर आचमन करता है और फिर संसार के पूज्य भगवान की वन्दना करता है, उसी प्रकार हमने भी संकोच को अपना आसन बनाया है अर्थात् सारे संसार से विरक्त हो, संकुचित होकर अपने को केवल कृष्ण तक ही सीमित कर रखा है, कुल और शील का हमने आचमन कर लिया है; अर्थात् कुल और शील की भावना को आत्मसात् कर नष्ट कर दिया है । और इस प्रकार हम संसार के पूज्य कृष्ण की वन्दना करती रहती हैं । जिस प्रकार योगी प्राणायाम साधकर काम-भावना को पूर्णतः नष्ट कर देता है, उसी प्रकार हम भी मान या अपमान (प्रशंसा और बुराई) रूपी हवा को अपने पास तक नहीं फटकने देतीं, उनका हम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, चाहे कोई आदर करे या बुराई करे । हमने कृष्ण के साथ जो काम-क्रीड़ाएँ की थीं, उनके द्वारा हमने अपनी काम-भावना पर विजय प्राप्त कर ली है । अर्थात् हमने स्नेह-भावना द्वारा काम-भावना को नष्ट कर दिया है ।

जिस प्रकार योगी पंचाग्नि में तप कर तपस्या करते हैं, हम भी उसी प्रकार तपस्या कर रही हैं । इसके लिए हमने गुरुजनों की मर्यादा रूपी अग्नि अपने चारों ओर जला रखी है । अर्थात् हम गुरुजनों की मर्यादा का पूर्ण पालन करती हुईं कभी भी कोई उच्छृंखल व्यवहार नहीं करतीं । जिस प्रकार योगी पाँचवीं अग्नि (सूर्य-ताप) को झेलता हैं, उसी प्रकार हम भी कृष्ण को न देख पाने के कारण उत्पन्न वियोग की अग्नि में दग्ध होती रहती हैं । जिस प्रकार योगी पंचाग्नि से उत्पन्न धुएँ का पान करता है, उसी प्रकार हम भी संसार द्वारा किए जाने वाले अपने उपहास के कड़वे धुएँ का पान किया करती हैं । अर्थात् उस उपहास को सहन कर लेती हैं । जिस प्रकार

योगी अपने मन को पूर्णतः एकाग्र कर किसी भी होने वाली ध्वनि को नहीं सुनता, अपने सुनने की शक्ति को अवरुद्ध कर लेता है, जिससे उसका ध्यान भंग न हो, उसी प्रकार हम भी संसार में फैले अपने अपयश को नहीं सुनतीं, उसकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देतीं कि कौन हमारे सम्बन्ध में क्या कहता फिरता है।

जिस प्रकार योगी अपना ध्यान सम्पूर्णतः ब्रह्म में एकाग्र कर सहज रूप से समाधिस्थ हो जाता है या सहज-समाधि की अवस्था में पहुँच जाता है, उसी प्रकार हम भी अपने शरीर की सारी सुध-बुध खोकर कृष्ण के ध्यान में डूबी रहती हैं। और टकटकी बाँधे अपने प्रियतम के मुख को ही अपनी स्मृति द्वारा देखती रहती हैं। पल-भर को भी हमारी पलकें नहीं झपतीं, बन्द नहीं होतीं। जिस प्रकार योगी रात्रि-जागरण करता हुआ उस परम-ज्योति (ब्रह्म) के दर्शन करता रहता है, उसी प्रकार हम भी रात भर जागरण कृष्ण के एक-एक अंग के माधुर्य का ध्यान कर उन्हें ही देखती रहती हैं। अर्थात् हम भी अब योगियों के समान युज्जान अवस्था को पार कर मुक्तावस्था को प्राप्त कर चुकी हैं। योगी त्रिकूट-चक्र में अपने ध्यान को केन्द्रित कर (अनिमेष रूप से वहीं अपनी दृष्टि को केन्द्रित कर) लेते हैं, उसी प्रकार हम भी कृष्ण के भ्रू-भंग (उनके रुख) पर अपना सारा ध्यान केन्द्रित कर यह देखती रहती हैं कि उनका रुख कैसा है, प्रसन्न है या अप्रसन्न। योगी इस स्थिति में अवस्थिति हो त्राटक-मुद्रा धारण कर लेते हैं, पूर्णतः स्थिर हो जाते हैं। उसी प्रकार हम भी अपने नेत्रों को प्रियतम के नेत्रों से मिलाकर टकटकी बाँधे उनके नेत्रों की ओर देखती हुई त्राटक-मुद्रा के ही समान पूर्णतः स्थिर हो जाती हैं।

योगी कुण्डलिनी, इड़ा, पिंगला आदि नाड़ियों को संयमित (वश में) कर सुषुम्ना नाड़ी में होकर छः चक्रों (योग के षट्चक्र) को भेदती हुई ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाती है और उस दशा में साधक को वहाँ परम-ज्योति के दर्शन होते हैं। वहीं पर चन्द्र और सूर्य मिलकर एकाकार हो जाते हैं और परम-ज्योति का प्रकाश विकीर्ण होने लगता है। उसी प्रकार हम भी कृष्ण के सुन्दर मुख रूपी चन्द्र और कानों में पड़े कुंडलों के सम्मिलित प्रकाश से युक्त, अत्यन्त शोभाशाली मुख पर छायी मुस्कान रूपी परम-ज्योति के दर्शन करती रहती हैं। योगी सहज-समाधि में स्थित हो अनहद-नाद को सुनते रहते हैं। उसी प्रकार हम भी कृष्ण के अधरों पर रखी मुरली की मधुर ध्वनि को अपने कानों से सुना करती है। योगी अपनी जिह्वा को उलटकर ब्रह्मरन्ध्र से बरसते हुए अमृतरस का आनन्द लेते हैं। हमें भी कृष्ण के सुन्दर प्रिय वचन सुनने में वैसा ही आनन्द प्राप्त होता है। योगी उस अवस्था में सम्पूर्ण रूप से सुखानुभूति में डूब जाता है। उसी प्रकार हम भी कृष्ण के साथ राग-रंग मचाते समय उसी पूर्ण सुख और आनन्द का अनुभव करती हैं।

योगी किसी गुरु से मंत्र ग्रहण करे योग-साधना करता है और ब्रह्म में ध्यान लगाता है। उसी प्रकार हम भी अपने गुरु कामदेव से कृष्ण-प्रेम का मंत्र ग्रहण कर निरन्तर कृष्ण के ही चिन्तन में लगी रहती हैं। हे भ्रमर! तुम्हीं यह बताओ कि

अपनी ऐसी स्थिति में हम अब अन्य किसी को अपना गुरु कैसे बना लें ? अर्थात् अब हम उद्धव को गुरु बनाकर उनसे योग-मार्ग की दीक्षा क्यों लें ? इसी कारण यहाँ कोई भी तुम्हारे इस नीरस योग-सिद्धान्त को सुनना नहीं चाहता।

विशेष—(१) सम्पूर्ण पद में सांगरूपक अलंकार है, जिसके द्वारा गोपियों की कृष्ण-प्रेम-साधना को योगियों की योग-साधना के समान सिद्ध किया गया है।

(२) अन्तिम पंक्ति में व्यतिरेक अलंकार है।

(३) काव्य में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करना दोष माना गया है। ऐसा करने से वह काव्य सर्वजन सुलभ नहीं रह जाता। इस पद में भी हमें यही दोष मिलता है। इसमें हठयोग के पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग ने इसके अर्थ को क्लिष्ट बना दिया है। हठयोग के पारिभाषिक शब्दों से अपरिचित पाठक के लिए इसका समझना और अर्थ करना असम्भव है। इसलिए ऐसे पदों को श्रेष्ठ-काव्य का रूप नहीं माना जा सकता। ऐसे पद केवल चमत्कार की ही सृष्टि करते हैं, पाठक को रस-विभोर नहीं कर पाते।

राग सारंग

कहिबे जीय न कछु सक राखो।
लावा मेलि दए हैं तुमको, बकत रहौ दिन आखो॥
जाकी बात कहौ तुम हमसों, सो धौं कहौ की काँधी।
तेरो कहो सो पवन भूस भयो, बहो जात ज्यों आँधी॥
कत श्रम करत, सुनत को ह्याँ है, होत जो बन को रोयो।
सूर इते पै समुझत नाहीं, निपट दई को खोयो॥७६॥

शब्दार्थ—सक=शक, सन्देह, कमी। लावा मेलि दए=जादू का टोटका करके पागल बना देना। आखो=पूरा, सारा (गुजराती शब्द है)। काँधी=मानी, अंगीकार की। दई को खोयो=गया-बीता (स्त्रियों की गाली)।

भावार्थ—गोपियों द्वारा बहुत तरह से समझाने और रोकने पर भी जब उद्धव का ज्ञान-चर्चा बन्द नहीं हुआ, वे बराबर योग का उपदेश देते रहे तो गोपियाँ झल्ला उठीं और उनसे कहने लगीं कि—

हे उद्धव ! तुम जो कुछ भी कहना चाहते हो उसे पूरी तरह से कह डालो, जरा-सी भी कसर मत रहने दो। हमें तो ऐसा लगता है कि किसी ने जादू-टोना करके तुम्हें पागल बना दिया है, इसीलिए तुम सारे दिन पागल की तरह बकते रहते हो। (गोपियों को उनकी ब्रह्म-ज्ञान की बातें पागलों की बातों की तरह अनर्गल, व्यर्थ और मूर्खता भरी लगती हैं।) यह बताओ कि तुम हम से अपने जिस निर्गुण ब्रह्म की बातें कर रहे हो उसे किसी ने कभी, कहीं स्वीकार भी किया है ? तुमने इस

सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा है वह तो उसी प्रकार यहाँ से गायब हो गया है, जैसे आँधी चलने पर भूसा उड़ जाता है। वह उसी प्रकार यहाँ से उड़ा जा रहा है। अर्थात् यहाँ तुम्हारी इन बातों का किसी पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। तुम अपनी बात कहने में क्यों इतना परिश्रम कर रहे हो? यहाँ कौन तुम्हारी बात पर ध्यान देता है? तुम्हारा यह सब कहना वैसे ही व्यर्थ है, जैसे निर्जन वन में रोकर किसी को अपनी सहायता के लिए पुकारना। अर्थात् तुम्हारा यह सारा प्रलाप अरण्यरोदन के समान व्यर्थ है। हमें अफसोस तो इस बात का है कि तुम इतने गए-बीते (मूर्ख) हो कि इतना कहने पर भी हमारी बात को नहीं समझ पाते। अर्थात् हमारे इतना कहने पर भी तुम्हारी समझ में यह बात नहीं आती कि हम तुम्हारी बातों को नहीं सुनना चाहतीं।

विशेष—लोकोक्तियों के प्रयोग ने इस पद को रोचक और प्रभावशाली बना दिया है।

राग धनाश्री

अब नीके कै समुझि परी।
जिन लगि हुती बहुत उर आसा सोऊ बात निबरी॥
वे सुफलकसुत, ये सखि! ऊधो मिली एक परिपाटी।
उन तो वह कीन्ही तब हमसों, ये रतन छँड़ाइ गहावत माटी॥
ऊपर मृदु भीतर तें कुलिस सम, देखत के अति भोरे।
जोइ-जोइ आवत वा मथुरा तें, एक डार के से तोरे॥
यह सखि, मैं पहिले कहि राखी, असित न अपने होंहीं।
सूर कोटि जौ माथो दीजै, चलत आपनो गौं हीं॥८०॥

शब्दार्थ—नीके कै=अच्छी तरह से। हुती=थी। निबरी=समाप्त हो गई। परिपाटी=परम्परा। छँड़ाइ=छुड़ाकर, छीनकर। तोरे=तोड़े हुए फल। असित=काले रंग वाले। गौं=गैल, रास्ता। माथो दीजै=सिर मारो, या प्रणाम करो।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव को आया देख इस आशा से भर उठी थीं कि शायद यह कृष्ण के शीघ्र ही आने का सन्देश लाए होंगे। परन्तु जब उद्धव कृष्ण को भुला, निर्गुण ब्रह्म की आराधना करने का बार-बार उपदेश देने लगे तो उनकी उस आशा पर तुषारापात हो गया और वह उद्धव के आने का असली अभिप्राय समझ गईं। इसी भाव को एक गोपी अपनी सखी से व्यक्त कर रही है कि—

हे सखी! अब हमारी समझ में असली रहस्य अच्छी तरह से स्पष्ट हो गया है। इन उद्धव को देखकर हमारे हृदय में जो बहुत बड़ी आशा (कि ये कृष्ण के शीघ्र आने का सन्देश लाए होंगे) लगी हुई थी, अब वह आशा भी समाप्त हो गई। वे अक्रूर और ये उद्धव—दोनों ही एक ही परम्परा के व्यक्ति हैं। अर्थात् इन दोनों का

यहाँ आने का एक ही अभिप्राय रहा है—हमें दुःख देना। उन्होंने (अक्रूर ने) तो हमारे साथ यह चाल चली थी कि हमें शीघ्र ही कृष्ण को लौटा लाने का आश्वासन देकर कृष्ण को यहाँ से लिवा ले गए थे और फिर कृष्ण को यहाँ नहीं लाए। अब ये उद्धव यहाँ आए हैं जो हमसे रत्न के समान अमूल्य हमारे कृष्ण को छोड़कर बदले में मिट्टी के समान तुच्छ अपने निर्गुण ब्रह्म को हमारे सिर पर थोपना चाह रहे हैं। ये लोग ऊपर से देखने पर तो हृदय के कोमल मालूम पड़ते हैं और भीतर से वज्र के समान कठोर होते हैं। देखने में बड़े भोले-भाले से लगते हैं, परन्तु वस्तुतः होते बड़े छली और मक्कार हैं।

उस मथुरा से जो-जो लोग यहाँ आते हैं, सब एक ही डाल से तोड़े हुए फलों के समान एक से ही स्वभाव के होते हैं। अर्थात् एक ही थैली के चट्टे-बट्टे होते हैं। हे सखी ! मैंने तो पहले से ही यह कह रखा था कि—ये काले रंग वाले कभी अपने नहीं हो सकते। (कृष्ण, अक्रूर, उद्धव—सभी काले रंग वालों ने गोपियों को धोखा दिया था।) तुम चाहे इनके साथ लाख माथा-पच्ची करो, इनसे लाख सिर मारो परन्तु ये सदैव चलते अपनी ही चाल हैं। इनकी समझ में अच्छी बातें आती ही नहीं। अथवा तुम इनके सामने बारम्बार शीश झुकाओ, इन्हें प्रणाम कर सम्मान प्रदान करो, परन्तु ये इतने पर भी अपनी मक्कारी से बाज नहीं आते। हमेशा अपने स्वार्थ को साधने का ही प्रयत्न करते रहते हैं।

विशेष—काले रंग वाले लोगों (कृष्ण, अक्रूर, उद्धव) पर गहरा व्यंग्य है। गोपियाँ सब को मक्कार और स्वार्थी सिद्ध कर रही हैं।

राग नट

मोहन माँग्यो अपनो रूप।
या ब्रज बसत अँचै तुम बैठीं, ता बिनु तहाँ निरूप ।।
मेरो मन, मेरो अलि ! लोचन लै जो गए धुपधूप।
हमसों बदलो लेन उठि धाए, मनो धारि कर सूप ।।
अपनो काज सँवारि सूर, सुनु, हमहिं बतावत कूप।
लेवा-देइ बराबर में है, कौन रंक को भूप ।।८१।।

1972

शब्दार्थ—अँचै=आचमन कर बैठीं, पी गईं। निरूप=रूपहीन, निराकार। धुपधूप=दिन-दहाड़े। धारि कर=धारण कर, हाथ में लेकर। सँवारि=बनाकर। लेवा-देइ=लेन-देन। रंक=निर्धन।

भावार्थ—उद्धव द्वारा बार-बार निर्गुण, निराकार की रट लगाए रहने पर कोई गोपी प्रकारान्तर से राधा के कृष्ण-प्रेम की प्रशंसा करती हुई राधा से कह रही है कि हे सखी ! कृष्ण ने उद्धव द्वारा तुमसे अपना वह रूप मँगवाया है जिसे तुमने उस समय पान (आत्मसात्) कर लिया था, जब कृष्ण यहाँ ब्रज में रहते थे। उनका वह

रूप तो अभी तक तुम्हारे ही पास है, इसी कारण वे वेचारे वहाँ मथुरा में बिना रूप वाले (निराकर) हो गए हैं। इसीलिए उन्होंने तुम्हारे पास यह सन्देश भेजा है कि तुम अब निराकर की उपासना करो और उनका रूप उन्हें लौटा दो। राधा उस गोपी की इस बात का उत्तर देती हुई कहती है कि हे सखी! यदि वह अपना रूप वापस माँगते हैं तो मेरा मन भी तो मेरा अपना है। पहले वह मेरे उस मन को लौटा दें जिसे वह दिन-दहाड़े अपनी बाँकी चितवन द्वारा सम्मोहित कर यहाँ से चुरा ले गए हैं। यह अच्छा न्याय रहा कि मेरी चीज तो लौटाते नहीं और अपनी चीज वापस माँग रहे हैं। और एक ये उद्धव हैं कि हमसे बदला लेने के लिए सूप लेकर यहाँ आकर हमारे पीछे पड़ गए हैं। ('सूप हाथ में लेकर किसी के पीछे पड़ जाना' एक ग्रामीण मुहावरा है जिसका अर्थ—हाथ धोकर किसी के पीछे पड़ जाना।) भाव यह है कि यह उद्धव हमारी चीज (मन) तो लौटते नहीं और अपनी चीज (कृष्ण का रूप) लेने के लिए यहाँ सिर चीर रहे हैं, जिद पकड़े हुए हैं। यह सरासर अन्याय है।

इस प्रकार ये उद्धव अपना काम तो बनां लेना चाहते हैं, हमसे कृष्ण का रूप छीन निराकार की उपासना करने के लिए आग्रह कर रहे हैं, और हमें कुएँ में जा गिरने का उपदेश दे रहे हैं। ('बतावत कूप' भी एक ग्रामीण मुहावरा है जिसका अर्थ है कि हमारी ओर से तुम चाहे कुएँ में जा पड़ो, हमें कोई मतलब नहीं।) सच्ची बात तो यह है कि लेन-देन में सब बराबर होते हैं, न कोई राजा होता है और न भिखारी। न्याय की बात यह है कि पहले ये मेरा मन वापस कर दें, तब मैं कृष्ण का रूप भी वापस कर दूँगी।

विशेष—(१) यहाँ राधा द्वारा कृष्ण का रूप आत्मसात् कर लेने में गर्व-संचारी है।

(२) मुहावरों और लोकोक्तियों का सुन्दर प्रयोग है।

(३) 'मनो……सूप' में व्यंग्योक्ति; 'या……निरूप' में हेतूत्प्रेक्षा; तथा सम्पूर्ण पद में परिवृत्ति या विनिमय अलंकार है।

राग मलार

मधुकर रह्यो जोग लौं नातो।
कतहि बकत बेकाम काज बिनु, होय न ह्याँ तें हातो॥
जब मिलि मिलि मधुपान कियो हो, तब तू कहि धौं कहाँ तो।
तू आयो निर्गुन उपदेसन, सो नहिं हमैं सुहातो॥
काँचे गुन लै तनु ज्यों बेधौ, लै बारिज को ताँतो।
मेरे जान गह्यो चाहत हौ, फेरि क मैंगल मातो॥
यह लै देहु सूर के प्रभु को, आयो जोग जहाँ तो।
जब चहिहैं तब माँगि पठैहैं, जो कोउ आवत-जातो॥८२॥

शब्दार्थ—लौं=तक। हातो=दूर, अलग। तो=था। काँचे गुन=कच्चा धागा। बेधौ=बींधना। ताँतो=तन्तु, रेशा। मैगल=हाथी। मातो=मदमत्त। तो=से। आवत-जातो=आता-जाता हुआ व्यक्ति।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव के ज्ञान-योग के उपदेश को बार-बार सुनकर झल्ला उठती हैं और भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव को खूब खरी-खोटी सुनाती हुई कहती हैं कि रे भ्रमर ! यदि एक बार को हम यह मान भी लें कि कृष्ण ने ही तुम्हारे द्वारा हमारे पास यह सन्देश भेजा है तो क्या उनसे हमारा नाता केवल योग तक ही सीमित रहा है ? तुझे वास्तविकता का पता नहीं है। इसलिए तू व्यर्थ ही बिना किसी काम के क्यों बकता चला जा रहा है ! तू यहाँ से दूर क्यों नहीं होता ! उस समय तू कहाँ था जब कृष्ण हमारे साथ काम-क्रीड़ाएँ करते हुए हमारे अधरों का रसपान किया करते थे ? हम उन्हीं मधुर क्रीड़ाओं की स्मृति में इतनी डूबी रहती हैं कि तू यहाँ जो हमें निर्गुण का उपदेश देने आया है, यह हमें नहीं सुहाता। तेरे द्वारा हमसे अपने इस उपदेश को स्वीकार करवा लेना उसी प्रकार असम्भव है, जैसे कोई कच्चा धागा (सूत का डोरा) लेकर शरीर को बेधने का प्रयत्न करे। (कच्चा धागा कमजोर होने के कारण तुरन्त टूट जाता है। उसका शरीर में प्रवेश कराना असम्भव है।) अथवा हमें यह प्रयत्न वैसा ही व्यर्थ प्रतीत होता है जैसे कोई कमल के कोमल तन्तुओं द्वारा मदमस्त हाथी को बाँधकर उसे वश में करने का प्रयत्न कर रहा हो।

इसलिए तू ऐसा कर कि जहाँ से (सूर के प्रभु कृष्ण के पास से) इस योग-सन्देश को लेकर यहाँ आया है, इसे लौटाकर उन्हीं को जाकर सौंप दे। (वही इसका उचित उपयोग कर सकेंगे क्योंकि उन्हें ही भोग-विलास में डूबे रहने के कारण इसकी ज्यादा जरूरत है।) हमें जब कभी इस रोग की जरूरत पड़ेगी, तब किसी मथुरा आने-जाने वाले व्यक्ति द्वारा हम इसे वहाँ से मँगवा लेंगी।

विशेष—(१) अन्तिम पंक्ति में अभिव्यंजित व्यंग्य और उद्धव को किसी भी तरह टालकर पीछा छुड़ा लेने की भावना कलात्मक है।

(२) सम्पूर्ण पद में उपमा तथा 'काँचे····मातो' में निदर्शना अलंकार है।

1976

हरि सों भलो सो पति सीता को।
बन-बन खोजत फिरे बंधु-संग, कियो सिंधु बीता को॥
रावन मार्यो, लंका जारी, मुख देख्यो भीता को।
दूत हाथ उन्हैं लिखि न पठायो, निगम-ज्ञान गीता को॥
अब धौं कहा परेखो कीजै, कुबजा के मीता को।
जैसे चढ़त सबै सुधि भूली, ज्यों पीता चीता को ?
कीन्हीं कृपा जोग लिखि पठयो, निरखु पत्र री ! ताको।
सूरजदास प्रेम कह जानै, लोभी नवनीता को॥८३॥

शब्दार्थ—भलो=अच्छा। बीता=बालिश्त। भीता=भयभीत। मीता=मित्र, स्नेही। पीता=मदिरा पीने वाला। चीता=चैतन्य हुआ। निरखु=देख। ताको—उसका। नवनीता=मक्खन।

भावार्थ—विरहिणी गोपियाँ जब अपने दुःख में कृष्ण द्वारा सहानुभूति का एक भी शब्द न सुन पाईं तो उनके दुःख की सीमा नहीं रही। उनके ध्यान में विरहिणी सीता की स्मृति उदय हो आई, जिनके लिए राम ने इतना भयंकर युद्ध किया था। और इधर इनके कृष्ण हैं, जो उन्हें निराकार की उपासना करने का सन्देश भेज रहे हैं। राम और कृष्ण के इसी अन्तर को बताती हुई गोपी या राधा अपनी सखी से कह रही हैं कि—

इन कृष्ण से तो सीता के पति (राम) कहीं ज्यादा भले और अच्छे थे। राम सीता से वियुक्त हो जाने पर अपने भाई लक्ष्मण को साथ ले, उन्हें वन-वन में खोजते फिरे थे। और जब उन्हें पता लगा कि सीता समुद्र पार लंका में हैं तो उन्होंने अपने महान् पराक्रम द्वारा उस विशाल सागर को इस प्रकार पार कर लिया था, मानो वह बालिश्त भर चौड़ी पानी की नाली हो। समुद्र पारकर उन्होंने रावण का वध किया, लंका को फूँक डाला और अन्त में जाकर रावण के त्रास से भयभीत अपनी प्रियतमा सीता के मुख के दर्शन किए और उन्हें अभय प्रदान किया। राम ने हमारे इन कृष्ण के समान अपने दूत द्वारा सीता के पास शास्त्रीय ज्ञान और गीता का उपदेश सन्देश के रूप में नहीं भेजा था। इसके विपरीत, राम के दूत सीता के पास यह सन्देश लेकर पहुँचे थे कि माता! धैर्य धारण करो। प्रभु शीघ्र ही यहाँ आयेंगे। परन्तु अपने इन कृष्ण के इस निर्दय, असंगत व्यवहार का अब हम परेखा क्यों करें, क्यों बुरा मानकर अपने जी को दुखाएँ, क्योंकि अब तो वह हमारे प्रियतम न रहकर कुब्जा के प्रियतम बन गए हैं। वह इस समय कुब्जा के प्रेम में आकंठ निगग्न हो हम सबको उसी प्रकार भूल गए हैं जैसे मदिरा पीने वाले शराबी को जब मदिरा का नशा चढ़ता है तो फिर उसे अपना होश-हवास (चैतन्यता) नहीं रहता। कृष्ण भी कुब्जा-प्रेम के नशे में सब कुछ भूल बैठे हैं।

हे सखि! उन्होंने हमारे ऊपर कृपा कर यह योग का सन्देश लिख भेजा है। तनिक उनके इस पत्र को तो देख! बात यह है कि जो केवल मक्खन का ही प्रेमी और लालची होता है, वह प्रेम का महत्त्व क्या जाने? भाव यह है कि जिस प्रकार मक्खन को गरम करके उससे घी निकाला जाता है, उसी प्रकार नाना प्रकार के कष्ट सहकर, प्रिय की वियोगाग्नि का ताप झेलकर ही प्रेम जैसी स्निग्ध, सारभूत वस्तु को प्राप्त किया जाता है। कृष्ण ने यह वेदना का ताप नहीं सहा है। वह तो इन्द्रिय-लोलुप कामी व्यक्ति हैं। उन्हें केवल भोग-विलास की ही तृप्ति चाहिए। इसी कारण वह हमें यहाँ बिलखती छोड़, वहाँ कुब्जा के साथ रंगरेलियाँ मनाने में डूब गए हैं। वह प्रेम करना या प्रेम के महत्त्व को क्या जानें?

विशेष—(१) इस पद में अनेक चित्तवृत्तियों के संश्लिष्ट वर्णन के साथ उपालम्भ का सुन्दर चित्रण हुआ है।

(२) राम और कृष्ण के प्रिया-प्रेम का बड़ा मोहक, प्रभावशाली तुलनात्मक वर्णन किया गया है।

(३) असूया संचारी के साथ-साथ 'कीन्हीं····ताको' में मधुर परन्तु तीखा व्यंग्य है।

(४) 'वन-वन' में पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार है।

राग सोरठ

निरमोहिया सों प्रीति कीन्हीं, काहे न दुख होय ?
कपट करि-करि प्रीति कपटी, लै गयो मन गोय ।।
काल मुख तें काढ़ि आनी, बहुरि दीन्हीं ढोय ।
मेरे जिय की सोइ जानै, जाहि बीती होय ।।
सोच, आँखि मँजीठ कीन्हीं, निपट काँची पोय ।
सूर गोपी मधुप आगे, दरकि दीन्हों रोय ।।८४।।

शब्दार्थ—निरमोहिया=निर्मोही । गोय=चुराकर, छिपाकर । ढाय=धकेल दिया । बहुरि=फिरि । मँजीठ=लाल । पोय=रोटी बनाना । दरकि=फूट-फूटकर ।

भावार्थ—कृष्ण के उपेक्षापूर्ण व्यवहार से गोपियों को मर्मान्तिक वेदना हो रही है । जब अपना प्रिय हमारी उपेक्षा करता है तो उसे सदैव सहन कर पाना सम्भव नहीं होता । गोपियों को दुःख है कि उन्होंने कृष्ण जैसे निर्मोही से प्रेम क्यों किया ? वे अपनी इसी पीड़ा को व्यक्त करती हुई कहती हैं कि—

निर्मोही (प्रेम-भावना से रहित) व्यक्ति से प्रेम करने पर किसको दुःख नहीं उठाना पड़ता ? अर्थात् हमने निर्मोही कृष्ण से प्रेम किया, इसी कारण हमें यह दुःख झेलना पड़ रहा है । वह कपटी हमारे साथ ऊपरी प्रेम का कपट-जाल रचकर, थोथा प्रेम प्रदर्शित कर हमारे मन को चुपचाप चुराकर अपने साथ ले गया । उद्धव को यहाँ आया देखकर हमने समझा था कि वह वियोग रूपी काल के मुख से हमारा उद्धार करने के लिए आए हैं । अर्थात् कृष्ण के शीघ्र यहाँ पधारने का सन्देश लेकर आए हैं । परन्तु उन्होंने क्षण भर के लिए हमें काल के मुख से निकालकर (अपने आने की आशा-सी दिलाकर) हमें पुनः उसी काल के मुँह में धकेल दिया है । अर्थात् हमें अपने को भूल जाने और निराकार-उपासना का सन्देश देकर प्राणान्तक दुःख दे रहे हैं । हमारे हृदय की इस मर्म-वेदना को तो केवल वही अनुभव कर सकता है जिसने स्वयं प्रिय-वियोग की इस वेदना को झेला हो । हमें अफसोस तो इस बात का है कि हमने उनके पूर्ण रूप से कच्चे प्रेम को सच्चा (परिपक्व) प्रेम समझ कर उनके

वियोग में रो-रोकर अपनी आँखें मजीठ के रंग की लाल कर रखी हैं; जैसे कच्ची, गीली लड़कियों को फूँक-फूँककर, अपनी आँखें धुएँ से लाल कर कोई रोटी बनाने का प्रयत्न करे।

इतना कहकर गोपियाँ कृष्ण की इस निर्ममता से व्यथित हो उनकी स्मृति कर फूट-फूटकर रो उठीं।

विशेष—(१) अन्तिम पंक्ति में गोपियों की समस्त वेदना साकार हो उठी हैं। इसमें गर्व या उपालम्भ का भाव न होकर अपनी विवशता और असहायावस्था का दैन्य भरा चीत्कार प्रकट हो उठा है।

(२) प्रथम तथा पंचम पंक्ति में लोकोक्ति अलंकार है।

(३) 'मेरे·······होय' से मिलता हुआ भाव मीरा की इस पंक्ति में यथावत् मिलता है—

"घायल की गति घायल जानै, और न जानै कोय।"

राग सारंग

बिन गोपाल बैंरिन भइँ कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भइँ बिषम ज्वाल की पुंजैं॥
बृथा बहति जमुना, खग बोतल, बृथा कमल फूलैं, अलि गुंजैं।
पवन पानि घनसार संजीवनि, दधिसुत किरन भानु भइँ भुंजैं॥
ए, ऊधो, कहियो माधव सों, बिरह कदन करि मारत लुंजैं।
सूरदास प्रभु को मग जोवत, अँखियाँ भईं बरन ज्यों गुंजैं॥८५॥

शब्दार्थ—पुंजैं=समूह। गुंजैं=गुंजार करते हैं। पानि=जल। घनसार=कपूर। दधिसुत=चन्द्रमा। भुंजैं=भूनती हैं। कदन=छुरी। लुंजैं=लुंज-पुंज बना रही हैं। बरन=रंग। गुंजैं=गुंजा।

भावार्थ—यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जो वस्तुएँ संयोगावस्था में सुखदायी होती हैं, वही वियोगावस्था में दुःखदायी हो जाती हैं। गोपियाँ इसी विषमता को अभिव्यक्ति प्रदान करती हुई कह रही हैं—

अब कृष्ण के बिना वे ही (सुखदायक) कुंजें (जिनमें हम उनके साथ रास-क्रीड़ाएँ किया करती थीं) अब हमें शत्रु के सामन दुःख पहुँचा रही हैं। अर्थात् इन्हें देख-देखकर हमें कृष्ण की स्मृति और अधिक सताने लगती है। जब कृष्ण यहाँ थे तब ये लताएँ हमें अत्यन्त शीतल लगती थीं, परन्तु अब उनके बिना ये भयंकर अग्नि-ज्वालाओं के समूह के समान दग्ध करने वाली बन गई हैं। अब ये यमुना वृथा बहती है, खग व्यर्थ बोलते हैं, कमल व्यर्थ फूलते हैं और उन पर भ्रमर व्यर्थ गुंजार करते हैं। अर्थात् अब इन सब बातों को देखकर हमें दुःख ही होता है। हमारे लिए इनकी कोई भी उपयोगिता नहीं रही है। परन्तु पहले, जब कृष्ण यहाँ थे, इन्हीं सबको देख-

कर हम प्रेमानन्द से भर उमंगित हो उठती थीं। संयोगावस्था में वायु, जल, कपूर आदि हमें संजीवन बूटी के समान जीवन-प्रदायक प्रतीत होते थे, परन्तु अब दग्ध करते रहते हैं। उस समय चन्द्रमा की शीतल किरणें हमें सुख और शान्ति प्रदान करती थीं परन्तु अब ग्रीष्मकालीन सूर्य की उत्तप्त किरणों के समान भूनने वाली बन गई हैं।

हे उद्धव ! तुम माधव से जाकर यह कहना कि तुम्हारा विरह बधिक के समान छुरी से गोद-गोदकर हमारे अंग-प्रत्यंगों को लुंज-पुंज (अशक्त, प्राणहीन) किए दे रहा है, हमें मारे डाल रहा है। कृष्ण का मार्ग देखते-देखते हमारी आँखें गुंजा के समान लाल पड़ गई हैं।

विशेष—(१) इस पद में प्रकृति का उद्दीपन-रूप चित्रित हुआ है। संयोगावस्था की सुखदायक प्रकृति वियोगावस्था में गोपियों को दुःख दे रही है। किसी ने कहा है—

"जोइ जोइ सुखद, दुखद अब सोइ सोई।"

तुलसी के विरही राम को भी सीता-विरह में प्रकृति की इसी विषमता का अनुभव हुआ था। जैसे—

"कहेउ राम वियोग तब सीता। मो कहँ सकल भए विपरीता॥
नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू। काल निसा सम निसि ससि भानू॥
जे हित रहे करत तेइ पीरा। उरग स्वास सम त्रिविध समीरा॥"

(२) अतिशयोक्ति और उपमा अलङ्कार हैं।

राग नट

संदेशो कैसे कै अब कहौं ?
इन नैनन्ह या तन को पहरो, कब लौं देति रहौं ?
जो कछु बिचार होय उर-अन्तर, रचि-पचि सोचि गहौं।
मुख आनत, ऊधो-तन चितवत, न सो बिचार, न हौं॥
अब सोई सिख देहु, सयानी ! जातें सखहिं लहौं।
सूरदास प्रभु के सेवक सों, बिनती कै निबहौं॥८६॥

शब्दार्थ—कैसे कै=किस प्रकार। उर-अन्तर=हृदय के भीतर। रुचि-पचि =अच्छी तरह से। ऊधो-तन=उद्धव की ओर। न हौं=न मैं रह जाती हूँ। लहौं =प्राप्त करूँ। प्रभु के सेवक=उद्धव। निबहौं=निर्वाह करूँ।

भावार्थ—कृष्ण की निष्ठुरता के कारण गोपियाँ बहुत दुःखी हो रही हैं। उन्हें इस बात की चिन्ता है कि योग का सन्देश भेजने वाले ऐसे निष्ठुर प्रियतम के पास वे अपने प्रेम का सन्देश कैसे भेजें। और वह भी उद्धव जैसे प्रेम-भावना से शून्य, शुष्क-हृदय व्यक्ति द्वारा। एक गोपी अपनी इसी दुविधा को व्यक्त करती हुई दूसरी गोपी से कह रही है कि—

हे सखी ! मैं अब अपना सन्देश प्रियतम कृष्ण के पास किस तरह भेजूँ ? अथवा उद्धव से अपना सन्देश कैसे कहूँ ? मैं अपने इस शरीर पर इन नेत्रों का पहरा कब तक लगाती रहूँ ? अर्थात् कृष्ण-वियोग में पहले से ही क्षीण हुआ यह मेरा शरीर अब इस निष्ठुर योग-सन्देश को सुनकर जीवित नहीं रहना चाहता। परन्तु ये नेत्र अभी तक यह आशा लगाए बैठे हैं कि इन्हें कृष्ण के दर्शन अवश्य होंगे। इसीलिए मेरे शरीर पर बराबर पहरा लगाते रहते हैं अर्थात् मुझे शरीर त्याग नहीं करने देते। यदि कभी मेरे हृदय में कृष्ण को सन्देश भेजने की बात उठती भी है तो मैं बहुत सोच-विचार करने के उपरान्त मन मारकर चुप रह जाती हूँ। अर्थात् सोचती हूँ कि जिसने हमें योग-सन्देश भेजा है उसके पास किस मुँह से प्रेम का सन्देश भेजूँ ? परन्तु फिर साहस कर कुछ कहना चाहती हूँ, सन्देश की बात मेरे मुख तक आ जाती है, मैं उसे कहना ही चाहती हूँ कि इन उद्धव की ओर निगाह जाते ही न मेरे वे विचार ही रहते हैं और न मैं ही। अर्थात् योग-सन्देश देने वाले इन प्रेम-हीन उद्धव को देखते ही मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़-सी हो उठती हूँ कि ऐसे निष्ठुर, हृदयहीन व्यक्ति के द्वारा कैसे अपना सन्देश भेजूँ ? इन्हें देखते ही मेरे वे सम्पूर्ण विचार गायब हो जाते हैं और मैं संज्ञाहीन-सी हो उठती हूँ, अपनी सारी सुध-बुध भूल जाती हूँ।

इसलिए हे चतुर सखि ! अब तू मुझे ऐसी कोई शिक्षा दे, जिसके द्वारा मैं अपने सखा (प्रियतम) कृष्ण को प्राप्त कर सकूँ। मेरी समझ में तो यही आता है कि स्वामी कृष्ण के सखा—इन उद्धव से ही प्रार्थना करने से हमारा निर्वाह होना सम्भव है। अर्थात् यही यदि हम पर कृपा करें तो प्रियतम से मिलन हो सकता है। भाव यह है कि यदि गोपियाँ उद्धव की खुशामद करें, उनसे प्रार्थना करें तो वह मथुरा जाकर कृष्ण से हमारी इस दैन्यावस्था का वर्णन करेंगे और उसे सुन कृष्ण हम पर रहम खाकर हमें दर्शन देने यहाँ अवश्य आयेंगे।

विशेष—(१) अन्तिम पंक्ति में गोपियाँ उसी उक्ति को चरितार्थ करना चाह रही हैं कि काम पड़ने पर गधे को भी बाप बनाया जा सकता है। उद्धव को खूब जली-कटी सुनाने वाली गोपियाँ कृष्ण-मिलन का अन्य कोई उपाय न देख, अन्त में उद्धव की ही खुशामद करने का निर्णय करती हैं।

(२) सम्पूर्ण पद में गोपियों की असमंजसता का अत्यन्त मार्मिक चित्रण हुआ है।

राग कान्हरो

बहुरो ब्रज वह बात न चाली।
वह जो एक बार ऊधो कँर कमलनयन पाती दै घाली॥
पथिक ! तिहारे पा लागति हौं मथुरा जाव जहाँ बनमाली।
करियो प्रगट पुकार द्वार ह्वै 'कालिन्दी' फिरि आयो काली॥

जबै कृपा जदुनाथ कि हम पै रही, सुरुचि जो प्रीति प्रतिपाली ।
माँगत कुसुम देखि द्रुम ऊँचे, गोद पकरि लेते गहि डाली ।।
हम ऐसी उनके केतिक हैं, अंग-प्रसंग सुनहु री, आली !
सूरदास प्रभु प्रीति पुरातन, सुमिरि सुमिरि राधा-उर साली ।।८७।।

शब्दार्थ—बहुरो=फिर कभी । दै घाली=भेजी थी । काली=काली नाग । केतिक=कितनी ही । अंग-प्रसंग=कथा-उपकथाएँ । आली=सखी । साली=पीड़ा देने लगी ।

भावार्थ—उद्धव गोपियों का सन्देश लेकर मथुरा लौट गए । उसके बाद ब्रज-वासियों को कृष्ण का कोई समाचार नहीं मिला । राधा इससे बहुत व्याकुल हो उठी । वह किसी पथिक द्वारा कृष्ण को सन्देश भेजने को उद्यत हो गई । वह पथिक को सम्बोधन कर कहने लगी कि—

हे पथिक ! ब्रज में फिर कभी उस बात की चर्चा नहीं हुई जो एक बार उद्धव द्वारा कमलनयन कृष्ण ने अपनी पाती भेजकर यहाँ प्रारम्भ कर दी थी । अर्थात् उद्धव के जाने के बाद कृष्ण का कोई सन्देश नहीं मिला । उस समय निर्गुण-उपासना के माध्यम से कृष्ण-सम्बन्धी चर्चा तो सुनने को मिल गई थी, परन्तु अब कोई भी उस बहाने भी यहाँ उनका सन्देश लेकर नहीं आता । हे पथिक ! मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, तुम मथुरा जाओ, जहाँ वनमाली प्रियतम कृष्ण रहते हैं । वहाँ उनके दरवाजे पर जाकर तुम ऊँचे स्वर से पुकार कर यह कहना कि 'यमुना नदी में काली नाग फिर आ गया है ।' इस समाचार को सुनकर सम्भवतः कृष्ण पहले के ही समान काली नाग से हमारी रक्षा करने के लिए यहाँ दौड़े चले आयेंगे । उनकी हमारे प्रति उस पुरातन प्रीति को देखकर हमें यही विश्वास होता है कि वह अवश्य यहाँ आयेंगे ।

जब कृष्ण यहाँ रहते थे तब हम पर उनकी सदैव कृपा बनी रहती थी । उस समय वह हमारे अपने प्रति प्रेम को बड़ी रुचि के साथ स्वीकार कर उसका पालन किया करते थे । अर्थात् हमसे बहुत प्रेम किया करते थे । जब हम किसी वृक्ष पर ऊँचाई पर लटकते हुए फूल को देखकर उसे माँगती थीं तो वह हमें अपनी गोद में उठाकर ऊँचा कर देते थे और हम डाली पकड़कर फूल तोड़ लिया करती थीं । हम जैसी उनकी न जाने कितनी प्रियतमाएँ हैं । हे सखि ! सुनो ! हम तुम्हें उनकी ऐसी क्रीड़ाओं की कथा-उपकथाएँ कहाँ तक सुनाएँ । अर्थात् कृष्ण सदैव ऐसी ही प्रेमरस भरी अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ किया करते थे ।

सूरदास कहते हैं कि इस प्रकार राधा कृष्ण के उन पुराने (विगत) प्रेम-भरे व्यवहारों को याद कर-कर अत्यन्त विह्वल होने लगी । वे स्मृतियाँ उसे पीड़ित करने लगीं ।

विशेष—(१) कथा-प्रवाह की दृष्टि से यह पद नितान्त असंगत और अनुचित है । क्योंकि इस पद के बाद आने वाले सैकड़ों पदों में उद्धव-गोपी सम्वाद चलता रहता

है जो यह प्रकट करता है कि उद्धव अभी मथुरा नहीं लौटे हैं, जबकि इस पद में उद्धव का मथुरा लौट जाना अभिव्यंजित हो रहा है। उद्धव 'भ्रमर गीत' के अन्त में ही मथुरा लौटकर जाते हैं, बीच में नहीं। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'सूर-सागर' में यह पद नहीं मिलता।

(२) इस पद का महत्त्व इस कारण माना जा सकता है कि इसमें राधा मुखर हो उठी है। इससे पूर्व के या बाद के पदों में हम राधा को प्रायः मौन ही पाते हैं। यद्यपि 'सूर-सागर' में अनेक ऐसे पद मिलते हैं, जिनमें राधा उद्धव द्वारा कृष्ण को सन्देश भेजती है, परन्तु शुक्लजी ने 'भ्रमर गीत सार' में ऐसे पदों को स्थान नहीं दिया है।

राग गौरो

ऊधो ! क्यों राखौं ये नैन ?
सुमिरि-सुमिरि गुन अधिक तपत हैं सुनत तिहारो बैन ।।
हैं जो मनहर बदनचन्द के सादर कुमुद चकोर।
परम-तृषारत सजल स्यामघन के जो चातक मोर ।।
मधुप मराल चरन पंकज के, गति-बिलास-जल मीन।
चक्रवाक, मनिदुति दिनकर के, मृग मुरली आधीन ।।
सकल लोक सूनो लागतु है, बिन देखे वा रूप।
सूरदास प्रभु नँदनन्दन के, नखसिख अंग अनूप ।।८८।।

शब्दार्थ—राखौं=रोकूँ, समझाऊँ। मनहर=मनोहर, मन को हरने वाले। बदनचन्द=चन्द्रमुख। कुमुद=कुमुदिनी, कमलिनी, जो चन्द्र को देख खिल उठती है। तृषारत=प्यासे। मराल=हंस। गति-विलास-जल=चंचल गति रूपी जल-प्रवाह। चक्रवाक=चकवा-चकवी। मनिदुति=मणि की द्युति।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण-वियोग में व्यथित अपने नेत्रों की विभिन्न उपमानों से उपमा देती हुईं, उन्हें कृष्ण का अनन्य अनुरागी घोषित करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! हम अपने इन नेत्रों को किस प्रकार समझाएँ, कैसे इन्हें सान्त्वना दें ? तुम्हारी निर्गुण-उपासना सम्बन्धी बातों को सुन ये कृष्ण के गुणों का स्मरण कर-कर और अधिक दग्ध, दुःखी हो रहे हैं। हमारे ये नेत्र हमारे मन को हरने वाले कृष्ण के चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख के लिए अत्यन्त श्रद्धा और अनुराग से भर कुमुदिनी और चकोर के समान उनके दर्शनों के लिए सदैव लालायित बने रहते हैं। (कुमुदिनी और चकोर चन्द्रमा के अनन्य प्रेमी माने गए हैं।) ये कृष्ण के श्यामघन के समान सुन्दर शरीर को देखने के लिए उसी प्रकार अत्यन्त प्यासे बने रहते हैं, जैसे कि चातक और मयूर। (चातक और मयूर श्यामघन के प्रेमी के रूप में प्रसिद्ध हैं।)

हमारे ये नेत्र कृष्ण के चरण-कमलों के वैसे ही उत्कट प्रेमी हैं जैसे कि भ्रमर

और हंस कमलों के प्रेमी होते हैं। जैसे मछली जल के प्रवाह में ही जीवित रह सकती है, वैसे ही हमारे ये नेत्र कृष्ण की मन्द-मन्थर चंचल चाल के अनुरागी हैं। ये उनके दर्शन कर उसी प्रकार आनन्द और प्रकाश से आपूरित हो उठते हैं, जैसे चकवा-चकवी और मणि (सूर्यकान्त मणि) सूर्य के प्रकाश को देख आनन्द और प्रकाश से भर उठते हैं। ये मृग के समान उनकी मधुर मुरली-ध्वनि को सुन उसके वशीभूत हो जाते हैं, मंत्रमुग्ध से बन जाते हैं। इन नेत्रों को कृष्ण के उस मधुर रूप को देखे बिना सारा संसार सूना-सा प्रतीत होता है। अर्थात् ये उस रूप के अतिरिक्त और कुछ भी देखना पसन्द नहीं करते। सूरदास के स्वामी नन्दनन्दन कृष्ण के नख से लेकर शिखा तक सारे अंग-प्रत्यंग ऐसे अनुपम सौन्दर्यशाली हैं कि उन्हें देखे बिना हमारे ये नेत्र सदैव व्याकुल-व्यथित बने रहते हैं।

विशेष—रूपक अलंकार द्वारा कृष्ण के नख-शिख-सौन्दर्य का मनोहारी वर्णन किया गया है।

राग मलार

सँदेसनि मधुवन-कूप भरे।
जो कोउ पथिक गए हैं, ह्याँ ते फिरि नहिं अवन करे।।
कै वै स्याम सिखाय समोधे कै, वै बीच मरे?
अपने नहिं पठवत नँदनन्दन, हमरेउ फेरि धरे।।
मसि खूँटी कागद जल भीजे, सर दव लागि जरे।
पाती लिखैं कहो क्यों करि, जो पलक-कपाट अरे? ।।८६।।

शब्दार्थ—अवन करे=आए। समोधे=समझा-बुझा दिया। खूँटी=समाप्त हो गई। दव=दावाग्नि, वन में लगने वाली अग्नि। कपाट=किवाड़।

भावार्थ—गोपियों ने सन्देश लिख-लिख कृष्ण को अनेक पत्र भेजे परन्तु एक का भी उत्तर नहीं आया। गोपियाँ उत्तर न मिलने से अत्यन्त व्यथित हो, किसी मथुरा जाने जाले पथिक से या आपस में एक-दूसरी से कह रही हैं कि हमने मथुरा को सन्देश लिख-लिखकर इतने पत्र भेजे कि उनसे मथुरा के कुएँ भर गए। (यहाँ अगणित पत्रों की विशाल संख्या से अभिप्राय है।) यहाँ से जो भी कोई पथिक हमारा सन्देश लेकर मथुरा को गए, वे फिर लौटकर यहाँ नहीं आए। हमें ऐसा सन्देह होता है कि या तो कृष्ण ने उन्हें समझा-बुजाकर वहीं रोक लिया, इधर नहीं लौटने दिया, या वे बीच में ही कहीं मर कर समाप्त हो गए। नन्दनन्दन अपना सन्देश-पत्र तो एक भी नहीं भेजते, और जो सन्देश-पत्र हम उनके लिए यहाँ से भेजती हैं, उन्हें भी चुपचाप रख लेते हैं। उत्तर तक नहीं देते।

अब हम उन्हें और अधिक सन्देश लिखकर कैसे भेजें? क्योंकि हमारे पास की सारी स्याही विरहाग्नि के ताप से समाप्त हो गई है, सारे कागज नेत्रों के जल से भीग

गए हैं और हमारी विरह-व्यथित उत्तप्त उसाँसों के ताप से वन में आग लग गई है, जिससे कलम बनाने वाले सारे सरकण्डे जलकर भस्म हो गए हैं। जब कलम, कागज और स्याही नहीं रही तो हम अब पत्र कैसे लिखें ? सबसे बड़ी मुसीबत तो यह है कि उनके विरह में रो-रोकर नेत्रों की पलकें इतनी सूज गई हैं कि नेत्रों पर किवाड़ से लग गए हैं। अर्थात् नेत्र बन्द हो गए हैं। जब आँखों से दिखाई ही नहीं देता और न अन्य साधन ही उपलब्ध रहे हैं तो हम अब उन्हें पत्र कैसे लिखें ?

विशेष—प्रथम पंक्ति में अतिशयोक्ति तथा अन्तिम पंक्ति में रूपक अलंकार है।

राग नट

नँदनन्दन मोहन सों मधुकर ! है काहे की प्रीति।
जौ कीजै तौ है जल, रवि औ जलधर की सी रीति।।
जैसे मीन, कमल चातक की, ऐसे ही गइ बीति।
तलफत, जरत, पुकारत सुनु, सठ! नाहिन है यह रीति।।
मन हठि परे, कबंध जुद्ध ज्यों, हारेहू भइ जीति।
बँधत न प्रेम-समुद्र सूर बल, कहुँ बारुहि की भीति।।९०।।

शब्दार्थ—काहे की=कैसी, किस बात की। गइ बीति=गुजर गई, कट गई। कबन्ध=मस्तक विहीन धड़। जुद्ध=युद्ध। बारुहि=बालू की, रेत की।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण को निर्मोही घोषित करती हुई उनसे प्रेम करने वालों की विषमावस्था का बखान कर रही हैं। वे कहती हैं कि हे मधुकर ! नन्दनन्दन मोहन से कोई क्यों प्रेम करे ? यदि उनसे कोई प्रेम करता है तो उसकी वही गति होती है जो जल, सूर्य और बादल से प्रेम करने वालों की होती है। जैसे मछली जल से प्रेम करती है और जल से वियुक्त होने पर उसके लिए तड़प-तड़पकर प्राण दे देती है, परन्तु जल उसकी जरा भी चिन्ता न कर आगे बढ़ जाता है। कमल सूर्य से प्रेम करता है, उसे देख खिल उठता है, परन्तु सूर्य दिन भर उसको अपनी उत्तप्त किरणों से जलाता रहता है और सन्ध्या समय उसकी पूर्ण उपेक्षा कर विश्राम करने चला जाता है, अस्त हो जाता है। चातक बादल से प्रेम करता है, सदैव उसी को पुकारता रहता है, परन्तु बादल कभी भी उसकी खुली चोंच में स्वाति-जल की एक बूँद टपकाने की कृपा नहीं करता। ये मछली, कमल और चातक इसी प्रकार अपने प्रिय के वियोग में तड़प-तड़पकर अपना जीवन समाप्त कर देते हैं, परन्तु इनके प्रियतमों को कभी इन पर दया नहीं आती। प्रेम तो इस प्रकार नहीं किया जाता। एकपक्षीय (एकांगी) प्रेम सदैव घातक और व्यथित करने वाला होता है। परन्तु प्रेम की यह उचित रीति नहीं होती। प्रेम का आनन्द तो तभी आता है, उसी प्रेम को सफल माना जाता है जो उभय पक्षीय होता है; अर्थात् दोनों—प्रेमी और प्रेमास्पद परस्पर एक-दूसरे से प्रेम करते हैं।

परन्तु हम अपने इस मन के लिए क्या करें ? यह तो कृष्ण से प्रेम करने की ही हठ पकड़े हुए है। अन्य किसी से प्रेम करना ही नहीं चाहता। यह प्रेम के इस संघर्ष में हारने पर भी स्वयं को उसी प्रकार विजयी समझता रहता है, जिस प्रकार युद्ध-भूमि में योद्धा का मस्तक कट जाने पर भी उसका कबन्ध (धड़) निरन्तर युद्ध करता रहता है और शत्रु का संहार कर यश प्राप्त करता है। उसे हारने पर भी विजयी समझा जाता है। हमारा यह मन भी कृष्ण द्वारा पूर्णतः उपेक्षित किए जाने पर भी हार न मान, सदैव उन्हीं के ध्यान में डूबा रहता है। हे उद्धव ! तुम्हारा निर्गुण-उपासना का सन्देश हमारे इस अगाध-अथाह प्रेम-समुद्र के उद्दाम प्रवाह को रोकने में उसी प्रकार असमर्थ है—जैसे बालू की दीवार खड़ी कर समुद्र के प्रवाह को रोकने, उसे बाँधने का असफल प्रयत्न करना। अर्थात् तुम कृष्ण के प्रति हमारी अनन्य प्रेम-निष्ठा को अपने उपदेशों द्वारा विचलित नहीं कर सकते।

विशेष—(१) गोपियाँ अनन्य प्रेम के विभिन्न प्रतीकों द्वारा कृष्ण के प्रति अपनी एकान्त प्रेम-निष्ठा को अभिव्यक्त कर रही हैं।

(२) कबन्ध का उदाहरण देकर गोपियाँ हारने पर भी स्वयं को विजयी मान रही हैं।

(३) 'जौ····रीति' में क्रमालंकार; 'मन····जीति' में निदर्शना; तथा 'प्रेम-समुद्र' में रूपक अलंकार है।

(४) इस पद का भाव यह है कि सच्चे प्रेमी प्रियतम द्वारा प्रेम का प्रतिदान न मिलने पर भी अपनी प्रेम-निष्ठा में सदैव दृढ़ बने रहते हैं।

मधुबनियाँ लोगनि को पतिआय ?
मुख औरै अंतर्गत औरै, पतियाँ लिखि पठवत हैं बनाय ।।
ज्यों कोइल सुत काग जिआवत, भाव-भगत भोजनहिं खवाय।
कुहकुहाय आए बसंत ऋतु, अंत मिलै कुल अपने जाय ।।
जैसे मधुकर पुहुप-बास लै, फेरि न बूझैं बातहु आय।
सूर जहाँ लौं स्यामगात हैं, तिनसों क्यों कीजिए लगाय ? ।।६१।।

शब्दार्थ—मधुबनियाँ=मथुरा के। को=कौन। पतिआय=विश्वास करे। अन्तर्गत=हृदय में। बनाय=बना, बनाकर। कोइलसुत=कोयल का बच्चा। भाव-भगति=प्रेम सहित। कुहकुहाय=कूक उठती है। बातहु=बात भी। स्याम-गात=काले शरीर वाले। लगाय=लगन, प्रेम।

भावार्थ—कृष्ण के उपेक्षा व छलभरे व्यवहार से दुःखी हो गोपियाँ कोयल के बच्चे और भ्रमर की स्वार्थ-भावना से उनकी तुलना करती हुई सारे काले शरीर वालों को कपटी घोषित कर रही हैं। वे कहती हैं कि इन मथुरावासियों का विश्वास कौन करे ! अर्थात् ये सब छली और कपटी होते हैं। ये लोग मुख से कुछ और ही

प्रकार की बातें करते हैं परन्तु इनके हृदय में उनसे बिल्कुल भिन्न भाव भरे रहते हैं। अर्थात् इनकी कथनी और करनी में महान् अन्तर होता है। मथुरा के लोग (यहाँ कृष्ण से अभिप्राय है) अपने मन की असली बातें न लिखकर हमें बहलाने के लिए अपने पत्रों में खूब बना-बनाकर चिकनी-चुपड़ी बातें लिखते रहते हैं। जिस प्रकार कौआ कोयल के बच्चे का पालन-पोषण करता है, अत्यन्त प्रेम के साथ उसे खिलाता-पिलाता रहता है, परन्तु जैसे ही वसन्त ऋतु आती है, कोयल का वह बच्चा कूकने लगता है, कोयल की बोली बोलने लगता है और अन्त में उड़ कर, कौए को त्याग, अपने कुल में, अर्थात् अपने माता-पिता के साथ जा मिलता है। यही कृष्ण ने किया था। नन्द-यशोदा ने बड़े स्नेह के साथ उन्हें पाला-पोसा था, दूध-दही-मक्खन खिलाया-पिलाया था, परन्तु बड़े होने पर वह नन्द-यशोदा के सम्पूर्ण स्नेह और ममता को त्याग अपने वास्तविक माता-पिता—वसुदेव-देवकी के पास चले गए। ऐसे लोगों का कैसे विश्वास किया जा सकता है ?

उन्होंने हमारे साथ वैसा ही निर्मम व्यवहार किया है, जैसे भौंरा फूल का रस-पान कर उड़ जाता है और फिर कभी लौटकर उसकी बात भी नहीं पूछता। ये काले शरीर वाले (कृष्ण, कोयल, भ्रमर), सब-के-सब ऐसे ही निर्मोही होते हैं। इसलिए इनसे प्रेम क्यों किया जाए ? अर्थात् इनसे कभी प्रेम नहीं करना चाहिए।

विशेष—(१) गोपियों के कथनानुसार सम्पूर्ण काले शरीर वाले निर्मोही, छली और कपटी प्रेमी होते हैं। कृष्ण, भ्रमर, कोयल—सभी काले रंग के होने के कारण स्वार्थी, दगाबाज और निर्मोही हैं।

(२) 'कुहकुहाए····जाय' में अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

हरि हैं राजनीति पढ़ि आए।
समुझी बात कहत मधुकर जो ? समाचार कछु पाए ?
इक अति चतुर हुते पहिले ही, अरु करि नेह दिखाए।
जानी बुद्धि बड़ी, जुबतिन को जोग-सँदेश पठाए॥
भले लोग आगे के, सखि री ! परहित डोलत धाए।
वे अपने मन फेरि पाइए, जे हैं चलत चुराए॥
ते क्यों नीति करत आपुन, जे औरन रीति छुड़ाए ?
राजधर्म सब भए सूर, जहँ प्रजा न जायँ सताए॥६२॥

शब्दार्थ—इक=एक तो। हुते=थे। नेह=प्रेम, स्नेह। धाए=दौड़ते। नीति=न्याय, सदाचार।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण द्वारा भेजे गये योग-सन्देश को उनका घोर अन्याय और अत्याचार घोषित करती हुई आपस में कह रही हैं कि हे सखि ! अब कृष्ण ने राजनीति की शिक्षा प्राप्त कर ली है वे राजनीति में दक्ष हो गये हैं। अर्थात् उनका

यह व्यवहार यह सिद्ध कर रहा है कि वे राजनीति के क्षेत्र में अपनायी जाने वाली कुटिलता और छल-कपट से काम ले रहे हैं। यह भ्रमर हमसे जो बात कह रहा है, वह तुम्हारी कुछ समझ में आई ? तुम्हें कुछ समाचार प्राप्त हुआ ? अर्थात् तुम इसके वास्तविक अभिप्राय को समझ सकीं या नहीं ? एक तो कृष्ण पहले से ही अत्यन्त चतुर (चालाक) थे और उन्होंने अपनी इस चतुरता को हमसे कपट भरा प्रेम करके प्रमाणित भी दिया था। उनकी बुद्धि कितनी विशाल है, इसका अनुमान तो इसी बात से मिल गया है कि वह युवतियों के लिए योग-साधना करने का सन्देश भेज रहे हैं। अर्थात् यह प्रमाणित हो गया कि वह बुद्धिमान न होकर मूर्ख हैं, क्योंकि कोई मूर्ख ही युवतियों के लिए योग-साधना को उचित मान सकता है, बुद्धिमान नहीं।

हे सखि ! पुराने जमाने में सज्जन पुरुष दूसरों का उपकार करने के लिये इधर-उधर भागते-फिरते थे। और एक यह आजकल के सज्जन पुरुष उद्धव हैं जो दूसरों (हमको) को दुःख देने और सताने के लिए ही यहाँ तक दौड़े चले आये हैं। हम तो केवल इतना ही चाहती हैं कि हमें हमारा मन फिर मिल जाय, जिसे कृष्ण यहाँ से जाते समय चुपचाप चुराकर अपने साथ ले गये थे। परन्तु कृष्ण जैसे लोगों से ऐसे न्यायपूर्ण कार्य की (हमारा चुराया हुआ मन लौटा देने की) आशा कैसे की जाय, वह तो दूसरों द्वारा उनकी परम्परागत रीतियों (व्यवहारों) को छुड़वाने का प्रयत्न करते रहते हैं। अर्थात् हमारी रीति तो कृष्ण से प्रेम करने की थी और कृष्ण चाहते हैं कि हम अपनी इस रीति को त्याग, उनसे प्रेम करना छोड़ योग-साधना को अपना लें। यह उनका सरासर अन्याय है। सच्चा राज-धर्म तो उसी को माना गया जिसके अन्तर्गत प्रजाजनों को कभी भी सताया न जाय। अर्थात् यह कृष्ण अन्यायी राजा हैं जो अपने स्वार्थ (कुब्जा से निष्कण्टक प्रेम करने की सुविधा) के लिये हमारे सम्पूर्ण सुख-चैन (कृष्ण-प्रेम) को हमसे छीनकर हमें दुःखी करने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह उनकी उसी कुटिल राजनीति का ही एक अंग है।

विशेष—(१) गोपियाँ प्रकारान्तर से कृष्ण को कुटिल राजनीति का पोषक, अन्यायी, स्वार्थी और धोखेबाज सिद्ध कर रही हैं।

(२) प्रजा का अनुरंजन करना, उसे सुखी रखना राजा का प्रधान राजधर्म माना गया है। कालिदास ने भी यही कहा है—'राजा प्रकृति रंजनात्'। कृष्ण इस राजधर्म का उल्लंघन कर अपनी प्रजा—गोपियों को अपने स्वार्थवश सता रहे हैं। अतः वह अन्यायी, अत्याचारी राजा हैं। साथ ही चोर भी हैं, जो चुरायी हुई वस्तु (गोपियों के मन) को नहीं लौटाते।

(३) अन्तिम पद में लोकोक्ति अलंकार है।

(४) कृष्ण और उद्धव पर मार्मिक, चुभता हुआ व्यंग्य किया गया है।

जोग की गति सुनत मेरे अंग आगि बई।
सुलगि-सुलगि हम रही तन में फूँक आनि दई ।।

जोग हमको भोग कुबजहिं, कौने सिख सिखई ?
सिंह गज तजि तृनहिं, खंडत सुनी बात नई ।।
कर्मरेखा मिटति नाहीं, जो विधि आनि ठई ।
सूर हरि की कृपा जापै, सकल सिद्धि भई ।।९३।।

शब्दार्थ—बई=लग गई । गति=पद्धति । फूँक=फूँकना, हवा करना । सिख=शिक्षा । खंडत=विदीर्ण करता । ठई=निश्चित कर दी । जापै=जिस पर ।

भावार्थ—योग की असंगत-सी लगने वाली बातें सुनकर गोपियाँ कह रही हैं कि उद्धव की योग-साधना की इस पद्धति की बातें सुनकर हमारे शरीर में आग लग गई है, हमारी विरहाग्नि और अधिक प्रज्ज्वलित हो उठी है। हम तो कृष्ण-वियोग में पहले से ही भीतर ही भीतर (मन ही मन) सुलग रही थीं, घुट रही थीं। अब उद्धव की इन बातों ने हमारी उसी धीरे-धीरे सुलगती हुई विरहाग्नि को उसी प्रकार और अधिक भड़का दिया है जैसे धीरे-धीरे सुलगती हुई अग्नि में फूँक मारकर कोई उसे प्रज्ज्वलित कर दे । अर्थात् कृष्ण को भूल, उन्हें त्याग ब्रह्म की उपासना करने के सन्देह ने हमारे विरह को और अधिक उद्दीप्त कर दिया है। उद्धव को यह अनुचित शिक्षा किसने दी है ? ये हमें तो योग की साधना करने का उपदेश दे रहे हैं और कुब्जा के लिए भोग-विलास को उचित सिद्ध कर रहे हैं। अर्थात् हम वियोगिनियों को तो, जो स्वयं ही सम्पूर्ण सांसारिक आकर्षणों से विरक्त हो, केवल कृष्ण की आराधना करने में लीन हैं, विरक्ति अर्थात् योग-साधना की शिक्षा दे रहे हैं और भोग-विलास में आकण्ठ निमग्न कुब्जा से भोग त्याग योग-साधना करने के लिए नहीं कहते । परन्तु इन्हें अपने इस प्रयत्न में सफलता नहीं मिल सकती, क्योंकि हम तो एकमात्र कृष्ण-प्रेम का ही व्रत धारण किये हुए बैठी हैं। उसे छोड़ना हमारे लिये असम्भव है । क्या किसी ने आज तक यह नई बात सुनी है कि सिंह हाथी का वध करना त्याग कर घास चरने लगा हो ? जिस प्रकार सिंह द्वारा घास चरना असम्भव है, वैसे ही हमारे लिए कृष्ण-प्रेम को त्याग योग-साधना करना असम्भव है।

विधाता भाग्य में जो लिख देता है, वह कभी नहीं मिटता । अर्थात् हमारे भाग्य में तो कृष्ण से ही प्रेम करना लिखा है. अतः कोई लाख प्रयत्न करे, हमारी इस भाग्य-रेखा को बदल नहीं सकता। उद्धव के कथनानुसार योग-साधना द्वारा सिद्धियों की प्राप्ति होती है, परन्तु हमारा मत तो यह है कि जिस पर कृष्ण की कृपा होती है, उसे सारी सिद्धियाँ अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं। वह सम्पूर्ण सिद्धियों द्वारा प्राप्त सुख-वैभव का अधिकारी बन जाता है।

विशेष—(१) इस पद की अन्तिम पंक्ति में पुष्टिमार्गी-सिद्धान्त—भगवद्-अनुग्रह—की पुष्टि की गई है। भगवद् कृपा होने पर ही भक्त भगवद्-प्रेम का अधिकारी बन जाता है। (२) तृतीय पंक्ति में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है। (३) चतुर्थ पंक्ति में लोकोक्ति अलंकार है।

राग धनाश्री

ऊधो ! जान्यो ज्ञान तिहारो ।
जानै कहा राजगति-लीला अन्त अहीर बिचारो ॥
हम सबैं अयानी, एक सयानी कुबजा सौ मन मान्यो ।
आवत नाहिं लाज के मारे, मानहु कान्ह खिस्यान्यो ॥
ऊधो ! जाहु बाँह धरि ल्याओ सुन्दरस्याम पियारो ।
ब्याहौ लाख, धरौ दस कुबरी, अंतहि कान्ह हमारो ॥
सुन, री सखी ! कछू नाहिं कहिए माधव आवन दीजै ।
जबहीं मिलैं सूर के स्वामी, हाँसी करि करि लीजै ॥६४॥

शब्दार्थ—राजगति-लीला=राजनीति की पेचीदगियाँ । अन्त=आखिरकार । बिचारो=बेचारा । अयानी=अज्ञानी, मूर्ख । खिस्यान्यो=खिसिया गए हैं, लज्जित हो रहे हैं । बाँह धरि=बाँह पकड़ कर । धरौ=रखो, घर में बैठा लो । हाँसी करि-करि=हँसते हुए या मजाक करते हुए । लीजै=स्वागत करना ।

भावार्थ—पिछले पदों में कृष्ण को खरी-खोटी सुनाने वाली गोपियाँ इस पद में एकाएक कृष्ण का पक्ष लेकर प्रकारान्तर से कृष्ण और उद्धव—दोनों का ही मजाक उड़ा रही हैं । वे उद्धव से कहती हैं कि—

हे उद्धव ! तुम्हारे इस ज्ञान का सारा रहस्य हमारी समझ में आ गया है । अर्थात् यह सब तुम्हारी हीं मक्कारी है, कुटिल राजनीति है । हमारा वह बेचारा कृष्ण तो अहीर है न ! वह बेचारा तुम्हारी राजनीति के इस छल-कपट को क्या जाने ! अर्थात् यह तुम्हारी ही कुटिल राजनीति है कि तुम यह नहीं चाहते कि कृष्ण यहाँ आएँ । क्योंकि उनके यहाँ चले आने पर वहाँ तुम्हारी रक्षा कौन करेगा, राज-काज कौन चलाएगा ? हम सब तो मूर्ख स्त्रियाँ हैं । उन्हें तो बस एक ही चतुर स्त्री कुब्जी मिली है, इसीलिए वह उससे चतुरता सीखने के लिए उसी से प्रेम करने लगे हैं । उस चतुर कुब्जा के फन्दे में फँस जाने के कारण वह अब लज्जा के मारे यहाँ नहीं आते । इस बात से खिसियाने-से बने रहते हैं कि हमें लौटकर कैसे मुँह दिखा सकेंगे ।

इसलिए हे उद्धव ! तुम ऐसा करो कि वहाँ जाओ और हमारे प्यारे श्याम-सुन्दर को बाँह पकड़ कर, समझा-बुझाकर यहाँ ले आओ । वह बेचारे झेंप के मारे यहाँ आने में सकुचा रहे हैं । वह चाहे लाख स्त्रियों से विवाह कर लें, चाहे दस कुब्जाओं को रखैल बना अपने घर में बैठा लें, परन्तु अन्त में रहेंगे हमारे ही । उन्हें हमसे कोई भी नहीं छीन सकता । इसके उपरान्त वह गोपी अपनी सखी से कहती है कि हे सखि ! जब कृष्ण यहाँ आएँ, तुम उनसे कुछ भी मत कहना । पहले उन्हें यहाँ आ जाने देना । जब सूर के स्वामी कृष्ण हम से आकर मिलें तब हँस-हँसकर या

हँसी-मज़ाक करते हुए उनका स्वागत करना। हमारे ऐसा करने से उनके मन की सम्पूर्ण ग्लानि दूर हो जायेगी।

विशेष—(१) इस पद में गोपियों का यह अदम्य विश्वास प्रकट हो रहा है कि कृष्ण हमारे ही हैं।

(२) 'अन्त अहीर बिचारो' में प्रियतम-विषयक रति को अप्रिय शब्दों द्वारा व्यक्त करने के कारण 'बिव्वोक' नामक हाव है।

(३) अन्तिम पंक्ति में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।

(४) कृष्ण की लज्जा का वर्णन करने में गोपियों ने अपने अद्भुत वाग्वैदग्ध्य का परिचय दिया है।

राग केदार

उर में माखनचोर गड़े।
अब कैसेहु निकसत नहिं ऊधो ! तिरछे ह्वै जो अड़े ॥
जदपि अहीर जसोदानन्दन, तदपि न जात छँड़े।
वहाँ बने जदुबंस महाकुल, हमहिं न लगत बड़े ॥
को बसुदेव, देवकी है को, ना जानैं औ बूझैं।
सूर स्याम सुन्दर बिनु देखे, और न कोऊ सूझैं ॥९५॥

शब्दार्थ—कैसेहु=कैसे भी। छँड़े=छोड़े। सूझें=दिखाई देते।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण की त्रिभंगी छवि पर इतनी मोहित हैं कि उसे भुला निर्गुण-ब्रह्म की उपासना करना उनके लिए अकल्पित और असम्भव है। अपने इसी भाव को व्यक्त करती हुई वे उद्धव से कह रही हैं कि—

हमारे हृदय में माखनचोर कृष्ण की मधुर मूर्त्ति गढ़ी हुई है। हे उद्धव ! अब कितना भी प्रयत्न करें, वह बाहर निकलती ही नहीं। इसका कारण यह है कि उनकी माधुरी मूर्त्ति त्रिभंगी होने के कारण हमारे हृदय में तिरछी होकर गढ़ गई है। (तिरछी गढ़ी हुई वस्तु को निकालना असम्भव होता है।) अर्थात् हम किसी भी प्रकार कृष्ण को भुलाकर तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को अपने हृदय में स्थापित नहीं कर सकता ! कृष्ण को भुला देना हमारे लिए असम्भव है। हम ऐसा करने में विवश और असमर्थ हैं। यद्यपि यशोदानन्दन कृष्ण जाति के अहीर हैं, परन्तु फिर भी हमसे उन्हें छोड़ते नहीं बनता। वहाँ मथुरा में जाकर वह महान् कुल यदुवंश के अंग बन गए हैं, यदुवंशी हो गए हैं, परन्तु फिर भी हमें यह नहीं लगता कि अब बहुत बड़े आदमी हो गए हैं। हमारे लिए तो वह अभी भी वही छोटे अहीर-वंश के कृष्ण हैं जो हमारे साथ केलि-क्रीड़ाएँ किया करते थे। तुम्हारे यह वसुदेव और देवकी कौन हैं, हम इस सम्बन्ध में न तो कुछ जानती हैं और न हमें जानने की इच्छा ही है। बड़े होंगे तो

अपने घर के होंगे। अब हमें उनसे क्या लेना-देना। हमारी हालत तो यह है कि हमें अपने श्यामसुन्दर कृष्ण के बिना और कोई दिखाई ही नहीं देता। अर्थात् हमें उनके बिना कुछ भी अच्छा नहीं लगता। फिर हम तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को कैसे स्वीकार कर लें ?

विशेष—(१) प्रथम दो पंक्तियों में कृष्ण की त्रिभंगी-मुद्रा के प्रति संकेत है।

(२) कृष्ण के प्रति गोपियों की दृढ़ प्रेम-निष्ठा के प्रकाशन के साथ-साथ व्यंग्य का भाव प्रधान है। व्यंग्य यादववंश पर किया गया है।

राग सारंग

गोपालहि कैसे कै हम देति ?
ऊधो की इन मीठी बातन निर्गुन कैसे लेति ?
अर्थ, धर्म, कामना सुनावत सब सुख मुकुति-समेति।
जे व्यापकहि विचारत बरनत निगम कहत हैं नेति।।
ताकी भूलि गई मनसाहू देखहु जौ चित चेति।
सूर स्याम तजि कौन सकत है, अलि, काकी गति एति ।।६६।।

शब्दार्थ—कैसे कै=किस तरह। देति=दे सकती हैं। समेति=सहित। व्यापकहि=व्यापकता। नेति=यह नहीं है, न इति। मनसाहू—बुद्धि भी। चेति= विचार कर। काकी=किसकी। एति=इतनी, ऐसी।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण को देखकर निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार करने में असमर्थ हैं। वे आपस में कह रही हैं कि हम अपने गोपाल को किस तरह दे सकती हैं ? अर्थात् उन्हें कैसे भुलाकर इन उद्धव को दे सकती हैं। और उन्हें देकर उद्धव की इन मीठी, चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर इनके निर्गुण-ब्रह्म को कैसे स्वीकार कर सकती हैं ? ये हमें यह लालच दे रहे हैं कि ब्रह्म की उपासना करने से हमें मुक्ति के साथ-साथ धर्म, अर्थ और कामना की भी प्राप्ति हो जायेगी, हमारी सम्पूर्ण कामनाएँ पूरी हो जायेंगी। ये उद्धव जिस ब्रह्म को सर्वव्यापी समझते हैं अथवा जिन शास्त्रों (वेद आदि) ने ब्रह्म की व्यापकता पर विचार किया है, वे सब ब्रह्म को नेति-नेति कहते हैं। जब इनके अनुसार ब्रह्म कोई वस्तु ही नहीं है तो वह इन सारे फलों की प्राप्ति हमें कैसे करवा सकता है ? यदि हृदय में सोच-समझकर ब्रह्म के सम्बन्ध में विचार किया जाय तो उसकी अगम्यता का अनुभव कर बुद्धि चकरा जाती है, उसका रहस्य नहीं जान पाती। अतः उस अप्राप्य ब्रह्म के लालच में पड़ ऐसा कौन है, जो अपने श्यामसुन्दर कृष्ण को त्याग सकता है ? ऐसा करने की सामर्थ्य किसमें है ? अर्थात् सहज रूप में प्राप्य कृष्ण को त्याग अत्यन्त दुरूह साधना द्वारा भी अन्त में अप्राप्य रहने वाले गस ब्रह्म की आराधना कौन करे ?

विशेष—गोपियाँ अत्यन्त सबल तर्कों द्वारा निर्गुण ब्रह्म का खण्डन कर रही

हैं। ऐसे पदों को देखकर यह कहना असंगत है कि सूर की गोपियाँ नन्ददास की गोपियों के समान तार्किक नहीं हैं या उन्हें शास्त्र का ज्ञान नहीं है।

राग गौरी

उपमा एक न नैन गही।
कबिजन कहत कहत चलि आए, सुधि करि करि काहू न कही।।
कहे चकोर, मुख-बिध बिनु जीवन; भँवर न, तहँ उड़ि जात।
हरिमुख-कमलकोस बिछुरे तें, ठाले क्यों ठहरात?
खंजन मनरंजन जन जौ पै, कबहुँ नाहिं सतरात।
पंख पसारि न उड़त, मंद ह्वै समर-समीप बिकात।।
आए बधन ब्याध ह्वै ऊधो, जौ मृग, क्यों न पलाय?
देखत भागि बसै घन बन में, जहँ कोउ संग न धाय।।
ब्रजलोचन बिनु लोचन कैसे? प्रति छिन अति दुख बाढ़त।
सूरदास मीनता कछू इक, जल भरि संग न छाँड़त।।६७।।

शब्दार्थ—गही=ग्रहण की। सुधि करि-करि=अच्छी तरह से सोच-समझ कर। बिधु=चन्द्रमा। ठाले=अभाव में। ठहरात=स्थिर, अचल पड़े रहते। सतरात=सतर होते, क्रुद्ध होते। मन्द=शिथिल। समर=कामदेव, स्मर। पलाय=भाग जाते। घन=सघन। छाँड़त=छोड़ते।

भावार्थ—कृष्ण-वियोग में व्यथित रहने के कारण गोपियों के नेत्र अपना सम्पूर्ण सौन्दर्य और विशेषताएँ खो बैठे हैं। गोपियाँ प्रकारान्तर से अपने नेत्रों की भर्त्सना करती हुई कह रही हैं कि—

हमारे इन नेत्रों ने कवियों द्वारा दी गई विभिन्न उपमाओं में से एक भी उपमा को ग्रहण नहीं किया है। अर्थात् कवियों ने नेत्रों के विभिन्न गुणों के आधार पर उनकी जो उपमाएँ निर्धारित कर रखी हैं, उनमें से एक भी गुण हमारे इन नेत्रों में नहीं मिलता। कविगण प्राचीन काल से नेत्रों की विभिन्न वस्तुओं, पशु-पक्षियों आदि से उमपाएँ देते चले आए हैं, परन्तु अच्छी तरह से सोच-समझकर किसी ने भी एक भी ऐसी उपमा नहीं दी, जो हमारे इन नेत्रों पर संगत बैठ सकती। कवियों ने नेत्रों को चकोर के समान कहा, परन्तु हमारे ये नेत्र तो कृष्ण के चन्द्र-मुख के बिना भी अभी तक जीवित हैं। इसलिए इनके लिए यह उपमा असंगत है, इनकी उपमा भ्रमर से भी नहीं दी जा सकती, क्योंकि भ्रमर तो जहाँ कमल पुष्प होता है, उड़कर वहीं पहुँच जाता है और वहाँ पहुँच कमल कोष में बन्दी हो स्थिर होकर बैठ जाता है। परन्तु हमारे ये नेत्र कृष्ण के मुखरूपी कमल-कोष से बिछुड़ने पर भी उड़कर उनके पास नहीं जाते हैं और निठल्ले से यहीं स्थिर (प्रतीक्षा में टकटकी लगाए) पड़े रहते हैं।

यदि इन्हें मनुष्यों को मनोरंजन करने वाले खंजन पक्षी के समान मानी जाय तो यह भी असंगत है। क्योंकि जब कोई खंजन पक्षी के पास उसे पकड़ने जाता है तो वह तुरन्त क्रुद्ध होकर अकड़ जाता है और छिटककर पंख फैला उससे दूर भाग जाता है। परन्तु हमारे नेत्र तो कभी ऐसी स्थिति आने पर न तो क्रुद्ध ही होते हैं और न उससे दूर भागने का प्रयत्न करते हैं। इसी कारण ये स्वयं को कामदेव के हाथों बेच देते हैं, उसके वश में हो जाते हैं। अर्थात् हमारे नेत्रों में काम का प्रभाव छाया रहता है।

यदि इन्हें मृग के समान माना जाय तो वह तो बहेलिए को अपने पास आता देख तुरन्त भाग खड़ा होता है और ऐसे सघन वन में जाकर छिप जाता है, जहाँ कोई भी उसका पीछा न कर सके। परन्तु यह उपमा भी व्यर्थ है, क्योंकि उद्धव रूपी बहेलिए को अपना वध करने के लिए अपने पास आया हुआ देखकर भी ये नेत्र भागकर कहीं जा नहीं छिपे हैं। (उद्धव कृष्ण-प्रेम को भुलाने जैसी प्राणघातक बात करने के कारण ही व्याध कहे गए हैं।) यदि इन्हें लोचन (देखने वाला) कहा जाय तो यह भी व्यर्थ है क्योंकि ब्रजलोचन कृष्ण के अभाव में इन्हें लोचन कैसे कहा जाय? इनकी सार्थकता तो केवल कृष्ण के दर्शन करते रहने में ही है। कृष्ण को बिना देखे इनका दुःख क्षण-क्षण में अत्यधिक बढ़ता ही रहता है। हाँ, केवल एक ही उपमान ऐसा है जिसका थोड़ा-सा अंश इनमें मिल जाता है, और वह है—मछली से इनकी उपमा देना। जिस प्रकार मछली जल से कभी वियुक्त नहीं होती, उसी प्रकार हमारे ये नेत्र भी जल का साथ क्षण भर को भी नहीं छोड़ते। इनमें सदैव आँसू भरे रहते हैं। अर्थात् ये कृष्ण-वियोग में सदैव सजल बने रहते हैं।

विशेष—(१) इस पद में सूरदास ने विभिन्न अलंकारों के प्रयोग द्वारा नेत्रों की विभिन्न उपमाओं का मोहक चित्रण किया है।

(२) सम्पूर्ण पद में रूपक और हीनोपमा अलंकार है। तथा 'उपमा····गही' में व्यतिरेक (व्यंग्य है इसलिए); 'कविजन····कही' में काव्यलिंग; और 'ब्रजलोचन' में परिकर अलंकार है।

(३) अन्तिम पंक्ति में 'मीनता' शब्द का प्रयोग ध्वनिपूर्ण है।

राग गौरी

हरिमुख निरखि निमेख बिसारे।
ता दिन तें मनो भए दिगंबर, इन नैनन के तारे॥
घूँघट-पट छाँड़े बीथिन महँ, अहनिसि अटत उघारे।
सहज समाधि रूपरुचि इकटक, टरत न टक तें टारे॥
सूर, सुमति समुझति, जिय जानति, ऊधो! बचन तिहारे।
करैं कहा ये कह्यो न मानत, लोचन हठी हमारे॥९८॥

शब्दार्थ—निमेख बिसारे=पलक झपकाना भूल गए। दिगम्बर=नंगे। तारे=पुतलियाँ। बीथिन=गलियों। अटत=समाते, घूमते। उधारे=नंगे बदन। टक=टकटकी बाँधकर देखना। टारे=मना करने पर। सुमति=अच्छा विचार।

भावार्थ—गोपियाँ इस बात से विवश हैं कि उनके नेत्र कृष्ण-रूप के अतिरिक्त और कुछ देखना ही पसन्द नहीं करते और रात-दिन उन्हीं के लिए दीवाने बने रहते हैं। गोपियाँ उद्धव से यही कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! कृष्ण के मधुर रूप को देख हमारे ये नेत्र पलक झपकाना भी भूल गए हैं। जिस दिन से इन्होंने कृष्ण के दर्शन किए हैं, मानो उसी दिन से इन नेत्रों की पुतलियाँ दिगम्बर (नंगी) बन गई हैं। ये पलक रूपी घूँघट को हटाकर, अर्थात् बिना पलक झपकाए रात-दिन गलियों में नंगी बनी घूमती रहती हैं। अर्थात् गलियों में टकटकी बाँधे कृष्ण को खोजती रहती हैं। भाव यह है कि पलक न झपकाने के कारण मानो पुतलियाँ पलक रूपी वस्त्र को दूर कर नंगी कृष्ण की खोज में इधर-उधर भटकती रहती हैं। इन्हें लोक-लाज की तनिक भी चिन्ता नहीं रही है। ये पुतलियाँ कृष्ण के सुन्दर रूप के ध्यान में पूर्णत: टकटकी बाँधे तल्लीन बनीं मानो गोपियों के समान सहज-समाधि की अवस्था में स्थित योग-साधना सी करती रहती हैं। और मना करने पर भी नहीं मानतीं। अर्थात् सदैव टकटकी बाँधे कृष्ण के ध्यान में ही डूबी रहती हैं।

हे उद्धव ! हम तुम्हारे अच्छे सुन्दर विचारों को समझती हैं, हृदय में यह अनुभव करती हैं कि तुम्हारा यह कहना उचित और हितकारी है। परन्तु हम करें क्या ! हमारे ये हठीले स्वभाव वाले नेत्र हमारा कहना ही नहीं मानते। अर्थात् ये कृष्ण-रूप को त्याग अन्य किसी (ब्रह्म) को देखना पसन्द ही नहीं करते। फिर हम तुम्हारी बातों को कैसे स्वीकार कर लें ?

विशेष—(१) गोपियाँ अपने वाक्-चातुर्य द्वारा ब्रह्म को स्वीकार न करने का सारा दोष अपने नेत्रों पर मढ़, एक प्रकार से उद्धव को मूर्ख बनाने का सुन्दर प्रयत्न कर रही हैं।

(२) 'ता दिन····तारे' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

राग सारंग

दूर करहु बीना कर धरिबो।
मौहे मृग नाहीं रथ हाँक्यो, नाहिंन होत चंद को ढरिबो।।
बीती जाहि पै सोइ जानै, कठिन है प्रेम-पास को परिबो।
जब तें बिछुरे कमलनयन, सखि, रहत न नयन नीर को गरिबो।।
सीतल चंद अगिनि-सम लागत, कहिए धीर कौन बिधि धरिबो।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु, सब झूठो जतननि को करिबो।।६६।।

शब्दार्थ—धरिबो=धारण करना। ढरिबो=ढलना, अस्त होना। परिबो=पड़ना। गरिबो=गिरना। झूठो=व्यर्थ। जतननि=यतन।

भावार्थ—प्रिय-विरह में दग्ध होती हुई वियोगिनी राधा की दशा जब विषम हो उठती है तो सखियाँ उसका मन बहलाने का प्रयत्न करने लगती हैं। यहाँ कोई सखी वीणा बजाकर वियोग-संतप्त राधा का मन बहलाने का प्रयत्न कर रही है, परन्तु राधा उसे वीणा बजाने से रोक देती है। इसका कारण बताती हुई वह सखी से कहती है कि—

हे सखि ! तू इस वीणा को हाथ में धारण कर बजाना बन्द कर दे। क्योंकि वीणा के मधुर स्वर को सुनकर चन्द्रमा के रथ के मृग मोहित हो स्थिर रह गए हैं, इसलिए अब चन्द्रमा अस्त नहीं हो रहा। भाव यह है कि वियोगिनी को चाँदनी रात बहुत लम्बी और दुःखदायक प्रतीत होती है। वह काटने से नहीं कटती। और राधा इस रात के इतनी लम्बी होने का सारा अपराध वीणा-वादन पर थोप देती है। हे सखि ! प्रेम के पाश में पड़ना बड़ा दुःखदायी होता है। इसकी वेदना का वही अनुभव कर सकता है जिसने किसी से प्रेम किया हो और अपने प्रिय के वियोग का दुःख सहा हो। हे सखि ! जब से कमलनयन कृष्ण मुझ से बिछुड़े हैं, मेरे इन नेत्रों से आँसुओं का गिरना बन्द ही नहीं होता। अर्थात् मैं हर समय उनके वियोग में रोती रहती हूँ।

मुझे यह शीतल चन्द्रमा अग्नि के समान दग्ध करने वाला लगता है। यह बताओ कि ऐसी अवस्था में मैं किस प्रकार धैर्य धारण करूँ ? सूरदास कहते हैं कि राधा अपनी सखी से कह रही है कि स्वामी कृष्ण के दर्शनों के बिना अन्य सारे प्रयत्न करना व्यर्थ है। अर्थात् राधा का यह दुःख केवल कृष्ण-दर्शन से ही दूर हो सकता है, अन्य किसी भी प्रकार नहीं।

विशेष—(१) वियोगिनी को संयोगावस्था में सुखद लगने वाली वस्तुएँ वियोगावस्था में दग्ध करने वाली बन जाती हैं। संयोगिनी को चन्द्रमा शीतल और आनन्ददायक लगता है परन्तु वियोगिनी के लिए वही दग्ध करने वाला बन जाता है। सूरदास ने इस पद में इसी काव्य-परम्परा का अंकन किया है।

(२) जायसी ने भी वियोगिनी पर चाँदनी रात में वीणा-वादन का यही प्रभाव दिखाया है—

"गहै बीनु मकु रैन बिहाई। ससि वाहन तहँ रहे ओनाई ॥"

(३) इस पद में प्रधान रूप से 'विषादन' अलंकार है। जब किसी के दुःख-निवारण के लिए कोई उपाय किए जायँ और उस उपाय से वह और भी अधिक बढ़ जाय तो वहाँ 'विषादन' अलंकार होता है। यहाँ राधा के मनोरंजन के लिए वीणा-वादन किया गया, परन्तु उससे राधा का सन्ताप और अधिक बढ़ गया।

(४) 'मोहे····ढरिबो' में उत्प्रेक्षा; 'सीतल····गरिबो' में अतिशयोक्ति; 'प्रेम-पाश' में रूपक; 'कमल नयन' में लुप्तोपमा; 'सूरदास····करिबो' में विशेषोक्ति अलंकार है।

(५) प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण किया गया है।

राग जैतश्री

अति मलीन बृषभानु कुमारी ।
हरि-स्रमजल अंतर-तनु भीजे, ता लालच न धुआवति सारी ।।
अधोमुख रहति उरध नहिं चितवति, ज्यों गथ हारे थकति जुआरी ।
छूटे चिहुर, बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी ।।
हरि-संदेस सुनि सहज मृतक भईं, इक बिरहिनि दूजे अलि जारी ।
सूर स्याम बिनु यों जीवति हैं, ब्रजबनिता सब स्याम दुलारी ।।१००।।

शब्दार्थ—मलीन=मैली, उदास । हरि-स्रमजल=कृष्ण के साथ की गईं प्रेम-क्रीड़ाओं के समय शरीर से निकला हुआ पसीना । अन्तर तनु=हृदय और शरीर । अधोमुख=नीचा मुख किए । उरध=ऊपर की ओर । गथ=पूँजी । चिहुर=चिकुर, केश । बदन=मुख । हिमकर=तुषार ।

भावार्थ—कृष्ण-विरह में सन्तप्त राधा अत्यन्त दीन और दयनीय बन गई है । उद्धव के उपदेश ने उसकी स्थिति को और भी अधिक विषम बना दिया है । गोपियाँ राधा की उसी स्थिति का वर्णन कर रही हैं कि—

वृषभानु कुमारी राधा कृष्ण के विरह में अत्यन्त मलीन रहने लगी है । वह अपने वस्त्रों को भी साफ नहीं करती, मैली साड़ी पहने रहती है । इसका कारण यह है कि कृष्ण के साथ केलि-क्रीड़ा करते समय प्रेमावेश के कारण कृष्ण के शरीर से निकले हुए पसीने से राधा का सर्वाङ्ग और साड़ी भीग गई थी । अब उस साड़ी में कृष्ण के शरीर की वही मोहक गन्ध अनुभव होती रहती है । इसी लालच के कारण वह उस साड़ी को नहीं धुलवाती । क्योंकि उसे धुलवाने से उसमें रमी हुई वह मोहक गन्ध नष्ट हो जायेगी । इसी कारण राधा सदैव उसी मैली साड़ी को पहने रहती है । वह सदैव नीचा मुख किए उन्हीं पूर्व मधुर स्मृतियों में खोई बैठी रहती है । कभी मुख उठाकर ऊपर नहीं देखती । उसकी दशा उस जुआरी की-सी हो रही है जो जुए में अपनी सारी पूँजी हार गया हो और नीचा मुख किए उदास बैठा हो । राधा भी अपना सर्वस्व कृष्ण को अर्पित कर लुटी हुई-सी उदास बैठी रहती है । वह ऊपर मुख उठाकर इसलिए नहीं देखती, क्योंकि उसे कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ देखना अच्छा नहीं लगता ।

उसके बाल बिखरे रहते हैं और मुख कुम्हलाया रहता है । उसकी दशा उस कमलिनी के समान निष्प्रभ और दयनीय हो उठी है जिसे तुषार मार गया हो; अर्थात् पाला मार गया हो । वह एक तो पहले से ही कृष्ण की विरहिणी बनी हुई थी, उस पर भौंरा बार-बार उसके पास आकर अपने रूप और गुण-सादृश्य द्वारा कृष्ण का स्मरण करा कर उसे व्यथित करता रहता था । उसका यह दुःख ही असहनीय था । ऊपर से उद्धव द्वारा लाए गए कृष्ण के इस सन्देश को सुनकर तो वह मर ही सी गई है । अर्थात् इस सन्देश ने उसे प्राणान्तक वेदना पहुँचाई है । और ऐसी विषम

स्थिति उस अकेली राधा की ही नहीं है, कृष्ण की प्यारी सम्पूर्ण ब्रज-युवतियाँ इसी प्रकार कृष्ण-वियोग की मर्मान्तिक वेदना झेलती हुई जी रही हैं।

विशेष—(१) विरहिणी राधा का अत्यन्त मार्मिक और प्रभावशाली चित्रण किया गया है।

(२) उपमा, उत्प्रेक्षा और काव्यलिंग अलंकारों का प्रयोग किया गया है।

(३) विरह की अन्तिम अवस्था 'मरण' का चित्रण है।

राग मलार

ऊधो ! तुम हौ अति बड़भागी।
अपरस रहत सनेहतगा तें, नाहिन मन अनुरागी ।।
पुरइनि-पात रहत जल-भीतर, ता रस देह न दागी।
ज्यों जल माँह तेल की गागरि, बूँद न ताके लागी ।।
प्रीति-नदी में पाँव न बोर्‍यो, दृष्टि न रूप-परागी।
सूरदास अबला हम भोरी, गुर चींटी ज्यों पागी ।।१०१।।

शब्दार्थ—बड़भागी=अत्यन्त भाग्यशाली। अपरस=अनासक्त, दूर। सनेह-तगा=स्नेह का डोरा, बन्धन। पुरइनि-पात=कमल का पत्ता। रस=जल। दागी=दाग तक नहीं लगता। बोर्‍यो=डुबाया। परागी=उलझी, पगीं। गुर=गुड़। पगी=पग गई, आसक्त हो गईं।

भावार्थ—प्रेममार्गी गोपियाँ अपने सगुण-प्रेम-पंथ की विकटता और उसके प्रति अपनी अनन्य दृढ़ता को प्रकट करती हुई उद्धव की प्रेमहीनता पर व्यंग्य कर रही हैं कि हे उद्धव ! तुम सचमुच बड़े भाग्यशाली हो, क्योंकि तुम प्रेम-बन्धन से सर्वथा मुक्त, अनासक्त हो और न तुम्हारा मन ही कभी किसी के प्रेम में अनुरक्त होता है। तुम कृष्ण के पास रहते हुए भी उनके प्रेम-बन्धन से उसी प्रकार सर्वथा मुक्त रहते हो, जिस प्रकार कमल का पत्ता सदैव जल में ही रहता है परन्तु उस पर जल का एक भी दाग नहीं लग पाता। अर्थात् उस पर जल की एक बूँद भी नहीं ठहर पाती। अथवा तेल की मटकी को जल के भीतर डुबोने पर भी उस पर जल की एक बूँद नहीं लगती। इस प्रकार तुम भी प्रेम-रूप कृष्ण के सदैव समीप रहते हुए भी कभी उनसे प्रेम नहीं करते, उनके प्रभाव से सर्वथा मुक्त बने रहते हो।

तुमने आज तक कभी भी प्रेम-नदी में अपना पैर तक नहीं डुबाया। अर्थात् कभी प्रेम के पास तक नहीं फटके। और तुम्हारी दृष्टि किसी के रूप को देख उसके प्रति आकर्षित हो वहाँ नहीं उलझी। परन्तु हम तो भोली-भाली अबलाएँ हैं जो अपने प्रियतम की रूप-माधुरी पर उसी प्रकार आसक्त हो उसके प्रेम में पग गई हैं, जैसे चींटी गुड़ पर आसक्त हो उसके ऊपर चिपट जाती हैं और फिर छूट नहीं पातीं। वहीं प्राण दे देती हैं।

विशेष—(१) यहाँ गोपियाँ उद्धव की प्रेम-नीरसता की भर्त्सना करती हुई उन पर व्यंग्य कस रही हैं। वास्तव में उद्धव भाग्यशाली न होकर अभागे हैं जो प्रेम-स्वरूप कृष्ण के समीप रहते हुए भी उनसे प्रेम न कर सके। यहाँ यही भाव प्रधान है। 'अति बड़भागी' व्यंग्य है।

(२) 'पुरइनि····दागी', 'ज्यों····लागी' तथा 'गुर चींटी····पागी' में उपमा और दृष्टान्त—दोनों ही अलंकार माने जा सकते हैं। प्रतिवस्तूपमा

'प्रीति-नदी में रूपक अलंकार है।

ऊधो यह मन और न होय।
पहले ही चढ़ि रह्यौ स्याम-रँग, छुटत न देख्यो धोय॥
कैतव बचन छाँड़ि हरि हमको, पोइ करैं जो मूल।
जोग हमैं ऐसो लागत हैं, ज्यों तोहि चंपक फूल॥
अब क्यों मिटत हाथ की रेखा? कहौ कौन बिधि कीजै।
सूर स्याममुख आनि दिखाओ, जाहि निरखी करि जीजै॥१०२॥

शब्दार्थ—देख्यो=देख लिया।। कैतव=छल, कपट। मूल=मूलतः, पहले की तरह। तोहि=यहाँ भ्रमर से तात्पर्य है; भौंरा चम्पा के फूल के पास तक नहीं फटकता। जीजैं=जीवित रहें।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण-प्रेम में अपनी अनन्य दृढ़ता घोषित करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव! अब हमारा यह मन अपना वर्तमान रूप नहीं छोड़ सकता। अर्थात् अन्य किसी के प्रति आसक्त नहीं हो सकता। इस पर तो पहले से ही कृष्ण-प्रेम का काला रंग चढ़ा हुआ है। और हमने इसे कई बार धो-धोकर देख लिया है, परन्तु इस पर चढ़ा यह काला रङ्ग छूटता नहीं। भाव यह है कि काले रंग के समान हमारा कृष्ण के प्रति प्रेम न तो दूर हो सकता है और न हम उन्हें त्याग, अन्य किसी से (तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म से) प्रेम ही कर सकती हैं। इसलिए तुम कृष्ण से जाकर यह कह देना कि वह इन कष्ट भरे उपदेशों का भेजना छोड़कर हमारे साथ वैसा ही व्यवहार करें जैसा वह मूलतः अर्थात् आरम्भ से ही (प्रेमपूर्ण व्यवहार) करते आए थे। रे भ्रमर! हमें तुम्हारा यह योग उसी प्रकार अनाकर्षक लगता है जैसे कि तुम्हें चम्पा का फूल लगता है। अर्थात् सम्भव है कि तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म में चम्पा के फूल के समान तीव्र गन्ध जैसा प्रबल आकर्षण हो, परन्तु हमारे लिए वह वैसा ही त्याज्य और आकर्षणहीन है, जैसे तुम्हारे लिए चम्पा का फूल। अपनी-अपनी रुचि ही जो ठहरी।

अब हमारी भाग्य-रेखा कैसे मिट सकती है? तुम्हीं बता दो कि किस उपाय द्वारा इस भाग्य-रेखा को मिटाया जा सकता है? अर्थात् हमारे भाग्य में तो केवल कृष्ण से ही प्रेम करना लिखा है। इसलिए हम प्रयत्न करने पर भी तुम्हारे

निर्गुण ब्रह्म से प्रेम नहीं कर सकतीं। इसलिए अब तुम हमें यहाँ लाकर कृष्ण के सुन्दर मुख का दर्शन करा दो, जिसे देख-देखकर हम जीवित रह सकें। अर्थात् वही हमारे जीवन के आधार हैं।

विशेष—(१) चम्पा और भ्रमर के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि चम्पा की तीव्र गन्ध के कारण भ्रमर उसके पास तक नहीं फटक पाता।

(२) भाग्य-रेखा अमिट होती है। संस्कृत की एक कहावत है—

"यत्किंचिद्विधिना ललाट लिखितं तन्मार्जितुं कः क्षयः।"

(३) द्वितीय पंक्ति में लोकोक्ति तथा चतुर्थ में उपमालंकार, 'स्याम रंग' में श्लेष अलंकार है।

राग गौड़

ऊधो ! ना हम बिरही, ना तुम दास।
कहत सुनत घट प्रान रहत है, हरि तजि भजहु अकास॥
बिरही मीन मरत जल बिछुरे, छाड़ि जियन की आस।
दास भाव नहिं तजत पपीहा, बरु सहि रहत पियास॥
प्रगट प्रीति दसरथ प्रतिपाली, प्रीतम के बनवास।
सूर स्याम सौं दृढ़ब्रत कीन्हों, मेटि जगत-उपहास॥१०३॥

शब्दार्थ—अकास=आकाश, शून्य, निर्गुण ब्रह्म। जियन की=जीवित रहने की। बरु=भले ही। जगत-उपहास=संसार द्वारा किया जाने वाला उपहास, मजाक, बदनामी।

भावार्थ—गोपियाँ एक तरफ तो अपने प्रेम को पूर्ण परिपक्व नहीं समझतीं, और दूसरी तरफ उद्धव को कृष्ण का सच्चा सेवक भी नहीं समझतीं। क्यों नहीं समझतीं ? इसी का स्पष्टीकरण करती हुई वह उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! सच्चे अर्थों में न तो हम कृष्ण की विरहिणी हैं और न तुम उनके दास अर्थात् सेवक हो। हम सच्ची विरहिणी इसलिए नहीं हैं कि तुम हमसे कृष्ण को त्याग कर शून्य अर्थात् निर्गुण ब्रह्म की आराधना करने की बात कर रहे हो और हम तुम्हारी ऐसी भयंकर, असंगत और प्राणघातक बात को सुनकर भी अभी तक जीवित हैं। यदि हम कृष्ण की सच्ची विरहिणी होतीं तो इस बात को सुनते ही हमें प्राण त्याग देने चाहिए थे। और तुम कृष्ण के सच्चे सेवक इसलिए नहीं हो, क्योंकि तुम अपने स्वामी कृष्ण के साथ विश्वासघात कर हमें उन्हें त्याग निर्गुण ब्रह्म की आराधना करने के लिए उकसा रहे हो। और स्वयं भी निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते हो।

सच्ची विरहिणी तो मछली होती है जो जल के बिछुड़ जाने पर अपने जीवित रहने की आशा त्याग तुरन्त मर जाती है। और सच्चा सेवक तो पपीहा होता है जो निरन्तर प्यास की यन्त्रणा को सहता रहता है, परन्तु फिर भी मेघ के प्रति अपने

सेवाभाव को न त्याग निरन्तर उसी का नाम रटता रहता है। इसलिए न हम मछली के समान सच्ची विरहिणी हैं और न तुम पपीहा के समान सच्चे सेवक हो। सच्चे प्रेम का पालन तो राजा दशरथ ने किया था, जिन्होंने प्राणाधार पुत्र (राम) द्वारा वनवास के लिए प्रस्थान करते ही, उनके वियोग में अपने प्राण त्याग दिए थे। हमने भी संसार के उपहास की चिन्ता न कर, उसी प्रकार दृढ़तापूर्वक प्रेम करने का प्रण किया था, परन्तु हम दशरथ के समान अपने इस प्रेम का पालन करने में असमर्थ रहीं। क्योंकि तुम्हारे द्वारा उन्हें त्याग निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने की बात सुनकर भी हम अभी तक जीवित हैं। और न उनके वियोग में अपने प्राण ही त्याग सकी हैं।

विशेष—(१) प्रथम पंक्ति में उक्ति-वैचित्र्य का सुन्दर उदाहरण है।

(२) 'बिरही····पियास' में काव्यलिंग तथा उदाहरण—दोनों अलंकार माने जा सकते हैं। 'प्रगट····बनवास' में उदाहरण अलंकार है। कुछ लोग इसमें उपमा अलंकार भी मानते हैं।

राग सोरठ

ऊधो ! कही सो बहुरि न कहियो।
जौ तुम हमहिं जिवायौ चाहौ, अनबोले ह्वै रहियो॥
हमारे प्रान अधात होत हैं, तुम जानत हौ हाँसी।
या जीवन तें मरन भलो है, करवट लैबो कासी॥
जब हरि गवन कियौ पूरब लौं, तब लिखि जोग पठायो।
यह तन जरिकै भस्म ह्वै निबर्‌यो, बहुरि मसान जगायो॥
कै रे ! मनहर आनि मिलायो, कै लै चलु हम साथे।
सूरदास अब मरन बन्यो है, पाप तिहारे माथे॥१०४॥

शब्दार्थ—बहुरि=फिर। अनबोले=मौन, चुप। अघात=आघात, चोट। पूरब लौं=पूर्व दिशा की ओर। निबर्‌यो=समाप्त हो गया। मसान जगायो=श्मसान जगाना। कै=या तो। मरन बन्यो है=मरण निश्चित है।

भावार्थ—उद्धव द्वारा निरन्तर योग-सन्देश का राग अलापते रहने से गोपियाँ क्षुब्ध होकर उनसे कह रही हैं कि हे उद्धव ! तुमने अब तक जो कुछ हमसे कहा है, उसे फिर मत कहना। अगर तुम यह चाहते हो कि हम लोग जीवित रहें तो आगे मौन बने रहना। अर्थात् अब यदि तुमने अपनी उन्हीं बातों को फिर दुहराया तो सुनकर हमारी मृत्यु निश्चित है। हमारी बातें सुनकर तुम तो यह समझ रहे हो कि हम तुमसे मजाक कर रही हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि तुम्हारी इन बातों को सुनकर हमारे हृदय को भयंकर आघात पहुँचता है। कृष्ण-वियोग में इस प्रकार रात-

दिन तड़पते रहने से तो यह अच्छा होगा कि हम काशी-करवट लेकर अपने प्राण त्याग दें। (पुराने जमाने में लोग मुक्ति की इच्छा से काशी जाकर वहाँ अपने को आरे से कटवा डालते थे। उसी क्रिया को 'काशी-करवट लेना' कहा जाता है।) जब कृष्ण यहाँ से पूर्व दिशा की ओर अर्थात् मथुरा गये थे, तब उन्होंने हमारे लिये यह योग का सन्देश भेजा। अर्थात् उनके जाने से ही हम अत्यधिक दुःखी थीं, ऊपर से उन्होंने यह योग का सन्देश भेजकर हमें मर्मान्तिक कष्ट पहुँचाया है। हमारा यह शरीर तो पहले ही उनकी वियोगाग्नि में जल, भस्म हो समाप्त हो चुका है। और अब तुम यह योग-साधना का सन्देश लेकर हमें पुनः श्मसान जगाने का उपदेश देने आए हो। अर्थात् हमारा यह शरीर तो कृष्ण की विरहाग्नि में पहले ही भस्म हो चुका है, अब हम इस शरीर द्वारा पुनः श्मसान जगाने जैसी भयंकर योग-साधना कैसे कर सकेंगी ? (साधक श्मसान में जलती चिता के पास बैठ उसकी अग्नि में तपते हुए श्मसान जगाने की साधना करते हैं।)

हे उद्धव ! या तो अब तुम कृष्ण को यहाँ लाकर हमें उनसे मिला दो, या हमें अपने साथ मथुरा ले चलो। अब हमारी मृत्यु निश्चित है, क्योंकि कृष्ण का वियोग हमसे अब नहीं सहा जाता। यदि हम मर गईं तो इसका पाप तुम्हें ही लगेगा।

विशेष—यहाँ विरह की अन्तिम दशा 'मरण' का चित्रण किया गया है। काव्य में मरण को यथार्थ रूप में न दिखाकर, मरणासन्न दशा का ही चित्रण किया जाता है। वही दशा इस समय गोपियों की हो रही है।

राग सारङ्ग

ऊधो ! तुम अपनो जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागै, किन बेकाज ररौ !
जाय करौ उपचार आपनो, हम जो कहत हैं जी की।
कछू कहत कछुवै कहि डारत, धुन देखियत नहिं नीकी ॥
साधु होय तेहि उत्तर दीजै, तुमसो मानी हारि।
याही तें तुम्हें नँदनंदनजू, यहाँ पठाए टारि ॥
मथुरा बेगि गहौ इन पाँयन, उपज्यौ है तन रोग।
सूर सुबैद बेगि किन ढूंढ़ौ, भए अर्द्ध जल जोग ॥१०५॥

शब्दार्थ—जतन=यत्न, इन्तजाम। कुहित=बुरी। बेकाज=व्यर्थ। ररौ=रार ठानते हो, लड़ते हो। उपचार=इलाज। नीकी=अच्छी। टारि=टालकर। बेगि=शीघ्र। सुबैद=अच्छा वैद्य। किन=क्यों नहीं। अर्द्धजल=मरने के निकट। जोग=योग्य।

भावार्थ—गोपियों द्वारा बार-बार रोके जाने पर भी उद्धव अपने योग और

निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी बातें रटे चले जा रहे हैं। इस पर गोपियाँ उन्हें सन्निपात-ग्रस्त सिद्ध कर उनसे कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम अपना इलाज कराओ। हम तुमसे तुम्हारी भलाई की ही बातें कह रही हैं, परन्तु तुम्हें वे अहितकर (बुरी) लगती हैं। हमसे क्यों व्यर्थ की रार ठान रहे हो, क्यों झगड़ा कर रहे हो ? हम सच्चे हृदय से ही तुम्हें यह सलाह दे रही हैं कि तुम जाकर अपना इलाज करवाओ। तुम कहना कुछ चाहते हो, परन्तु कह कुछ दूसरी ही बातें डालते हो। और अपनी धुन में लगातार बकझक किए चले जा रहे हो। हमें तुम्हारी यह दशा ठीक नहीं लगती। अर्थात् सन्निपात-ग्रस्त रोगी के समान उटपटाँग बकते चले जा रहे हो। कोई सज्जन व्यक्ति हो तो उसकी बातों का उत्तर भी दिया जाय परन्तु तुम जैसे झक्की से कोई क्या कहे ! इसलिए हम तुमसे हार माने ले रही हैं।

हमें ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारी इस बक-झक करते रहने की आदत से ही परेशान होकर, तुमसे अपना पीछा छुड़ाने के लिए नन्दनन्दन कृष्ण ने तुम्हें टाल कर यहाँ हमारे पास भेज दिया है। तुम्हारे शरीर में बीमारी उत्पन्न हो गई है, इसलिए तुम तुरन्त मथुरा चले जाओ। तनिक भी देर मत करो। तुम्हारी अवस्था मरणासन्न हो रही है, इसलिए जाकर किसी अच्छे वैद्य की तलाश क्यों नहीं करते ?

विशेष—अर्द्धजल=रोगी जब मरने को होता है तो उसे अर्द्धजल; अर्थात् गंगाजल पिलाया जाता है। इसलिए यहाँ इस शब्द द्वारा सन्निपात में ग्रस्त उद्धव की मरणासन्न-सी दशा की ओर इंगित कर गोपियाँ उनका मजाक उड़ा रही हैं।

राग सोरठ

ऊधो ! जाके माथे भाग।
कुबजा को पटरानी कीन्हीं, हमहिं देत बैराग ।।
तलफत फिरत सकल ब्रजबनिता, चेरी चपरि सोहाग।
बन्यो बनाओ संग सखी री ! वै रे ! हंस वै काग ।।
लौंडी के घर डौंड़ी बाजी, स्याम राग अनुराग।
हाँसी, कमलनयन-सँग खेलति बारहमासी फाग ।।
जोग की बेलि लगाबन आए, काटि प्रेम को बाग।
सूरदास प्रभु ऊख छाँड़ि कै, चतुर चिचोरत आग ।।१०६।।

शब्दार्थ—माथे भाग=भाग्य में लिखा हुआ। चेरि=दासी। चपरि=चुपड़ कर, संयुक्त करके। सोहाग=सौभाग्य। वै=वे, वैसे ही। डौंडी=दुन्दुभी। फाग= होली। चिचोरत=चूसते हैं। आग=गन्ने का ऊपरी पत्तों वाला हिस्सा जिसे गाँवों में 'अंगोला' कहते हैं। शुक्लजी ने इसका अर्थ आक या मदार माना है जो गलत है।

भावार्थ—दासी कुब्जा के भाग्य पर ईर्ष्या करती हुई गोपियाँ अपने भाग्य

को दोष दे रही हैं। वे उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव ! जिसके भाग्य में जैसा लिखा होता है उसे वैसा ही मिलता है। यह कुब्जा का भाग्य-लेख ही था कि उसे तो कृष्ण ने अपनी पटरानी बना लिया और यह हमारा दुर्भाग्य ही था जिसके कारण कृष्ण हमें वैराग्य-साधना करने का सन्देश भेज रहे हैं। अर्थात् सब अपने-अपने भाग्य की बात है कि ब्रज की सारी युवतियाँ तो कृष्ण-विरह में तड़पती फिर रही हैं और दासी कुब्जा को उन्हीं कृष्ण ने एकबारगी ही अपने से संयुक्त कर सौभाग्यशाली बना दिया है। इसके उपरान्त एक गोपी अपनी सखी को सम्बोधित कर, कहती है कि हे सखि ! देख ! विधाता ने कृष्ण और कुब्जा की यह कैसी अद्भुत जोड़ी बनाई है, जैसे हंस और कौए की-सी जोड़ी हो। (कृष्ण हंस के समान शुभ और सुन्दर और कुब्जा कौए के समान अशुभ और असुन्दर है।) यह भाग्य की ही बात है कि आज दासी के घर आनन्द की दुन्दुभी बज रही हैं, क्योंकि वह श्याम के प्रेम को प्राप्त कर उमंग से भर उठी है। आज वह दिन-रात हँसती हुई (प्रसन्न) कमलनयन कृष्ण के साथ इस प्रकार रंगरेलियाँ मनाती रहती है—मानो कोई बारहों मास तक फाग खेलने में मस्त बना रहे। अर्थात् वह सदैव प्रसन्न और आनन्द-क्रीड़ाओं में डूबी रहती है।

हे उद्धव ! यह भाग्य की ही बात है कि तुम विशाल बाग के समान हरे-भरे, सघन हमारे प्रेम के बाग को काट कर, नष्ट कर उसके स्थान पर योग की वेलि लगाने के लिए यहाँ आए हो। अर्थात् कृष्ण को भुला, योग-साधना करने का तुच्छ सा उपदेश देने पधारे हो। यह तो वैसा ही असंगत और मूर्खतापूर्ण कार्य है, जैसे कोई बुद्धिमान मनुष्य गन्ने को त्याग कर उसके 'आग' या 'अंगोला' को चूसने का प्रयत्न करे। (अंगोला काटकर पशुओं को खिलाया जाता है।) अर्थात् कृष्ण-प्रेम जैसी गन्ने के समान मधुर वस्तु को त्याग अंगोला के समान फीके, पशुओं के खाने योग्य तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लेना परम मूर्खता की बात होगी। अतः हम उसे स्वीकार नहीं कर सकतीं।

विशेष—(१) गोपियों की कुब्जा के भाग्य पर ईर्ष्या और खीझ दर्शनीय है।

(२) अन्तिम दोनों पंक्तियों में रूपक अलंकार है।

(३) गन्ने को त्याग कर उनके अंगोले को चूसने का प्रयत्न करना मूर्खता का प्रतीक होता है।

राग सारंग

ऊधो ! अब यह समुझ भई।
नँदनंदन के अंग-अंग प्रति उपमा न्याय दई।।
कुंतल, कुटिल भँवर, भरि भाँवरिं मालति भुरै लई।
तजत न गहरु कियो कपटी जब जानी निरस गई।।

१०

आनन इंदुबरन-संमुख तजि करखे तें न नई।
निरमोही नहिं नेह, कुमुदिनी अंतहि हेम हई।।
तन घनस्याम सेइ निसिबासर, रटि रसना छिजई।
सूर विवेकहीन चातक-मुख बूँदौ तौ न सई।।१०७।।

शब्दार्थ—प्रति=लिए। न्याय दई=उचित दी गई। कुंतल=केशराशि। कुटिल=घुँघराले। भरि भाँवरि=बार-बार चारों ओर चक्कर काट कर। भुरै-लई=भुलावे में डाल लिया। गहरु=विलम्ब। निरस गई=नीरस हो गई। करखे तें=खींचने पर भी। हेम हई=पाला मारकर मार डाला। छिजई=नष्ट हो गई। सई=समाई, गई।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव द्वारा लाए गए कृष्ण के योग-सन्देश को बार-बार सुन-सुनकर खीझ उठती हैं और इस बार कवियों द्वारा दी गईं कृष्ण के अंग-प्रत्यंगों की उपमाओं के माध्यम से कृष्ण को छली, कपटी सिद्ध करती हैं। वह उद्धव से कहती हैं कि—

हे उद्धव! अब यह बात हमारी समझ में अच्छी तरह से आ गई कि कवियों ने नन्दनन्दन कृष्ण के अंग-प्रत्यंगों की जो उपमाएँ निश्चित की हैं, वे पूर्णतः न्याय-संगत और ठीक हैं। अब तक हम इन उपमानों को उनके सौन्दर्य का उद्घाटन करने वाला ही समझती थीं, परन्तु अब यह स्पष्ट हो गया कि ये उपमान उनके उस कपटी स्वभाव के कारण ही निश्चित किये गये थे। कृष्ण के घुँघराले केशों की उपमा कुटिल भ्रमर से दी गई है। जिस प्रकार भ्रमर भोली-भाली मालती के चारों ओर बारम्बार चक्कर काटता तथा अपनी गुँजार द्वारा उसकी प्रशंसा करता हुआ उसे भुलावा दे, अपने जाल में फाँस लेता है, अपने प्रति आकर्षित कर लेता है और जब जी भर कर उसका रसपान करने के बाद यह जान लेता है कि अब इसमें कोई रस नहीं रहा, तो वह कपटी भ्रमर उसे त्यागने में तनिक भी विलम्ब नहीं करता। उसे छोड़ दूसरे पुष्पों की तलाश में चल देता है। इसी प्रकार कृष्ण ने भी अपने घुँघराले सुन्दर केशों द्वारा हमें अपनी मीठी-मीठी बातों में फाँस लिया और हमारे साथ जी भरकर केलि-क्रीड़ाएँ करने के उपरान्त हमें रसहीन हुई समझ कर तुरन्त हमें त्याग मथुरा चले गए और कुब्जा के प्रेम में मग्न हो उठे।

इसी प्रकार कृष्ण के मुख की उपमा चन्द्रमा से दी जाती है। कुमुदिनी चंद्रमा की अनुरागिनी होने के कारण निरन्तर टकटकी बाँधे सी की ओर देखती रहती है। चाहे बिजली गिरे या ओले बरसें, वह ऊपर चन्द्रमा की ओर देखना त्याग, कभी नीचे की ओर नहीं झुकती। परन्तु चन्द्रमा इतना निर्मोही होता है कि अन्त में अपनी ऐसा अनन्य प्रेमिका कुमुदिनी को पाला डालकर मार डालता है! (चन्द्रमा को हिम-कर अर्थात् बर्फ के समान शीतल किरणों वाला कहा जाता है।) वही हाल हमारे साथ कृष्ण ने किया है। हम अन्य आकर्षणों, वियोग-व्यथा आदि किसी भी कारण

से उनसे प्रेम करने से विरत नहीं हुई, परन्तु अन्त में उन्होंने यह योग-सन्देश भेज कर हमें प्राणान्तक कष्ट पहुँचा कर मार डालने का उपक्रम किया है। अतः यह उपमा भी संगत है।

उनके शरीर की उपमा घनश्याम (काले बादल) से दी गई है। यह भी पूर्णतः उचित है। चातक श्याम घन का प्रेमी होता है। वह रात-दिन उसी का नाम रटता हुआ अपनी जिह्वा को घिस डालता है, परन्तु यह श्याम घन इतना विवेकहीन अर्थात् दुर्बुद्धि होता है कि कभी उस चातक के मुख में स्वाति-जल की एक बूँद तक नहीं टपकाता। हम भी चातक के ही समान रात-दिन कृष्ण-नाम को ही रटती रहती हैं, परन्तु कृष्ण से इतना भी नहीं बनता कि हमें अपना दर्शन दे, जीवन-दान दे सकें। वह भी श्याम घन के ही समान निष्ठुर और विवेकहीन हैं।

विशेष—(१) गोपियाँ कृष्ण-सौन्दर्य के विभिन्न उपमानों द्वारा उनकी कपटी, निर्मोही, निष्ठुर और विवेकहीन प्रकृति का उद्घाटन कर रही हैं।

(२) 'ऊधौ……भई' में वक्रोक्ति; 'नन्दनन्दन……दई' में काव्यलिंग; 'मालति……लई' में उपमा तथा अन्योक्ति; 'अङ्ग-अङ्ग' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है। साथ ही सम्पूर्ण पद में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार भी माना जा सकता है।

राग धनाश्री

ऊधो ! हम अति निपट अनाथ।
जैसे मधु तोरे की माखी, त्यों हम बिनु ब्रजनाथ॥
अधर-अमृत की पीर मुई, हम बालदसा तें जोरी।
सो तौ बधिक सुफलसुत लै गयो अनायास ही तोरी॥
जब लगि पलक पानि मीड़ति रही, तब लगि गए हरि दूरी।
कै निरोध निबरे तिहि अवसर, दै पग रथ की धूरी॥
सब दिन करी कृपन की संगति, कबहुँ न कीन्हों भोग।
सूर बिधाता रचि राख्यो है, कुबजा के मुख-जोग॥१०८॥

शब्दार्थ—निपट=बिल्कुल। मधु तोरे की माखी=शहद का छत्ता तोड़ने पर उसकी भटकती हुई मक्खियाँ। मुई=मर गई। पानि=हाथ। निरोध=रोकना। धूरी=धुरी या धूल। कृपन, कंजूस।

भावार्थ—गोपियाँ अपनी सम्पूर्ण अक्खड़ता और व्यंग्य त्याग अत्यन्त दीन बन, उद्धव से अपनी संचित अभिलाषाओं के अधूरी, अपूर्ण रह जाने की वेदना का वर्णन करती हुई कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! हम तो नितान्त अनाथ हो गई हैं। ब्रजनाथ कृष्ण ही हमारे एक-मात्र आश्रय और सम्पूर्ण अभिलाषाओं के केन्द्र थे। अब उनके बिना हम उसी प्रकार निराश्रय और अनाथ बन भटकती फिरती हैं, जैसे शहद के छत्ते को तोड़ लेने पर

उसकी मधुमक्खियाँ अपने सम्पूर्ण संचित मधु और आश्रय-स्थल (छत्ते) से वंचित हो व्याकुल बन इधर-उधर भटकती, उड़ती फिरती हैं। हमने बाल्यकाल से ही अपनी इस आकांक्षा को सहेजकर रखा था कि कृष्ण के बड़े होने पर उनके अधरामृत का पान करेंगी। परन्तु अब कृष्ण के चले जाने से उस आकांक्षा को सहेजकर संचित करने और उपभोग न करने की जो वेदना थी, वह नष्ट हो गई है। (अपनी भावनाओं का शमन करने में व्यक्ति को वेदना का अनुभव होता है। यहाँ गोपियाँ उसी के प्रति संकेत कर रही हैं।) वधिक (बहेलिया) अक्रूर आकर हमारी उस संचित अभिलाषा के आधार कृष्ण रूपी शहद के छत्ते को अनायास (एकाएक) ही तोड़कर यहाँ से ले गया। कृष्ण को अपने साथ मथुरा ले गया।

इस एकाएक हुए आक्रमण से हतप्रभ-सी होकर जब तक हम हाथों से अपनी आँखों को मीड़ती रहीं, तब तक कृष्ण दूर चले गये थे। अर्थात् जब तक इस आकस्मिक घटना के प्रभाव से हम मुक्त होने का प्रयत्न करती रहीं, तब तक तो कृष्ण दूर पहुँच चुके थे। हमने उस समय उन्हें रोकने की भी कोशिश करनी चाही, परन्तु अक्रूर रथ पर बैठ पीछे धूल उड़ाता हुआ उन्हें भगा ले गया। जब तक कृष्ण यहाँ हमारे पास रहे थे, हमने उनके साथ वैसा ही व्यवहार किया था, जैसा कंजूस की संगति में रहने वाला व्यक्ति करता है। अर्थात् उनके साथ कभी भोग-विलास नहीं किया था। हम उनके प्रति अपनी भोग करने की लालसा को कंजूस के धन की तरह उनसे छिपाती ही रहीं, कभी उन पर प्रकट नहीं होने दी। परन्तु इसमें हम किसे दोष दें? ऐसा तो विधाता ने हमारे भाग्य में लिख रखा था कि हमें कृष्ण के अधरामृत को पान करने का सौभाग्य नहीं मिलेगा। विधाता ने यह सौभाग्य तो कुब्जा के भाग्य में लिख दिया था। फिर हमें कैसे मिलता?

विशेष—(१) इसमें गोपियों का दैन्य बहुत मार्मिक बन पड़ा है।

(२) शहद के छत्ते का उदाहरण देकर गोपियाँ यह कहना चाह रही हैं कि हम कृष्ण के साथ भोग-विलास करने की अपनी आकांक्षा को संयमित-संचित कर उचित समय आने पर ही उसे पूर्ण करना चाहती थीं, परन्तु इसी बीच अक्रूर कृष्ण को उड़ा ले गए।

(३) "कुब्जा के मुख-जोग' से अभिप्राय यह है कि कृष्ण के अधरामृत का पान करने के योग्य कुब्जा का ही मुख था। अथवा कुब्जा के मुख के भाग्य में ही विधाता ने उसे पान करने का योग लिख दिया था।

(४) सम्पूर्ण पद में उपमालंकार है।

राग सोरठ

ऊधो ब्रज की दसा बिचारौ।
ता पाछे यह सिद्धि आपनी जोगकथा बिस्तारौ॥

जेहि कारन पठए नदनन्दन सो सोचहु मन माहीं।
केतिक बीच बिरह परमारथ जानत हौ किधौं नाहीं।।
तुम निज दास जो सखा स्याम के संतत निकट रहत हौ।
जल बूड़त अवलम्ब फेन को फिरि फिर कहा गहत हौ ?
वै अति ललित मनोहर आनन कैसे मनहिं बिसारौं।
जोग जुक्ति औ मुक्ति बिबिध विधि वा मुरली पर वारौं।।
जे उर बसे स्यामसुन्दर घन क्यों निर्गुन कहि आवै।
सूरस्याम सोइ भजन बहावै, जाहि दूसरो भावै।।१०६।।

शब्दार्थ—विस्तारौ=फैलाओ। केतिक=कितना। बीच=अन्तर। परमारथ=मुक्ति। निज=खास। संतत=निरन्तर, सदैव। बिसारौं=भुला दें। जुक्ति=युक्ति, विधान। घन=सघन रूप से। बहावै=दूर करे। भावै=अच्छा लगे।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव को सलाह दे रही हैं कि पहले वह ब्रज की दशा, परिस्थिति और लोगों की मानसिक स्थिति को अच्छी तरह से देख-समझ लें, तब अपना योग का उपदेश यहाँ प्रचारित करने का प्रयत्न करें। वे उद्धव से कहती हैं कि—

हे उद्धव ! तुम पहले ब्रज की दशा का भली-भाँति अध्ययन-मनन कर लो। और उसके बाद यहाँ अपनी योग-कथा को फैलाने का प्रयत्न करना। अवसर के अनुकूल बात कहना ही उचित और लाभदायक होता है, न कि विपरीत बात करना। तुम जरा अपने मन में यह तो सोचो कि नन्दनन्दन ने तुम्हें यहाँ किस लिए भेजा है ? (गोपियों को सन्देह है कि कृष्ण ने उद्धव को उसके पास योग का सन्देश न भेजकर प्रेम का ही सन्देश भेजा होगा, परन्तु उद्धव उसे छिपा रहे हैं।) क्या तुम इस बात को जानते हो कि विरह और मुक्ति में कितना अन्तर होता है ? भाव यह है कि विरही मोक्ष की कामना न कर, सदैव प्रियतम के दर्शन के लिए ही व्याकुल-व्यथित बना रहता है। इसलिए गोपियों को मुक्ति की कामना न होकर एकमात्र प्रियतम कृष्ण के दर्शनों की ही लालसा सताती रहती है। हे उद्धव ! तुम तो कृष्ण के निजी (खास) सेवक हो और अभिन्न मित्र की भाँति सदैव उनके पास ही रहते हो। हमें दुःख तो इस बात का है कि सदैव उनके साथ रहने पर भी तुम्हें यहाँ भेजने के उनके वास्तविक अभिप्राय को तुम नहीं समझ पाए। तुम उन्हें त्याग निर्गुण ब्रह्म की आराधना कर तथा दूसरों को भी वैसा ही करने का उपदेश देकर वैसा ही निष्फल प्रयत्न कर रहे हो, जैसे किसी जल में डूबते हुए को कोई यह सलाह दे कि जल के झागों को पकड़ कर अपने को डूबने से बचा लो। तुम स्वयं भी भ्रमान्धकार के मोह में पकड़कर डूबे जा रहे हो और हमें भी डुबाने आए हो। क्योंकि मानव का सच्चा अवलम्ब तो एकमात्र कृष्ण हैं, न कि तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म।

यह बताओ कि हम कृष्ण के उस अत्यन्त सुन्दर, मनोहर मुखड़े को कैसे भुला दें ? हम तो कृष्ण की उस मधुर मुरली पर तुम्हारे सारे योग, उसकी विभिन्न प्रकार की साधना और उससे प्राप्त मुक्ति को, न्यौछावर करती हैं। अर्थात् तुच्छ समझती हैं। यह बताओ कि हमारे जिस हृदय में श्यामसुन्दर गहरे रूप से समाए हुए हों, उसमें तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म कैसे प्रवेश कर सकता है, कैसे समा सकता है ? अपने प्रियतम की आराधना करना तो वही त्याग सकता है जिसे अपने प्रियतम के अतिरिक्त अन्य कोई अच्छा लगता हो। अर्थात् हम तो एकमात्र अपने कृष्ण की आराधिका हैं, इसलिए उन्हें त्याग तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लेना हमारे लिए असम्भव है। ऐसा करना व्यभिचार कहलाएगा।

विशेष—(१) इस पद में विरह और मोक्ष में अन्तर, गोपियों की कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम-निष्ठा और दृढ़ता का प्रकाशन हुआ है।

(२) सम्पूर्ण पद में रूपक अलंकार है।

राग सारंग

ऊधो यह हित लागै काहै ?
निसिदिन नयन तपत दरसन को, तुम जो कहत हिय-माहै।
नींद न परति चहूँदिसि चितवति बिरह अनल के दाहै।।
उर तें निकसि करत क्यों न सीतल जो पै कान्ह यहाँ है।
पा लागौं ऐसेहि रहन दे, अवधि आस-जल-थाहै।।
जनि बोरहि निर्गुन समुद्र में, फिर न पायहौ चाहै।
जाकौ मन जाही तें राच्यो, तासों बनै निबाहै।।
सूर कहा लै करै पपीहा, एते सर सरिता हैं ? ।।११०।।

शब्दार्थ—काहै=किसको। हिय-माहै=हृदय में। अनल=अग्नि। थाहै=थाह में। बोरहि=डुबाओ। चाहैं=चाहने पर भी। राच्यो=अनुरक्त हुआ। एते=इतने।

भावार्थ—विरही का एकमात्र लक्ष्य अपने प्रियतम का सान्निध्य प्राप्त करना होता है। उद्धव ब्रह्म को घट-घट-वासी बता गोपियों के हृदय में ही उसकी स्थिति को सिद्ध कर विरह से मुक्त हो जाने की बात कहते हैं। परन्तु उनका यह तर्क गोपियों को संगत न लगने के कारण सन्तोष नहीं दे पाता। गोपियाँ इसी बात को उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम्हारी यह बात (कि ब्रह्म घट-घट-वासी है) किसको हितकारक लग सकती है। तुम जो यह कहते हो कि ब्रह्म तो सदैव प्रत्येक के हृदय में स्थित रहता है तो फिर हमारे नेत्र रात-दिन उसके दर्शन को क्यों तड़पते रहते हैं ? वह हमें दिखाई क्यों नहीं देता ? हम तो अपने कृष्ण को देखने के लिए चारों तरफ टकटकी

बाँध देखती रहती हैं, उन्हें न देख पाने के कारण रात को हमें नींद नहीं आती, क्योंकि उनकी विरहाग्नि हमें सदैव दग्ध करती रहती है। तुम्हारे कथनानुसार यदि कृष्ण निर्गुण ब्रह्म के रूप में हमारे इस हृदय में ही निवास करते हैं तो हमें अपने विरह से इस प्रकार दग्ध होता हुआ देखकर हमारे हृदय से बाहर निकल, हमें अपने दर्शन दे, इस विरह-दग्ध हृदय को शीतल क्यों नहीं कर देते ? इसलिए हमें तुम्हारी यह बात झूठी लगती है कि कृष्ण हमारे हृदय में निर्गुण ब्रह्म के रूप में निवास करते हैं। क्योंकि वह हमसे इतना अधिक प्रेम करते हैं, अतः उनसे हमारा यह दुःख देखा नहीं जा सकता। वह अवश्य हमें दर्शन देते।

हे उद्धव ! हम तुम्हारे चरण छूती हैं। हमें इसी प्रकार उनके आने की अवधि की आशा रूपी जल की थाह (गहराई) में पड़ी रहने दो। हमें यह आशा तो है कि कृष्ण कभी न कभी हमारे पास अवश्य आयेंगे। इसलिए तुम हमें अपने निर्गुण ब्रह्म-रूपी अथाह सागर में डुबाने का प्रयत्न मत करो। क्योंकि यदि हमने तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को एक बार भी स्वीकार कर लिया, तो फिर चाहने पर भी अपने प्रियतम कृष्ण को प्राप्त नहीं कर सकेंगी। हम एकमात्र कृष्ण की ही अनुरागिनी हैं। क्योंकि जिसका मन जिसमें अनुरक्त हो जाता है, उसे उसी के साथ निर्वाह करने से सुख-सन्तोष की उपलब्धि होती है। इस संसार में इतने सरोवर और नदियाँ हैं, परन्तु पपीहा उन्हें लेकर क्या करे, क्योंकि उसकी प्यास इनके जल से न बुझकर एकमात्र स्वाति-जल से ही बुझती है। इसी प्रकार हम अपने प्रियतम कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी की भी आराधना कर सुख प्राप्त नहीं कर सकेंगी। हमारे तो वही एकमात्र आराध्य हैं।

विशेष—(१) 'अवँधि-आस-जल थाहै'—विरही को अपने प्रिय के मिलन की आशा बनी रहती है, इसी कारण वह वियोग का दाहक कष्ट झेलता रहता है। यहाँ गोपियाँ भी इसी आशा के बल पर इतना कष्ट सह रही हैं। आशा के इस महत्त्व को एक अन्य कवि ने भी व्यक्त किया है—

"इहि आसा अटक्यौ रहै, अलि गुलाब के मूल।
ऐहैं फेरि बसन्त रितु, इन डारनि वै फूल॥"

(२) 'विरह-अनल', 'अवधि-आस-जल', निर्गुन समुद्र' में रूपक; तथा 'जाको·······सरिता है' में उदाहरण अलंकार है।

राग सारंग

गुप्त मते की बात कहौ जनि कहुँ काहू के आगे।
कै हम जानै कै तुम ऊधो ! इतनी पावैं माँगे॥
एक बेर खेलत वृन्दावन कंटक चुभि गयो पाँय।
कंटक सों कंटक लै काढ्यो अपने हाथ सुभाय॥
एक दिवस बिहरत बन-भीतर मैं जो सुनाई भूख।
पाके फल वै देखि मनोहर चढ़े कृपा करि रूख॥

ऐसी प्रीति हमारी उनकी बसते गोकुल-बास।
सूरदास प्रभु सब बिसराई मधुबन कियो निवास ।।१११।।

शब्दार्थ—गुप्त मते=रहस्य की, छिपी हुई बात। जनि=मत। माँगे=माँगते से। सुभाय=प्रेमपूर्वक। रूख=वृक्ष।

भावार्थ—प्रियतम और प्रियतमा की क्रीड़ाओं के कुछ भेद इतने गुप्त रहते हैं कि वह हरेक से कहे नहीं जा सकते। परन्तु किसी से उनको कहने का मन चाहता रहता है। उद्धव कृष्ण के अभिन्न सखा हैं, इसलिए कृष्ण-सम्बन्धी उन गुप्त बातों को उनसे कहने में कोई बुराई नहीं है। यही सोचकर राधा या कोई गोपी उद्धव से कह रही है कि—

हे उद्धव ! मैं अपने गुप्त रहस्यों की बातें तुमसे कहती हूँ। तुम कभी कहीं किसी के आगे उन्हें कह मत बैठना। मेरी तुमसे केवल इतनी प्रार्थना है, जो तुम्हें स्वीकार करनी पड़ेगी, कि वे गुप्त बातें केवल हमारे-तुम्हारे तक ही सीमित रहनी चाहिए। तुम किसी से उन्हें कह मत देना। ऐसा हुआ कि एक बार वृन्दावन में खेलते समय मेरे पैर में काँटा चुभ गया। प्रियतम कृष्ण ने अत्यन्त प्रेम के साथ एक दूसरा काँटा लेकर मेरे पैर में चुभे उस काँटे को निकाल दिया। फिर एक बार ऐसा हुआ कि मैं कृष्ण के साथ वन में विहार कर रही थी। वहाँ मुझे भूख लग आई। जब मैंने अपनी भूख की बात उनसे कही तो वे एक वृक्ष पर पके फल लगे हुए देख, कृपा कर उस वृक्ष पर चढ़ गये और फल तोड़कर मुझे खिलाये।

जब कृष्ण यहाँ गोकुल में रहते थे, तब हमारा-उनका ऐसा ही घनिष्ठ प्रेम था। परन्तु अब जब कृष्ण मथुरा में रहने लगे हैं, उन्होंने उस प्रेम को पूरी तरह से भुला दिया है। भाव यह है कि जब कृष्ण यहाँ गोकुल में रहते थे, तब हमारे दुःख-दर्द, भूख-प्यास का कितना ध्यान रखते थे, हमसे कितना अधिक प्रेम करते थे ! परन्तु मथुरा जाने के बाद वह उन सारी पिछली बातों को भूल गये हैं, हमसे अब प्रेम नहीं करते। यदि अब भी प्रेम करते होते तो हमें अपने विरह में तड़पता हुआ देख तुरन्त भागे चले आते और ऐसा निष्ठुर योग-सन्देश कभी न भेजते।

विशेष—(१) यहाँ गोपियाँ अपनी प्रेम-क्रीड़ाओं की गुप्त बातें सम्भवतः उद्धव को इसलिए बता रही हैं कि उद्धव उन बातों को कृष्ण से कहें और कृष्ण उन पूर्व-मधुर स्मृतियों की याद कर शायद उनके पास लौट आएँ।

(२) इसमें पूर्व-स्मृतियों के मधुर चित्र अंकित किए गये हैं।

(३) गोपियाँ उन स्मृति-चित्रों द्वारा उद्धव को भी प्रभावित करने का प्रयत्न कर रही हैं।

राग सारंग

ऊधो ! ब्रज में पैंठ करी।
यह निर्गुन, निर्मूल गाठरी, अब किन करहु खरी ।।

नफा जानिकै ह्याँ लै आए, सबै वस्तु अकरी।
यह सौदा तुम ह्वाँ लै बेचौ, जहाँ बड़ी नगरी ॥
हम ग्वालिन, गोरस दधि बेंचौ, लेहिं अबै सबरी।
सूर यहाँ कोउ गाहक नाहीं, देखियत गरे परी ॥११२॥

शब्दार्थ—पैठ=बाजार। खरी=खरा, पक्का सौदा। नफा=लाभ, मुनाफा। अकरी=मँहगी। ह्वाँ=वहाँ। सबरी=सारा। गरे परी=गले पड़ना, जिद करना।

भावार्थ—उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म पर व्यंग्य करती हुईं गोपियाँ उनसे कह रही हैं कि हे उद्धव ! तुमने ब्रज में आकर अपने माल को बेचने के लिए बाजार अर्थात् दुकान लगायी है। तुम यहाँ ऐसा सामान बेचने आए हो, जिसमें न तो कोई गुण (विशेषण) ही है और न जिसमें तुमने अपनी कोई पूँजी ही लगायी है। (निर्मूल=मूलधन रहित।) अर्थात् तुम्हारी इस गठरी में बँधा माल (ब्रह्म के ही समान गुप्त, अलक्ष्य) किसी को दिखाई तक नहीं देता और फिर भी तुम इसे यहाँ बेचना चाहते हो। अब उसे बेचकर रकम क्यों नहीं खड़ी कर लेते ? (यहाँ गोपियाँ ब्रह्म की विभिन्न उपाधियों—निर्गुण, निर्मूल, गुप्त आदि के शाब्दिक अर्थों को लेकर उद्धव पर व्यंग्य कस रही हैं।) तुम्हें यह आशा थी कि अपने माल को यहाँ ब्रज में बेचने से अधिक लाभ होगा, और तुम्हारा माल बिक जायगा, इसीलिए तुम यहाँ सारी मँहगी वस्तुओं (ब्रह्म, योग, मुक्ति आदि) को ही बेचने के लिए ले आए हो। परन्तु तुम्हारा यह माल यहाँ कोई भी नहीं खरीदेगा, न खरीद सकेगा क्योंकि यह बहुत मँहगा है। इसलिए तुम इसे ले जाकर किसी बड़े नगर में (मथुरा में) बेचो। वहीं तुम्हें (कुब्जा जैसे) इसके ग्राहक मिल जाएँगे।

हे उद्धव ! हम तो जाति की ग्वालिनें हैं, इसलिए यदि तुम दूध और दही बेचो तो हम अभी सारा खरीद लेंगी। तुम्हारी इस व्यर्थ की और मँहगी वस्तु को खरीदने वाला यहाँ कोई ग्राहक तुम्हें नहीं मिलेगा। हमने तुम्हें कृष्ण का सखा जान, तुम्हारा सम्मान करने के लिए ही तुम्हारी इस वस्तु (निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान-चर्चा) को देख लिया था, परन्तु अब तुम हमारे गले पड़ रहे हो, जिद कर रहे हो कि हम इसे खरीद ही लें। यह तो तुम्हारा सरासर अन्याय है। हम तुम्हारे इस व्यर्थ, गुणहीन, दो कौड़ी के मूल्य वाले निर्गुण ब्रह्म को नहीं खरीद सकतीं। उसे स्वीकार नहीं कर सकतीं।

विशेष—(१) 'निर्गुन, निर्मूल' में श्लेष; तथा 'यह······नगरी' में समासोक्ति अलङ्कार है।

(२) श्लेष का प्रयोग कर गोपियों ने निर्गुण ब्रह्म को नितान्त महत्त्वहीन और व्यर्थ सिद्ध कर दिया है। उनका वाग्वैदग्ध्य दर्शनीय है।

राग सारंग

मधुकर ! राखु जोग की बात ।
कहि-कहि कथा स्याम सुन्दर की, सीतल करु सब गात ।।
तेहि निर्गुन गुनहीन गुनैबो, सुनि सुन्दरि अनखात ।
दीरघ नदी नाव कागद की, देख्यो चढ़ि जात ?
हम तन हेरि, चितै अपनो पट, देखि पसारहि लात ।
सूरदास वा सगुन छाँड़ि छन, जैसे कल्प बिहात ।।११३।।

शब्दार्थ—राखु=रहने दे, मत कह । गुनैबो=गुणगान करना । अनखात= बुरा मानती हैं, दुःखी होती हैं । तन=ओर । पट=वस्त्र, चादर । बिहात= समाप्त होता ।

भावार्थ—उद्धव की योग की बातें गोपियों को तनिक भी नहीं सुहातीं । इसलिए वह भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कह रही हैं कि हे भ्रमर ! तू अपनी योग की बातें हमसे मत कह । तू हमें केवल कृष्ण की सुन्दर कथा कह-कहकर हमारे मन और शरीर की शीतलता प्रदान कर हमें सुख पहुँचा । तेरे उस गुणहीन निर्गुण ब्रह्म के गुणगान को सुनना ब्रज की इन सुन्दरियों को अच्छा नहीं लगता । उसे सुन वह अनखना उठती हैं, क्षोभ से भर जाती हैं । किसी ने कभी यह देखा है कि कोई काजग की नाव में बैठकर लम्बी-चौड़ी नदी को पार करने में समर्थ हो सका है ? अर्थात् तुम्हारे इस कागज के समान क्षणस्थायी निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर हम कृष्ण-विरह रूपी अथाह नदी को कैसे पार कर सकती हैं ? तुम हमारी ओर देखो, हम तो अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही काम करती हैं । हम अपनी चादर की जितनी लम्बाई होती है, उतने ही पैर फैलाती हैं । अर्थात् अपनी सामर्थ्य (औकात) से बाहर कोई काम नहीं करतीं । यदि हम तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लें तो कागज की नाव पर सवार व्यक्ति की भाँति शीघ्र ही जल में डूब जायेंगी । अतः इसे स्वीकार करना हमारे लिए असम्भव है । उन सगुण रूप कृष्ण से वियुक्त होने के बाद हमारा एक-एक क्षण एक-एक कल्प के समान लम्बा बन गया है । अर्थात् उनके विरह में हमसे समय काटे नहीं कटता । इसलिए तुम निर्गुण का गुणगान करना छोड़, उस सगुण रूप कृष्ण की कथा सुनाओ, जिससे हमें सुख और शान्ति प्राप्त हो सके ।

विशेष—(१) 'चित्तै देखि·······लात' में सूर ने उस प्रसिद्ध लोकोक्ति का उपयोग किया है जो इस प्रकार है—"तेते पाँव पसारिए, जेती लाँबी सौर ।" अर्थात् अपनी सामर्थ्य को देखकर ही हर काम करना चाहिए ।

(२) 'कहि-कहि' में पुनरुक्ति प्रकाश; 'दीरघ·······जात' में निदर्शना; तथा 'हम·······लात' में लोकोक्ति अलङ्कार है ।

राग बिलावल

ऊधो ! तुम अति चतुर सुजान।
जे पहिले रँग रँगी स्याम रँग, तिन्हैं न चढ़ै रँग आन ।।
द्वै लोचन जो बिरद किए, स्रुति गावत एक समान।
भेद चकोर कियो तिनहू में, बिधु प्रीतम, रिपु भान ।।
बिरहिनि बिरह भजै पा लागों, तुम हौ पूरन-ज्ञान।
दादुर जल बिनु जियैं पवन भखि, मीन तजै हठि प्रान ।।
बारिजबदन नयन मेरे, षटपद कब करिहैं मधुपान ?
सूरदास गोपीन प्रतिज्ञा, छुवत न जोग बिरान ।।११४।।

शब्दार्थ—स्याम रंग=कृष्ण का प्रेम, काला रंग। आन=अन्य, दूसरा। द्वै लोचन=विराट् के दो नेत्र—सूर्य और चन्द्र। विरद=प्रसिद्ध। बिधु=चन्द्र। भान =सूर्य। भखि=भक्षण कर, खाकर। बारिज बदन=कमल के समान मुख। षटपट =भ्रमर। बिरान=विराना, पराया।

भावार्थ—उद्धव कृष्ण और ब्रह्म को एक समान घोषित कर गोपियों से कृष्ण रूप निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लेने का आग्रह कर रहे हैं। परन्तु गोपियाँ दोनों को समान न मान तर्क प्रस्तुत करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम तो अत्यन्त चतुर और सज्जन पुरुष हो। फिर भी इस बात को नहीं समझ पाते कि जो पहले से ही काले रंग में रंगी हुई है, उन पर कोई भी दूसरा रँग नहीं चढ़ सकता। अर्थात् तुम्हारी समझ में यह साधारण-सी बात नहीं आती कि हम तो पहले से ही कृष्ण के रंग (प्रेम) में पूरी तरह से रंग (निमग्न) चुकी हैं, इसलिए अब हमारे ऊपर तुम्हारे इस निर्गुण ब्रह्म का रंग नहीं चढ़ सकता। तुम जो यह कहते हो कि कृष्ण और निर्गुण ब्रह्म एक ही है, उसे हम नहीं मान सकतीं। अपने मत के समर्थन में एक उदाहरण देती हैं। वेदों में सूर्य और चन्द्रमा को विराट् ब्रह्म के दो नेत्र मानकर उन्हें एक समान महत्त्वपूर्ण मानते हुए उनका यश गाया गया है। परन्तु चकोर इन दोनों में भेद मानता है। और इसी भेद के अनुसार वह चन्द्रमा को अपना प्रियतम और सूर्य को अपना शत्रु समझता है। अतः हम भी कृष्ण और ब्रह्म में भेद मान कृष्ण को अपना प्रियतम और ब्रह्म को, हमसे हमारे कृष्ण को छीन लेने का प्रयत्न करने के कारण, अपना शत्रु मानती हैं।

हे उद्धव ! तुम तो पूर्ण ज्ञानी हो। हम तुम्हारे चरण छूकर यही कहना चाहती हैं कि विरहिणी सदैव अपने विरह का ही भजन करती रहती है। इसलिए तुम हमें हमारी इस विरह-साधना में ही निमग्न रहने दो। हमें यही अच्छी लगती है। अर्थात् हमें कृष्ण का विरह अत्यन्त प्रिय है। मेंढक और मछली—दोनों जल में रहते हैं। मेंढक जल से बिछुड़ कर भी वायु-भक्षण कर जीवित रहता है, परन्तु मछली जल से बिछुड़ने

पर, उसका वियोग न सह पाकर तुरन्त अपने प्राण त्याग देती है। भाव यह है कि गोपियाँ और उद्धव दोनों ही कृष्ण से प्रेम करते हैं। उद्धव तो कृष्ण से बिछुड़ प्राणायाम आदि कर मेंढक के समान जीवित रह लेंगे, परन्तु गोपियाँ मछली के समान तड़प-तड़पकर प्राण त्याग देंगी। इसलिए वे कृष्ण को त्याग निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार नहीं कर सकतीं।

हे उद्धव ! हमें यह बता दो कि हमारे ये भ्रमर रूपी नेत्र कमल के समान सुन्दर कृष्ण के मुख के दर्शन रूपी मधु का कब पान करेंगे ? अर्थात् कब उन्हें कृष्ण के दर्शन होंगे। हम गोपियों की तो यह अटल प्रतिज्ञा है कि कृष्ण को त्याग पराये योग का हम स्पर्श तक नहीं करेंगी। अर्थात् कृष्ण हमारे अपने हैं और निर्गुण ब्रह्म पराया है। इसलिए हम उसे स्वीकार नहीं कर सकतीं।

विशेष—(१) 'स्याम रंग' और 'बारिजबदन' में श्लेष; 'बारिजबदन·······मधुपान' में रूपक और श्लेष का संकर रूप है। कुछ लोग इसमें परम्परित रूपक मानते हैं।

(३) 'द्वै लोचन·······रिपु भान' में दृष्टान्त अलङ्कार है।

ऊधो ! कोकिल कूजत कानन।
तुम हमको उपदेस करत हौ, भस्म लगावन आनन।।
औरौ सब तजि, सिंगी लै लै, टेरन चढ़न पखावन।
पै नित आनि पपीहा के मिस, मरन हनत निज बानन।।
हम तौ निपट अहीरि बावरी, जोग दीजिए ज्ञानिन।
कहा कथत मामी के आगे, जानत नानी नानन।।
सुन्दर स्याम मनोहर मूरति, भावति नीके गानन।
सूर मुकुति कैसे पूजति है, वा मुरली की तानन ? ।।११५।।

शब्दार्थ—कूजत=कूक रही है। आनन=मुख। पखानन=पत्थर की शिलाओं पर। आनि=आकर। हनत=मारता है। पूजति=बराबरी कर सकती है।

भावार्थ—वसन्त-आगमन पर गोपियों को कामदेव सताने लगता है। उनका विरह उद्दीप्त हो उठता है। ऐसे समय उन्हें योग का उपदेश कैसे सुहा सकता है ! इसी बात को लक्ष्य कर वे उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! वनों में कोयल कूक रही है। वसन्त की ऐसी मादक—उत्तेजक ऋतु में भी तुम हमें उपदेश दे रहे हो कि हम अपने मुख पर भस्म लगा योग-साधना करें, जबकि हमें अपने प्रियतम का ध्यान कर शृंगार करना चाहिए। हम तुम्हारे कहने से अपना सब कुछ (साज-शृंगार आदि) त्याग, पत्थर की शिलाओं पर आरूढ़ हो, सिंगी फूँक (बजा) सकती थीं, परन्तु हम करें क्या ! यह कामदेव तो नित्य पपीहा (की पी-पी की पुकार) के बहाने आकर हमें अपने बाणों से घायल करता रहता है।

अर्थात् पपीहा की पुकार को सुन हमें कामोद्दीपन होने लगता है। क्योंकि पपीहा की पुकार सुन हमें प्रियतम कृष्ण की स्मृति सताने लगती है। हम तो बिल्कुल बावली अहीर-नारियाँ हैं अर्थात् मूर्ख हैं। तुम अपना यह ज्ञान का उपदेश ज्ञानियों को दो। वही तुम्हारी बातें समझ कर तुम्हारे ब्रह्म को स्वीकार करने की सामर्थ्य और ज्ञान रखते हैं। तुम हमें कृष्ण के सम्बन्ध में क्या नई बात बता रहे हो कि यह योग-सन्देश कृष्ण ने ही भेजा है। हम अपने कृष्ण की रग-रग से पूरी तरह से परिचित हैं। अर्थात् जाननी हैं कि उन जैसा प्रेमी-हृदय कभी ऐसा निष्ठुर सन्देश नहीं भेज सकता। तुम्हारे मुँह से उनके सम्बन्ध में कही गई बातें वैसी ही हास्यास्पद और अटपटी लगती हैं, जैसे कोई अपनी मामी के सामने यह कहे कि वह नानी-नाना को खूब अच्छी तरह से जानता है। क्योंकि मामी से नाना-नानी की कौन-सी बात छिपी रह सकती है? इसलिए तुम कृष्ण के सम्बन्ध में नई बातें बताने का दम्भ मत करो।

हे उद्धव! हमें तो अपने सुन्दर मनोहर-मूर्त्ति कृष्ण का गुणगान करना ही अच्छा लगता है। कृष्ण की मुरली की उन मधुर तानों की तुम्हारी यह नीरस-रूखी मुक्ति भला क्या बराबरी कर सकती है!

विशेष—(१) गोपियाँ कृष्ण की मुरली की तुलना में मुक्ति को नितान्त तुच्छ समझती हैं। यही बात उन्होंने पीछे एक अन्य पद में भी कही है—"जोग जुक्ति औ मुक्ति विविध विधि वा मुरली पर वारौं।"

(२) 'कहा कथत·······नानन' पंक्ति में सूर ने इस लोकोक्ति का सफल प्रयोग किया है कि 'नानी के आगे ननिहारे की बातें करना।' इस व्यंग्य द्वारा गोपियाँ यह सिद्ध कर रही हैं कि उद्धव कृष्ण के असली रूप और भाव को नहीं जानते।

(३) 'पै नित····बानन' में कैतवापह्नुति; तथा 'कहा····बानन' में लोकोक्ति अलङ्कार है।

राग सारंग

ऊधो, हम अज्ञान मति भोरी।
जानति हैं ते जोग की बातें, नागरि नबल किसोरी॥
कंचन को मृग कौनै देख्यौ, कौनै बाँध्यो डोरी?
कहु धौं, मधुप! बारि मथि माखन, कौने भरी कमोरी?
बिन ही भीत चित्र किन काढ्यो, किन नभ बाँध्यो झोरी।
कहौ कौन पै कढ़त कनूकी, जिन हठि भुसी पछोरी॥
यह व्यवहार तिहारो, बलि-बलि! हम अबला मति थोरी।
निरखहिं सूर स्याम मुख-चंदहि, अँखियाँ लगनि-चकोरी॥११६॥

शब्दार्थ—ते=इन। कमोरी=मक्खन रखने की मटकी। काढ्यो=बनाया।

झोरी=झोली में। कनूकी=अनाज का दाना, कण। पछोरी=फटका। लगनि=लगन, तन्मयता।

भावार्थ—गोपियाँ निर्गुण-ब्रह्म की प्राप्ति को सर्वथा असम्भव घोषित करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव! हम गोपियाँ तो अज्ञानी और भोली-भाली हैं अर्थात् हमारी बुद्धि अपरिष्कृत है। इसलिए तुम्हारी ये निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी बातें हमारी समझ में नहीं आतीं। तुम्हारी इन बातों को तो नगर (मथुरा से अभिप्राय है) की नई चतुर किशोरी (अर्थात् कुब्जा) ही भली-भाँति समझ सकती है, इसलिए तुम जाकर उन्हें ही समझाओ। हमें तुम्हारी ये सारी बातें असम्भव, अनर्गल और सुनी-सुनाई ही लग रही हैं। इसके उपरान्त गोपियाँ असम्भव बातों के उदाहरण देती हुईं उद्धव से पूछती हैं कि—यह बताओ, आज तक किसी ने स्वर्ण-मृग (सोने का हिरण) देखा है? और यदि किसी ने देखा भी है तो क्या कोई आज तक उसे रस्सी में बाँध सका है? (यदि तुम राम-सीता का उदाहरण देकर कहो कि हाँ देखा है, तो वह मृग वास्तविक न होकर मायावी था, इसलिए उसे सत्य नहीं माना जा सकता।)

हे उद्धव! यह बताओ कि आज तक कोई जल को मथ, उसमें मक्खन निकाल, अपनी मटकी को मक्खन से भरने में समर्थ हो सका है? या किसी ने बिना दीवार, (आधार) के आज तक कभी चित्र बनाया है, या कोई आकाश को अपनी झोली में बाँध सका है? अथवा कोई हठ करके भूसे को फटक-फटक कर उसमें से अनाज का एक भी दाना प्राप्त कर सका है? अर्थात् जिस प्रकार ये सारे कार्य असम्भव हैं, उसी प्रकार तुम्हारे काल्पनिक निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त करना भी असम्भव है। तुम कृष्ण को त्याग उसे स्वीकार करने की बात कहकर हमसे ऐसा ही असम्भव कार्य कराने का प्रयत्न कर रहे हो। फिर हम अपने वास्तविक सगुण-साकार कृष्ण को त्याग तुम्हारे काल्पनिक निर्गुण-निराकर ब्रह्म को प्राप्त करने की मृग-मरीचिका क्यों पालें!

हे उद्धव! तुम्हारा यह व्यवहार वैसा ही अद्भुत (अर्थात् मूर्खतापूर्ण) है। हम तो तुम्हारी इन बातों को सुन-सुनकर तुम्हारे ऊपर न्यौछावर हो रही हैं। हम अल्प-बुद्धि वाली अहीर जाति की अबला नारियाँ जो ठहरीं। हमारी आँखें तो कृष्ण के चन्द्रमुख को सदैव उसी प्रकार टकटकी बाँध देखती रहती हैं, जैसे चकोरी पूर्ण तन्मय हो चन्द्रमा को देखा करती है।

विशेष—(१) गोपियाँ अनेक असम्भव, अकरणीय कार्यों का उदाहरण प्रस्तुत कर उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म को सर्वथा त्याज्य और असम्भव कर देती हैं।

(२) तीसरी, चौथी, पाँचवीं और छठी पंक्ति में निदर्शना तथा अन्तिम पंक्ति में रूपक और उपमा अलंकार हैं।

राग सारंग

ऊधो! कौन आहि अधिकारी?
लै न जाहु यह जोग आपनो, कत तुम होत दुखारी?

यह तो वेद उपनिषद मत है, महापुरुष ब्रतधारी।
हम अहीरि अबला ब्रजबासिनि नाहिन परत सँभारी॥
को है सुनत, कहत हौ कासों, कौन कथा अनुसारी ?
सूर स्याम-सँग जात भयो मन, अहि केंचुलि सी डारी॥११७॥

शब्दार्थ—आहि=है। कत=क्यों। दुखारी=दुःखी। सँभारी=सम्हाला। अनुसारी=अनुसरण करने वाला। अहि=सर्प। डारी=छोड़ देता है।

भावार्थ—गोपियाँ स्वयं को योग-साधना के लिए सर्वथा अनुपयुक्त घोषित करती हुई, क्षोभ और वेदना मिश्रित स्वर में उद्धव की भर्त्सना कर रही हैं कि हे उद्धव ! तुम्हारे इस निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी उपदेश को सुन, उसे स्वीकार कर लेने का अधिकारी (योग्य पात्र) यहाँ ब्रज में कौन है ? अर्थात् हममें से कोई भी तुम्हारे इस उपदेश को समझ ही नहीं पाई हैं। वह हमारे लिए बहुत महान् है, इसलिए उसे स्वीकार कर लेना हमारी शक्ति-सामर्थ्य से परे है। हमारे इसे स्वीकार न करने से तुम इतने दुःखी क्यों हो रहे हो ? अपने इस योग को अपने साथ यहाँ से ले क्यों नहीं जाते ? यह तो वेद और उपनिषद् जैसे महान् ग्रन्थों में प्रतिपादित महान् साधना है जिसके अधिकारी बड़े-बड़े ज्ञानी, दृढ़ साधना करने वाले महापुरुष ही माने गए हैं। साधारण बुद्धि वाले इसके अधिकारी नहीं होते। हम तो ब्रजवासिनी अहीर जाति की अबला और मूर्ख नारियाँ हैं। तुम्हारा यह योग इतना महान् है कि हमसे सम्हाला नहीं जा रहा। भाव यह है कि हम तुम्हारी इस योग-साधना की उचित अधिकारिणी नहीं हैं, इसलिए तुम इसे ले जाकर महापुरुषों को ही समझाओ। वही इसे स्वीकार करने में समर्थ हो सकेंगे।

यहाँ तुम्हारी इन बातों को कौन सुनता है, तुम किससे ये बातें कह रहे हो, कौन यहाँ तुम्हारी इस योग-कथा को सुनकर उसका अनुसरण अर्थात् समझने वाला है ? अर्थात् तुम्हारी ये बातें इतनी ज्ञान-गूढ़ और महान् हैं कि हमारी समझ में ही नहीं आतीं। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि हमारा मन ही हमारे पास नहीं है तो तुम्हारी इन बातों को कौन समझे, सुने और उनका पालन करे ? क्योंकि हमारा मन तो जब कृष्ण यहाँ से गए थे तब उनके साथ ही चला गया था। और अब तो केवल हमारा यह निर्जीव शरीर उसी प्रकार यहाँ पड़ा रह गया है, जैसे साँप केंचुली को त्याग उसे निर्जीव पड़ा छोड़ जाता है। भाव यह है कि कृष्ण के बिना हम सब निर्जीव पड़ी रहती हैं। हमारे प्राण तो कृष्ण अपने साथ ही ले गए थे। इसलिए मन पास न रहने से हम तुम्हारी योग-साधना को कैसे स्वीकार कर लें, क्योंकि मन के बिना तो यह साधना हो नहीं सकती। इस निर्जीव शरीर द्वारा ऐसा करना असम्भव है।

विशेष—(१) इस पद में अभिव्यक्त गोपियों की दीनता, क्षोभ, असहायता आदि की भावनायें उनकी असह्य दारुण विरह-व्यथा को सात्विक रूप प्रदान कर रही हैं। (२) अन्तिम पंक्ति में उपमालंकार है।

राग गौरी

ऊधौ ! कमलनयन बिनु रहिए।
इक हरि हमैं अनाथ करि छाँड़ी, दुजे बिरह किमि सहिए ?
ज्यों ऊजर खेरे की मूरति, को पूजै, को मानै ?
ऐसी हम गोपाल बिनु ऊधो ! कठिन बिथा को जानै ?
तन मलीन, मन कमलनयन सौं मिलिबे की धरि आस।
सूरदास स्वामी बिन देखे, लोचन मरत पियास ।।११८।।

शब्दार्थ—किमि=कैसे। ऊजर=ऊजड़ स्थान। खेरे=गाँव।

भावार्थ—कृष्ण-विरह में व्यथित गोपियाँ उद्धव द्वारा कृष्ण को त्याग निर्गुण ब्रह्म की आराधना करने की बात सुन उनसे कहती हैं कि हे उद्धव ! कमल जैसे सुन्दर नेत्रों वाले कृष्ण के बिना कैसे रहा जा सकता है ? एक तो उन्होंने हमें त्याग कर वैसे ही अनाथ, निराश्रित बना रखा है और उस पर भी हम उनके इस दारुण विरह को कैसे सहें ? अर्थात् उन्होंने हमें त्याग दिया, इस अपमान और व्यथा को तो हम सह सकती थीं, यदि वह हमारे पास यहीं बने रहते और हम उनके दर्शन का सुख पाती रहतीं। परन्तु अब तो हमारी स्थिति ऐसी हो गई है जैसे किसी उजाड़, निर्जन, खंडहर बने गाँव में स्थापित मूर्त्ति की हो जाती है। उस मूर्त्ति की न तो कोई पूजा ही करता है और न उसे मानता ही है। हम भी कृष्ण द्वारा परित्यक्त होकर उसी प्रकार अपमानित, उपेक्षित और महत्त्वहीन जीवन व्यतीत कर रहीं हैं। गोपाल के बिना हमारी ऐसी ही दयनीय स्थिति बन गई है। हमारी इस दारुण व्यथा को कौन जान सकता है ?

हे उद्धव ! कृष्ण-विरह में हमारा शरीर मैला-कुचैला रहने लगा है। अर्थात् हमने उनके विरह के कारण अपने शरीर की देख-भाल, साज-शृङ्गार आदि करना छोड़ दिया है। आखिर हम साज-शृङ्गार करें भी तो किसके लिए करें, क्योंकि उसे देखकर प्रसन्न होने वाले स्वामी तो यहाँ हैं ही नहीं। हमारा मन कमलनयन कृष्ण से मिलने की आशा लगाए व्याकुल होता रहता है। स्वामी के दर्शन न मिलने से हमारे नेत्र उनके दर्शनों की प्यास से व्याकुल हो, मर्मान्तक वेदना सहते रहते हैं। ऐसी स्थिति में हम अपने प्रियतम कृष्ण को त्याग तुम्हारे इस निर्गुण ब्रह्म को कैसे स्वीकार कर लें ?

विशेष—(१) 'ऊजड़ खेरा' उस गाँव को कहते हैं, जिसके निवासी या तो नष्ट हो जाते हैं या किसी संकट के कारण उसे छोड़कर चले जाते हैं। वहाँ केवल खंडहर पड़े रह जाते हैं।

(२) अन्तिम दो पंक्तियों में प्रिय-दर्शन के लिए आकुल विरही-हृदय की करुण पुकार हृदय को झकझोर देती है। भक्त भगवान के लिए इसी प्रकार तड़पता रहता

है । गोस्वामी तुलसीदास भी अपने प्रभु राम के दर्शनों के लिए इसी प्रकार व्याकुल हो, उन्हें आर्त्त-स्वर में पुकारते हैं—

"कृपासिन्धु सुजान रघुवर, प्रनत आरति हरन ।
दरस आस पियास तुलसीदास चाहत मरन ।।"

(३) 'ज्यों ऊजर····मानै' में उपमालंकार है ।

राग जैतश्री

ऊधो जो तुम हमहिं सुनायो ।
सो हम निपट कठिनई करिक या मन कों समुझायो ।।
जुगुति जतन कर हमहुँ ताहि गहि सुपथ पंथ लौं लायौ ।
भटकि फिर्‌यो बोहित के खग ज्यों, पुनि फिर हरि पै आयौ ।।
हमको सबै अहित लागति है, तुम अति हितहि बतायो ।
सर-सरिता-जल होम किये तें, कहा अगिनि सचु पायो ?
अब वैसो उपाय उपदेसौ, जिहि जिय जाय जियायो ।
एक बार जौ मिलहिं सूर प्रभु, कीजै अपनो भायो ।।११६।।

शब्दार्थ—सुपथ=अच्छा मार्ग । लौं=पर । बोहित=जहाज । सचु=सन्तोष, सुख । उपदेसौ=उपदेश दो । जिहि=जिससे । जाय जियायो=जीवित रखा जा सके ।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण-प्रेम में अनुरक्त अपने मन से मजबूर हैं । वे चाहने और प्रयत्न करने पर भी उद्धव के उपदेश को स्वीकार नहीं कर पातीं । उनका मन बार-बार विद्रोह कर बैठता है । अपनी इसी मजबूरी को उद्धव के सामने स्पष्ट करती हुईं वह उनसे कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुमने हमें निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी जो भी बातें सुनाईं, उन्हें हमने ध्यान देकर सुना । और उन्हें सुनकर हमने बड़ी कठिनाई के साथ अपने इस मन को बहुत-बहुत समझाया । हम अनेक प्रकार के प्रयत्न और युक्तियों (तरकीबों) द्वारा उसे वश में कर, पकड़ तुम्हारे इस अच्छे मार्ग (योग-मार्ग) पर लाईं भी । अर्थात् हमने तुम्हारी योग-साधना कर इस मन को वश में करने का भरसक प्रयत्न किया । परन्तु हम करें क्या ? यह मन तो जहाज के पक्षी के समान इधर-उधर भटकने के उपरान्त पुनः कृष्ण पर ही जाकर स्थिर हो जाता है । अर्थात् हमारे इस मन को कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कहीं भी आश्रय और सुख-सन्तोष मिलता ही नहीं । हम तो तुम्हारी इस योग-साधना को स्वीकार कर लेना चाहती हैं, परन्तु हमारा यह मन हमारे काबू में नहीं आता ।

तुमने हमें (अपनी समझ के अनुसार) अत्यन्त हित की बातें बताई हैं, परन्तु हमें तुम्हारी ये सारी बातें अत्यन्त अहितकारी (हानिकारक) लगती हैं। अर्थात् तुम्हारी इस योग-साधना को स्वीकार कर लेने से हमारा अहित ही होगा, क्योंकि हमारे कृष्ण हमसे सदैव के लिए बिछुड़ जायेंगे। अभी तो हमें उनके मिलने की शिशा है भी। यह बताओ कि क्या नदी-तालाबों के जल से होम करने पर अग्नि को कभी सुख मिल सकता है, उसकी तृप्ति हो सकती है? अर्थात् अग्नि की तृप्ति तो उसमें हवन-सामग्री, लकड़ी आदि डालने ने ही होती है। जल डालने से तो अग्नि का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार हमें तो सुख-सन्तोष तभी मिल सकता है जब हमारे प्रियतम कृष्ण आकर हमें दर्शन दें। तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लेने पर हमें अपने कृष्ण से हाथ धो लेने पड़ेंगे। और ऐसा होने पर हमारा अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा, क्योंकि हमारा अस्तित्व तभी तक है जब तक हम अपने कृष्ण से प्रेम करती हैं। इसलिए हे उद्धव! अब तुम हमें वैसा उपाय बताओ जिससे हम अपने इस मन को जीवित रख सकें। अर्थात् इसे कृष्ण के दर्शन करा दो। तभी यह जीवित रह सकेगा, वरना मर जायेगा। बस, तुम ऐसा उपाय बता दो जिससे कृष्ण एक बार हमें मिल जायें। हम और कुछ भी नहीं चाहतीं। उन्हें हमसे मिलाने के बाद जो तुम्हें अच्छा लगे, वही करना। अर्थात् कृष्ण से मिलने के बाद अगर तुम कहोगे तो हम तुम्हारी बात मान, तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लेंगी।

विशेष—(१) 'बोहित……ज्यों' में उपमा; 'जिहि……जियायो' में वृत्त्यानुप्रास; 'सर-सरिता……पायो' में दृष्टान्त अलंकार हैं।

(२) गोपियाँ बड़े कौशल के साथ अपनी मजबूरी भी प्रकट करती जाती हैं और दूसरी तरफ उद्धव को अपने तर्कों और युक्तियों के पराजित कर यह प्रयत्न भी करती जाती हैं कि किसी प्रकार उद्धव उनकी बातों में आ जायें और उन्हें कृष्ण से मिला दें। 'भ्रमर गीत' के अन्त तक वे उद्धव को पूर्ण रूप से प्रभावित कर लेती हैं।

राग सारंग

ऊधो! जोग बिसरि जनि जाहु।
बाँधहु गाँठि कहूँ जनि छूटै, फिरि पाछै पछिताहु॥
ऐसी बस्तु अनूपम मधुकर, मरम न जानै और।
ब्रजबासिन के नाहिं काम की, तुम्हरे ही है ठौर॥
जो हरि हित करि हमको पठयो, सो हम तुमको दीन्हीं।
सूरदास नरियर ज्यों विष को, करै बंदना कीन्हीं॥१२०॥

शब्दार्थ—बिसरि=भूल। मरम=रहस्य, महत्त्व। ठौर=स्थान। नरियर=नारियल।

भावार्थ—गोपियाँ अपनी दैन्य-भावना को त्याग कर पुनः उद्धव पर व्यंग्य

कसने लगाती हैं। उन्हें भय है कि कहीं उद्धव जाते समय यहाँ अपनी इस योग-साधना रूपी मुसीबत को हमारे लिए न छोड़ जायँ। इसलिए उद्धव से कहती हैं कि—हे उद्धव ! तुम अपने इस योग को यहाँ मत भूल जाना। इसे कस कर अपनी गाँठ (चादर) में बाँध लो। कहीं ऐसा न हो कि यह गाँठ में से खुलकर कहीं गिर पड़े (इसलिए कसकर गाँठ बाँधना), अगर कहीं गिर पड़ा तो फिर तुम इसके लिए पछताते ही रह जाओगे। हम तुमसे यह सब इसलिए कह रही हैं कि तुम्हारा यह योग अनुपम (अद्वितीय) वस्तु है। हे मधुकर ! इसके रहस्य या महत्त्व को तुम्हारे सिवाय अन्य कोई भी नहीं जानता। अर्थात् यह तुम्हारे लिए ही महत्त्वपूर्ण है, हमारे लिए नहीं। क्योंकि हम इसका महत्त्व समझ नहीं पातीं। तुम्हारा यह अनुपम योग हम ब्रज-वासियों के लिए किसी भी काम का नहीं है। इसे तो केवल तुम्हारे ही यहाँ स्थान मिल सकता है। अर्थात् तुम्हारे मथुरावासी (कुब्जा आदि) ही इसे स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि भोग-विलास में डूबे रहने के कारण उन्हें ही इसकी जरूरत महसूस हो सकती है। हम तो वैसे ही विरहिणी बन योग-साधना-भी कर रही हैं।

कृष्ण ने अत्यन्त प्रेम के साथ जो वस्तु (योग) हमारे लिये भेजी थी, सो हमने तुम्हें दे दी। हम इसे अपने पास नहीं रख सकतीं। क्योंकि तुम्हारा यह योग तो उस विष भरे नारियल के सामान है, जिसकी दूर से ही वन्दना करने में अपना कल्याण रहता है। इसे स्वीकार कर लेने पर प्राणों पर आ बनती है। अतः तुम विष भरे नारियल के सामान पूज्य, वन्दनीय परन्तु न अपनाने योग्य अपने इस योग को अपने साथ ही वापस ले जाओ। यहाँ ब्रज में कोई भी इसे स्वीकार नहीं कर सकता।

विशेष—(१) सूर के उद्धव तो अपनी ज्ञान-गठरी को बाँध सही-सलामत ब्रज में पहुँच गए थे, इसीलिए उनकी गोपियाँ उन्हें उसे वापस ले जाने के लिए कह रही है। (२) परन्तु 'उद्धव शतक' के रचयिता 'रत्नाकर' के उद्धव की ज्ञान-गठरी तो इतनी ढीली बँधी थी कि उनके ब्रज पहुँचने से पूर्व ही उसका बहुत-सा ज्ञान-धीरे-धीरे खिसक कर ब्रज के लता-कुँजों आदि में बिखर गया था। देखिये, 'रत्नाकर' कहते हैं—

"ज्ञान-गठरी की गाँठि छरकि न जान्यो कब,
हरैं हरैं पूँजी सब सरकि कछार में।
डार में तमालनि की कछु बिरमानी अरु,
कछु अरुझानी है करीरिनि की झार में।"

(३) अन्तिम पंक्ति में उपमालंकार है।

ऊधो ! प्रीति न मरन बिचारै।
प्रीति पतंग जरै पावक परि, जरत अंग नहिं टारै॥
प्रीति परेवा उड़त गगन चढ़ि, गिरत न आप सम्हारै।
प्रीति मधुप केतकी-कुसुम बसि, कँटक आपु प्रहारै॥

प्रीति जानु जैसे पय पानी, जानि अपनपो जारै।
प्रीति कुरंग नादरस लुब्धक, तानि-तानि सर मारै॥
प्रीति जान जननी सुत-कारन, को न अपनपो हारै?
सूर स्याम सों प्रीति गोपिन की, कहु कैसे निरुवारैं॥१२१॥

शब्दार्थ—बिचारैं=चिन्ता नहीं करती। पावक=अग्नि। टारै=हटाता। परेवा=पक्षी। प्रहारै=प्रहार सहता है। पय=दूध। अपनपो=अपनापन, आत्म-भाव। जारै=जला डालता है। कुरङ्ग=हिरण। नादरस=वीणा की मधुर ध्वनि से प्रेम। लुब्धक=वधिक, बहेलिया। तानि-तानि=कस-कस कर। सर=वाण। निरुवारै=निवारण करे, दूर करे।

भावार्थ—सम्भव है, उद्धव ने गोपियों को यह भय दिखाया होगा कि यदि कृष्ण तुम्हें न मिले तो तुम उनके विरह में तड़प-तड़पकर मर जाओगी। इस पर गोपियाँ प्रेम-मार्ग की एकान्त निष्ठा का, विभिन्न उदाहरण देती हुई प्रतिपादन कर रही हैं। वे उद्धव से कहती हैं कि—

हे उद्धव! प्रेम में मरने की चिन्ता नहीं की जाती। प्रेम करने वाला कभी इस बात की चिन्ता नहीं करता कि प्रेम के कारण उसे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ सकता है। पतिंगा अग्नि से प्रेम करता है और अपने इस प्रेम के कारण ही अग्नि में पड़कर जल जाता है। परन्तु अपने अंगों को जलता हुआ देखकर भी उसकी वेदना को अनुभव नहीं करता और अपने एक भी अंग को बचाने का प्रयत्न नहीं करता। कबूतर आकाश से प्रेम करता है और उसके पास पहुँचने के लिए ऊपर बहुत ऊँचा उड़ता चला जाता है और जब उड़ते-उड़ते थक जाता है तो अपना होश-हवास खो, नीचे गिर पड़ता है और मर जाता है। अपने प्रेम की उमंग में उसे यह होश ही नहीं रहता कि अधिक ऊपर चढ़ जाने पर उसमें नीचे उतरने की शक्ति ही नहीं रहेगी। भ्रमर केतकी के पुष्प से प्रेम करता है। केतकी में काँटे होते हैं परन्तु भ्रमर उन काँटों की तनिक भी चिन्ता न कर, उस पुष्प पर ही वास करता है और स्वेच्छा से उन काँटों के प्रहारों को सहता है; परन्तु फिर भी उससे प्रेम करना नहीं छोड़ता।

हे उद्धव! सच्चे प्रेम का रूप तो दूध और जल के उदाहरण द्वारा ही समझा जा सकता है। जल दूध से प्रेम करता है, क्योंकि जल से ही दूध की उत्पत्ति होती है। जल और दूध मिलाकर जब गरम किया जाता है तो जल दूध पर जरा-सी भी आँच नहीं आने देता। स्वयं जल-जलकर अपना अस्तित्व समाप्त कर देता है और दूध को बचा लेता है। (जब दूध और पानी मिलाकर गरम किया जाता है तो पानी जलकर समाप्त हो जाता है और दूध खोए के रूप में सही-सलामत बचा रह जाता है।) इसी प्रकार हिरण वीणा के स्वर से प्रेम करता है। बहेलिया वीणा बजाकर हिरण को मंत्र-मुग्ध कर देता है और कस-कसकर वाण मार उसे डालता है। वाणों का आघात सहकर भी हिरण भागने का प्रयत्न नहीं करता।

यदि तुम प्रेम का महत्त्व ही जानना चाहते हो तो उसे माता से पूछो। माता अपने पुत्र के लिए अपना अस्तित्व तक समाप्त कर देती है। पुत्र पर अपना सब-कुछ न्यौछावर कर उसका पालन-पोषण करती है। हे उद्धव! कृष्ण के प्रति हम गोपियों का प्रेम भी ऐसा ही दृढ़ और निःस्वार्थ है। अब यह बताओ कि हम उस प्रेम को कैसे नष्ट कर दें? जब हम कृष्ण के प्रेम को नहीं छोड़ सकतीं तो फिर तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को कैसे स्वीकार कर लें?

विशेष—(१) इस पद में प्रेमी-युगलों के विभिन्न उदाहरणों द्वारा गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपने प्रेम की दृढ़ निष्ठा और अनन्यता का उद्‌घोष कर रही हैं।

(२) सम्पूर्ण पद में दीपक अलंकार है। यह अर्थावृत्ति दीपक अलंकार है।

(३) चतुर्थ पंक्ति में अभिव्यक्त भाव से मिलती-जुलती एक अन्य कवि की उक्ति द्रष्टव्य है—

> "डरै न काहू दुष्ट सों, जाहि प्रेम की बान।
> भौंर न छोड़ै केतकी, तीखे कंटक जान॥"

राग रामकली

ऊधो! जाहु तुम्हैं हम जाने।
स्याम तुम्हें ह्याँ नाहिं पठाए, तुम हौ बीच भुलाने॥
ब्रजबासिन सों जोग कहत हौ, बातहु कहत न जाने।
बड़ लागै न बिबेक तुम्हारो, ऐसे नए अयाने॥
हमसों कही लई सो सहिकै, जिय गुनि लेहु अपाने।
कहँ अबला कहँ दसा दिगंबर, संमुख करौ, पहिचाने॥
साँच कहौ तुमको अपनी सौं, बूझति बात निदाने।
सूर स्याम जब तुम्हैं पठाए, तब नेकहु मुसुकाने?॥१२२॥

शब्दार्थ—जाने=जान गईं, पहचान गईं। ह्याँ=यहाँ। बड़=बड़ा, अच्छा। अयाने=अज्ञानी। अपने=अपने। दिगम्बर=नंगा। संमुख करौ=आपस में तुलना करो। सौं=सौगन्ध। निदाने=असली।

भावार्थ—गोपियों को यह सन्देह है कि कृष्ण ने योग का उपदेश देने के लिए उद्धव को यहाँ न भेजकर कहीं और भेजा था, और वह मार्ग भूलकर यहाँ आ टपके हैं। इसी बात को लेकर वह उद्धव का मजाक उड़ाती हुईं उनसे कह रही हैं कि—

हे उद्धव! जाओ, हम तुम्हें अच्छी तरह से पहचान गई हैं। अर्थात् हमने असली रहस्य को जान लिया है। बात यह है कि कृष्ण ने तुम्हें यहाँ हमारे पास (योग का सन्देश देने के लिए) नहीं भेजा था। उन्होंने तुम्हें कहीं और जाने के लिए भेजा होगा, मगर तुम रास्ता भूलकर यहाँ हमारी जान को आ अटके हो। तुम इतने अनाड़ी और मूर्ख हो कि तुमसे बात कहना भी नहीं आता। इसका सबसे बड़ा

प्रमाण यह है कि ब्रजवासियों से योग की बात कह रहे हो और वह भी स्त्रियों से। कहीं स्त्रियों से योग-साधना की बात कही जाती है ! तुम्हारा यह ज्ञान हमें तो बड़ा या महत्त्वपूर्ण नहीं लगता। क्योंकि स्त्रियों को योग-साधना का उपदेश देना ज्ञानी पुरुषों का काम न होकर मूर्खों का ही माना जायेगा। हमने बड़े-बड़े मूर्ख और अज्ञानी देखे हैं। परन्तु तुम तो हमें एक नई किस्म के अज्ञानी प्रतीत होते हो, जो ऐसी मूर्खतापूर्ण कभी न सुनी हुई बातें कह रहे हो।

एक बात है उद्धव ! तुमने हमसे जो कुछ भी कहा उसे हमने सहन कर लिया है। परन्तु तनिक अपने मन में यह विचार करके तो देख लो कि कहाँ हम अबला नारियाँ और कहाँ योगियों की दिगम्बर (नितान्त नंगी) दशा ? तनिक इन दोनों की तुलना करके यह तो सोचो कि क्या तुम्हारा यह कहना उचित है ? अर्थात् नारियाँ भी कभी योगियों के समान बिल्कुल नंगी रह सकती हैं ? अच्छा, हम तुमसे अपनी सौगन्ध दिलाकर एक बात पूछ रही हैं। सच-सच बताना। जब कृष्ण ने तुम्हें यहाँ भेजा था, उस समय क्या वह तनिक से मुस्करा उठे थे ? गोपियों का यह पूछने का अभिप्राय यह है कि यदि उस समय कृष्ण जरा भी मुस्कराए होंगे तो इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण ने उद्धव को मूर्ख बनाने और गोपियों के प्रेम की अनन्यता का परिचय देने के लिए ही ब्रज भेजा होगा।

विशेष—(१) गोपियों का वाग्वैदग्ध्य अद्‌भुत है। वह सीधे-सादे ढंग से इतनी चुटीली बात कह जाती हैं जो उद्धव को किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनाने में समर्थ हैं। अन्तिम पंक्ति में तो उनका वाग्वैदग्ध्य अत्यधिक मार्मिक और कलात्मक हो उठा है। ऐसी मार्मिक, अर्थ-गर्भित पंक्तियाँ साहित्य में विरल ही हैं।

(२) गोपियाँ उद्धव को अपनी सौगन्ध दिलाकर नारियों की बात-बात में सौगन्ध खाने और दिलाने की स्वभावोचित निर्बलता और सरसता का प्रदर्शन कर रही हैं।

(३) सूर की गोपियाँ अत्यन्त विनोद-प्रिय हैं। दुःख में भी ऐसा सरस मार्मिक विनोद सूर की गोपियाँ ही कर सकती हैं। अन्य कवियों की गोपियों में हमें यह विशेषता नहीं मिलती। ये गोपियाँ किशोरी और अत्यन्त चपल स्वभाव की रहीं होंगी।

राग धनाश्री

ऊधो ! स्यामसखा तुम साँचे।
कै करि लियो स्वाँग बीचहि तें, वैसेहि लागत काँचे ॥
जैसी कही हमहिं आवत ही औरनि कहि पछिताते।
अपनो पति तजि और बतावत महिमानी कछु खाते ॥
तुरत गौन कीजै मधुबन को यहाँ कहाँ यह ल्याए ?
सूर सुनत गोपिन की बानी उद्धव सीस नवाए ॥१२३॥

शब्दार्थ—साँचे=सचमुच, सच्चे। काँचे=कच्चे। कही=कहा। महिमानी=मेहमानी, आतिथ्य। गौन=प्रस्थान, गवन।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव और कृष्ण के स्वभाव और रुचि की तुलना करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! तुम सचमुच ही कृष्ण के सच्चे मित्र हो या बीच में से ही यह स्वाँग बनाकर यहाँ आए हो। जो कुछ भी हो, परन्तु तुम स्वाँग बनाने (अभिनय करने) में भी कच्चे (अनाड़ी) मालूम पड़ते हो। अर्थात् कृष्ण ने भी हमारे साथ प्रेम का स्वाँग रचा था और फिर हमें धोखा देकर, छोड़कर कुब्जा जैसी दासी से प्रेम करने लगे। उन्हें भी प्रेम करने के लिए पात्र-कुपात्र की जाँच करनी नहीं आई। वही हालत तुम्हारी है। तुम भी हमें धोखा दे—बहकाकर, कृष्ण को त्याग निर्गुण ब्रह्म की आराधना करने का उपदेश दे रहे हो। परन्तु इतना भी नहीं जानते कि यह उपदेश हम जैसी मूर्ख, नीच अहीर जाति की नारियों को नहीं देना चाहिए। अतः तुम दोनों ही मित्र एक से ही ढोंगी, कपटी, परन्तु अनाड़ी हो। तुमने यहाँ आते ही हमसे जैसी ऊटपटांग (कृष्ण को त्याग ब्रह्म की आराधना करने की) बातें कही हैं, वैसी यदि हमसे न कहकर किसी और से कह बैठते तो तुम्हें उसके लिए पछताना पड़ता। अर्थात् सजा भुगतनी पड़ती। अगर तुम किसी अन्य नारी से यह कहते कि अपने पति को छोड़ किसी और को अपना लो, तो तुम्हारी खूब अच्छी तरह से खातिर की जाती, अर्थात् तुम्हारी खूब मरम्मत होती। तुमने हमसे कहा सो कहा कि अपने पति कृष्ण को त्याग ब्रह्म की आराधना करो, परन्तु अब और किसी से भी ऐसी बात मत कहना, वरना मुसीबत आ जायेगी।

अब तुम तुरन्त यहाँ से मथुरा को रवाना हो जाओ, यहाँ से काला मुँह करो। यहाँ कहाँ से अपने इस निर्गुण ब्रह्म को ले आए हो ! यहाँ इसे कोई भी पूछने वाला नहीं है। सूरदास कहते हैं कि गोपियों की इन बातों को सुनकर उद्धव सिर झुकाए चुपचाप बैठे रह गए, उनसे कोई उत्तर देते नहीं बना। अर्थात् गोपियों द्वारा यह फटकार खाकर उद्धव हतप्रभ से होकर चुपचाप बैठे रह गए।

विशेष—(१) 'महिमानी कुछ खाते' पद्यांश से काकु-वक्रोक्ति अलंकार द्वारा यह अर्थ निकलता है कि तुम्हारी खूब मरम्मत अर्थात् ठुकाई की जाती। 'काकु-वक्रोक्ति' में कण्ठ की विशिष्ट ध्वनि द्वारा वास्तविक अर्थ से नितान्त विपरीत अर्थ ध्वनित होता है।

(२) इस पद में गोपियाँ आक्रोश में भर शालीनता की मर्यादा का उल्लंघन कर अशिष्ट और उच्छृङ्खल हो उठी हैं और उनका ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि कोई भी पतिव्रता नारी यह सहन नहीं कर सकती, कि वह अपने पति को त्याग अन्य को स्वीकार कर ले। इसलिए गोपियों की इस सत्यनिष्ठा और दृढ़ता के कारण उत्पन्न उच्छृङ्खलता मोहक और मार्मिक है। वक्रोक्ति के प्रयोग ने एक अद्भुत छटा और प्रभाव उत्पन्न कर दिया है।

राग केदारो

ऊधोजू ! देखे हौ ब्रज जात।
जाय कहियो स्याम सों, या बिरह को उत्पात ॥
नयनन कछू नहिं सूझई, कछु स्रवन सुनत न बात।
स्याम बिन आँसुवन बूड़त, दुसह धुनि भइ बात ॥
आइए तो आइए, जिय बहुरि सरीर समात।
सूर के प्रभु बहुरि मिलिहौ, पाछे हू पछितात ॥१२४॥

शब्दार्थ—सूझई=दिखाई देता। बूड़त=डूब रही हैं। दुसह=असह्य। धुनि=ध्वनि, शब्द।

भावार्थ—गोपियाँ अपनी दारुण विरह दशा का वर्णन करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि तुम जाकर कृष्ण को हमारी दशा बता देना और हमारा सन्देश कह देना। वे कहती हैं—

हे उद्धव ! तुम ब्रज की दशा को; अर्थात् हम गोपियों की दशा को अपनी आँखों से देखकर यहाँ से जा रहे हो। मथुरा पहुँचकर कृष्ण को यहाँ की दारुण दशा का सारा समाचार सुना देना कि तुम्हारे विरह ने यहाँ कैसा उत्पात मचा रखा है, लोगों को कितना परेशान कर रखा है। उनके वियोग में रोते-रोते हमें आँखों से दिखाई देना बन्द हो गया है, कानों से कोई बात सुनाई नहीं देती। क्योंकि कृष्ण के विना आँखें रात-दिन आसुओं में डूबी रहती हैं, इसलिए उनसे दिखाई नहीं देता। और कानों को तुम्हारी मुरली की मधुर ध्वनि के प्रभाव में साधारण स्वर में कही जाने वाली वातें भी भयङ्कर-कर्कश ध्वनि के समान प्रतीत होती हैं। इसलिए कान किसी की भी वात सुनना पसन्द नहीं करते।

हे उद्धव ! तुम कृष्ण से जाकर कह देना कि यदि उन्हें यहाँ आना है तो शीघ्र ही आ जायें। उनके यहाँ आ जाने से हमारे इन निर्जीव से शरीरों में पुनः प्राणों का संचार हो उठेगा, हमें पुनः जीवन प्राप्त हो जायेगा, क्योंकि हमारे प्राण (कृष्ण) लौटकर इन शरीरों को पुनः स्वस्थ कर देंगे। और यदि कृष्ण यह कहें या सोचें कि फिर कभी हमसे आकर मिल लेंगे तो उनसे कह देना कि ऐसा करने पर उन्हें पछताना पड़ेगा। क्योंकि हमारे ये शरीर अब और अधिक उनके वियोग को नहीं सहन कर सकेंगे और हमारा प्राणान्त हो जायेगा।

विशेष—(१) इस पद में विरह में क्षीण-शरीर गोपियों की मर्मान्तिक व्यथा और दशा का चित्रण हुआ है।

(२) सम्पूर्ण पद में अतिशयोक्ति अलङ्कार के प्रयोग ने एक गहरा प्रभाव उत्पन्न कर दिया है।

राग नट

ऊधो ! बेगि मधुबन जाहु ।
जोग लेहु सँभारि अपनो, बेचिए जहँ लाहु ।
हम बिरहिनी नारि, हरि बिनु कौन करै निबाहु ?
तहाँ दीजै मूर पूजै, नफा कछु तुम खाहु ।।
जौ नहीं ब्रज में बिकानो, नगर नारि बिसाहु ।
सूर वै सब सुनत लैहें, जिय कहा पछिताहु ।।१२५।।

शब्दार्थ—लाहु=लाभ मिले । मूर पूजै=मूलधन वसूल हो जाय । बिसाहु=वेचना ।

भावार्थ--गोपियाँ उद्धव के निर्गुण ब्रह्म और योग-साधना को तुच्छ और तिरस्कृत घोषित करती हुई उन्हें सलाह दे रही हैं कि—

हे उद्धव ! अव तुम शीघ्र ही मथुरा चले जाओ । और देखो, अपने इस योग को सम्हाल कर ले जाना जिससे कहीं रास्ते में गिर न पड़े । तुम इसे ले जाकर वहीं वेचना जहाँ तुम्हें इस पर कुछ लाभ (मुनाफा) मिल सके । हम तो विरहिणी नारियाँ हैं । प्रियतम श्याम के बिना कौन हमारा निर्वाह कर सकता है ? कौन आश्रय दे पार लगा सकता है ? अर्थात् तुम्हारा यह निर्गुण ब्रह्म इस विरह के दुःख में हमारी कुछ भी सहायता नहीं कर सकता, इसलिए उसे प्राप्त करने की तुम्हारी यह योग-साधना हमारे लिए व्यर्थ है । इसे तो तुम वहाँ ले जाकर वेचना, जहाँ इसे बेचने से तुम्हारी पूँजी (मूलधन) तो वसूल हो ही जाय, साथ ही तुम्हें थोड़ा-सा मुनाफा (लाभ) भी हो जाय । अर्थात् अधिक कीमत मिल जाय ।

अगर तुम्हारा यह माल (योग) ब्रज में नहीं बिक सका है तो इसे ले जाकर नगर (मथुरा) की स्त्रियों (कुब्जा आदि) को वेच देना । नगर की सारी स्त्रियाँ सुनते ही तुम्हारा सारा माल खरीद लेंगी । यहाँ ब्रज में माल के न बिकने से तुम इतने पछता क्यों रहे हो, इतने हताश क्यों रहे हो ? भाव यह है कि भोग-विलास में आकण्ठ डूबी मथुरा की कुब्जा आदि नारियों को ही योग-साधना की जरूपत पड़ सकती है, कृष्ण-विरह में व्यथित संन्यासनी का-सा जीवन व्यतीत करने वाली ब्रज की गोपियों को नहीं । यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि अत्यधिक भोग-विलास के उपरान्त ही विरक्ति की भावना उत्पन्न होती है । (भर्तृहरि ने 'शृङ्गार शतक' लिखने के उपरान्त ही 'वैराग्य शतक' की रचना की थी ।)

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में कटु वात को स्पष्ट न कहकर घुमा-फिराकर मीठे ढङ्ग से कहने की कला तथा उस कला द्वारा, प्रतिपक्षी पर मार्मिक चोट करने का कौशल दर्शनीय है ।

ऊधो ! कछु-कछु समुझि परी ।
तुम जो हमको जोग लाए भली करनि करी ।।

एक बिरह जरि रहीं हरि के, सुनत अतिहि जरी।
जाहु जनि अब लोन लावहु, देखि तुमहिं डरी।।
जोग-पाती दई तुम कर, बड़े जान हरी।
आनि आस निरास कीन्हीं, सूर सुनि हहरी।।१२६।।

शब्दार्थ—कछु-कछु=थोड़ी-थोड़ी। करनि=करनी, कार्य। जनि=मत। लोन लावहु=नमक लगाओ। जान=सुजान, चतुर। हहरी=दहल गई।

भावार्थ—उद्धव के योग-सन्देश को सुनकर गोपियाँ क्षोभ में भर परन्तु संयत भाषा में उनकी भर्त्सना करती हुई उनसे कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! अब असली बात हमारी समझ में कुछ-कुछ आ रही है ! तुमने यह बहुत ही अच्छा किया कि हमारे लिए योग लेकर यहाँ आने का कष्ट उठाया। एक तो हम पहले से ही कृष्ण के वियोग में जल रही थीं, अब तुम्हारी इन बातों को सुनकर भी और अधिक जलने अर्थात् व्यथित होने लगी हैं। भाव यह है कि गोपियाँ व्यंग्य का आश्रय ले, उद्धव से कह रही हैं कि हम वियोग-दग्धाओं को तुलने कृष्ण को त्याग निर्गुण ब्रह्म को अपनाने का सन्देश देकर पहले से भी अधिक भयानक यन्त्रणा पहुँचाई है। अब तुम यहाँ से तुरन्त चले जाओ। जले पर नमक छिड़कने की कोशिश मत करो। अर्थात् हम तो वैसे ही दुःखी थीं, अब तुम हमें और अधिक दुःखी करने का प्रयत्न मत करो। हमें तो अब तुम्हारी सूरत से ही भय लगने लगा है।

हे उद्धव ! हमारे प्रियतम कृष्ण ने तो तुम्हें अत्यन्त सज्जन और बुद्धिमान समझ कर ही तुम्हें हमें देने के लिए योग-सन्देश वाली यह पत्री दी थी। अर्थात् कृष्ण का वास्तविक उद्देश्य यह था कि तुम चतुर हो, इसलिए परिस्थिति को देख-समझकर ही उसके अनुरूप उपयुक्त व्यवहार करोगे। परन्तु तुमने तो हम विरह की जली हुई गोपियों को अपनी नासमझी के कारण और भी अधिक कष्ट देकर मूर्खों का-सा काम किया है। तुम्हारे आने से पहले हमें यह आशा थी कि कृष्ण कभी-न-कभी यहाँ अवश्य आयेंगे। परन्तु अब तुमने उन्हें भुला निर्गुण ब्रह्म की आराधना करने का सन्देश और उपदेश देकर हमारी उस आशा को समाप्त कर दिया। हम अब निराश हो उठी हैं कि कृष्ण हमसे कभी नहीं मिलेंगे। हम तुम्हारी ऐसी बातों को सुनकर दहल गई हैं।

विशेष—(१) अन्तिम दो पंक्तियों का यह अर्थ भी हो सकता है कि कृष्ण ने तुम्हें चतुर और सज्जन समझ कर तुम्हारे द्वारा योग-सन्देश (योग=मिलन) अर्थात् शीघ्र ही मिलने का सन्देश भेजा था, परन्तु अपनी मूर्खतावश उस मिलन-सन्देश को योग-साधना का सन्देश समझ कर अर्थ का अनर्थ कर डाला; और हमारी और कृष्ण की—दोनों की मिलन की आशा को निराशा में परिवर्तित कर दिया। तुम्हारी मूर्खता के इस परिणाम को देखकर और तुम्हारी बातें सुनकर हम दहल उठी हैं, आतंकित हो उठी हैं।

हमारी समझ में यह अर्थ अधिक सुन्दर और संगत प्रतीत होता है।

(२) इस पद में अभिव्यक्त—गोपियों का व्यंग्य दर्शनीय है।

राग धनाश्री

ऊधो ! सुनत तिहारे बोल।
ल्याए हरि कुसलात धन्य तुम, घर-घर पार्‌यो गोल ।।
कहन देहु कह करै हमारो, बरि उड़ि जैहै झोल।
आवत ही याको पहिचान्यो, निपटहि ओछो तोल ।।
जिनके सोचन रही कहिब तें, ते बहु गुंननि अमोल।
जानी जाति सूर हम इनकी, बतचल चंचल लोल ।।१२७।।

शब्दार्थ—कुसलात=कुशल-क्षेम का समाचार। गोल=गड़बड़ी, गोलमाल, शोरगुल। कह=क्या। बरि=जलकर। झोल=राख, भस्म। ओछो तोल=कम तोलने वाले अर्थात् बेईमान। कहिब तें=कहने से। बतचल=बकवादी, अधिक बोलने वाला। लोल=लम्पट, अस्थिर।

भावार्थ—उद्धव की ज्ञान-योग-निर्गुण ब्रह्म की बातों से खीझकर गोपियाँ पहले उद्धव से और फिर आपस में उद्धव के विषय में क्षोभ भरी बातें कह रही हैं। एक गोपी उद्धव से कहती है कि—

हे उद्धव ! हमने तुम्हारी बातें सुन ली हैं, या हम तुम्हारी बातें सुन रही हैं। तुम धन्य हो कि तुमने आकर हमें कृष्ण का कुशल समाचार सुनाया। परन्तु तुमने उसके साथ ही जो अन्य बातें (योग-साधना आदि की) कहीं, उन्हें सुनकर यहाँ ब्रज में घर-घर शोर मचने लगा है; अर्थात् सब व्याकुल हो उठे हैं। उस गोपी की यह बात सुनकर कोई दूसरी गोपी उससे कहती है कि इन्हें ऐसी बातें करने दो। यह ऐसी बातें कह-कहकर हमारा क्या बिगाड़ लेंगे ? हम पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। कुछ समय बाद इनकी बातों का प्रभाव उसी प्रकार नष्ट हो जायगा, जैसे कोई वस्तु जलकर राख बन उड़ जाती है, गायब हो जाती है। अर्थात् ये बक-झककर बिना हमें प्रभावित किये ही यहाँ से चले जायेंगे। फिर इनकी बातों पर ध्यान ही क्यों दिया जाय !

हमने तो इनके यहाँ आते ही इनकी असलियत को पहचान लिया था कि ये बहुत ही नीच प्रकृति के और बेईमान आदमी हैं। हम इन्हें कृष्ण का सखा समझकर इनका आदर कर रहीं थीं और उसी संकोच के कारण इनसे ये बातें कहने में अभी तक हिचक रही थीं। परन्तु ये तो अनेक अमूल्य गुणों से भरे-पूरे निकले। अर्थात् इनके आने पर हम यह नहीं समझ सकी थीं कि इनमें ऐसे-ऐसे अमूल्य गुण भरे होंगे। व्यंग्य द्वारा यह तात्पर्य है कि ये तो महान् कपटी और दुर्गुणी निकले।) हमनें इनकी जाति अर्थात् असलियत को पहचान लिया है। ये तो बहुत ही बकवादी, चंचल और लम्पट स्वभाव के निकले। भाव यह है कि ये भी कृष्ण, अक्रूर, भ्रमर आदि के ही

समान कपट भरी बातें करने वाले, अस्थिर और लम्पट स्वभाव के सिद्ध हुए। इन सब की जाति एक ही निकली; अर्थात् सभी धोखेबाज़ हैं।

विशेष—(१) गोपियों का क्षोभ और व्यंग्य करने का कौशल दर्शनीय है। 'जिनके……अमोल' में गोपियाँ उद्धव को व्यंग्य द्वारा दुर्गुणों का भण्डार घोषित कर रही हैं।

(२) 'बतचल चंचल लोल' में वृत्यानुप्रास अलंकार का सौन्दर्य और कथन का माधुर्य द्रष्टव्य है।

राग नटनारायण

ऐसी बात कहौ जनि ऊधो !
ज्यों त्रिदोष उपजे जक लागति, निकसत बचन न सूधो ।।
आपन तौ उपचार रौ कछु, तब औरन सिख देहु ।
मेरे कहे बनाय न राखो, थिर कै कतहूँ गेहु ।।
जौ तुम पद्मपराग छाँड़िकै, करहु ग्राम-बसबास ।
तौ हम सूर यहौ करि देखें, निमिष छाँड़हीं पास ।।१२८।।

शब्दार्थ—जनि=मत। त्रिदोष=सन्निपात। जक=बकने की सनक। थिर कै=स्थिर होकर, जमकर। गेहु=घर। ग्राम-बसबास=गाँव में बसकर रहना। निमिष=पल, क्षण।

भावार्थ—उद्धव द्वारा बार-बार ज्ञान-योग का उपदेश देने पर गोपियाँ उन्हें रोकती हुई कह रही हैं कि हे उद्धव ! तुम हमसे ऐसी बातें मत कहो। हमें तो ऐसा लग रहा है कि जैसे तुम सन्निपात-ग्रस्त हो उठे हो। तुम भी उसी प्रकार अनर्गल प्रलाप कर रहे हो—जैसे सन्निपात-ग्रस्त हो जाने पर कोई व्यक्ति लगातार बकता ही चला जाता है। उसके मुँह से सीधी, समझ में आने योग्य बातें ही नहीं निकल पातीं। पागल के समान बराबर ऊटपटाँग बकता ही चला जाता है। अर्थात् तुम्हारी ये योग-ब्रह्म सम्बन्धी बातें नितान्त अनर्गल और पागल के प्रलाप के समान व्यर्थ, तुच्छ और महत्त्वहीन हैं। पहले तुम जाकर अपना इलाज करा लो, तब आकर दूसरों को शिक्षा देने का प्रयत्न करना। तुम पहले ऐसा करो कि मेरी बात मानकर कहीं अपना घर बसाकर स्थिर चित्त से टिक कर रहो। अर्थात् तुम्हारा अपना चित्त तो अस्थिर है, इसी कारण तुम पागल की तरह इधर-उधर भटकते हुए सबको अपना अनर्गल उपदेश सुनाते फिर रहे हो। और ऐसे अस्थिर चित्त वाले होकर हमें यह उपदेश दे रहे हो कि हम अपना चित्त स्थिर (एकाग्र) कर निर्गुण ब्रह्म की आराधना करें। तुम्हारे चरित्र का यह विरोधाभास, विषमता तुम्हारे पागल होने का प्रमाण है।

यदि तुम (यहाँ भ्रमर से अभिप्राय है) कमल के पराग का मोह त्याग किसी गाँव में जाकर बस जाओ तो हम भी क्षण भर में ही कृष्ण का सामीप्य (निरन्तर

ध्यान करना) त्याग तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को अपना कर देख लेंगी कि उसका क्या परिणाम निकलता है। भाव यह है कि जिस प्रकार भ्रमर कमल के पराग का मोह त्याग किसी एक ही स्थान पर बस, स्थिर होकर नहीं रह सकता, उसी प्रकार गोपियाँ भी कृष्ण-प्रेम को त्याग निर्गुण की आराधना करने में असमर्थ हैं। ये दोनों ही बातें असम्भव हैं।

विशेष—(१) 'त्रिदोष' सन्निपात को कहते हैं। जब किसी व्यक्ति के शरीर में वात, पित्त और कफ—तीनों दोष एक साथ प्रबल हो उठते हैं तो वह संज्ञाहीन-सा बन पीड़ा से व्याकुल हो पागल की तरह बकने-झकने लगता है। यहाँ गोपियाँ उद्धव को ब्रह्म सम्बन्धी अनर्गल बातों के कारण सन्निपात-ग्रस्त घोषित कर रही हैं।

(२) तृतीय पंक्ति से मिलती-जुलती बात कबीर ने भी कही है—

"रासि परायी राखता, अपना खाया खेत।
औरन को परबोधता, मुख में पर्‌या रेत॥"

(३) 'निमिष छाँड़हीं' का अर्थ है--'छण भर में ही छोड़ देंगी', न कि क्षण-भर के लिए छोड़ देंगी, जैसा कि कुछ व्याख्याकारों ने माना है।

राग नट

ऊधो ! जानि परे सयान।
नारियन को जोग लाए, भले जान सुजान॥
निगम हूँ नहिं पार पायो, कहत जासों ज्ञान।
नयन-त्रिकुटी जोरि संगम, जेहि करत अनुमान॥
पवन धरि रबि-तन निहारत, मनहिं राख्यो मारि।
सूर सो मन हाथ नाहीं, गयो संग बिसारि॥१२६॥

शब्दार्थ—सयान=सयाने, चतुर। नारियल=नारियों। निगम=वेद-शास्त्र आदि। त्रिकुटी=दोनों आँखों के ऊपर भौंहों के बीच का स्थान। संगम=मिलन। तन=ओर। पवन धरि=प्राणायाम साधकर। बिसारि=भुला कर, विस्मृत कर।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव के ज्ञान-मार्ग को अगम्य और असाध्य बताती हुई उनसे कह रही हैं कि हे उद्धव ! तुम तो हमें बड़े चतुर मालूम होते हो। अर्थात् नितान्त मूर्ख हो। तुम्हारी मूर्खता का प्रमाण यह है कि तुम हम नारियों के लिए यह योग लाए हो। तुम ऐसे ही सज्जन और ज्ञानी पुरुष हो ! ज्ञान अर्थात् निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान उसे कहते हैं जिसका वेद-शास्त्र भी आज तक पार नहीं पा सके हैं, उसे समझ और समझा नहीं सके हैं। योगीगण अपनी त्रिकुटी के मध्य अपना ध्यान केन्द्रस्थ (एकाग्र) कर जिसके सम्बन्ध में केवल अनुमान लगाया करते हैं, कल्पना किया करते हैं, प्राणायाम साध सूर्य की ओर टकटकी बाँध देखते रहते हैं और अपने मन को मार संयमित कर, उसे पूरी तरह से वश से कर लेते हैं; अर्थात् अपनी सम्पूर्ण सांसारिक

वासनाओं पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, उस ब्रह्म की साधना करना आसान नहीं है। अर्थात् ब्रह्म-प्राप्ति के लिए कठिन योग-साधना करनी पड़ती है। और यह सारी साधना मन द्वारा ही की जाती है। हम तुम्हारी बातों को स्वीकार अवश्य कर लेतीं, पर हम करें तो करें क्या ? क्योंकि हमारा मन तो हमारे पास है ही नहीं। वह तो हमें, पूरी तरह से भुलाकर उसी दिन कृष्ण के साथ मथुरा चला गया था, जब कृष्ण यहाँ से मथुरा गये थे। जब मन ही हमारे पास नहीं है तो हम निरोध किससे करें ? क्योंकि योग-साधना में तो मन का ही निरोध किया जाता है।

विशेष--(१) अन्तिम पंक्ति के अन्तिम अंश का यह अर्थ भी हो सकता है कि हमारा मन तो कृष्ण में पूर्णतया रमकर, अनुरक्त होकर सम्पूर्ण सांसारिक वासनाओं को पहले ही भुला चुका है। फिर हम मन का निरोध किस बात के लिए करें ?

(२) मन पास न रहने का यही भाव सूर ने एक अन्य पद में भी अभिव्यक्त किया है—

"ऊधो मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग, को आराधै ईस ॥"

(३) सम्पूर्ण पद में काकु-वक्रोक्ति अलंकार है।

राग-धनाश्री

ऊधो ! मन नहिं हाथ हमारे।
रथ चढ़ाय हरि संग गए लै, मथुरा जबैं सिधारे ॥
नातरु कहा जोग हम छाँड़हि, अनि रुचि कै तुम ल्याए।
हम तौं झकति स्याम की करनी, मन लै जोग पठाए ॥
अजहूँ मन अपनो हम पावैं, तुमतें होय तो होय।
सूर, सपथ हमैं कोटि तिहारी, कहौं करैंगी सोय ॥१३०॥

शब्दार्थ—नातरु=नाहीं तो। झकति=झींकती हैं। अजहुँ=आज भी। सोय=वही।

भावार्थ—गोपियाँ अपने वाक्-चातुर्य द्वारा उद्धव को इस बात के लिए फुसलाने का प्रयत्न कर रही हैं कि वह किसी प्रकार उन्हें एक बार कृष्ण से मिला दें। वह उनसे कहती हैं कि—

हे उद्धव ! हमारा मन हमारे पास नहीं है। उसे तो जब कृष्ण मथुरा गये थे, तभी अपने रथ पर चढ़ा कर वहीं लेते गए थे। नहीं तो क्या हम तुम्हारे इस योग को, जिसे तुम अत्यन्त प्रेम के साथ हमारे लिए लाये हो, इस प्रकार छोड़ देतीं, उसे अपनाने से इन्कार कर देतीं ! भाव यह है कि गोपियों का मन सदैव कृष्ण में ही रमा रहता है, वह गोपियों के वश में नहीं रहा है। जब अपना मन ही अपने वश में नहीं है तो फिर योग-साधना किस प्रकार की जाय, क्योंकि योग-साधना में तो मन को वश में कर ब्रह्म के ध्यान में एकाग्र करना पड़ता है। गोपियाँ कहती हैं कि हम तो कृष्ण

की इस करनी (कार्य) पर झींकती रहती हैं कि उन्होंने हमसे हमारे मन को बलात् छीन लिया और उसके बदले में यह योग भेज दिया है। यदि आज भी हमें अपना मन वापस मिल जाय, और यह काम अगर कोई कर सकता है तो केवल तुम्हीं कर सकते हो क्योंकि तुम कृष्ण के अभिन्न सखा हो, तो हम तुम्हारी अगणित सौगन्ध उठा कर प्रतिज्ञा करती हैं कि जो तुम हमसे करने को कहोगे, हम वही करेंगी। अर्थात् तुम्हारे योग को स्वीकार कर लेंगी। भाव यह है कि कृष्ण के अभिन्न सखा होने के नाते उद्धव ही कृष्ण को समझा-बुझाकर उन्हें ब्रज में ला, गोपियों से उनका मिलन करा सकते हैं। इसीलिए गोपियाँ उनकी खुशामद कर रही हैं। कृष्ण के ब्रज आने पर योगियों का मन भी उनके साथ लौट आएगा और फिर गोपियाँ उस मन द्वारा योग-साधना करने लगेंगी—वे उद्धव को यही लालच दे रही हैं।

विशेष—गोपियों का वाग्वैदग्ध्य दर्शनीय है।

ऊधो ! कहा कथत बिपरीति ?
जुबतिन जोग सिखावन आए, यह तौ उलटी रीति।
जोतत धेनु, दुहत पय बृष को, करन लगे जो अनीति।
चक्रबाक ससि को क्यों जानै, रबि चकोर कह प्रीति ?
पाहन तरै, काठ जौं बूड़ै, तौ हम मानें नीति।
सूर स्याम-प्रति-अंग-माधुरी, रही गोपिका जीति ॥१३१॥

शब्दार्थ—कथत=कह रहे हो। बिपरीत=विरुद्ध, अयोग्य। जोतत=हल में जोतते हो। पय=दूध। बृष=बैल। चक्रवाक=चकवा-चकवी। पाहन=पत्थर। जीति=विजित, पराजित।

भावार्थ—नारियों के लिए योग-साधना को सर्वथा असम्भव और अकरणीय घोषित करती हुईं गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! तुम ये ऐसी उल्टी बातें क्यों कह रहे हो। यह तो तुम्हारी बिल्कुल उल्टी; अर्थात् लोक-मान्यता और लोक-व्यवहार के विरुद्ध रीति है कि तुम यहाँ युवतियों को योग की शिक्षा देने के लिए आए हो। तुम यह उपदेश देकर ऐसा ही अन्याय से भरा असम्भव कार्य करने का प्रत्यन कर रहे हो, जैसे कोई मूर्ख गाय को तो हल में जोतने लगे और बैल का दूध दुहने का प्रयत्न करे। ये कार्य सर्वथा असम्भव हैं। दूसरी बात यह है कि जो जिससे प्रेम करता है, वह उसे त्याग अन्य किसी से भी प्रेम नहीं कर सकता। जैसे चकवा-चकवी सूर्य से प्रेम करते हैं, इसलिए चन्द्रमा को जानते तक नहीं। अर्थात् उसकी तरफ आँख उठाकर भी नहीं देखते। इसी प्रकार चकोर चन्द्रमा का प्रेमी होता है और सूर्य को जानता तक नहीं। हम एकमात्र कृष्ण से ही प्रेम करती हैं, अतः तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म का हमारे लिए कोई महत्त्व, प्रेम या सम्मान नहीं है।

युवतियों को योग सिखाने के तुम्हारे कार्य को हम उसी समय नीतिपूर्ण अर्थात् न्यायपूर्ण मान सकती हैं यदि पत्थर जल पर तैरने लगे और काठ जल में डूबने लगे।

यह दोनों ही बातें असम्भव हैं, इसलिए हमारे द्वारा निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लेना भी असम्भव है। यहाँ तो प्रत्येक गोपी कृष्ण के अंग-प्रत्यंगों के माधुर्य से प्रभावित हो पूर्ण रूप से पराजित हो रही है। अर्थात् कृष्ण के सौन्दर्य ने हमें पूरी तरह से जीत लिया है, हम पूर्णतः उन्हीं के वश में हैं। अतः हमारे लिए तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म से प्रेम करना सर्वथा असम्भव है।

विशेष—(१) गोपियाँ यह सिद्ध कर रही हैं कि योग-साधना करना उनके लिए सर्वथा असम्भव और असंगत कार्य है।

(२) तीसरी, चौथी तथा पाँचवीं पंक्तियों में निर्दशना अलङ्कार है।

ऊधो ! जोग सुन्यो हम दुर्लभ।
आपु कहत हम सुनत अचंभित, जानत हौ जिय सुल्लभ ।।
रेख न रूप बरन जाके, नहिं ताकों हमैं बतावत।
अपनी कहो दरस वैसे को, तुम कबहुँ हौ पावत ?
मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन बन-बन चारत ?
नैन बिसाल भौंह बंकट करि, देख्यो कबहुँ निहारत ?
तन त्रिभंग करि नटवर बपु, धरि पीतांबर तेहि सोहत।
सूर स्याम ज्यों देत हमैं सुख, त्यों तुमको सोउ मोहत ।।१३२।।

शब्दार्थ—सुल्लभ=सुलभ, सरलता से प्राप्त हो जाने वाला। अपनी कहो= अपना हाल बताओ। चारत=चराता है। बंकट=वक्र, टेढ़ी। बपु=शरीर।

भावार्थ—नीरस निर्गुण योग-साधना सगुण प्रेम-साधना की तुलना में कितनी दुरूह और अनाकर्षक है, इसी को सिद्ध करती हुईं गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! हमने तो यह सुना है कि तुम्हारी यह योग-साधना अत्यन्त दुरूह और जटिल है, साधारण जन इसकी साधना नहीं कर सकते। परन्तु तुम अपने मन में यही समझते हो कि यह अत्यन्त सुलभ अर्थात् सरल-साधना है। तुम यही बात हमसे कह रहे हो और उसे सुन-सुनकर हमें आश्चर्य हो रहा है कि जिसे सब दुर्लभ मानते हैं उसे तुम सुलभ कैसे बता रहे हो ? तुम हमें बता रहे हो कि निर्गुण ब्रह्म रूपरेखा और वर्ण से विहीन निराकार है। अच्छा, सच-सच बताओ कि क्या ऐसे निराकार ब्रह्म के तुम कभी दर्शन कर पाते हो, क्या कभी तुमने उसे देख पाया है ? यदि तुम यह कहते हो कि हमारे कृष्ण और तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म एक ही है, तो क्या तुम्हारा वह ब्रह्म हमारे कृष्ण के समान अपने अधरों पर मुरली रखकर कभी बजाता है, या वह वन-वन घूमकर गायों को चराता है ? तुमने कभी उसे हमारे कृष्ण के समान अपने विशाल नेत्रों द्वारा तिरछी भौंहें कर निहारते (देखते) हुए देखा है ? क्या उसे कभी त्रिभंगी मुद्रा में नटवर का वेश और शरीर पर पीताम्बर धारण किए शोभित होते हुए देखा है ? जिस प्रकार हमारे कृष्ण हमें अपनी विभिन्न क्रीड़ाओं द्वारा

तथा संकटों से हमारी रक्षा कर सुख प्रदान करते थे, क्या तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म भी उसी प्रकार विभिन्न क्रीड़ाएँ कर अपनी रूप-छवि से तुम्हारे मन को मोहित कर तुम्हें सुख प्रदान करता है ? यदि तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म हमारे कृष्ण के समान यह सब करके दिखा दे तो हम उसे स्वीकार कर लेंगी। हमें तो अपने कृष्ण का यही साकार-सगुण रूप ही प्रिय है।

विशेष—(१) इस पद में कृष्ण के सगुण-साकार मोहक रूप और मनमोहिनी क्रीड़ाओं की सरसता की निर्गुण-निराकार ब्रह्म की नीरसता से तुलना कर सगुण प्रेमोपासना को श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है।

(२) वेदों में ब्रह्म को निराकार माना गया है। जैसे—**"अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षः सश्रृणोत्यकर्णः।"** आदि। उपनिषदों में उसे निराकार माना गया है। जैसे—**"पराचिरवानि व्यतृणत्स्वर्यंभू स्त स्थात् पराङ् पश्चर्यान्तनान्तरात्मन्।"** आदि।

(३) रत्नाकर की गोपियाँ भी इसी कारण उद्धव के निर्गुण ब्रह्म को व्यर्थ कहती हैं—

"कहै रत्नाकर बदन बिनु कैसे चखि,
माखन बजाइ बेनु गोधन गवाइ है।
रावरो अनूप कोउ अलख अरूप ब्रह्म,
ऊधौ कहो कौन धौं हमारे काम आइ है॥"

(४) 'अपनी·······कहौ' पंक्ति में गोपियाँ उद्धव पर फब्तियाँ कस रही हैं।

राग रामकली

ऊधो ! हम-लायक सिख दीजै।
यह उपदेस अगिनि तें तातो, कहौ कौन बिधि कीजै ?
तुमहीं कहौ यहाँ इतनिन में, सीखनहारा को है ?
जोगी जती रहित माया तें, तिनको यह मत सोहै॥
जो कपूर चंदन तन लेपत, तेहि बिभूति क्यों छाजै ?
सूर कहौ सोभा क्यों पावै, आँख आँधरी आँजै॥१३३॥

शब्दार्थ—लायक=योग। तातो=गर्म। सोहै=शोभा देता है। छाजै=शोभा देगी। आँधरी=अन्धी स्त्री। आँजै=अंजन लगाए।

भावार्थ—पात्र की योग्यतानुसार ही उसे शिक्षा देनी चाहिए। गोपियाँ स्वयं को कठिन-दुर्लभ योग-साधना के योग्य नहीं समझतीं, परन्तु उद्धव की समझ में यह बात ही नहीं आती। इसलिए गोपियाँ उन्हें समझाती हुई कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम हम अपढ़ अबलाओं को ऐसी शिक्षा दो जो हमारे योग्य हो।

तुम्हारा कृष्ण को भुलाकर ब्रह्म-प्राप्ति के लिए योग-साधना करने वाला यह उपदेश तो हमें अग्नि से भी अधिक दाहक मालूम हो रहा है। फिर तुम्हीं बताओ हम यह साधना कैसे कर सकेंगी ? अर्थात् हम तो कृष्ण को विरहाग्नि में पहले से ही दग्ध हो रही हैं, तुम उन्हें त्यागने की बात कहकर हमारे हृदय को और अधिक दग्ध कर रहे हो, जबकि हमें इस समय ऐसे उपदेश की आवश्यकता है जो हमारे दग्ध हृदय को शीलता प्रदान कर सके। अर्थात् हमें कृष्ण-मिलन का उपाय बताओ। यहाँ इतनी गोपियाँ उपस्थिप हैं। तुम्हीं बताओ, इनमें से ऐसी कौन है जो तुम्हारी योग-साधना को सीख सके ? अर्थात् सभी गोपियाँ कृष्ण की परम अनुरक्ता और उनके विरह में दग्ध हो रही हैं। तुम्हारा यह उपदेश हमें शोभा न देकर, उन योगी और यतियों को ही शोभा देता है जो सांसारिक माया-मोह से सर्वथा विरक्त हो चुके हैं।

ब्रज की युवतियाँ अपने शरीर पर कपूर और चन्दन लगाने की अभ्यस्त हैं, उनके शरीर पर भस्म (विभूति) कैसे शोभा दे सकती है ? यह बताओ कि यदि कोई अन्धी स्त्री अपनी आँखों में काजल लगाए तो क्या ऐसा करना उसे शोभा दे सकता है ? अर्थात् पात्र की स्थिति और शक्ति के अनुसार ही कोई काम करना उसे शोभा देता है, अनधिकार चेष्टा करना नहीं। हम तो कृष्ण-प्रेम में अन्धी-सी हो रही हैं, फिर तुम्हारा यह योग हमारा क्या कल्याण कर सकता है।

विशेष—(१) गोपियाँ यह सिद्ध कर रही हैं कि युवतियों के लिए योग-साधना करना नितान्त अकरणीय, अनुचित और गर्हित कार्य है !

(२) अन्तिम पंक्ति में लोकोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

ऊधो ! जुवतिन ओर निहारौ।
तब यह जोग-मोट हम आगे, हिये समुझि बिस्तारौ ।।
जे कच स्याम आपने कर करि, नितहि सुगंध रचाए।
तिनको तुम जो बिभूति घोरिकै, जटा लगावन आए ।।
जेहि मुख मृगमद मलयज उबटति, छन-छन धोवति माँजति।
तेहि मुख कहत खेह लपटावन, सो कैसे हम छाजति !
लोचन आँजि स्याम-ससि दरसति, तबहीं ये तृप्ताति ?
सूर तिन्हैं तुम रबि दरसावत, यह सुनि-सुनि करुआति ।।१३४।।

शब्दार्थ—जोग-मोट=योग की गठरी। बिस्तारौ=खोलो। कच=केश, बाल। कर=हाथ। मृगमद=कस्तूरी। मलयज=चन्दन। उबटति=उबटन लगाती। खेह=राख, भस्म। छाजति=शोभित। आँजि=अंजन लगाकर। तृप्ताति=पूर्ण रूप से तृप्त होतीं। करुआति=दुखती हैं।

भावार्थ—गोपियाँ बार-बार उद्धव को यही समझा रहीं हैं कि तुम्हारा योग

युवतियों के लिए योग्य अथवा उचित नहीं है। यहाँ गोपियाँ यही बात एक नये ढंग से कहती हुई उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! पहले तुम हम युवतियों की ओर अच्छी तरह से आँख खोलकर देख लो। उसके बाद ही अपने हृदय में स्थिति को अच्छी तरह से सोच-समझकर अपनी योग की गठरी को खोलना; अर्थात् योग का उपदेश देना। तनिक सोचो तो सही कि हमारे जिन केशों को हमारे कृष्ण नित्य अपने हाथों से सँवारकर उनमें सुगन्धित तेल लगाया करते थे, हमारे उन्हीं केशों में अब तुम भस्म घोल, उसे इन केशों में लगा उन्हें जटा के रूप में कुरूप, उलझे और रूखे बना देने के लिए पधारे हो। अपने जिन मुखों पर हम कस्तूरी और चन्दन का उबटन लगाती थीं, क्षण-क्षण में उन्हें बार-बार धोती, साफ करतीं और चमकाती रहती थीं, अब तुम हमारे उन्हीं मुखों पर राख मलने का उपदेश दे रहे हो। यह बताओ कि ऐसा करना हमें कैसे शोभा दे सकता है ? क्या यह सब करके हम अपने सौन्दर्य को बनाए रख सकेंगी और कृष्ण को मोहित कर सकेंगी ?

हम अपने इन नेत्रों में अंजन लगाकर जब कृष्ण के चन्द्र-मुख का दर्शन करती थीं, तभी इन नेत्रों को पूर्ण तृप्ति और सुख प्राप्त होता था। अब तुम हमारे इन्हीं नेत्रों को सूर्य के समान अत्यन्त तीखे प्रकाश वाले निर्गुण ब्रह्म को दिखाने का प्रयत्न कर रहे हो। तुम्हारी ऐसी ही अनीतिपूर्ण, असंगत बातों को सुन-सुनकर हमारे ये नेत्र दुःखी हो रहे हैं। अर्थात् हमारे कृष्ण का रूप और दर्शन चन्द्रमा के समान शीतल और आनन्ददायक है। हमारे नेत्र उसी के अभ्यस्त हो चुके हैं। इसके विपरीत तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म सूर्य के समान दाहक है। फिर ये नेत्र उसके दर्शन कैसे कर सकते हैं ? ये तो उसके प्रकाश से जलकर नष्ट हो जायेंगे। इसलिए हम कृष्ण को त्याग तुम्हारे ऐसे ब्रह्म को स्वीकार नही कर सकतीं।

विशेष—(१) मार्मिकता और कोमल-सरस भाव-व्यंजना की दृष्टि से यह पद अत्यन्त सुन्दर, कलात्मक और महत्त्वपूर्ण बन गया है।

(२) तीसरी, चौथी और पाँचवीं पंक्तियों में अभिव्यक्त भाव से 'रत्नाकर' की निम्नलिखित पंक्तियाँ तुलनीय हैं—

"चोप करि चन्दन चढ़ायौ जिन अङ्गनि पै,
तिन पै बजाय तूरि, धूरि धरिबै कह।"

(३) 'स्याम सीस' में रूपक; 'जोग-मोट' में सम अभेद रूपक तथा 'छन-छन', 'सुनि-सुनि' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।

(४) इस पद में गोपियाँ व्यंग्य का आश्रय ि लेकर मार्मिक शब्दावली द्वारा उद्धव को समझाने का प्रयत्न कर रही हैं।

ऊधो ! इन नयनन अंजन देहु।
आनहु क्यों न स्याम रँग काजर, जासों जुर्‌यो सनेहु ॥

तपति रहति निसि-बासर, मधुकर, नहिं सुहात तन गेहु।
जैसे मीन मरत जल बिछुरत, कहा कहौं दुख एहु॥
सब बिधि बाँधि ठानि कै राख्यौ, खरि कपूर कोरेहुं।
बारक मिलवहु स्याम सूर प्रभु, क्यों न सुजस जग लेहु ? ॥१३५॥

शब्दार्थ—अंजन=काजल। आनहु=लाओ। तन गेहु=शरीर रूपी घर। एहु=इस या इसके। ठानि कै=दृढ़तापूर्वक। खरि=खरिया मिट्टी; कोरेहु=कोर या कोने में भी। बारक=एक बार।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से दीन-आग्रह कर रही हैं कि किसी प्रकार उन्हें एक बार कृष्ण के दर्शन करा दो। कृष्ण-वियोग में उनकी आँखें रात-दिन दुखती रहती हैं, इसलिए उनकी पीड़ा को दूर करने के लिए उनकी आँखों के उपयुक्त अंजन ला देने का आग्रह करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! हमारी इन दुखती हुई आँखों के लिए उनके उपयुक्त, जिससे ये अच्छी हो जायँ, अंजन लाकर दो। तुम इन्हें ज्ञानांजन (ज्ञान रूपी अंजन) देने का प्रयत्न कर रहे हो, परन्तु उससे तो इनकी पीड़ा और भी अधिक बढ़ गई है। इसलिए तुम इन्हें काले रंग का वह अंजन—अर्थात् कृष्ण को लाकर क्यों नहीं दे देते, जिससे इनका प्रेम जुड़ा हुआ है; अर्थात् जो इनकी पीड़ा को तुरन्त दूर कर देता है। भाव यह है कि यदि तुम तुम्हारी इन आँखों को कृष्ण के दर्शन करा दोगे तो इनकी पीड़ा शीघ्र ही दूर हो जायगी। इसके उपरान्त गोपियाँ मधुकर के माध्यम द्वारा उद्धव से आगे कहतीं हैं कि हे मधुकर ! हमारी ये आँखें कृष्ण के दर्शन बिना रात-दिन दग्ध होती, दुखती रहती हैं। इन्हें अपना यह शरीर रूपी घर तक अच्छा नहीं लगता। अर्थात् इन्हें इस बात का दुःख है कि कृष्ण के बिना यह शरीर अभी तक कैसे जीवित है ? मैं तुमसे इनके दुःख की बात कहाँ तक और कैसे कहूँ। ये कृष्ण के बिना उसी प्रकार तड़प-तड़पकर मरी जा रही हैं; जैसे मछली जल से बिछुड़ने पर छटपटा-छटपटा कर मर जाती है।

इन्होंने कृष्ण के उस मधुर रूप को उसी प्रकार दृढ़तापूर्वक अपने भीतर बाँध कर रख लिया है, जैसे कपूर को नष्ट होने (उड़ने) से बचाने के लिए उसे खड़िया के साथ एक पुड़िया में कसकर बाँध एक कोने में सुरक्षित रख दिया जाता है। इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि कृष्ण-दर्शन की लालसा में इन आँखों ने अपने प्राणों को, इतना कष्ट सहते रहने पर भी, दृढ़तापूर्वक बाँधकर रख लिया है। हे उद्धव ! ऐसी व्यथित-व्याकुल हमारी आँखों को एक बार स्वामी कृष्ण के दर्शन कराकर तुम संसार में यश के भागी क्यों नहीं बन जाते ? अर्थात् यदि तुम इन्हें एक बार कृष्ण से मिला दोगे, उनके दर्शन करा दोगे तो सारे संसार में तुम्हारा यश फैल जायेगा कि तुमने एक पुण्य-कार्य किया है।

विशेष—(१) कपूर धीरे-धीरे उड़कर नष्ट हो जाता है। उसे उड़ने से

बचाने के लिए खड़िया मिट्टी के साथ एक पुड़िया में बाँधकर किसी सुरक्षित स्थान पर रख दिया जाता है।

(२) 'स्याम रंग' में श्लेष है, जिसके अनुसार इसके दो अर्थ निकलते हैं—काले रंग का काजल तथा काले रंग वाले कृष्ण।

(३) 'स्याम रंग काजल' में रूपकालंकार; 'जैसे····एहु' में उपमा; 'राख्यो····कोरेहु' तथा 'इन····देहु' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

ऊधो ! भली करी तुम आए।
ये बातें कहि कहि या दुख में, ब्रज के लोग हँसाए॥
कौन काज बृन्दावन को सुख, दही-भात की छाक ?
अब वै कान्ह कूबरी राँचे, बने एक ही ताक॥
मोर-मुकुट मुरली पीतांबर, पठवौ सौज हमारी।
अपनी जटाजूट अरु मुद्रा, लीजै भस्म अधारी॥
वै तौ बड़े, सखा तुम उनके, तुमको सुगम अनीति।
सूर सबै मति भली स्याम की, जमुना-जल सों प्रीति॥१३६॥

शब्दार्थ—भली करी=अच्छा किया। छाक=क्लेवा, नाश्ता। राँचे=अनुरक्त। ताक=तार, मेल। सौज=वस्तुएँ। सुगम=आसान।

भावार्थ—गोपियाँ पिछले पदों में अभिव्यक्त अपनी दीनता और विरह-दुःख को एक तरह हटाकर पुनः उद्धव का मजाक उड़ाने लगती हैं। उद्धव की योग-ब्रह्म सम्बन्धी बातें हास्यास्पद और मनोरंजक लगती हैं, इसीलिए वे उद्धव से कहती हैं कि—

हे उद्धव ! तुमने अच्छा किया जो यहाँ हमारे पास ब्रज आये। हम सारे ब्रजवासी कृष्ण-वियोग में बड़े दुःखी और उदास हो रहे थे। तुमने योग-ब्रह्म सम्बन्धी ऐसी अटपटी और मनोरंजक बातें सुना-सुनाकर हम सबका खूब मनोरंजन किया है। अब कृष्ण मथुरा में जा कुब्जा के प्रेम में प्रनुरक्त हो गये हैं। कुब्जा और कृष्ण दोनों का खूब मेल मिला है, क्योंकि दोनों की प्रकृति एक-सी ही है। अब कृष्ण को यहाँ वृन्दावन में क्या सुख मिल सकता है ? अब उन्हें मथुरा के स्वादिष्ट व्यंजनों के सामने यहाँ का दही-भात का कलेवा करना कहीं सुहा सकता है ? और न हम उन्हें वह आनन्द दे सकती हैं, जो वहाँ उन्हें कुब्जा द्वारा मिल रहा है। अब कृष्ण को वृन्दावन से कोई मोह ही नहीं रहा तो तुम ऐसा करो कि हमारी वे सारी वस्पुएँ—मोर-मुकुट, मुरली और पीताम्बर—यहाँ हमारे पास वापस भेद दो, क्योंकि ये सारी वस्तुएँ हमने ही कृष्ण को दी थीं। अब तो उन्हें वे वस्तुएँ भी अच्छी नहीं लगती होंगी, इसलिए उन्हें हमें लौटा दो। और उन्होंने हमारे लिए वहाँ से अपनी जटाजूट, मुद्रा, भस्म, अधारी आदि जो योग-साधना की वस्तुएँ भेजी हैं, उन्हें ले जाकर उन्हें

ही सौंप दो। क्योंकि हमारे लिए यह सब व्यर्थ हैं। अर्थात् हमारी चीजें हमें लौटा दो और उनकी भेजी हुई चीजें लौटाकर उन्हें ही सौंप दो। हमें तो अपनी वही चीजें अच्छी लगती हैं जो हमने कृष्ण को दी थीं।

अब कृष्ण मथुरा में जाकर बहुत बड़े आदमी बन गये हैं और तुम भी उन्हीं के मित्र हो। इसलिए तुम दोनों को ही अन्याय करने में कोई हिचक नहीं होती। दोनों ही लुटेरे हो। क्योंकि कृष्ण हमारे मन और हमारी दी हुई उपर्युक्त वस्तुओं को लूटकर मथुरा जा बैठे हैं। और अब तुम हमारी एकमात्र निधि कृष्ण-स्मृति को भी हमसे छीनने आए हो। कृष्ण की बस एक ही बात हमें अच्छी बुद्धि वाली लगी है कि वह वृन्दावन और हमसे अपना सारा सम्बन्ध तोड़ने में तो सफल हो गए, परन्तु यमुना के जल से अभी तक प्रेम करते हैं। क्योंकि वृन्दावन में भी यमुना बहती है और मथुरा में भी। इससे प्रमाणित होता है कि यमुना-जल से उन्हें अब भी प्रेम है।

अन्तिम पंक्ति का अर्थ कुछ टीकाकारों ने यह किया है कि कृष्ण की एक ही बात सुबुद्धिपूर्ण (व्यंग्यार्थ से दुर्बुद्धिपूर्ण) प्रतीत होती है कि वह सम्पूर्ण संसार के पूज्य निर्मल पवित्र गंगा-जल से प्रेम न कर, यमराज की बहिन यमुना के जल से प्रेम करते हैं। परन्तु यह अर्थ पद के सन्दर्भ को देखते हुए उचित नहीं प्रतीत होता। यमुना भी गंगा के ही समान पवित्र मानी गई है, फिर उससे प्रेम करने में क्या आपत्ति हो सकती है? अतः हमारा उपर्युक्त अर्थ ही संगत है।

विशेष—(१) 'भली करी' में उद्धव पर गहरा व्यंग्य है। गोपियाँ उन्हें हास्यास्पद और मनोरंजन का साधन सिद्ध कर रही हैं।

(२) सातवीं पंक्ति में कृष्ण और उद्धव को बड़ा आदमी होने के कारण अन्यायी सिद्ध करने में गोपियों का वाक्-चातुर्य दर्शनीय है।

(३) सम्पूर्ण पद में परिवृत्ति अलङ्कार है।

राग सारंग

ऊधो ! बूझति गुपुत तिहारी।
सब काहू के मन की जानत, बाँधे मूरि फिरत ठगवारी॥
पीत ध्वजा उनके पीतांबर, लाल ध्वजा कुबिजा व्यभिचारी।
सत की ध्वजा स्वेत ब्रज ऊपर, अजस हेतु ऊधो ! सो प्यारी॥
उनके प्रेम-प्रीति मनरंजन, पै ह्याँ सकल सीलब्रतधारी।
सूर बचन मिथ्या लँगराई, ये दोऊ ऊधो की न्यारी॥१३७॥

शब्दार्थ—गुपुत तिहारी=तुम्हारी गुप्त बात, रहस्य। मूरि=जड़ी-बूटी। ठगवारी=ठगों वाली। अजस=अपयश। हेतु=कारण। लँगराई=लम्पटता, लबारपन। न्यारी=निराली, अनोखी।

भावार्थ—गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम सात्विक भाव का था, जबकि कुब्जा का रजोगुणी। परन्तु उद्धव कुब्जा को उपदेश न देकर यहाँ गोपियों से उनके सात्विक प्रेम को छीनने के लिए पधारे थे। गोपियाँ इसमें किसी षड्यन्त्र की आशंका कर, उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! हम तुमसे तुम्हारे मन की गुप्त बात पूछती हैं। सच-सच बता दो कि तुम्हारा यहाँ आने और योग का उपदेश देने में वास्तविक उद्देश्य क्या है ? तुम हो बहुत बड़े ज्ञानी बनते थे। क्या तुम सचमुच प्रत्येक के मन की बातें जानते हो या ठगों की जड़ी के समान (जिसे वे लोगों को खिला या सुँघा उन्हें बेहोश कर उनका सब कुछ लूट लेते हैं) अपने इस योग को लेकर हमें ठगने और हमारा सर्वस्व (कृष्ण) लूटने के लिए यहाँ पधारे हो ? यदि तुम सबके मन की सच्ची बातें जानने की शक्ति रखने वाले होते तो हमारे मन को जान लेते। परन्तु तुम ढोंगी और ठग हो, इसलिए हमारे सात्विक प्रेम को नहीं पहचान पाए। देखो, कृष्ण के शरीर पर शोभित पीताम्बर ही पीली-ध्वजा के समान है जो हमारे प्रति उनके सात्विक प्रेम का हल्का-सा प्रमाण है। इसके विपरीत, लाल-साड़ी धारण करने वाली कुब्जा की साड़ी का लाल रंग व्यभिचार का प्रतीक है। अर्थात् कृष्ण के प्रति उसका अनुराग सात्विक न होकर वासना-प्रधान है, जो व्यभिचार माना गया है। उसमें रजोगुण की प्रधानता है। परन्तु यहाँ ब्रज में सर्वत्र सात्विक प्रेम की प्रतीक श्वेत-ध्वजा फहरा रही है। अर्थात् हमने कृष्ण-विरह में रंगीन वस्त्रों का परित्याग कर केवल सफेद वस्त्र धारण करना प्रारम्भ कर दिया है। और हमारे ये श्वेत वस्त्र कृष्ण के प्रति हमारे सात्विक प्रेम के ज्वलन्त प्रमाण हैं। (श्वेत रंग सात्विक भाव का प्रतीक माना गया है।) परन्तु कृष्ण को तो केवल कुब्जा ही प्यारी है। और तुम कृष्ण के प्रति हमारे सात्विक प्रेम को हमारे अपयश का कारण बता रहे हो। इसलिए यह उपदेश दे रहे हो कि हम कृष्ण को त्याग, तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लें। ऐसा अनैतिक कार्य तो वह व्यभिचारिणी कुब्जा ही कर सकती है।

कृष्ण और कुब्जा का वह वासना-जन्य प्रेम केवल मनोरंजन का साधन है, वासना-तृप्ति का साधन है। परन्तु यहाँ ब्रज में तो सभी शील का व्रत धारण करने वाली और विषय-वासना से मुक्त शील आचरण वाली हैं। हमारा वासना से कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा शील और प्रेम अखंड है। परन्तु फिर भी तुम हमें ऐसा उपदेश दे रहे हो। इसका एकमात्र कारण यह है कि झूठ बोलने और लम्पटता में तुम अद्वितीय हो। अर्थात् इन दोनों बातों में कोई भी तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकता।

विशेष—(१) इस पद में गोपियाँ अपने सात्विक प्रेम को कुब्जा के वासनामय रजोगुणी प्रेम की तुलना में श्रेष्ठ सिद्ध करती हुईं, उद्धव को धूर्त्त और छली घोषित कर रही हैं। कृष्ण का पीताम्बर राजसी-योगियों के पीले वस्त्र का प्रतीक होने के

कारण वैभव का प्रतीक बन गया है। कुब्जा की साड़ी का लाल रंग वासना का प्रतीक होने के कारण व्यभिचार-प्रधान है।

(२) पद में प्रतिवस्तूपमालंकार है।

ऊधो ! मन माने की बात।
जरत पतंग दीप में जैसे, औ फिरि-फिरि लपटात।।
रहत चकोर पुहुमि पर, मधुकर ! ससि अकास भरमात।
ऐसो ध्यान धरो हरिजू पै, छन इत उत नहिं जात।।
दादुर रहत सदा जल-भीतर, कमलहिं नहिं नियरात।
काठ फोरि घर कियो मधुप, तै बँधे अंबुज के पात।।
बरषा बरसत निसिदिन, ऊधो ! पुहुमी पूरि अघात।
स्वाति-बूँद के काज पपीहा, छन-छन रटत रहात।।
सेहि न खात अमृतफल भोजन, तोमरि को ललचात।
सूरज कृस्न कुबरी रीझे, गोपिन देखि लजात।।१३८।।

शब्दार्थ—पुहुमि=पृथ्वी। भरमात=भ्रमता है, घूमता है। नियरात=पास नहीं फटकता। अँबुज=कमल। अघात=तृप्त हो जाती है। रहात=रहता है। सेहि=सेही नामक एक जीव जिसके शरीर पर लम्बे-लम्बे काँटे होते हैं। तोमरि=तोमड़ी, कड़वा घीआ या लौकी।

भावार्थ—प्रेम में जो जिसे अच्छा लगने लगता है, वह उसी के लिए दीवाना बना फिरता है, चाहे उसमें कितने ही अवगुण क्यों न हों। कृष्ण कुब्जा पर रीझ गए हैं तो इसमें उनका क्या दोष ! गोपियाँ विभिन्न उदाहरण देती हुईं इसी अद्भुत घटना (कृष्ण के कुब्जा प्रेम) की व्याख्या करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! यदि कृष्ण कुब्जा से प्रेम करने लगे हैं तो इसमें आश्चर्य ही किस बात का ! यह तो अपने-अपने मन की रुचि की बात है। जिसे जो अच्छा लगने लगता है वह उसी के पीछे दीवाना बना फिरता है, उसके गुण-अवगुण की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। उदाहरणार्थ–पतिङ्गा दीपक में पड़कर जल जाता है, मगर अपने प्राणों की हानि जानता हुआ भी बार-बार जाकर उसी दीपक से लिपटता रहता है। हे मधुकर ! चकोर पृथ्वी पर रहता है, उससे उड़ा भी नहीं जाता, परन्तु फिर भी वह आकाश में भ्रमण करने वाला चन्द्रमा उसे अपनी ओर आकर्षित कर हमेशा भ्रम में डाले रहता है। चकोर कभी चन्द्रमा तक नहीं पहुँच सकता, मगर उससे प्रेम करना नहीं छोड़ता। हमने भी कृष्ण से ऐसा ही प्रगाढ़, निःस्वार्थ प्रेम किया है कि हमारा मन उन्हें त्याग क्षण भर को भी इधर-उधर नहीं जाता। सदैव उन्हीं का ध्यान करता रहता है। यह सब तो अपनी-अपनी रुचि की बात है। जिसका जिस पर मन आ जाय, वही उसे प्रिय लगने लगता है।

मेंढ़क हमेशा जल के भीतर रहता है, मगर जल में रहने वाले कमल के पास तक नहीं फटकता, क्योंकि कमल के प्रति उसके मन में कोई आकर्षण नहीं होता। परन्तु काठ को भी काटकर उसमें घर बनाने वाला भ्रमर कमल की कोमल पंखुड़ियों के भीतर बन्दी बन जाता है और उन्हें काटकर बाहर निकलने का प्रयत्न न कर, वहीं घुट-घुटकर प्राण दे देता है। क्योंकि वह कमल से इतना अधिक प्रेम करता है कि उसकी कोमल पंखुड़ियों को आघात नहीं पहुँचा सकता। हे उद्धव ! वर्षा ऋतु में रात-दिन वर्षा होती रहती है और सारी पृथ्वी जल से परिपूर्ण हो, पूरी तरह से तृप्त हो जाती है, उसकी प्यास बुझ जाती है। परन्तु पपीहा वर्षा के उस जल की एक बूँद भी अपनी चोंच में नहीं डालता और प्रति क्षण प्यासा बना स्वाति नक्षत्र के जल की एक बूँद की खातिर पीउ-पीउ रटता रहता है। क्योंकि उसे स्वाति जल से ही एकनिष्ठ प्रेम है।

सेही नामक वन्य जीव मीठे फलों का भोजन न कर, कड़वी लौकी के लिए ही सदैव लालायित बना रहता है क्योंकि उसे वही अच्छी लगती है। ऐसी ही स्थिति कृष्ण की भी है। वह अब कुब्जा पर रीझ गए हैं और गोपियों को देखकर लज्जित होते हैं। अर्थात् अब उन्हें हमारा प्रगाढ़ सात्विक प्रेम अच्छा नहीं लगता और नीच जाति की उस दासी कुब्जा का वासनात्मक प्रेम रुचिकर लगने लगा है। वह उसके प्रेम पर गर्व करते हैं और हमारे प्रेम-सम्बन्धों का स्मरण कर लज्जित होते हैं। इसमें उनका कोई दोष नहीं है? यह तो अपनी-अपनी रुचि की बात है।

विशेष—(१) इस पद में असूया संचारी भाव है। गोपियाँ कृष्ण के कुब्जा-प्रेम पर व्यंग्य कर रही हैं।

(२) इस पद में दिए गए प्रेम के विभिन्न उदाहरण इस उक्ति की पुष्टि करते है कि—"प्रेम अन्धा होता है।"

(३) प्रेम करने वालों के सम्पूर्ण उदाहरणों में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

ऊधो ! खरिऐ जरी हरि के सूलन की।
कुंज कलोल करे बन ही बन, सुधि बिसरी वा भूलन की ॥
ब्रज हम दौरि आँक भरि लीन्ही, देखि छाँह नव मूलन की।
अब वह प्रीति कहाँ लौं बरनौं वा जमुना के कूलन की ॥
वह छबि छाकि रहे दोउ लोचन, बहियाँ गहि बन झूलन की।
खटकति है वह सूर हिये मों, माल दई मोंहि फूलन की ॥१३९॥

शब्दार्थ—खरिऐ=अत्यन्त। सूलन=दुःखों। कलोल=क्रीड़ा। भूलन की= भूलने की। मूलन=वृक्ष। कूलन=तटों। छाकि रहे=पूर्ण तृप्त रहे। गाहि= डालकर, पकड़कर। मों=मुझे।

भावार्थ—राधा या कोई अन्य गोपी कृष्ण द्वारा उनके साथ की गई केलि-

क्रीड़ाओं की स्मृति करती हुई उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! आज हम कृष्ण की उन केलि-क्रीड़ाओं का स्मरण कर तथा उन्हीं कृष्ण द्वारा भेजा गया यह तुम्हारा योग-सन्देश सुन अत्यन्त दुःखी हो उनके विरह में भस्म हुई जा रही हैं। शायद कृष्ण अब अपनी विमुग्धता (तन्मयता) की स्मृति को भूल गए हैं जो वह वनों में स्थित कुंजों में हमारे साथ क्रीड़ाएँ करते हुए प्राप्त करते थे। अर्थात् उस समय वह पूर्ण रूप से तन्मय हो सब कुछ भूल जाते थे। परन्तु आज उन्हें अपनी उस तन्मयता की याद भी नहीं रही है, वरना वह हमारे लिए ऐसा दाहक सन्देश कभी न भेजते। जब वह व्रज में रहते थे तब हमें नये-नये कोमल वृक्षों की छाया में विहार करते देख दौड़कर अपने आलिंगन-पाश में आबद्ध कर लेते थे। हे उद्धव ! अब हम तुमसे उन प्रेम-क्रीड़ाओं का वर्णन कहाँ तक करें (क्योंकि वे अगणित हैं) जो कृष्ण यमुना-तट पर हमारे साथ किया करते थे।

वह वन में हमारी भुजाओं को पकड़कर हमारे साथ झूला झूलते थे, हमें झुलाते थे। उनकी उस छवि से आज भी हमारे दोनों नेत्र पूर्ण रूप से तृप्त हो रहे हैं। अर्थात् उनकी वह मोहिनी छवि सदैव हमारे नेत्रों में समाई रहती है। उन्होंने जो माला हमारे वक्ष पर पहनाई थी, उसकी स्मृति आज भी हृदय में एक कसक उत्पन्न कर देती है। आज हमें कृष्ण की उन मधुर प्रेम-भरी क्रीड़ाओं की स्मृति और भी अधिक व्याकुल कर रही है। कहाँ उनका ऐसा अमित स्नेह और कहाँ यह दाहक योग-सन्देश !

विशेष—(१) 'सुधि बिसरी वा भूलन की' का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि इन केलि-क्रीड़ाओं का विस्मरण करने की भी हमें याद नहीं रही। यदि हम उन्हें भूल सकतीं तो कृष्ण का वियोग हमें इतना अधिक दग्ध नहीं कर पाता। परन्तु उन्हें भूलना हमारे लिए असम्भव है।

(२) इस पद में स्मरण अलंकार तथा स्मृति संचारी भाव है।

मधुकर ! हम न होंहि वे बेली।
जिनको तुम तजि भजत प्रीति बिनु, करत कुसुमरस-केली ॥
बारे नें बलबीर बढ़ाई, पोसी प्याई पानी।
बिन पिय-परस प्रात उठि फूलत, होत सदा हित-हानी ॥
ये बल्ली बिहरत बृन्दाबन, अरुझी स्याम-तमालहिं।
प्रेमपुष्प-रस-बास हमारे, बिलसत मधुप गोपालहिं ॥
जोग-समीर धीर नहिं डोलत, रूपडार ढिंग लागी।
सूर पराग न तजत हिये तें, कमल-नयन-अनुरागी ॥१४०॥

शब्दार्थ—बेली=लताएँ। केलि=क्रीड़ा। बारें ते=बचपन से। बलवीर=बलराम के भाई कृष्ण। परस=स्पर्श। जोग-समीर=योग रूपी पवन। धीर=स्थिर। डार=शाखा। ढिंग=पास।

भावार्थ—गोपियाँ स्वयं को कृष्ण की अनन्य और असाधारण प्रेमिका समझती हैं। और अपनी इस असाधारणता को लताओं के रूपक द्वारा उद्धव को समझा रही हैं। मधुकर लताओं से पुष्पों का प्रेमी होता है। इसलिए वे इस पद में लता और भ्रमर का रूपक बाँध भ्रमर के माध्यम से उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! हम उन (साधारण) लताओं के समान न तो हैं और न हो सकती हैं जिनसे तुम दरअसल प्रेम तो नहीं करते, मगर उनके पुष्पों के पराग के साथ क्रीड़ा कर, उनका रसपान कर, उन्हें छोड़कर भाग जाते हो। अर्थात् यद्यपि तुम उनसे प्रेम नहीं करते, परन्तु प्रेम का अभिनय कर उन्हें लुभा लेते हो और फिर उनका रस-पान कर उन्हें त्याग भाग जाते हो। वे लताएँ तुम्हारे इस प्रेम के अभिनय को न समझ तुम्हारे जाल में फँस जाती हैं। परन्तु हम उन साधारण लताओं से भिन्न ऐसी विशिष्ट लताओं के समान हैं, जिन्हें बचपन से ही बलराम के भाई कृष्ण ने पाला-पोसा है और अपने प्रेम रूपी जल से सींच-सींचकर इतना बड़ा किया है। अर्थात् हमारा और कृष्ण का प्रेम यौवनावस्था में अचानक हो जाने वाला प्रेम न होकर, बचपन से ही क्रमशः पल्लवित-पुष्ट होता हुआ ऐसा प्रगाढ़ प्रेम है जिसे कोई भी भङ्ग नहीं कर सकता। (सूर ने अन्यत्र भी यही भाव व्यक्त किया है—"बालापन कौ प्रेम कहौ अलि कैसे छूटै ?") हम तो ऐसी लताएँ हैं जो अपने प्रिय का स्पर्श पाकर उसी प्रकार खिल उठती थीं, जैसे प्रातःकाल सूर्य की किरणों का स्पर्श पाकर अन्य लताएँ प्रफुल्लित हो उठती हैं। यदि हमें प्रिय का स्पर्श नहीं मिल पाता था तो हम यह समझती थीं कि आज हमारी बहुत बड़ी हानि हुई है। अर्थात् कृष्ण हमसे प्रेम नहीं करते। हमारा जीवन प्रिय का स्पर्श पाकर धन्य हो जाता था।

हम गोपियाँ रूपी ऐसी ये लताएँ कृष्ण रूपी श्माम तमाल के वृक्ष से लिपट कर अर्थात् उनके प्रेमपाश में आबद्ध होकर वृन्दावन में विहार करती रहती थीं। (लताएँ वृक्षों का सहारा ले, उनसे लिपट, उनके ऊपर चढ़ जाती हैं और वृक्ष आँधी-तूफान से उनकी रक्षा करते रहते हैं। इसी प्रकार गोपियाँ कृष्ण के स्नेह का अवलम्बन पा निर्द्वन्द्व विहार करती रहती थीं।) और हमारे प्रेम रूपी पुष्पों के रस और सुगन्धि का कृष्ण रूपी भ्रमर पान करते रहते थे। अर्थात् हमारे साथ विभिन्न प्रकार की केलि-क्रीड़ाएँ करते रहते थे। हम ऐसी लताएँ हैं जिन्हें कृष्ण रूपी सशक्त, विशाल तमाल वृक्ष का आश्रय प्राप्त हो चुका है और हम उनके अनिन्द्य सौन्दर्य रूपी शाखा से कसकर लिपटी हुई हैं; अर्थात् उनका सौन्दर्य ही हमारा सबसे सशक्त आधार और आश्रय बना हुआ है। यही कारण है कि हम तुम्हारे इस योग रूपी तूफान में भी विचलित न होकर स्थिर बनी हुई हैं। अर्थात् तुम्हारे इस योग का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है और हम यथावत् कृष्ण की अनन्य अनुरागिनी बनी हुई हैं। हम अपने हृदय रूपी पुष्प के पराग रूपी अनुराग को अन्य किसी के लिए अर्थात् तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म के लिए नहीं त्याग सकती, नहीं दे सकतीं, क्योंकि हमारा हृदय तो एकमात्र कमल जैसे सुन्दर नेत्रों का ही अनुरागी है। यह उन्हीं को देखकर खिल

उठता है और वही इसके पराग का उपभोग कर सकते हैं, अन्य कोई भी नहीं। भाव यह है कि हम तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म से प्रेम नहीं कर सकतीं।

विशेष—(१) यह पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें गोपियाँ भ्रमर और लताओं के रूपक द्वारा कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य प्रेम-निष्ठा का प्रकाशन कर रही हैं। यह रूपक अत्यन्त कलात्मक, भाव-गर्भित और सर्वांग पूर्ण है। ऐसे सुन्दर, सफल रूप साहित्य में विरल हैं।

(२) 'वे बेली..........केली' में रूपकातिशयोक्ति; 'स्याम-तमालहिं' तथा 'मधुप गोपालहिं' में रूपक; और 'ये बल्ली.......अनुरागी' में सांगरूपक अलंकार है। कुछ लोग अन्योक्ति भी मानते हैं। सम्पूर्ण पद में सांगरूपक अलंकार है।

(३) भाषा सरल, भावपूर्ण, अर्थगर्भित और रोचक है।

मधुकर ! स्याम हमारे ईस।
जिनको ध्यान धरे उर-अंतर, आनहिं नए न उन बिन सीस॥
जोगिन जाय जोग उपदेसौ, जिनके मन दस बीस।
एकै मन, एकै वह मूरति, नित बितवत दिन तीस॥
काहे निर्गुन-ज्ञान आपनो, जित तित डारत खीस।
सूरज प्रभू नंदनंदन हैं, उनतें को जगदीस ? ॥१४१॥

शब्दार्थ—आनहिं=धारण कर सकतीं। ईस=ब्रह्म, ईश्वर। डारत खीस=नष्ट करते हो।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को भी ब्रह्म स्वीकार नहीं करतीं। इसी बात को वह उद्धव से मधुकर के माध्यम द्वारा कह रही हैं कि हे मधुकर ! हमारे स्वामी या ब्रह्म तो एकमात्र हमारे कृष्ण ही हैं। हम हृदय में सदैव उन्हीं का ध्यान किया करती हैं और उनके अतिरिक्त अन्य किसी को भी (अर्थात् तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को) अपने मस्तक पर धारण नहीं कर सकतीं अर्थात् अपना स्वामी स्वीकार नहीं कर सकतीं। यदि तुम योग का उपदेश देने के लिए इतने अधिक उत्सुक हो तो जाकर उन्हें दो जो योगिनियाँ हैं। वही इसे स्वीकार कर लेंगी, क्योंकि उनके अनेक (दस-बीस) मन होते हैं; अर्थात् उनका मन बड़ा अस्थिर और इधर-उधर भटकने वाला होता है। इसलिए अपने मन को स्थिर करने की उन्हें ही आवश्यकता है, हमें नहीं। क्योंकि हमारे पास तो एक ही मन है और उसमें वही एक मूर्त्ति (कृष्ण की) स्थापित है। और हम निरन्तर उन्हीं का ध्यान करती हुई ३० दिन अर्थात् महीना भर अर्थात् सारा समय व्यतीत कर देती हैं। भाव यह है कि हमारा मन तो कृष्ण-प्रेम में पहले से ही स्थिर और एकाग्र है, इसलिए हमें तुम्हारी इस मन को एकाग्र करने वाली योग-साधना की जरूरत नहीं है।

तुमने अपने इस निर्गुण सम्बन्धी ज्ञान को इधर-उधर सबको बाँटने का प्रयत्न कर क्यों नष्ट किए दे रहे हो ? अर्थात् यहाँ यह किसी के लिए भी उपयोगी नहीं है,

फिर तुम क्यों इसे हमारे सिर थोपने की कोशिश कर रहे हो ? हमारे स्वामी एकमात्र नन्दनन्दन कृष्ण ही हैं । उनसे बढ़कर इस संसार का स्वामी अर्थात् जगदीश और कौन हो सकता है ? जब हम उसे ही प्राप्त कर चुकी हैं तो तुम्हारे इस निर्गुण ब्रह्म को लेकर हम क्या करें ?

विशेष—गोपियाँ कृष्ण को ही सर्व-शक्तिमान ईश्वर और स्वयं को उनकी अनन्य आराधिका घोषित करती हुईं निर्गुण ब्रह्म और उसकी प्राप्ति के लिए की जाने वाली योग-साधना को अपने लिए व्यर्थ सिद्ध कर रही हैं ।

राग मलार

मधुकर ! तुम हौ स्याम-सखाई ।
पा लागों यह दोष बकसियो, संमुख करत ढिठाई ।।
कौने रंक संपदा बिलसी, सोवत सपने पाई ?
किन सोने की उड़त चिरैया डोरी बाँधि खिलाई ?
धाम धुआँ के कहौ कौन के, बैठी कहाँ अथाई ?
किन अकास तें तोरि तरैयाँ, आनि धरी घर माई !
बौरन की माला गुहि कौनै, अपने करन बनाई ?
बिनै जल नाव चलत किन देखी, उतरि पार को जाई ?
कौने कमलनयन, ब्रत बीड़ो, जोरि समाधि लगाई ?
सूरदास तू फिरि-फिरि आवत, यामें कौन बड़ाई ? ।।१४२।।

शब्दार्थ—सखाई=मित्र । दोष=अपराध । बकसियो=क्षमा करना । कौने=किस । रंक=निर्धन, भिखारी । बिलासी=भोगी । धाम धुआँ के=धुएँ के महल । अथाई=बैठक । तरैयाँ=तारे । बौरन=बौर । करन=हाथों से । बीड़ो जोरि=बीड़ा उठाकर, प्रतिज्ञा करके ।

भावार्थ—ब्रह्म-प्राप्ति को विभिन्न उदाहरणों द्वारा सर्वथा असम्भव घोषित करती हुईं गोपियाँ भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! तुम कृष्ण के मित्र हो, इसलिए हमारे लिए पूज्य और आदरणीय हो । हम तुमसे कुछ बातें कहना चाहती हैं । परन्तु तुम्हारे सामने उन्हें कहना हमारी ढिठाई (उच्छृङ्खलता) होगी । इसलिए हम तुम्हारे चरण छूकर तुमसे प्रार्थना करती हैं कि हमारे इस अपराध को क्षमा कर देना । (तुम हमें योग-साधना द्वारा निर्गुण-ब्रह्म की प्राप्ति का उपदेश दे रहे हो । परन्तु ब्रह्म को प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है । यह असम्भव को सम्भव सिद्ध करने के समान असम्भव है । हम तुम्हें कुछ उदाहरण देती हैं ।) कृपा करके यह बताओ कि किसी निर्धन ने स्वप्न में प्राप्त वैभव का आज तक जीवन में कभी भोग कर पाया है ? वह वैभव तो आँख खुलते ही नष्ट हो जाता है, अतः यह असम्भव है । कवियों द्वारा कल्पित सोने की चिड़िया को डोरी में बाँध

कर आज तक कोई खिला पाया है ? यह बताओ कि कोई धुएँ के महलों में अपनी बैठक बना पाया है ? धुएँ के महल तो हवा चलते ही गायब हो जाते हैं। आज तक कोई आकाश के तारों को तोड़कर अपने घर में रखने में सफल हो सका है ? अर्थात् ये सारे कार्य असम्भव हैं।

इसी प्रकार यह बताओ कि कोई आज तक अपने हाथों से बौर की माला गूँथ सका है ? (बौर के फूल इतने नन्हें होते हैं कि उन्हें गूँथकर माला बनाना असम्भव है।) किसी ने आज तक बिना जल के नाव चलती हुई देखी है ? और उस पर सवार हो कोई नदी पार कर सका है ? किसने आज तक कमय-नयन कृष्ण से प्रेम करने की प्रतिज्ञा कर योग-साधना की समाधि लगाने की कोशिश की है ? अर्थात् कृष्ण से प्रेम करने वाला कोई भी योग-साधना को स्वीकार नहीं कर सकता। हे मधुकर ! हम विभिन्न उदाहरणों द्वारा तुझे कितनी बार समझा चुकी हैं कि तेरे निर्गुण ब्रह्म और योग-साधना को स्वीकार करना हमारे लिए इसी प्रकार असम्भव है जैसे उपर्युक्त सारे कार्य करना असम्भव है। फिर भी तू न जाने क्यों हमारे पास बार-बार आकर हमसे वैसा ही असम्भव कार्य करने का आग्रह कर रहा है ? आखिर इससे तेरा कौन-सा बड़प्पन प्रकट होता है ? अर्थात् तू हठी और मूर्ख है।

विशेष--(१) गोपियों के तर्क पुष्ट और दर्शनीय हैं।

(२) सम्पूर्ण पद में निदर्शना अलंकार है।

राग धनाश्री

मधुकर ! मन तो एकै आहि।
सो तो लैं हरि संग सिधारे, ज़ोग सिखावत काहि ?
रे सठ, कुटिल-बचन, रसलंपट ! अबलन तन धौं चाहि।
अब काहे को देत लोन हौ, बिरह-अनल तन दाहि।।
परमारथ उपचार करत हौ, बिरह-व्यथा नहिं जाहि।
जाको राजदोष कफ ब्यापै, दही खवावत ताहि।।
सुन्दर-स्याम-सलोनी सूरति, पूरि रही हिय माहिं !
सूर ताहि तजि निर्गुन-सिंधुहि, कौन सकै अवगाहि ? ।।१४३।।

शब्दार्थ—एकै आहि=एक ही है। तन=ओर। धौं=तो। चाहि=देखना। लोन=नमक। उपचार=इलाज। राजदोष=राजयक्ष्मा, तपेदिक। अवगाहि=थाह लेना।

भावार्थ—गोपियाँ निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार न कर पाने में अपनी असमर्थता का एक ही कारण बता रही हैं कि उनका मन एक ही था, जिसे कृष्ण अपने साथ ले गए। वे मधुकर के माध्यम द्वारा यही बात उद्धव को समझा रही हैं—

हे मधुकर ! मन तो केवल एक ही होता है। और हमारे उस एकमात्र मन

को तो कृष्ण जब यहाँ से मथुरा गए थे, तभी अपने साथ ले गए थे। जब हमारा मन ही हमारे पास नहीं है तो तू योग-साधना करना किसे सिखा रहा है ? क्योंकि योग-साधना में तो मन को ही एकाग्र करना होता है और वह मन हमारे पास है ही नहीं। रे दुष्ट, छलभरे वचन कहने वाले रस के लोभी भ्रमर ! तू तनिक हम अबलाओं की ओर तो देख। हमारा शरीर तो पहले से ही कृष्ण के विरह की अग्नि में दग्ध हो रहा है। अब तू जले पर नमक क्यों छिड़क रहा है ? अर्थात् हमसे कृष्ण को भुला ब्रह्माराधना करने का आग्रह कर हमारे दुःख को और अधिक क्यों बढ़ा रहा है ?

तू हमारी इस विरह-व्यथा का उपचार परमार्थ (मुक्ति) द्वारा करने का प्रयत्न कर रहा है। अर्थात् ब्रह्माराधना करने पर हम मुक्ति प्राप्ति कर कृष्ण-विरह की वेदना से छुटकारा पा जायेंगी। परन्तु तेरे इस उपचार द्वारा हमारी विरह-व्यथा दूर नहीं हो सकती, बल्कि और अधिक बढ़ गई है। हमारी विरह-व्यथा तो एकमात्र कृष्ण-दर्शन से ही दूर हो सकती है। परन्तु तू तो उस अनाड़ी वैद्य के समान मूर्ख है जो राजयक्ष्मा के रोगी का उसका कफ बढ़ जाने पर दही खिलाकर उपचार कर रहा हो। (कफ बढ़ जाने पर दही खिलाना प्राणघातक है, क्योंकि दही कफ-वर्द्धक अर्थात् कफ को बढ़ाने वाला माना गया है, न कि उसका शमन करने वाला।) हमारे इस हृदय में तो कृष्ण की सुन्दर, सलोनी, साँवली मूर्त्ति पूर्ण रूप से व्याप्त हो रही है। अब यह बता कि ऐसी सुन्दर-सलोनी मूर्त्ति को अपने हृदय से दूर कर कौन तेरे निर्गुण-ब्रह्म रूपी समुद्र की थाह लेता फिरे, उसे पार करने का प्रयत्न करे। अर्थात् निर्गुण ब्रह्म विस्तृत अथाह सागर के समान अगम्य है। हममें उसे पार करने की सामर्थ्य नहीं, इसलिए वह हमारे लिए व्यर्थ है।

विशेष—(१) गोपियाँ उद्धव द्वारा बार-बार निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार कर लेने का उपदेश सुन खीझ उठती हैं और भ्रमर के माध्यम से उन्हें खूब गालियाँ सुनाती हैं। गोपियों की यह खीझ और झुँझलाहट मनोरम है।

(२) सम्पूर्ण पद में निदर्शना तथा 'विरह-अनल' में रूपक अलङ्कार है।

राग सारंग

मधुकर ! छाँड़ु अटपटी बातें।
फिरि-फिरि बार-बार सोई सिखवत, हम दुख पावति जातें॥
अनुदिन देति असीस प्रात उठि, अरु सुख सोवत न्हातें।
तुम निसिदिन उर-अन्तर सोचत, ब्रज जुवतिन को घातें॥
पुनि-पुनि तुम्हें कहत क्यों आवै, कछु जाने यहि नाते।
सूरदास जो रँगी स्याम रँग, फिरि न चढ़त अब राते॥१४४॥

शब्दार्थ—जातें=जिससे। अनुदिन=हर रोज, प्रति दिन। न्हातें=स्नान करते समय। घातें=कष्ट, दुःख। नाते=सम्बन्ध से। राते=लाल रंग।

भावार्थ—उद्धव की बार-बार वही निर्गुण सम्बन्धी बातें सुन गोपियाँ मधुकर के माध्यम द्वारा उनसे कह रही हैं कि हे मधुकर ! तू अपनी इस प्रकार की अटपटी (निर्गुण सम्बन्धी रहस्यात्मक) बातें करना छोड़ दे, बन्द कर दे। तू हमें बार-बार घुमा-फिराकर वही उपदेश दे रहा है, जिससे हमें दुःख होता है। हम तो, क्योंकि तुम कृष्ण के मित्र हो और उनका कुशल-समाचार लेकर आए हो, इसलिए प्रतिदिन प्रातः उठते, स्नान करते तथा रात को सुख से (कृष्ण के स्वप्न देखती हुई) सोते समय बराबर तुम्हें अशीष देती रहती हैं (कि तुम सुरक्षित रहो और कभी कृष्ण को यहाँ लाकर हमें उनके दर्शन करा दो), परन्तु तुम ऐसे दुष्ट हो कि रात-दिन अपने हृदय में यही सोचते रहते हो कि इन ब्रज की युवतियों को कैसे दुःख पहुँचा सको। हमारी समझ में नहीं आता कि तुम हमसे बार-बार ऐसी कष्टदायक बातें क्यों कहते रहते हो। शायद इसी के उत्तर द्वारा हम यह जान लें कि जो काले रंग में रंग चुकी हैं अर्थात् कृष्ण के प्रेम में रँग चुकी हैं, उन पर तुम्हारा यह लाल रंग नहीं चढ़ सकता। (योगी गेरुआ अर्थात् लाल रंग के कपड़े धारण करते हैं। अतः गोपियाँ यह संकेत दे रही हैं कि हम कृष्ण को त्याग गेरुए वस्त्र धारण कर योग-साधना नहीं कर सकतीं।) हमारा प्रेम तो एकमात्र कृष्ण से ही है। हम तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म से प्रेम नहीं कर सकतीं।

विशेष—(१) अन्तिम पंक्ति में अभिव्यक्त भाव को सूर ने अन्यत्र भी व्यक्त किया है—"सूरदास खल कारी कामरि चढ़ै न दूजौ रंग।"

(२) 'स्याम रंग' में श्लेष है, कृष्ण अथवा काला रंग। 'फिरि-फिरि, 'बार-बार' में पुनरुक्ति प्रकाश तथा अन्तिम पंक्ति में रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार है।

मधुप ! रावरी पहिचानि।
बास रस लैं अनत बैठे, पुहुप की तजि कानि॥
बाटिका बहु बिपिन जाके, एक जौ कुम्हलानि।
फूल फूले सघन कानन, कौन तिनकी हानि ?
काम-पापक जरति छाती, लोन लाए आनि।
जोग-पाती हाथ दीन्हीं, बिष चढ़ायो सानि॥
सीस तें मनि हरी जिनके, कौन जिनमें बानि।
सूर के प्रभु निरखि हिरदय, ब्रज तज्यो यह जानि॥१४५॥

शब्दार्थ—रावरी—तुम्हारी। बास रस=सुगन्धि और पराग। कानि=मर्यादा। तिनकी=उनकी। कामपाचिक=कामाग्नि, काम-पीड़ा। आनि=लाकर। सानि=तीक्ष्ण, तीखा। मनि=मणि, सर्प की मणि। हरी=छीन ली। बानि=शोभा।

भावार्थ—गोपियाँ अपने प्रेम को दृढ़ और एकनिष्ठ तथा भ्रमर के माध्यम

से कृष्ण के प्रेम को अस्थिर और अनेकमुखी घोषित करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुप ! हम तुम्हारे प्रेम की असलियत को जानती हैं। तुम तो ऐसे ढोंगी प्रेमी हो कि एक पुष्प पर बैठ उसकी सुगंधि और रस का पान करने के उपरान्त उसे त्याग दूसरे पुष्प पर जा बैठते हो और उसका रसपान करने लगते हो। ऐसा अनुचित कार्य करते समय तुम उस पहले पुष्प की मर्यादा का जरा भी ध्यान नहीं रखते। उसकी भी अपनी मर्यादा होती है जो तुम्हारे इस विश्वासघात द्वारा खंडित हो जाती है। जिसके पास अनेक वाटिकाओं और वनों में खिलने वाले अगणित पुष्प सघन रूप से फूल रहे हों, उन फूलों में से यदि एक फूल मुरझा भी जाय तो उस भ्रमर की क्या हानि सकती है। अर्थात् वह उस एक फूल के न रहने पर भी अन्य फूलों का जी-भर कर रसपान करता रहता है। भाव यह है कि कृष्ण ने भी हमारे साथ ऐसा ही व्यवहार किया है। वह हमारा रसपान कर, केलि-क्रीड़ाएँ कर अब अन्य नारी (कुब्जा) से प्रेम कर रहे हैं। यदि वह भी रसहीन हो जायगी तो वे उसे भी त्याग अपने लिए और नारियाँ ढूँढ़ लेंगे। हमारे न रहने से उनकी केलि-क्रीड़ाओं में कोई व्याघात नहीं पड़ा है। उनकी कोई हानि नहीं हुई है। वह तो मधुप के समान केवल रसपान के लोभी हैं।

परन्तु हम उनसे एकनिष्ठ प्रेम करती हैं। हमारे लिए उनके अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं है। हमें उनके विरह में सदैव कामाग्नि दग्ध करती है। हे उद्धव ! हम तो पहले से ही जल रही थीं। तुमने आकर हमें योग का उपदेश देकर जले पर नमक छिड़कने जैसा गर्हित, अमानुषिक कार्य किया है; अर्थात् हमारी विरह-व्यथा को और अधिक बढ़ा दिया है। तुमने उनकी योग-सन्देश वाली पत्री हमारे हाथ में रखकर हमें उसी प्रकार प्राणान्तक व्यथा पहुँचाई है, जैसे कोई किसी भूखे, दीन याचक को खाने के लिए भयंकर, तीक्ष्ण प्राणघातक विष दे दे। जिस प्रकार मणिधारी सर्प मणि के छिन जाने से कान्तिहीन, मर्यादाहीन हो जाता है, उसी प्रकार हम अपनी शीर्ष-मणि (कृष्ण) के छिन जाने से, उनके मथुरा चले जाने से, कान्तिहीन, नीरस और मर्यादाहीन हो गई हैं। उनके विरह में दग्ध होकर हमारा सारा सौन्दर्य नष्ट हो गया है। कृष्ण इस बात को जानते हैं कि हम अब नीरस और सौन्दर्यहीन हो गई होंगी, इसीलिए उन्होंने ब्रज का आना त्याग दिया है। अब वह इसी कारण ब्रज नहीं आते।

विशेष—(१) यहाँ गोपियाँ कुब्जा के प्रति कृष्ण के प्रेम पर गहरा व्यंग्य कर रही हैं।

(२) सम्पूर्ण पद में अन्योक्ति अलंकार है। भ्रमर के माध्यम से कृष्ण पर व्यंग्य किया गया है। 'काम-पावक' में रूपक अलंकार है।

मधुकर स्याम हमारे चोर ।
मन हरि लियो माधुरी-मूरति, चितै नयन की कोर ।।
पकर्‌यो तेहि हिरदय उर अन्तर, प्रेम-प्रीति के जोर ।
गए छँड़ाय छोरि सब बंधन, दै गए हँसनि अँकोर ।।
सोवत ते हम उचकि परी हैं, दूत मिल्यो मोहिं भोर ।
सूर स्याम मुसकनि मेरो, सर्वस लै गए नंदकिसोर ।।१४६।।

शब्दार्थ—नयन की कोर=नेत्रों का कटाक्ष । अँकोर=भेंट । मुसकनि=मुस्कान द्वारा ।

भावार्थ—कृष्ण के मादक आकर्षण और उसके प्रभाव का वर्णन करती हुई गोपियाँ भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कह रही हैं कि हे मधुकर ! हमारे कृष्ण चोर हैं । उन्होंने अपनी मधुर छवि और तिरछी चितवन अर्थात् कटाक्ष द्वारा हमारे मन को चुरा लिया है, छीन लिया है । जब उन्होंने हमारा मन चुरा लिया तो हमने भी उन्हें प्रेम और स्नेह के बल द्वारा पकड़ कर अपने हृदय के भीतर बन्द कर लिया । अर्थात् उनकी उस माधुरी-मूरति को अपने हृदय में दृढ़ता के साथ स्थापित कर लिया । परन्तु वे हमसे अधिक चतुर और शक्तिशाली निकले, क्योंकि हमारे प्रेम-स्नेह के उन सारे बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर स्वयं को हमारे बन्धन से छुड़ा ले गए और बदले में हमें भेंट-स्वरूप अपनी मन्द मुस्कान दे गए । अर्थात् उन्होंने हमारे प्रेम के पाश से स्वयं को मुक्त कर लिया और चलते समय हमारी ओर मन्द मुस्कान के साथ देखकर चले गए । जब कृष्ण तनिक-सा मुस्कराकर हमारा सर्वस्व—मन—लूट कर यहाँ से चले गए तब हमारी मोह-निद्रा भंग हुई । अर्थात् हमें होश आया कि यह क्या हो गया ! परन्तु जब हमें होश आया तो प्रातः होते ही इस दूत अर्थात् उद्धव के दर्शन हुए जो हमसे हमारी बची हुई एकमात्र निधि (कृष्ण की स्मृति) को भी छीनने के लिए यहाँ आया है । अब हमारे ध्यान में सदैव उनकी वही मन्द-मुस्कान समाई रहती है जो हमारे लिए इतनी घातक सिद्ध हुई ।

विशेष—गोपियाँ कृष्ण की मन्द-मुस्कान को, जिसने उन्हें मोहित कर रखा था, छलभरी चोर की मुस्कान सिद्ध करना चाह रही हैं ।

मधुकुर ! समुझि कहौ मुख बात ।
हौ मद पिए मत्त, नहिं सूझत, काहे को इतरात ?
बीच जो परै सत्य सो भाखैं, बोलै सत्य स्वरूप ।
मुख देखत को न्याव न कीजै, कहा रंक कह भूप ।।
कछू कहत कछुए मुख निकसत, परनिंदक व्यभिचारी ।
ब्रज जुवतिन को जोग सिखावन, कीरति आनि पसारी ।।

हम जान्यो सो भँवर रसभोगी, जोग-जुगति कहँ पाई ?
परम गुरू सिर मूँड़ि बापुरे, करमुख छार लगाई ।।
यहै अनीति बिधाता कीन्हीं, तौऊ समुझत नाहीं ।
जो कोऊ परहित कूप खनावै ,परै सो कूपहि माहीं ।
सूर सो प्रभु अंतर्यामी, कासों कहौं पुकारी ? ।
तब अक्रूर अबै इन ऊधो दुहुँ मिलि छाती जारी ।।१४७।।

शब्दार्थ—मद=मदिरा, शराब । सूझत=दिखाई देता । परै=पड़ता है । कछुऐ=कुछ और ही । आनि=आकर, लाकर । बापुरे=बेचारा । करमुख=काले मुँह वाला, भ्रमर । छार=भस्म । खनावै=खोदता है ।

भावार्थ—उद्धव की योग-सम्बन्धी रहस्यात्मक विचित्र बातें सुन, गोपियाँ झुँझलाकर भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! तुम समझ-बूझकर अपने मुँह से बातें करो । अर्थात् अनर्गल प्रलाप करना छोड़ होश की बातें करो । तुम तो अपने विचारों और सिद्धान्त के नशे में डूबे हुए हो । इसीलिए तुम्हें उचित-अनुचित का विवेक नहीं रहा है । तुम किस बात पर इतना इतरा रहे हो, क्यों इतना गर्व कर रहे हो ? दो लोगों के झगड़े में जो मध्यस्थ (बीच-बचाव करने वाला) बनता है, उनके झगड़े को सुलझाने का प्रयत्न करता है, वह सदैव सत्य और न्याय की बात करता है । वह दोनों पक्षों की बातें सुन कर सदैव सत्य का आश्रय ले, उचित न्याय की बात कहता है । किसी का मुँह देख कर वह मुँह देखी बात अर्थात् पक्षपात भरी बात नहीं करता—उसके सामने चाहे राजा हो अथवा भिखारी हो । परन्तु तुम पक्षपात करने वाले मध्यस्थ हो । कृष्ण महान् हैं, राजा हैं, इसलिए तुम उनके लाभ के लिए (जिससे वह स्वच्छन्द हो कुब्जा के साथ रस-भोग करते रहें) उनकी-सी बात कहकर हमारे साथ अन्याय कर रहे हो, क्योंकि हम अबला हैं, कमजोर हैं । यह तुम्हारा सरासर अन्याय है ।

क्योंकि तुम्हारे मन में पक्षपात की भावना है, इसलिए तुम सही बात नहीं कह पा रहे हो । कहना कुछ चाहते हो और तुम्हारे मुख से बात कुछ और ही निकल पड़ती है । इसका कारण यह है कि तुम पर-निन्दा करने में रस लेने वाले, और अन्याय पूर्ण कार्य करने के अभ्यस्त बन चुके हो । तुम्हारा सबसे भयंकर अपराध तो यह कि तुम कृष्ण-प्रेम की अनन्य अनुरागिनी—व्रज की युवतियों को योग की शिक्षा दे रहे हो । पात्र-अपात्र देखकर काम नहीं करते । तुमने यहाँ व्रज में आकर अपनी ऐसी ही कीर्त्ति का विस्तार किया है, अच्छा नाम कमाया है ! अर्थात् यहाँ सब तुम्हारी मक्कारी, मूर्खता और असलियत को जान गए हैं । हम तो यह पहले ही जानती थीं कि भ्रमर तो रस का भोग करने वाला अर्थात् घोर विलासी होता है । हमें आश्चर्य इस बात का है कि इस भ्रमर को यह योग-साधना की विधि कहाँ से प्राप्त हो गई ? अर्थात् रस-लोभी भ्रमर कभी योग-साधना से परिचित हो ही नहीं सकता ।

इसके इस स्वभाव को जानकर ही परम गुरु विधाता ने इसका सिर घुटाकर इसके काले मुख पर राख पोत दी थी। (भौंरा काला होता है, इसके सिर पर बाल नहीं होते तथा मुख पर पीला टीका-सा लगा रहता है जो यहाँ राख का प्रतीक है।) अर्थात् ऐसा भयंकर दण्ड दिया था कि इसके रूप को देखकर ही समझ जायें कि यह परम विलासी, कपटी और मक्कार है। इसके साथ विधाता ने इतना अन्याय किया अर्थात् ऐसा दण्ड दिया, परन्तु फिर भी इसकी समझ में कुछ भी नहीं आता और यह अनर्गल प्रलाप करता रहता है। जो व्यक्ति दूसरों के लिए कुँआ खुदवाता है, वह स्वयं ही उस कुँए में जा गिरता है। अर्थात् दूसरों का बुरा चाहने वाला स्वयं मुसीबत में पड़ जाता है।

उद्धव-पक्ष में इसका अर्थ यह होगा कि इनके परम गुरु (कृष्ण) ने इनकी इन योग-सम्बन्धी बातों से ऊबकर इन्हें उसी प्रकार अपने पास से भगा दिया था, जैसे किसी अपराधी का सिर मुँड़ा, उसके मुख पर लाख मल, उसका मुख काला कर गाँव से बाहर निकाल दिया जाता है। कृष्ण इनके परम गुरु इसलिए हैं कि ये हजरत उन्हें ही ब्रह्म समझते हैं और ब्रह्म सबका गुरु, ज्ञान देने वाला माना जाता है। इनसे पीछा छुड़ाने के लिए कृष्ण ने इन्हें अपने पास से दूर यहाँ हमारे पास भेज दिया है। परन्तु ये इतने मूर्ख हैं कि असली बात इनकी समझ में ही नहीं आती। इसलिए यह कृष्ण के असली अभिप्राय को न समझ यहाँ हमें योग दिखाने आए हैं। हमारे स्वामी कृष्ण तो स्वयं अन्तर्यामी हैं। वे हमारे दुःख और पीड़ा को अच्छी तरह से जानते और समझते हैं। परन्तु सब कुछ जानते हुए भी जब उन्होंने हमारे साथ ऐसा अन्याय किया है कि इन हजरत को यहाँ हमारी जान खाने भेज दिया है तो हम सब रो-रोकर इस अन्याय के विरुद्ध किससे फरियाद करें ? अर्थात् कृष्ण ने इन्हें हमारे पास योग की शिक्षा देने के लिए भेजकर हमारे साथ घोर अन्याय किया है। अपनी मुसीबत हमारे गले मढ़ दी है। मथुरा से जो भी यहाँ आता है, हमारे हृदय को जलाने के लिए ही आता है। पहले वह अक्रूर आए थे जो हमारे प्राणाधार कृष्ण को हमसे छीनकर ले गए थे। और अब ये हजरत उद्धव पधारे हैं जो हमसे हमारी एकमात्र बची हुई निधि (कृष्ण की स्मृति) को भी छीन ले जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इन दोनों ने ही हमारे हृदय को बहुत जलाया है, हमें बहुत कष्ट दिया है।

विशेष—(१) 'परम गुरु' से यह अभिप्राय है कि ये उद्धव तो गुरु बनकर हमें योग की शिक्षा देने पधारे हैं और वे कृष्ण इनके भी गुरु हैं जिन्होंने इनसे अपना पीछा छुड़ा हमारे पास भेज दिया है। यहाँ 'गुरु' शब्द में व्यंग्य है, जिसका अर्थ होता है—चालाक, घुटा हुआ व्यक्ति।

(२) गोपियों का क्षोभ, आक्रोश इनके वाक्-चातुर्य से संवर्द्धित होकर इस पद में एक अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर रहा है। ऐसा गहरा व्यंग्य अन्यत्र बहुत कम पदों में मिलता है।

मधुकर ! हम जो कहौ करैं ।
पठयो है गोपाल कृपा कै, आयसु तैं न टरैं ॥
रसना वारि फेरि नव खँड कै, दै निर्गुन के साथ ।
इतनी तनक बिलग जनि मानहुँ, अँखियाँ नाहीं हाथ ॥
सेवा कठिन, अपूरब दरसन, कहत अबहूँ मैं फेरि ।
कहियो जाय सूर के प्रभु सों, केरा पास ज्यों बेरि ॥१४८॥

शब्दार्थ—आयसु=आज्ञा । टरैं=हटना । रसना=जिह्वा । वारि फेरि=उलटकर । नव खँड=नौ टुकड़े, योग-साधना का नवम् द्वार । कै=कर के । बिलग=बुरा । फेरि=फिर । केरा=केले का वृक्ष । बेरि=बेर का झाड़ या वृक्ष ।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव की प्रत्येक बात मानने को तैयार हैं, परन्तु उनकी विवशता यही है कि उनके अंग उनके वश में नहीं हैं । वे अपनी इसी विवशता को प्रकट करती हुई भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! तुम हमसे जो कुछ भी करने के लिए कहोगे, हम वही करेंगी । कृष्ण ने हमारे ऊपर कृपा कर तुम्हें हमारे पास भेजा है, इसलिए हम तुम्हारी आज्ञा नहीं टालेंगी । तुम्हारी योग-साधना करते हुए हम अपनी जिह्वा को उलटकर नवम् द्वार तक पहुँचा देंगी और उसे सम्पूर्ण रूप से निर्गुण की साधना में अनुरक्त कर देंगी । ('नव खंड कै' का अर्थ यदि यह माना जाय कि 'नौ टुकड़े करके'—तो इसका अर्थ यह होगा—'हम रात-दिन कृष्ण-नाम रटने वाली अपनी इस जिह्वा को कृष्ण की ओर से मोड़कर निर्गुण का नाम रटने में लगा देंगी । और यदि यह ऐसा नहीं करेगी तो इसके नौ टुकड़े कर देंगी अर्थात् इसे नष्ट कर डालेंगी ।' परन्तु इस अर्थ में 'नव खंड' शब्द स्पष्ट नहीं हो पाता । योग-साधना में जिह्वा को उलट ऊपर चढ़ा नवम् द्वार—ब्रह्म रन्ध्र—से झरते अमृत-रस का पान किया जाता है । यहाँ इसी के प्रति संकेत है । अतः हमारा पहला अर्थ ही संगत और उपयुक्त है ।) परन्तु हे मधुकर ! इस बात का जरा-सा भी बुरा मत मानना कि हमारी ये आँखें हमारे वश में नहीं हैं । अर्थात् इन्हें कृष्ण-रूप के अतिरिक्त और कुछ भी देखना अच्छा नहीं लगता । इसलिए हमें यह भय है कि ये सदैव विद्रोह ही करती रहेंगी । फिर हम यह योग-साधना कैसे कर सकेंगी ?

तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म इतना अगम्य है कि उसकी सेवा करना (योग-साधना द्वारा उसे प्राप्त करना) बहुत कठिन है, क्योंकि योग-साधना अत्यन्त दुरूह और जटिल होती है । तुम्हारे कथनानुसार तुम्हारे उस निर्गुण-ब्रह्म के दर्शन भी अद्भुत और अनुपम होंगे । यह सब कुछ ठीक हो सकता है, परन्तु हमें फिर भी यह बात कहनी ही पड़ रही है कि तुम हमारे स्वामी कृष्ण से जाकर यह कह देना कि उन्हें त्याग योग-साधना करने पर हमारी स्थिति उतनी ही विषम और दयनीय हो उठेगी, जैसी कि बेर के वृक्ष के पास लगे हुए केले के वृक्ष की होती है । अर्थात् जैसे हवा चलने पर

केले में पत्ते पास उगे बेर के वृक्ष के काँटों में उलझकर फट जाते हैं, सदैव कष्ट पाते रहते हैं, उसी प्रकार हम भी ब्रह्माराधना कर सदैव दुःखी, त्रस्त और दीन बनी रहेंगी।

विशेष—(१) 'केरा के पास ज्यों बेरि' के भाव को कबीर ने भी व्यक्त किया है—

"कहै कबीर कैसे निभै, बेर केर को संग।
वे डोलत रस आपने, उनके फाटत अंग॥"

(२) निर्गुण ब्रह्म की उपासना बड़ी कष्टकारक होती है। गीता में इसको स्पष्ट करते हुए कहा गया है—"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।" अर्थात् अव्यक्त ब्रह्म में आसक्त चित्त वालों को अधिक क्लेश होता है।

(३) अन्तिम पंक्ति में लुप्तोपमा अलंकार है।

राग धनाश्री

मधुकर ! तौ औरनि सिख देहु।
जानौगे जब लागैगो, हो, खरो कठिन है नेहु॥
मन जो तिहारो हरिचरनन-तर, तन धरि गोकुल आयो।
कमलनयन के संग तें बिछुरे, कहु कौने सचु पायो ?
ह्याँईं रहौ जाहु जनि मथुरा, झूठो माया-मोहु।
गोपी सूर कहत ऊधो सों, हमहीं से तुम होहु॥१४९॥

शब्दार्थ—नेहु=प्रेम। तर=नीचे। सचु=सुख। ह्याँईं=यहाँ ही।

भावार्थ—उद्धव स्वयं तो कृष्ण के अनन्य अनुरागी थे और गोपियों को योग की शिक्षा दे रहे थे। उनकी इस कथनी और करनी के अन्तर को स्पष्ट करती हुई गोपियाँ कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! तुम दूसरों को तो अपनी यह शिक्षा तब देना जब पहले स्वयं यह तो जान लो कि प्रेम-मार्ग कितना कठिन और दृढ़ होता है। इसे तो तुम तभी जान सकोगे जब तुम्हें भी ऐसी ही वियोग-व्यथा झेलनी पड़ेगी जैसी कि हम झेल रही हैं। तुम्हारा मन तो सदैव कृष्ण के चरणों में ही अनुरक्त बना रहता है और तुम्हारा वही कृष्णानुरक्त मन यहाँ तुम्हारे रूप में साकार रूप धारण करके आया है। अर्थात् तुम्हारा मन तो वहीं कृष्ण के पास है और केवल तुम्हारा शरीर ही यहाँ आया है। मन से रहित होने के कारण ही तुम इतनी निष्ठुर बातें कह रहे हो। यदि तुम्हारे मन से यह कहा जाता कि वह कृष्ण को त्याग, किसी और से हीं स्नेह करने लगे तब तुम्हें पता चलता। यह बताओ कि कमलनयन कृष्ण से बिछुड़कर आज तक कोई सुख पा सका है ? अभी तुम्हें इस विरह-वेदना का अनुभव नहीं हुआ है, इसीलिए ऐसी बातें कर रहे हो।

तुम हमें यह उपदेश दे रहे हो कि यह सारा सांसारिक माया-मोह झूठा है,

असत्य है। अच्छा, यदि तुम यह जानना चाहते हो कि यह असत्य है या सत्य तो ऐसा करो कि कृष्ण-प्रेम को असत्य मान, यहीं हमारे पास ब्रज में रह जाओ, मथुरा मत जाओ। यदि तुम यहाँ रहने लगोगे तो तुम भी हमारे जैसे ही हो जाओगे। अर्थात् जिस प्रकार कृष्ण के बिना हम रात-दिन उनकी विरह-व्यथा में दग्ध होती रहती हैं, वही विरह-व्यथा तुम्हें भी सताने लगेगी। क्योंकि हम जानती हैं कि तुम कृष्ण से एकनिष्ठ, दृढ़ प्रेम करते हो।

विशेष—(१) यहाँ गोपियाँ उद्धव पर तुलसी की वही कहावत चरितार्थ कर रही हैं कि—"**पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे।**" संस्कृत में भी यही बात इस प्रकार कही गई है—

"परोपदेश पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः॥"

(२) गोपियाँ उद्धव को भी कृष्ण का अनन्य भक्त सिद्ध कर रही हैं।

मधुकर ! जानत नाहिन बात।
फूँकि फूँकि हियरा सुलगावत, उठि न यहाँ तें जात॥
जो उर बसत जसोदानन्दन, निर्गुन कहाँ समात ?
कत भटकत डोलत कुसुमन को, तुम हो पातन पात ?
जदपि सकल बल्ली बन बिहरत, जाय बसत जलजात।
सूरदास ब्रज मिले बनि आवै ? दासी की कुसलात॥१५०॥

शब्दार्थ—हियरा=हृदय। पातन-पात=पत्ते-पत्ते पर। बल्ली=बेल, लताएँ। जलजात=कमल। दासी=कुब्जा।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव के योग-सन्देश के मूल में कुब्जा में षड्यन्त्र का अनुमान कर भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव को खूब जली-कटी सुनाती हुईं कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! तुम असली बात को तो जानते हो नहीं कि तुम्हें यहाँ हमें योग-सन्देश देने के लिए भेजने के पीछे कितना बड़ा षड्यन्त्र काम कर रहा है। तुम बार-बार अपनी वही बातें दुहरा-दुहराकर उसी प्रकार हमारे हृदय को और अधिक जला रहे हो जैसे अग्नि को बार-बार फूँक मार प्रज्ज्वलित किया जाता है। ऐसा करते तुम्हें लज्जा नहीं आती ? तुम यहाँ से उठकर अपना मुँह काला क्यों नहीं कर जाते, यहाँ से चले क्यों नहीं जाते ? तुम्हारी समझ में इतनी-सी बात नहीं आती कि हमारे जिस हृदय में यशोदानन्दन कृष्ण सदैव विराजमान रहते हैं, उसमें तुम्हारा यह निर्गुण ब्रह्म कैसे और कहाँ समा सकता है ? यदि हृदय में एक के स्थित रहने पर भी वहाँ किसी दूसरे को स्थान देना सम्भव हो सकता है तो तुम यह बताओ कि वन-वन में खिले हुए पुष्पों के लिए तुम पत्ते-पत्ते पर क्यों भटकते फिरते हो ? यद्यपि वनों में अगणित लताओं पर अगणित पुष्प खिले रहते हैं, परन्तु तुम अन्त में उन सबको त्याग

कर कमल की पंखुड़ियों में ही अपने को बन्द कर क्यों वहीं बैठ जाते हो ? अर्थात् तुम एकमात्र कमल के ही सच्चे प्रेमी हो, इसलिए तुम्हें वहीं सुख प्राप्त होता है, अन्यत्र नहीं। इसी प्रकार हमें भी एकमात्र कृष्ण ही प्रिय हैं। हम उन्हें त्याग निर्गुण ब्रह्म को किसी भी स्थिति में नहीं अपना सकतीं।

तुम यह नहीं जानते कि तुम्हें यहाँ योग का उपदेश देने के लिए भेजने में एक गहरा षड्यन्त्र रचा गया है। कुब्जा को यह सन्देह है कि यदि कृष्ण हमारे प्रेम से प्रभावित हो यहाँ चले आए और हमसे मिले तो फिर उस कुब्जा की कुशलता कैसे सुरक्षित रह पायेगी। इसलिए उसने अपने स्वार्थवश ही तुम्हें यहाँ भेजा है कि हम (गोपियाँ) कृष्ण को भूल ब्रह्माराधना करने लगें और उसका सुख-विलास कृष्ण के साथ निर्बाध रूप से चलता रहे।

विशेष—यहाँ गोपियाँ कुब्जा के रचे षड्यन्त्र की कल्पना कर, उद्धव को उभार अपने पक्ष में कर लेने का चतुरतापूर्ण प्रयास कर रही हैं।

राग सारंग

> **तिहारी प्रीति किधौं तरवारि ?**
> **दृष्टि-धार करि मारि साँवरे, घायल सब ब्रजनारि ।।**
> **रही सुखेत ठौर बृन्दाबन, रनहु न मानति हारि।**
> **बिलपति रही सँभारत छन-छन, बदन-सुधारक-बारि ।।**
> **सुन्दर स्याम-मनोहर-मूरति, रहि हौं छबिहि निहारि।**
> **रंचक सेष रही सूरज प्रभु, अब जनि डारौ मारि ।।१५१।।**

शब्दार्थ—किधौं=अथवा, या। तरवारि=तलवार। सुखेत=धर्मक्षेत्र, युद्ध-क्षेत्र। ठौर=धराशायी। रनहु=युद्ध में। बदन-सुधाकर-बारि=मुख रूपी चन्द्रमा का अमृत। रंचक=थोड़ी-सी, रंचमात्र।

भावार्थ—विरह-सन्तप्त गोपियाँ इतना दाह सहते हुए भी प्रेम के क्षेत्र में हार मानने को प्रस्तुत नहीं होतीं। इसी बात को वह अपने इस कृष्ण-प्रेम की भयंकर संग्राम से तुलना करती हुई कह रही हैं कि—

हे प्रियतम कृष्ण ! तुम्हारा यह प्रेम—प्रेम के समान शान्तिदायक है अथवा तलवार के समान तीक्ष्ण और प्राण घातक ? हे साँवरिया ! तुमने अपने तलवार रूपी नेत्रों की कटाक्ष रूपी पैनी धार से सम्पूर्ण ब्रज-युवतियों को घायल कर डाला है। यद्यपि वृन्दावन रूपी प्रेम के धर्मक्षेत्र अर्थात् युद्धक्षेत्र में हम सब तुम्हारे कटाक्षों के प्रहार से आहत हो धराशायी हो, रही हैं, परन्तु फिर भी अपनी पराजय स्वीकार नहीं कर रहीं। अर्थात् तुम्हारे प्रेम के कारण इतने कष्ट सहने पर भी तुम्हारे उस प्रेम को त्याग उद्धव के निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार करने तथा इस प्रकार सम्पूर्ण विरह-वेदना से छुटकारा पा जाने के लिए तैयार नहीं हो रहीं। हम ब्रज-बालाएँ विरह-वेदना से पीड़ित हो निरन्तर विलाप करती रहीं परन्तु तुम्हारे मुख रूपी चन्द्रमा के शोभा रूपी

अमृत का क्षण-क्षण में पान कर अर्थात् तुम्हारे चन्द्रमुख की बार-बार स्मृति कर अपने को अचेत होने से बचाए रहीं । हम सब अपने श्यामसुन्दर कृष्ण की मनोहर मूर्ति के सौन्दर्य का दर्शन करती हुईं ही; अर्थात् अपने हृदय में निरन्तर उनका ध्यान करती हुईं ही अपना जीवन व्यतीत कर लेंगी । (परन्तु यह दुष्ट उद्धव हमसे तुम्हारे रूप की उस स्मृति को भी छीन लेना चाहता है ।) हे स्वामी ! तुम्हारी स्मृति करते हुए हमारा इतना जीवन तो कट ही गया, अब थोड़ा-सा और शेष रहा है । अब हमसे अपनी उस स्मृति को भी छीनकर हमें पूरी तरह से मत मार डालो । अर्थात् यदि हमसे तुम्हारी स्मृति भी छीन ली गई तो निश्चित रूप से हमारा प्राणान्त हो जायगा ।

विशेष—(१) इस पद की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें अलंकारों के सुचारु-सार्थक प्रयोग ने अनुभूति की मात्रा को कई गुना अधिक गहन और प्रभावशाली बना दिया है । अनुभूति और अलंकार पारस्परिक सहयोग द्वारा अद्भुत प्रभाव की सृष्टि कर रहे हैं ।

(२) 'तिहारी·······तरवारि' में सन्देह; 'दृष्टि-धार' में रूपक; 'छन-छन' में पुनरुक्ति प्रकाश; 'बदन-सुधाकर-बारि' में रूपक अलंकार है ।

सम्पूर्ण पद में सांगरूपक अलंकार है ।

(३) उद्वेग संचारी का चित्रण है ।

राग धनाश्री

मधुकर ! कौन मनायो मानै ?
अबिनासी अति अगम अगोचर, कहा प्रीति-रस जानै ॥
सिखवहु ताहि समाधि की बातैं, जोहैं लोग सयाने ।
हम अपने ब्रज ऐसेहि बसिहैं, बिरह-बाय-बौराने ॥
सोवत जागत सपने सौंतुख, रहिहैं सो पति माने ।
बालकुमार किसोर को लीलासिंधु सो तामें साने ॥
पर्‌यो जो पयनिधि बूँद अलप, सो को जो अब पहिचाने ?
जाके तन धन प्रान सूर, हरिमुख-मुसुकानि बिकाने ॥१५२॥

शब्दार्थ—मनायो=मनाने से, समझाने से । सयाने=चतुर, समझदार । बिरह-बाय-बौराने=विरह के सन्निपात में पागल । सौंतुख=सम्मुख, सामने । अलप=अल्प, छोटी-सी । सो=उसे । बिकाने=बिक गये ।

भावार्थ—उद्धव द्वारा बार-बार कृष्ण को भूल निर्गुण ब्रह्म को अपना लेने का आग्रह करने पर गोपियाँ उनकी बात स्वीकार करने की अपनी विवशता का उल्लेख करती हुईं भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! तुम्हारे द्वारा बार-बार समझाए जाने और खुशामद करने पर भी

यहाँ ऐसा कौन है जो तुम्हारी बात को स्वीकार कर ले ? अर्थात् कृष्ण को त्याग निर्गुण ब्रह्म को अपना ले। तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म तो अविनाशी, अत्यन्त अगम्य अर्थात् इन्द्रियों की पहुँच से परे और अगोचर अर्थात् दिखाई न पड़ने के कारण निराकार है। फिर वह प्रेम के आनन्द को क्या और कैसे जान सकता है ? अर्थात् यहाँ ब्रज में तुम्हारे ऐसे नीरस, प्रेम-संवेदना से शून्य ब्रह्म को कोई भी नहीं पूछेगा। इसलिए तुम अपनी इस योग-समाधि की बाते उन लोगों को जाकर समझाओ जो चतुर और समझदार हैं। वे ही तुम्हारी इन ज्ञान-गूढ़ बातों को समझ उन्हें स्वीकार कर लेंगे। हमारे ऊपर तो तुम दया ही करो। हम तो अपने कृष्ण की लीला-भूमि—इस ब्रज में इसी प्रकार उनके विरह रूपी सन्निपात में बावली बनी हुई रह लेंगी। तुम हमारी चिन्ता मत करो। हमें उनका विरह ही प्रिय है।

हे मधुकर ! हम सोते, जागते, स्वप्न में या प्रत्यक्ष—उन्हें अपने सम्मुख देख अर्थात् सभी अवस्थाओं में उन्हें (कृष्ण को) ही अपना पति मानती हुई जीवन व्यतीत कर देंगी। बालक कृष्ण द्वारा की गई समुद्र के समान अपार लीलाओं (क्रीड़ाओं) में घुल-मिलकर हम पूर्ण रूप से उन्हीं में निमग्न रहती हैं। अर्थात् हम उन लीलाओं में उनकी सहचरी रहने के कारण उनसे पूर्णरूपेण तद्रूप हो गई हैं। प्रियतम कृष्ण के उस लीलारत व्यक्तित्व के साथ घुल-मिलकर हमारा व्यक्तित्व उनके साथ उसी प्रकार तदाकार हो अपना पृथक् अस्तित्व खो बैठा है, जैसे विशाल समुद्र में जल की नन्हीं-सी बूँद मिलकर अपना अस्तित्व खो, समुद्र का ही रूप धारण कर लेती है। अतः अब हम उनसे पृथक् कैसे हो सकती हैं ? हम तो ऐसी गोपियाँ हैं जिनके तन, धन और प्राण—सब कुछ कृष्ण के मुख की मधुर मुस्कान पर बलि चुके हैं। फिर हम तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को कैसे स्वीकार कर सकती हैं ?

विशेष—(१) इस पद में प्रकट रूप से समुद्र और बूँद की अभिन्नता द्वारा साध्य और साधक की अभिन्नता का प्रतिपादन प्रतीत होता है। परन्तु पुष्टिमार्ग में ऐसी अद्वैतवादी अभिन्नता को स्वीकार नहीं किया गया है। यहाँ कृष्ण के साथ गोपियों की इस तदाकारता अथवा अभिन्नता से यही आशय लक्षित होता है कि गोपियाँ अपना सर्वस्व कृष्णार्पित कर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का विस्मरण कर कृष्ण के साथ तद्रूप हो उठी हैं। यहाँ उनका पृथक अस्तित्व है अवश्य, परन्तु उस पर कृष्ण का रूप ही सम्पूर्ण रूप से छाया हुआ है। इसलिए वहाँ पृथक् अस्तित्व का लोप हो चुका है।

(२) निराकार ब्रह्म का खण्डन है।

(३) 'विरह-बाय' में रूपक तथा 'पर्‌यौ..............पहिचाने' में उदाहरण अलङ्कार हैं।

(४) बूँद और समुद्र को आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता के रूप में कबीर ने भी प्रस्तुत किया है—

"हेरत हेरत हे सखी, हेरत गया हिराय।
बूँद समानी समन्द में, सो कित हेरी जाय॥"

परन्तु सूर की उपर्युक्त तद्रूपता कबीर की इस अद्वैतवादी तद्रूपता से भिन्न है।

राग मलार

मधुकर ! ये मन बिगरि परे।
समुझत नाहिं ज्ञानगीता को हरि-मुसकानि अरे॥
बालमुकुंद - रूप - रसराचे तातें बक्र खरे।
होय न सूधी स्वान पूँछि ज्यों कोटिक जतन करे॥
हरि-पद-नलिन बिसारत नाहीं सीतल उर सँचरे।
जोग गंभीर है अंधकूप तेहि देखत दूरि डरे॥
हरि-अनुराग सुहाग भाग भरे अमिय तें गरल गरे।
सूरदास बरु ऐसेहि रहिहैं, कान्ह बियोग-भरे॥१५३॥

शब्दार्थ—बिगरि परे=बिगड़ खड़े हुए हैं, विद्रोही हो उठे हैं। अरे=अड़े हुए हैं। राचे=अनुरक्त। बक्र खरे=टेढ़े, अकड़े हुए खड़े हैं। नलिन=कमल। सँचरे=व्याप्त होना। गम्भीर=गहरा। अमिय=अमृत। गरल=विष।

भावार्थ—गोपियों का मन कृष्ण-प्रेम में इतना अधिक अनुरक्त है कि निर्गुण ब्रह्म के पास तक नहीं फटकना चाहता, उससे भयभीत रहता है। गोपियाँ भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से अपने मन की इसी विद्रोही स्थिति के सम्बन्ध में बता रही हैं कि—

हे मधुकर ! हमारे ये मन तुम्हारी ब्रह्म-सम्बन्धी बातें सुन बिगड़ खड़े हुए हैं, विद्रोही बन गए हैं। ये इतने हठी हो गए हैं कि हमारी बात ही नहीं मानते। ये तुम्हारी इस ज्ञान-चर्चा को तनिक भी नहीं समझते, उसकी ओर ध्यान तक नहीं देते। और कृष्ण की उस मधुर मुस्कान के प्रति इतने अधिक आसक्त हैं कि उसके अतिरिक्त अन्य किसी को भी देखना पसन्द नहीं करते। तुम्हारा ज्ञानोपदेश तो निरासक्ति का समर्थन करता है, फिर कृष्ण-प्रेम में पूर्णत: आसक्त हमारे मन उसे कैसे स्वीकार कर सकते हैं ? ये इसलिए इस समय इतने अकड़े हुए हैं कि बालमुकन्द कृष्ण के सौन्दर्य पर पूर्ण रूप से आसक्त हो रहे हैं। और तुम्हारी ब्रह्म-सम्बन्धी बातें सुनकर विद्रोह करने पर उतारू हो गये हैं। इन्हें अपने प्रण से डिगाना उसी प्रकार असम्भव है, जैसे करोड़ों यत्न करने पर भी कुत्ते की पूँछ को सीधा करना असम्भव है। ये कृष्ण के चरण-कमलों का ध्यान क्षण-भर को भी नहीं भूल पाते, क्योंकि उन्हीं का ध्यान करने से इनके हृदय में शीतलता उत्पन्न होती है। अर्थात् ये सुख-शान्ति का अनुभव करते हैं। तुम्हारा योग इन्हें गहरे अन्धे कुएँ के समान अगम्य, भयावह और भयानक

प्रतीत होता है, इसलिए ये उसे दूर से देखकर ही भयभीत हो उठते हैं और उसके पास तक नहीं फटकते।

हमारे ये मन कृष्ण के प्रेम के सौभाग्य रूपी अमृत से पूर्णरूपेण भरे हुए हैं, पूर्णतः सन्तुष्ट और सुखी हैं। परन्तु तुम्हारा यह निर्गुण ब्रह्म का उपदेश उन्हें उसी प्रकार दाहक लगा रहा है, जैसे किसी को अमृत में से निकालकर विषभरे पात्र में डाल गलने के लिए छोड़ दिया जाय। इसलिए तुम इन्हें ज्ञानोपदेश सुनाना बन्द कर दो। ये तो ऐसे ही कृष्ण-विरह में डूबे हुए जीवित रह लेंगे। अर्थात् गोपियों को कृष्ण विरह का कष्ट निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार करने की अपेक्षा अधिक सह्य और प्रिय है।

विशेष—(१) इस पद के अन्तिम अंश का भाव-साम्य रत्नाकर की इन पंक्तियों में दृष्टव्य है---

"जाके या वियोग-दुख हू में कछु ऐसो सुख,
जाय पाय ब्रह्म-सुख हू में दुख मानें हम।"

(२) 'होय न·······करे' में निदर्शना अथवा लोकोक्ति; 'हरि-पद-नलिन········ सँचरे' में रूपक; तथा 'हरि-अनुराग····गरल गरे' में उत्प्रेक्षा अलंकार हैं।

मधुकर ! जौ तुम हितू हमारे।
तौ या भजन-सुधानिधि में जनि डारौ जोग-जल खारे॥
सुनु सठ रीति, सुरभि पयदायक क्यों न लेत हल फारे ?
जो भयभीत होत रजु देखत क्यों बढ़वत अहि कारे॥
निज कृत बूझि, बिना दसनन हति तजत धाम नहिं हारे।
सो बल अछत निसा पंकज में दल-कपाट नहिं टारे॥
रे अलि, चपल मोदरस-लंपट ! कतहि बकत बिन काज ?
सूर स्याम-छबि क्यों बिसरत है नखसिख अंग बिराज ? ॥१५४॥

शब्दार्थ—हितू=शुभचिन्तक। खारे=खारा, कड़वा। पयदायक=दूध देने वाली। हल फारे=हल और उसकी फाल। रजु=रज्जु, रस्सी। अहि कारे=काला साँप। कृत=करतूत; कार्य। दसनन हति=दाँतों से काटकर। धाम=स्थान। अछत=रहते हुए। कल-कपाट=पँखुड़ियों रूपी किवाड़। मोदरस=आनन्द रस।

भावार्थ—उद्धव द्वारा बार-बार योग-साधना का उपदेश दिए जाने पर गोपियाँ झुँझलाकर उनकी भर्त्सना करती हुई भ्रमर के माध्यम से कहती हैं कि—

हे मधुकर ! यदि तुम सचमुच हमारे शुभचिन्तक हो; हमारा भला चाहते हो तो हमारे इस कृष्ण-भजन रूपी अमृत के समान सुखदायक समुद्र के जल में अपने योग-रूपी खारे जल को मत मिलाओ। अर्थात् तुम्हारा योग खारे जल के समान अरुचिकर, कड़वा और प्राणघातक है तथा हमारा कृष्ण-भजन अमृत के समान मधुर और जीवनदायक है। रे दुष्ट भ्रमर ! तुझे संसार का यह नियम (रीति) मालूम है कि

जिसका जो काम होता है, उससे वही काम लिया जाता है। जैसे गाय दूध देती है, फिर उसे हल में क्यों नहीं जोता जाता ? अर्थात् गाय को हल में जोतना अनुचित है। इसी प्रकार हम युवतियों को तेरा योग-साधना का उपदेश देना भी अनुचित है क्योंकि युवतियों को योग-साधना का विधान कहीं भी नहीं मिलता। जो व्यक्ति रस्सी को भ्रम से साँप समझकर ही भयभीत होने लगता है, उसके सामने काले साँप को लाने से क्या लाभ ? भाव यह है कि गोपियाँ तो कृष्ण के इस क्षणिक वियोग के कारण पहले से ही अत्यधिक दुःखी हैं, अब तुम निर्गुण ब्रह्म को, जिसे कभी प्राप्त ही नहीं किया जा सकता, उनके सामने रखकर उन्हें क्यों और अधिक डराने का प्रयत्न करते हो ? जब गोपियों से कृष्ण का यह क्षणिक वियोग ही नहीं सहा जा रहा है, तो वे ब्रह्म का शाश्वत वियोग कैसे सहन कर पायेंगी।

इसके उपरान्त गोपियाँ कमल के प्रति भ्रमर के अनन्य अनुराग के प्रति संकेत करती हुईं कहती हैं कि हे भ्रमर ! जरा अपने कर्मों की ओर देख और विचार कर। तू जिस स्थान पर अर्थात् जिस फूल पर भी बैठता है, उसे अपने दाँतों से काट कर छलनी किए बिना वहाँ से कभी भी नहीं हटता। इस क्रिया में तुझे चाहे कितना ही परिश्रम क्यों न करना पड़े, परन्तु तू कभी भी हार नहीं मानता। अपनी उस शक्ति के रहते हुए भी तू रात में जब कमल के भीतर बन्द हो जाता है, तो कमल की पंखुड़ियाँ रूपी किवाड़ों को, जिनके भीतर तू बंद रहता है, तुझसे काटते नहीं बनता। क्योंकि तू कमल से अनन्य प्रेम करता है, इसीलिए उसे क्षति पहुँचाना सहन नहीं कर सकता और घुट-घुटकर मर जाता है। यही स्थिति हमारी है। हम कृष्ण की अनन्य अनुरागिनी हैं, इसलिए उन्हें त्याग तेरे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार नहीं कर सकतीं।

रे चंचल, आनन्द रस के लोभी दुष्ट भ्रमर ! तू यहाँ बेकार क्यों बक रहा है ? व्यर्थ की बातें क्यों कर रहा है ? यह बता कि जिन प्रियतम कृष्ण की मधुर मूर्त्ति अपने सम्पूर्ण नखशिख-सौन्दर्य के साथ हमारे हृदय में विराजरान है, अथवा जिनका सौन्दर्य हमारे प्रत्येक अंग में समाया हुआ है, उसे कैसे भुलाया जा सकता है ?

विशेष—(१) भ्रमर के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वह काठ में छेद कर देता है परन्तु कमल की कोमल पंखुड़ियों को नहीं काट पाता। संस्कृत की इस सम्बन्धी यह पंक्ति प्रसिद्ध है—

"दारुभेद निपुणोऽपिषडंघ्रिर्भवति निबद्ध।"

(२) इस पद की चतुर्थ पंक्ति में वेदान्त के दृष्टान्त का खण्डन किया गया है।

(३) 'खीझ' संचारी भाव है।

(४). 'तौ····खारे' में रूपक अलंकार है।

राग सोरठ

मधुकर ! कौन गाँव की रीति ?
ब्रज जुवतिन को जोग-कथा तुम कहत सबै बिपरीति ।।

जा सिर फूल फुलेल मेलिकै, हरि-कर ग्रन्थैं छोरी।
ता सिर भसम, मसान पै सेवन, जटा करत आघोरी ।।
रतनजटित ताटंक बिराजत, अरु कमलन की जोति।
तिन स्रवनन पहिरावत मुद्रा, तोहिं दया नहिं होति ।।
बेसरि नाक, कंठ मनिमाला, मुखनि सार असबास।
तिन मुख सिंगी कहौ बजावन, भोजन आक, पलास ।।
जा तन को मृगमद घसि चंदन, सूछम पट पहिराए।
ता तन को रचि चीर पुरातन, दै ब्रजनाथ पठाए ।।
वै अबिनासी ज्ञान घटैंगो, यहि विधि जोग सिखाए।
करैं भोग भरिपूर सूर तहँ, जोग करैं ब्रज आए ।।१५५।।

भावार्थ—विपरीत=उल्टी, अनुचित। फुलेल=इत्र। मेलिकै=लगाकर। ग्रन्थैं=गाँठें। छोरी=सुलझाईं। मसान=श्मसान। ताटंक=कर्णफूल। बेसरि=नथ। सार=कपूर। असबास=सुगन्धित। पलास=ढाक। मृगमद=कस्तूरी। सूछम=सूक्ष्म, महीन। पट=वस्त्र। पुरातन=पुराना। चीर=फटा-पुराना वस्त्र। वै=कृष्ण।

भावार्थ—युवतियों के लिए योगियों का वेश धारण करना सर्वथा असंगत घोषित करती हुईं गोपियाँ भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! यह तुम्हारे कौन से गाँव अर्थात् देश की रीति है कि तुम ब्रज की युवतियों को योग की कथा सुनाने यहाँ पधारे हो और सारी बातें उल्टी कह रहे हो। तुम तनिक यह तो सोचो कि हमारे जिस सिर में कृष्ण ने स्वयं अपने हाथों से सुगन्धित इत्र लगाया था, फूल गूँथे थे, और हमारे उलझे हुए केशों को सुलझा कर वेणी बनाई थी; अब तुम हमारे उसी सिर में भस्म लगाने, जटाजूट बाँधने, श्मसान-साधना करने और हमें पूरी तरह से अघोरी का रूप धारण कर लेने का उपदेश दे रहे हो। हमारे कानों में रत्नजटित कर्णफूल लटकते रहते थे, और वे कान कमल के समान कोमल, स्निग्ध और कान्तिमान थे। अब तुम हमारे ऐसे कानों को फाड़कर उनमें मुद्रा (योगियों के कानों में पड़े रहने वाले मोटे छल्ले) पहना रहे हो। तुम्हें ऐसा निर्दय कार्य करते हुए दया नहीं आती ? अर्थात् तुम बहुत ही निष्ठुर और क्रूर हो।

हम नाक में बेसरि (नथ), गले में मणिमाला धारण करती थीं और कपूर की सुगन्धि से हमारे मुख महकते रहते थे। अब तुम हमारे उसी मुख से सिंगी बजाने और अकौआ और ढाक के पत्ते खाने का उपदेश दे रहे हो। हम अपने जिन शरीरों पर कस्तूरी और चन्दन घिसकर लेप किया करती थीं और महीन वस्त्र धारण करती थीं, अब क्या कृष्ण ने तुम्हें हमारे उन शरीरों को फटे-पुराने वस्त्र से सजाने के

लिए यहाँ भेजा है ? तुम्हारे कथनानुसार कृष्ण अविनाशी हैं, इसलिए उनकी यह बात मान लेने से उनका तो कुछ नहीं बिगड़ेगा, परन्तु हमें इस प्रकार योग-साधना सिखाने से तुम्हारा ज्ञान अवश्य कम हो जायगा। क्योंकि तुम पात्र-अपात्र का विचार न कर, युवतियों को योग सिखाने का प्रयत्न कर रहे हो। यह तुम्हारी अज्ञानता का ही सूचक है। कृष्ण स्वयं तो वहाँ मथुरा में बैठे कुब्जा के साथ जी-भर कर भोग-विलास कर रहे हैं और हमारे लिए यहाँ योग का सन्देश भेज रहे हैं। हम तो तब जानें जब वह स्वयं यहाँ आकर हमारे साथ ही योग की साधना करें। तभी उन्हें ज्ञात होगा कि योग-साधना करना कितना कठिन है। भाव यह है कि जो स्वयं भोग-विलास में आकण्ठ निमग्न हो रहे हैं, उनके द्वारा हमारे लिए योग-सन्देश भेजना नितान्त अनुचित और अनोखी रीति है ! कृष्ण यदि ब्रज में आ जायेंगे तो यहाँ योग-साधना करना भूल, गोपियों के साथ भोग-विलास करने में डूब जायेंगे, क्योंकि वे स्वभाव से ही विलासी हैं।

विशेष—(१) इस पद से यह ध्वनि निकलती है कि पात्र-अपात्र का बिना विचार किए, ज्ञान का उपदेश देना घातक और अनुचित है।

(२) 'कौन गाँव की रीति' में वक्रोक्ति अलंकार है।

राग नट

मधुकर ! ये नयना पै हारे।
निरखि-निरखि मग कमलनयन को, प्रेममगन भए भारे।।
ता दिन तें नींदौ पुनि नासी, चौंकि परत अधिकारे।
सपन तुरी जागत पुनि सोई, जो हैं हृदय हमारे।।
यह निर्गुन लै ताहि बतावो, जो जानैं याके सारे।
सूरदास गोपाल छाँड़ि कै, चूसैं टेंटी खारे।।१५६।।

शब्दार्थ—पै=यद्यपि। भारे=अत्यधिक। नींदौ=नींद भी। अधिकारे=प्रायः, बार-बार। तुरी=तुरीयावस्था। जागत=जाग्रतावस्था। सारे=सार, तत्त्व। टेंटी=करील का फल। खारे=कड़वे।

भावार्थ—कृष्ण की प्रतीक्षा में रत गोपियों के नेत्र सदैव कृष्ण का ही ध्यान करते रहते हैं। गोपियाँ अपने नेत्रों की इसी दशा का वर्णन करती हुई कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! यद्यपि हमारे ये नेत्र कमलनयन कृष्ण की निरन्तर बाट जोहते-जोहते थक गए हैं, परन्तु फिर भी सदैव उन्हीं के आगमन की कल्पना करते हुए अत्यधिक प्रेम-मगन बने रहते हैं। अर्थात् कृष्ण का विरह भी इन्हें सदैव उनके आगमन की कल्पना द्वारा आनन्द प्रदान करता रहता है। जब से कृष्ण यहाँ से गए हैं, उस दिन

से हमारे इन नेत्रों की नींद ही जाती रही है और ये प्रायः उनके आगमन की सम्भावना कर बार-बार चौंक पड़ते हैं। हमारी तीनों अवस्थाओं अर्थात् स्वप्नावस्था, तुरीयावस्था, जाग्रतावस्था में हमारे हृदय में सदैव कृष्ण ही विराजमान रहते हैं। (यद्यपि अवस्थाएँ चार मानी गई हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय। परन्तु सूर ने सुषुप्ति का उल्लेख इसलिए नहीं किया है कि गोपियों के नेत्रों की निद्रा नष्ट हो चुकी है।) भाव यह है कि गोपियाँ सदैव कृष्ण का ही स्मरण करती रहती हैं।

इसलिए हे मधुकर ! तुम अपने इस निर्गुण ह्म का उपदेश उसे दो जो इसके तत्त्व को, रहस्य को जानता हो। हम तो कृष्ण के सगुण रूप की ही उपासिका हैं। यह बताओ कि हम अपने सगुण, मधुर गोपाल को त्याग तुम्हारे टेंटी के समान इस नीरस, कड़वे निर्गुण ब्रह्म को कैसे अपना लें ? अर्थात् सगुणोपासना में जो आनन्द प्राप्त होता है वह निर्गुणोपासना में कभी प्राप्त नहीं हो सकता। अतः सगुणोपासना ही श्रेष्ठ है।

विशेष—(१) योगी की चार अवस्थाएँ मानी गई हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। जाग्रतावस्था में वह पूर्ण चैतन्य हो ब्रह्म-चिन्तन करता है; स्वप्नावस्था में अर्द्ध-चैतन्य हो ब्रह्म-चिन्तन में निमग्न हो जाता है; सुषुप्ति की अवस्था में अपने सम्पूर्ण अस्तित्व का विस्मरण कर अन्त में तुरीयावस्था में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। गोपियाँ तुरीयावस्था को प्राप्त हुई इसलिए मानी गई हैं कि वे अपना सम्पूर्ण अस्तित्व भूल, कृष्ण में लीन हो चुकी हैं ! यही उनका मोक्ष है।

(२) 'कमल-नयन' में उपमा; तथा 'निरखि-निरखि' में पुनरुक्ति प्रकाश अलङ्कार हैं।

राग धनाश्री

मधुकर ! कह कारे की जाति ?
ज्यों जल मीन, कमल पैं अलि की, त्यों नहिं इनकी प्रीति।
कोकिल कुटिल कपट बायस छलि, फिरि नहिं बहि बन जाति।
तैसेहि कान्ह केलि-रस अँचयो, बैठि एक ही पाँति॥
सुत-हित जोग-जज्ञ-ब्रत कीजत, बहु बिधि नींकी भाँति।
देखहु अहि मन मोहमया तजि, ज्यों जननी जनि खाति॥
तिनको क्यों मन बिसमौ कीजै, औगुन लौं सुख-साँति।
तैसेइ सूर सुनौ जदुनंदन, बजी एकस्वर ताँति॥१५७॥

शब्दार्थ—कारे=काले रंग वाले। बायस=कौआ, काक। बहि=उसी। अँचयो=आचमन किया, पान किया। अहि=सर्पिणी। जनि=उत्पन्न कर। बिसमौ=विस्मय।

भावार्थ—काले कृष्ण द्वारा छली जाने पर गोपियाँ सभी काले रंग वालोंको कपटी और निर्मम घोषित करती हुई कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! भला इन काले रंग वालों की भी कोई जाति होती है ! अर्थात् सभी काले रंग वाले छली, धोखेबाज और निष्ठुर होते हैं। इनका प्रेम वैसा दृढ़ और एकनिष्ठ नहीं होता जैसा कि जल से मछली का और कमल से भ्रमर का होता है। कोयल भी काली होने के कारण ही कुटिल स्वभाव की होती है। कोयल कौए को धोखा देकर उसके घोंसले में अपने बच्चे को पालन-पोषण करने के लिए रख आती है और फिर कभी भूलकर भी उस वन की ओर नहीं जाती। उसका बच्चा भी बड़ा होने पर कौए को त्याग अपने कुल में जा मिलता है। उसी प्रकार काले कृष्ण ने भी हमारे साथ एक ही पंक्ति में बैठकर केलि-रस का खूब पान किया था। अर्थात् हमारे साथ खूब केलि-क्रीड़ा की थी। और अन्त में अपना मतलब साधकर, पूरा कर, हमें धोखा दे यहाँ बिलखती छोड़कर चले गए। संसार में पुत्र की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के योग, यज्ञ, व्रत आदि अच्छी तरह से किए जाते हैं, परन्तु उस काले रंग वाली सर्पिणी को तो देखो जो अपने बच्चों को जन्म देकर और उनके प्रति सारी मोह-माया त्याग उन्हें ही खा जाती है। (कहा जाता है कि सर्पिणी अपने अण्डों को अपनी कुण्डली के भीतर कर बैठ जाती है और जो अण्डे उस कुण्डली के बाहर निकल जाते हैं, उन्हें खा जाती है।)

इसलिए इन काले रंग वालों के किसी भी कार्य पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। ये तो स्वभाव से ही छली और कपटी होते हैं। बुरे काम करने में ही इन्हें सुख और शान्ति प्राप्त होती है, भले काम करने में नहीं। ये यशोदानन्दन कृष्ण भी ऐसे ही हैं। ये भी उन अन्य काले रंग वालों के स्वर-में-स्वर मिलाकर ही अपना एकतारा बजा रहे हैं। अर्थात् हमारे साथ विश्वासघात कर यहाँ से चले गए हैं और अब हमें और अधिक सताने के लिए वहाँ से योग-सन्देश भेज रहे हैं। ये सब काले रंग वाले एक से ही दुष्ट और कपटी होते हैं।

विशेष—(१) काले रङ्ग वालों के माध्यम से कृष्ण पर गोपियों का व्यंग्य द्रष्टव्य है।

(२) वृत्यानुप्रास और उपमा अलंकार है।

राग रामकली

मधुकर ! ल्याए जोग-सँदेसो।
भली स्याम-कुसलात सुनाई, सुनतहि भयो अँदेसो ॥
आस रही जिय कबहुं मिलन की, तुम आवत ही नासी।
जुबतिन कहत जटा सिर बाँधहु, तौ मिलिहैं अबिनासी ॥

तुमको जिन गोकुलहिं पठायो, ते बसुदेव-कुमार।
सूर स्याम मनमोहन बिहरत ब्रज में नंददुलार ॥१५८॥

शब्दार्थ—अँदसो=सन्देह, आशंका। नासी=नष्ट कर दी।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव के योग-सन्देश पर सन्देह प्रकट करती हुई उनसे कह रही हैं कि हे मधुकर ! तुम हमारे पास यह योग का न जाने कैसा सन्देश लाए हो। तुमने आकर उनकी कुशलता का अच्छा समाचार सुनाया जिसे सुनते ही हमारे मन में सन्देह उत्पन्न हो गया है (कि यह सन्देश कृष्ण ने नही भेजा है)। हमें तुम्हारे आने पूर्व यह आशा थी कि कभी-न-कभी कृष्ण से हमारा मिलन अवश्य होगा, परन्तु तुमने आते ही हमारी उस आशा को नष्ट कर दिया। अर्थात् कहा कि हम कृष्ण को भूल ब्रह्म की आराधना करें। तुम हम युवतियों को यह उपदेश देते हो कि जब हम योगियों के समान अपने सिर पर जटाजूट बाँध लेंगी; अर्थात् योगिनी का वेश धारण कर लेंगी, तभी तुम्हारा अविनाशी ब्रह्म हमें प्राप्त हो सकेगा। और यह सन्देश तुम्हारे द्वारा कृष्ण ने भेजा है। परन्तु हमें इसकी सच्चाई पर सन्देह है। क्योंकि जिन कृष्ण ने तुम्हें यह सन्देश देकर यहाँ गोकुल भेजा है वे तो वसुदेव के राजकुमार कृष्ण हैं। और जो मनमोहन कृष्ण यहाँ ब्रज में हमारे साथ विहार करते थे, वे बाबा नन्द के दुलारे पुत्र कृष्ण हैं। अर्थात् ये दोनों कृष्ण एक ही व्यक्ति न होकर, दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। अतः क्योंकि यह योग-सन्देश हमारे कृष्ण द्वारा भेजा हुआ नहीं है, इसलिए हम इसे स्वीकार नहीं कर सकतीं।

विशेष—श्री प्रतापनारायण मिश्र की गोपियाँ भी उद्धव के सन्देश को सुन, इसी प्रकार का सन्देह प्रकट करती हुई कहती हैं—

"उधो मथुरा के हरि और।
एक नहीं तुम लाख बुझाओ, समुझाओ सिर फोर॥
उनके नन्द जसुमत पितुमाता, वे बसुदेव देवकी किशोर।
ये अहीर वे यादव क्षत्री, भूपति भवन निनोर॥"

राग सोरठ

स्याम बिनोदी रे मधुबनियाँ।
अब हरि गोकुल काहे को आवहिं, चाहत नवयौवनियाँ॥
वे दिन माधव भूलि बिसरि गए, गोद खिलाए कनियाँ।
गुहि-गुहि देते नंद जसोदा, तनक काँच के मनियाँ॥
दिना चारि तें पहिरन सीखे, पट पीताँबर तनियाँ।
सूरदास प्रभु तजी कामरी, अब हरि भए चिकनियाँ॥१५९॥

शब्दार्थ—मधुबनियाँ=मथुरा-निवासी। कनियाँ=कन्धे पर। मनियाँ=गुरिया। तनियाँ=कुरती। कामरी=काला कम्बल। चिकनियाँ=छैला।

भावार्थ—गोपियाँ मथुरावासी कृष्ण के बदले हुए स्वभाव और रुचियों पर व्यंग्य करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! अब कृष्ण मथुरा-वासी बनकर बड़े विनोदी अर्थात् रसिक हो गए हैं। अब वे गोकुल क्यों आने लगे, क्योंकि उन्हें तो अब मथुरा की नई-नई नवयुवतियों को प्राप्त करने की चाह बढ़ गई है। अब कृष्ण शायद उन दिनों को भूल गए हैं, जब हम उन्हें गोद में लेकर और कन्धे पर चढ़ाकर खिलाया करती थीं। और नन्द और यशोदा काँच की छोटी-सी गुरियाँ डोरे में गूँथ-गूँथकर उन्हें पहनाया करते थे। अब तो वह चार दिन से अर्थात् थोड़े दिनों से ही पीले रेशमी वस्त्र और कुरती पहनना सीख गए हैं। अब उन्होंने अपनी वह काली कमली पहनना छोड़ दिया है जिसे पहन वह गाय चराने जाया करते थे। अब तो मथुरा में जाकर वह पूरे छैला बन गए हैं, शान के साथ रहने लगे हैं।

विशेष—(१) कृष्ण के प्रति गोपियों का स्नेहभरा मीठा व्यंग्य है। कृष्ण के बचपन की स्मृतियाँ मनोरंजक और मार्मिक हैं।

(२) 'गुहि-गुहि' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।

(३) इस पद में सूर की सख्य-भाव की भक्ति की छाया मिल जाती है। सख्यभाव से भगवान की आराधना करने वाला भक्त ही अपने आराध्य के प्रति ऐसी मीठी चुटकी ले सकता है।

राग धनाश्री

ऊधो ! हम ही हैं अति बौरी।
सुभग कलेवर कुंकुम खौरी। गुंजमाल अरु पीत पिछौरी॥
रूप निरखि दृग लागे ढोरी। चित चुराय लयो मूरति सो री !
गहियत सो जा समय अंकोरी। याही तें बुद्धि कहियत बौरी॥
सूर स्याम सों कहिय कठोरी। यह उपदेस सुने तें बौरी॥१६०॥

शब्दार्थ—बौरी=बावली, पगली। कलेवर=शरीर। खौरी=तिलक। पिछौरी=चादर। लगे ढोरी=संग लग लिए। सो=उस। अँकोरी=गोद। बुधि=बुद्धिमान लोग।

भावार्थ—कृष्ण-विरह में व्यथित गोपियाँ उद्धव के योग-सन्देश को सुन दुःख से और भी अधिक व्याकुल हो पागल-सी हो गई हैं। वे अपनी इसी वेदना को उद्धव से कह रही है कि—

हे उद्धव ! हम तुम्हें दोष क्यों दें, हम स्वयं ही अत्यन्त बावली बन गई हैं। कृष्ण के सुन्दर-मनोरम शरीर, उस पर लगे कुंकुम के तिलक, कण्ठ में पड़ी गुंजाओं की माला तथा उनके शरीर पर शोभित पीताम्बर से सुशोभित उनके रूप को देखकर हमारे ये नेत्र उनके पीछे लग गए थे। अर्थात् सदैव उन्हीं के रूप को देखने रहते थे। उनकी उस सुन्दर मूर्त्ति ने हमारे हृदय को चुराकर अपने वश में कर लिया था।

इसी कारण हमने उनके रूप पर मोहित हो, जिस समय उन्हें अपने आलिंगन-पाश में बाँध लिया था, उसी समय से बुद्धिमान लोग हमें बावली कहने लगे हैं; अर्थात् सबकी नजर में हम तभी से उनके प्रेम में बावली बनी घूमती रहती हैं। हमें अपने शरीर की भी सुधि नहीं रहती। हे उद्धव ! तुम उन श्याम से जाकर कहना कि वे बहुत कठोर हैं। उनके इस उपदेश (योग-सन्देश) को सुनकर ही हम बावली हो गई हैं। अर्थात् तुम उनसे यह मत कहना कि हम उनके रूप पर मोहित हो बावली बन गई हैं, बल्कि यह कहना कि उनके इस कठोर व्यवहार (यहाँ न आने) और इस सन्देश ने ही हमें बावली बना दिया है। और बावले लोग किसी का भी उपदेश जब सुन-समझ ही नहीं सकते तो फिर उसे स्वीकार कैसे कर सकते हैं ? अतः हम उनका यह उपदेश स्वीकार करने में असमर्थ हैं।

विशेष—गोपियों का वाग्वैदग्ध्य द्रष्टव्य है।

कहाँ लगि मानिए अपनी चूक ?
बिन गोपाल, ऊधो, मेरी छाती ह्वै न गई द्वै टूक ।।
तन, मन, जौबन बृथा जात है, ज्यों भुवंग की फूँक ।
हृदय अग्नि को दवा बरत है, कठिन बिरह की हूक ।।
जाकी मनि हरि लई सीस तें, कहा करै अहि मूक ?
सूरदास ब्रजबास बसीं हम, मनहुँ दाहिने सूक ।।१६१।।

शब्दार्थ—लगि=तक। चूक=गलती, भूल। भुवंग=सर्प। फूँक=फुसकार दवा=दावाग्नि। हूक=व्यथा, शूल। अहि=सर्प। सूक=शुक्र नक्षत्र।

भावार्थ—राधा या कोई गोपी कृष्ण-विरह में अत्यधिक व्याकुल हो अपनी गलतियों पर पश्चात्ताप करती हुई उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! मैं कहाँ तक अपनी गलतियों को स्वीकार करूँ। अर्थात् मुझसे असंख्य गलतियाँ हुई हैं। मेरा सबसे बड़ा अपराध या गलती तो यही हुई है कि कृष्ण के विरह में मेरी छाती फटकर दो टुकड़े न हो गई। अर्थात् यदि मैं कृष्ण से सच्चा प्रेम करती होती तो उनके विरह में यह छाती अवश्य फटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाती; अर्थात् मेरे प्रेम में कोई कमी अवश्य रह गई है। मेरा यह शरीर, मन और यौवन उसी प्रकार व्यर्थ और निष्फल बीते जा रहे हैं जैसे सर्प की फुसकार व्यर्थ नष्ट हो जाती हैं; अर्थात् सर्प किसी को डस नहीं पाता और क्रोध में भर व्यर्थ फुसकार छोड़ता रहता है। मेरे इस शरीर, मन और यौवन की सार्थकता तभी थी, जब कृष्ण इनका उपभोग करते। यह विरह की पीड़ा अत्यन्त कठिन है। विरह की ज्वाला से मेरा हृदय दावाग्नि के समान धू-धूकर जलता रहता है। कृष्ण के बिना मेरी दशा उस सर्प के समान दीन, विवश और करुण हो गई है, जिसकी मणि छीन ली गई हो और मणि छिन जाने पर जो असहाय, कान्तिहीन और मौन बना चुपचाप पड़ा रहता हो। अर्थात् कृष्ण से मेरी

वैसी ही शोभा थी, जैसी मणि से सर्प की होती है। मुझे तो ऐसा लगता है कि जब हम गोपियाँ यहाँ ब्रज में बसने के लिए आई थीं, उस समय शुक्र नक्षत्र हमारी दक्षिण दिशा में था जो अशुभ का सूचक होता है। अर्थात् हम किसी अशुभ मुहुर्त्त में ब्रज में बसने आई थीं।

विशेष—(१) ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार किसी कार्य को प्रारम्भ करते समय यदि शुक्र नक्षत्र दक्षिण दिशा में स्थित हो तो वह मुहुर्त्त उस कार्य के लिए अशुभ माना जाता है।

(२) इस पद में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और अन्योक्ति अलंकारों का प्रयोग किया गया है।

राग कल्याण

ऊधो ! जोग जानै कौन ?
हम अबला कह जोग जानै, जियत जाको रौन ।।
जोग हम पै होय न आवैं, धरि न आवै मौन ।
बाँधिहै क्यों मन-पखेरू, साधिहैं क्यों पौन ?
कहौ अम्बर पहिरि कैं, मृगछाल ओढ़ै कौन ?
गुरु हमारे कूबरी - कर - मंत्र - माला जौन ।।
मदनमोहन बिन हमारे परै बात न कौन ?
सूर प्रभु कब आय हैं, वे स्याम दुख के दौन ? ।।१६२।।

शब्दार्थ—रौन=रमण करने वाला, पति। मन-पखेरू=मन रूपी पक्षी। अंबर=सुन्दर वस्त्र। जौन=जो, जैसे। परै बात न कौन=कोई बात मन में नहीं बैठती, समाती। दौन=दमन करने वाले।

भावार्थ—उद्धव द्वारा योग साधना का उपदेश सुन गोपियाँ योग-साधना करने में अपनी असमर्थता बताती हुई उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! यहाँ ब्रज में तुम्हारे इस योग को कौन जानता या या समझता है। हम अबलाएँ क्या जानें कि योग क्या होता है। क्योंकि जिस नारी का पति जीवित रहता है, उसका योग से क्या सम्बन्ध है। अर्थात् योग-साधना तो विधवा नारियों के लिए बताई गई है, न सधवा नारियों के लिए। और हम गोपियाँ सधवाएँ हैं क्योंकि हमारे पति कृष्ण जीवित हैं। अतः हम तुम्हारे योग को कैसे स्वीकार कर लें ? उसे स्वीकार करना भयंकर पाप होगा। और दूसरी बात यह है कि तुम्हारी यह योग-साधना हमसे हो भी नहीं सकेगी, क्योंकि हमसे मौन रहना (योग-साधना में मौन साधना आवश्यक है) आता ही नहीं। हम तो रात-दिन अपने कृष्ण के गुणगान करती रहती हैं, फिर हमसे मौन कैसे साधा जायगा ? इसके अतिरिक्त हम अपने इस मनरूपी पक्षी को बांधकर (संयमित कर) कैसे रख सकेंगी, क्योंकि यह बार-बार उड़कर कृष्ण के पास जाने के लिए फड़फड़ाता रहता

है। इसी प्रकार हम पवन का अवरोधन कर प्राणायाम की साधना कैसे कर सकेंगी, क्योंकि कृष्ण-विरह में हमारे हृदय से निरन्तर हूक (ठण्डी साँसें) उठती रहती हैं, उन्हें हम कैसे रोक सकेंगी ?

हे उद्धव ! यह बताओ कि अपने जिस शरीर पर हमने सुन्दर रेशमी वस्त्र धारण किए हैं, उस पर अब मृगछाला कैसे धारण कर सकेंगी ? यद्यपि हमारे गुरु वही कृष्ण हैं जो आज कुब्जा के हाथ की माला बने हुए हैं और उसी की मंत्रणा के अनुसार चलते हैं। जिस प्रकार माला को फेरने वाला उसे अपनी इच्छानुसार मंत्र पढ़ता हुआ अपनी उँगलियों पर घुमाता अर्थात् नचाता रहता है, उसी प्रकार कुब्जा कृष्ण के कान में हमारे विरुद्ध तरह-तरह के मन्त्र फूँक, उन्हें मनमाना नाच नचाती अर्थात् हमारे विरुद्ध उनके कान भरती रहती है। परन्तु हमारी दशा तो यह है कि मदनमोहन कृष्ण के बिना किसी अन्य की बात हमारे मन में नहीं समाती। अर्थात् हमें उनके अतिरिक्त अन्य किसी की भी चर्चा सुनना नहीं सुहाता। दुःख का दमन करने वाले अर्थात् दुःख को दूर करने वाले—ऐसे हमारे वे स्वामी कृष्ण यहाँ कब पधारेंगे ?

विशेष—(१) गोपियों की विवशता और दैन्यभाव दर्शनीय है। यद्यपि छठवीं पंक्ति में कृष्ण और कुब्जा पर व्यंग्य किया गया है, परन्तु वहाँ व्यंग्य मार्मिक न होकर असूया भाव ही प्रधान हो उठा है। इसलिए इस पद में व्यंग्य की छटा न होकर विवशता और करुणा का ही भाव प्रबल है।

(२) 'मन-पखेरू' में रूपक; तथा 'जोग जानै', और 'जोग जानै जियत जाको' में अनुप्रास अलङ्कार है।

राग केदारो

फिर ब्रज बसहु गोकुलनाथ।
बहुरि न तुमहिं जगाय पठवौं, गोधनन के साथ॥
बरजौं न माखन खात कबहूँ, दैहौं देन लुटाय।
कबहूँ न दैहौं उराहनो जसुमति के आगे जाय॥
दौरि दाम न देहुँगी, लकुटी न जसुमति-पानि।
चोरी न देहुँ उघारि, किये औगुन न कहिहौं आनि॥
करिहौं न तुमसों मान हठ, हठिहौं न माँगत दान।
कहिहौं न मृदु मुरली बजावन, करन तुमसों गान॥
कहिहौं न चरनन देन जावक, गुहन बेनी फूल।
कहिहौं न करन सिंगार बट-तर, बसन जमुना-कूल॥
भुज भूषनन युत कंध धरिकै, रास नृत्य न कराउँ।
हौं संकेत-निकुंज बसिकै, दूति-मुख न बुलाउँ॥

एक बार जु दरस दिखवहु प्रीति-पंथ बसाय।
चँवर करौं, चढ़ाय आसन, नयन अँग-अँग लाय॥
देहु दरसन नंदनंदन मिलन ही की आस।
सूर प्रभु की कुँवर-छबि को मरत लोचन प्यास॥१६३॥

शब्दार्थ—गोधनन=गायें। बरजों=रोकना, मना करना। दाम=रस्सी। पानि=हाथ। आनि=अन्य। दान=रतिदान। हठिहौं=हठ करूँगी। जावक=महावर। बट-तर=वट वृक्ष के नीचे। भूषनन युत=आभूषणों से सज्जित। संकेत-निकुंज=वह कुंज जहाँ राधा और कृष्ण मिला करते थे। बसिकै=बैठकर। कुँवर-छबि=कौमार्य की शोभा।

भावार्थ—कृष्ण के साथ की गईं विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं की स्मृति कर राधा या कोई गोपी यह सोचती है कि मैंने इन कार्यों द्वारा कृष्ण को बहुत परेशान किया था, इसी कारण वह यहाँ से चले गए और अब लौटकर आने में हिचकिचा रहे हैं। वह कृष्ण को यह आश्वासन देती हुई कह रही है कि अब मैं तुम्हें इस प्रकार कभी परेशान नहीं करूँगी। वह कहती है—

हे गोकुलनाथ कृष्ण! तुम फिर आकर यहीं व्रज में बस जाओ, रहने लगो। मैं इस बात की प्रतिज्ञा करती हूँ कि अब तुम्हें प्रातः होते ही सोते से जगाकर गायों को वन में चराने के लिए कभी उनके साथ नहीं भेजूँगी। न कभी मक्खन खाते हुए तुम्हें रोकूँगी। तुम मन भर कर अपने साथियों में मक्खन लुटाते रहना, मैं तुम्हारा हाथ नहीं पकड़ूँगी। यदि तुम कभी कोई शैतानी करोगे, मुझे परेशान करोगे तो मैं यशोदा के पास जाकर उन्हें कभी भी यह उलाहना नहीं दूँगी कि तुम्हारे लाड़ले ने यह शैतानी की है। यदि यशोदा तुम्हारी किसी शैतानी से खीझकर तुम्हें दण्ड देना चाहेंगी तो मैं दौड़कर तुम्हें बाँधने के लिए उनके हाथ में न तो कभी रस्सी पकड़ाऊँगी और न तुम्हें मारने के लिए कभी डण्डा ही दूँगी। यदि तुम कभी चोरी करोगे तौ मैं उसके सम्बन्ध में किसी से कुछ भी नहीं कहूँगी और न तुम्हारे अन्य अवगुणों (अपराधों) के सम्बन्ध में किसी को बताऊँगी। तुम मनमानी शरारत करते रहना।

मैं तुमसे कभी मान नहीं करूँगी। और यदि तुम मुझसे रतिदान माँगोगे तो कभी भी उसे न देने का हठ नहीं करूँगी। न तुमसे कभी मुरली बजाने के लिए और गीत गाने के लिए ही कहूँगी। क्योंकि मुरली बजाने में तुम्हें अपने शरीर को तीन स्थानों से मोड़ना पड़ता है, जिससे तुम्हें कष्ट होता है। (यहाँ मुरली बजाते समय की कृष्ण की त्रिभंगी मुद्रा के प्रति संकेत है।) मैं तुमसे कभी भी अपने चरणों में महावर लगाने और वेणी में फूल गूँथने के लिए भी नहीं कहूँगी। न मैं तुमसे यह आग्रह करूँगी कि वट-वृक्ष के नीचे बैठकर मेरा शृङ्गार करो और न कभी यमुना-तट पर अपने साथ समय व्यतीत करने का आग्रह करूँगी और न मैं अपने आभूषणों के

भार से भारी बने अपने हाथों को तुम्हारे कोमल कन्धों पर रख तुमसे रास-नृत्य ही कराऊँगी, क्योंकि उसमें तुम्हें कष्ट होता है। मैं अपने पूर्व निर्धारित उस मिलन-स्थान कुंज में बैठकर तुम्हें दूती द्वारा सन्देश भेजकर कभी भी वहाँ अपने पास नहीं बुलवाऊँगी।

यदि तुम एक बार यहाँ आकर मुझे अपने दर्शन करा मुझे पुनः प्रेम-पथ पर स्थिर बना रोगे, अर्थात् मेरे प्रेम को सार्थक बना दोगे, तो मैं तुम्हें आसन पर बैठाकर तुम्हारे ऊपर चँवर डुलाऊँगी और अपने नेत्रों द्वारा तुम्हारे अंग-प्रत्यंग की रूप-माधुरी का पान करूँगी। तुम्हें जी, भरकर देखती रहूँगी। हे नन्दनन्दन कृष्ण ! मुझे अपने दर्शन करा दो। मेरे हृदय में एकमात्र तुमसे मिलने की ही आशा शेष रही है; अर्थात् मेरी अन्य सारी अभिलाषाएँ नष्ट हो चुकी हैं। मेरे ये नेत्र अपने स्वामी कृष्ण की कौमार्यावस्था की छवि के दर्शन करने के लिए प्यासे मरे जाते हैं।

विशेष—(१) इस पद में सूर का कवि-चातुर्य दर्शनीय है। उन्होंने एक तरफ गोपियों की पूर्व-स्मृति के रूप में कृष्ण की गोपियों के साथ की गई सम्पूर्ण बाल और किशोर वय की क्रीड़ाओं का वर्णन किया है और दूसरी तरफ उस वर्णन को गोपियों के मुख द्वारा इस कौशल के साथ वर्णित कराया है कि स्मृति रूप में होने के कारण उनमें एक अद्भुत मार्मिकता और संवेदनशीलता उत्पन्न हो गई है. जिसने इस पद के प्रभाव को बहुत अधिक मनोरम और गहन बना दिया है।

(२) गोपियों की इस कल्पना ने इस पद को अद्भुत रूप से कलात्मक मनोरम रूप प्रदान कर दिया है कि कृष्ण उन्हीं पुरानी बातों का स्मरण कर, भयभीत हो व्रज नहीं आते कि गोपियाँ उन्हें पुनः पहले की तरह परेशान करेंगी। यहाँ गोपियों का वह पश्चात्ताप भी द्रष्टव्य है जो उनके मन में पहले कृष्ण की शरारतों पर उन्हें यशोदा द्वारा दण्ड दिलवाने के कारण उत्पन्न हुआ है।

(३) अन्तिम पंक्ति में 'कुँवर-छवि' शब्द अर्थ-गर्भित हैं। गोपियाँ कृष्ण के कुमार-रूप को देखने के लिए लालायित हैं, न कि 'कुब्जा के साथ भोग-विलास किये हुए उनके मलिन रूप को। यहाँ कुब्जा के प्रति सौतिया-डाह की व्यंजना स्पष्ट है।

(४) सूर ने पूर्व-स्मृतियों से ओत-प्रोत इसी भाव को एक अन्य पद में भी अभिव्यक्त किया है—

> "मेरे कान्ह कमल दल लोचन।
> अब बेरि कीबहुरि फिरिआवहु कहा लगे जिय सोचन॥
> यह लालसा होति मेरे जिय, बैठी देख रहिहौं।
> गाइ चरावन कान्ह कुँवर सौं, बहुरि न कबहूँ कहिहौं॥
> करत अन्याय न बरजौं कबहूँ, अस माखन की चोरी।
> अपने जियत नैन भरि देखौं, हरि हलधर की जोरी॥"

इस पद में माता यशोदा ही बोलती प्रतीत होती हैं न कि गोपियाँ या राधा। (५) संपूर्ण पद में मुद्रा अलंकार तथा अन्तिम पंक्ति में परिकर अलंकार है।

राग सारंग

कबहूँ सुधि करत गोपाल हमारी ?
पूछत नन्द पिता ऊधो सों, अरु जसुमति महतारी ।।
कबहूँ तौ चूक परी अनजानत, कह अबके पछिताने ?
बासुदेव घर-भीतर आए, हम अहीर नहिं जाने ।।
पहिले गरग कह्यो हो हमसों, 'या देखे जनि भूलैं' ।
सूरदास स्वामी के बिछुरे, राति-दिवस उर सूलै ।।१६४।।

शब्दार्थ—चूक=गलती। अनजानत=अनजाने में। कह=क्या। गरग=गर्ग मुनि। सूलै=पीड़ा होती है।

भावार्थ—इस पद में गोपी-उद्धव-संवाद न होकर, नन्द और यशोदा का वात्सल्य-भाव अपनी पीड़ा का प्रकाशन कर रहा है। दोनों उद्धव से पूछते हैं कि—

'हे उद्धव ! क्या गोपाल कभी हमारी भी याद करते हैं ?' पिता नन्द और माता यशोदा उद्धव से पूछ रहे हैं। फिर वे अपने द्वारा कृष्ण को दी गईं ताड़नाओं को याद कर कहते हैं कि शायद हमसे कभी अनजान में कोई गलती हो गई होगी, परन्तु अब उस पर पछताने से क्या होता है ! गलती तो हो ही गई। शायद इसी-लिए कृष्ण हमसे नाराज हैं और लौटकर हमारे पास नहीं आते। जब वासुदेव अर्थात् वसुदेव के पुत्र साक्षात् भगवान हमारे घर के भीतर आए थे, उस समय हम मन्दबुद्धि अहीर उन्हें पहचान नहीं पाए थे कि वे भगवान के अवतार हैं। जब वसुदेव कृष्ण को हमारे घर लाए थे तब उन्हें देख गर्ग मुनि ने यह कहकर हमें पहले ही सावधान कर दिया था कि इस बालक के रूप को देखकर भूल मत जाना। अर्थात् यह मत समझ लेना कि यह कोई साधारण बालक है। अर्थात् यह तो साक्षात भगवान का रूप है। परन्तु हमारी समझ में उनकी बात नहीं आई थी और हमने कृष्ण के साथ, उन्हें साधारण बालक समझ, वैसा ही व्यवहार किया था। हमें नहीं मालूम था कि वह अपनी लीला दिखाकर इस प्रकार हमें छोड़ चले जायेंगे। परन्तु अब पछताने से क्या होता है ! अब तो उन स्वामी कृष्ण के बिछुड़ जाने से हमारे हृदय में रात-दिन वियोग की भयंकर वेदना उठती रहती है। हमारा हृदय रात-दिन व्यथित होता रहता है।

विशेष—इस पद में नन्द-यशोदा के वात्सल्य-भाव और पुत्र-वियोग से उत्पन्न वेदना का मार्मिक अंकन हुआ है। उन्हें भी गोपियों के समान इस बात का पश्चात्ताप है कि शायद उनके किसी व्यवहार के कारण रूठकर ही कृष्ण उनके पास लौटकर नहीं आते हैं। यह छोटा-सा पद अपनी तीव्र संवेदना और मार्मिकता द्वारा हृदय को हिला देता है। 'भ्रमर गीत' में ऐसे मार्मिक पद बहुत ही कम हैं।

राग बिलावल

भली बात सुनियत है आज।
कोऊ कमलनयन पठयो हैं, तन बनाय अपनो सो साज।।
बूझौ सखा कहौ कैसे कै, अब नाहीं कीबे कछु काज।
कंस मारि बसुदेब गृह आने, उग्रसेन को दीनो राज।।
राजा भए कहाँ है यह सुख, सुरभि-संग बन गोप-समाज ?
अब जो सूर करो कोउ कोटिक, नाहिन कान्ह रहत ब्रज आज।।१६५।।

शब्दार्थ--पठयो है=भेजा है। साज=वेश। कीबे=करना। सुरभि=गाय।

भावार्थ—ब्रज में उद्धव के आगमन का समाचार फैल गया। उसी समाचार को सुनकर कोई गोपी अपनी सखी से कह रही है कि आज ब्रज में बड़ी अच्छी बात सुनाई दी है कि कमलनयन कृष्ण ने किसी को अपने से ही वेश में सजाकर यहाँ भेजा है। चलो, चलकर उनसे यह पूछें कि उनके सखा कैसे हैं ? अर्थात् उनसे कृष्ण का कुशल-समाचार मालूम करें। अब आज हमें और कोई भी घर-बाहर का काम-धन्धा नहीं करना है। इतनी अच्छी खबर सुनकर भला काम में किसी का मन लगेगा ? परन्तु इसके साथ ही यह समाचार भी मिला है कि हमारे प्रियतम कृष्ण कंस का वध कर अपने पिता वसुदेव को कारागृह से छुड़ाकर घर ले आए हैं और अपने नाना उग्रसेन को मथुरा का राज्य सौंप दिया है। भला, अब तो कृष्ण राजा बन गए हैं। उन्हें वहाँ सब तरह के सुख प्राप्त होंगे। उस सुख के सामने उन्हें यहाँ गायों के साथ वन-वन भटकने और गोपों के समाज में मिल, क्रीड़ा करने में भला क्या सुख मिल सकेगा ? इसलिए हमें तो ऐसा लगता है कि कोई चाहे करोड़ों उपाय करे, परन्तु कृष्ण अब यहाँ ब्रज में आकर रहने के लिए कभी तैयार नहीं होंगे।

विशेष—(१) उद्धव के आने का समाचार सुन, गोपियों का आशान्वित हो उत्फुल्ल हो उठना तथा साथ ही कृष्ण के राजा बन जाने का समाचार सुन उनकी आशाओं पर तुषारापात हो जाना—आशा और निराशा के इस द्वन्द्व का सूर ने बड़ा हृदयद्रावक चित्रण किया है।

(२) 'कमलनयन' में उपमालंकार है।

(३) कंस-वध का प्रकारान्तर से उल्लेख किया गया है।

राग नट

ऊधो ! हम आजु भईं बड़ भागी।
जैसे सुमन-गंध लै आवतु, पवन मधुप अनुरागी।।
अति आनन्द बढ्यो अँग-अँग मैं, परैं न यह सुख त्यागी।
बिसरे सब दुख देखत तुमको, स्याम सुन्दर हम लागीं।।

ज्यों दर्पन मधि दृग निरखत, जहँ हाथ तहाँ नहिं जाई।
त्यों ही सूर हम मिलीं साँवरे, बिरह-बिथा बिसराई ।।१६६।।

शब्दार्थ—बड़भागी=भाग्यशालिनी। बिसरे=भूल गए। लागीं=मिलीं। मधि=में, भीतर।

भावार्थ—उद्धव के आगमन से अत्यधिक प्रफुल्लित हो, गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! आज तुम्हारे इस आगमन से हम अत्यन्त सौभाग्यशालिनी बन गई हैं, क्योंकि तुम हमारे प्रियतम कृष्ण का कुशल-सन्देश लेकर यहाँ पधारे हो। जैसे जब पवन पुष्पों की सुगंधि को लेकर स्वयं सुगंधित बन मधुप के पास आता है, तो मधुप पवन में अपने प्रिय पुष्पों की सुगंधि का स्पर्श या पुष्पों के प्रति अनुराग से भर आनन्द से मत्त हो गुंजर करने लगता है, उसी प्रकार हम तुम्हारे द्वारा अपने प्रियतम कृष्ण का सन्देश सुन प्रफुल्लित हो उठी हैं। आज हमारे अंग-प्रत्यंग अत्यन्त आनन्द से भर खिल उठे हैं। हमसे इस सुख को छोड़ते नहीं बनता। भाव यह है कि यद्यपि कृष्ण यहाँ नहीं पधारे हैं परन्तु तुम्हारे द्वारा उनका कुशल-समाचार सुनकर ही हमें इतना आनन्द हो रहा है, मानो स्वयं कृष्ण हमारे सामने आ खड़े हुए हों। तुम्हें देखकर हम अपना सारा दुःख भूल गई हैं। ऐसा लग रहा है—मानो कृष्ण से ही हमारा मिलन हुआ हो।

तुम्हारा यह दर्शन हमारे लिए कृष्ण के दर्शन के समान ही आनन्ददायक है। यद्यपि हम यथार्थ में उनके दर्शन नहीं पा रहीं, परन्तु उनके प्रतिबिम्ब अर्थात् तुम्हें प्राप्त कर ही उसी प्रकार आनन्द प्राप्त कर रहीं हैं, जैसे दर्पण में आँखों को दिखाई पड़ने वाले प्रतिबिम्ब को हाथों से तो नहीं पकड़ा जा सकता, परन्तु आँखों द्वारा उसके दर्शन कर उतना ही आनन्द मिलता है, जितना कि उसे हाथों से पकड़ लेने पर मिलता। हे उद्धव ! तुम्हें देखकर हमें ऐसी अनुभूति हो रही है, मानो हम अपने साँवले-सलोने कृष्ण से ही मिल रही हों। इस आनन्द में भर हम अपनी सम्पूर्ण विरह-व्यथा को भूल गई हैं।

विशेष—(१) गोपियों की कृष्ण-मिलन की-सी आनन्दानुभूति दर्शनीय है।

(२) 'जैसे····अनुरागी' में उपमा; 'ज्यों····आई' में दृष्टान्त; 'बिसरे····लागीं' में गम्योत्प्रेक्षा; तथा 'अंग-अंग' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार हैं।

राग सारंग

पाती सखि ! मधुबन तें आई।
ऊधो-हाथ स्याम लिखि पठई, आय सुनो, री माई !
अपने-अपने गृह तें दौरीं, लै पाती उर लाई।
नयनन नीर निरखि नहिं खंडित, प्रेम न बिथा बुझाई।।
कहा करौं सूनो यह गोकुल, हरि बिनु कछु न सुहाई।
सूरदास प्रभु कौन चूक तें, स्याम सुरति बिसराई ।।१६७।।

शब्दार्थ—पाती=पत्री, चिट्ठी। ऊधो-हाथ=उद्धव द्वारा। माई=सखी। खण्डित=नष्ट। चूक=गलती।

भावार्थ—यह समाचार सुनकर कि उद्धव कृष्ण की चिट्ठी लाये हैं, एक गोपी अपनी सखी से कहती है कि—'हे सखि! मथुरा से चिट्ठी आई है। कृष्ण ने उसे स्वयं अपने हाथों से लिखकर उद्धव द्वारा उस चिट्ठी को यहाँ हमारे पास भेजा है। आकर सब सुनो कि उसमें क्या लिखा है।' यह समाचार सुनते ही सारी गोपियाँ अपने-अपने घर से दौड़कर उद्धव के पास जा पहुँचीं और उन्होंने प्रेम-विह्वल हो उस चिट्ठी को अपने हृदय से लगा लिया, चिपटा लिया। इसके उपरान्त जब वे उसे पढ़ने का प्रयत्न करने लगीं तो प्रेमाधिक्य के कारण उनके नेत्रों में जल भर आया। नेत्रों में जल भर आने के कारण वे उस चिट्ठी को देख अर्थात् पढ़ नहीं सकीं और उनके नेत्रों से गिरे आँसुओं से वह चिट्ठी गलकर नष्ट हो गई। उसे पढ़ न पाने तथा नष्ट हो जाने के कारण वे यह न जान सकीं कि उसमें उनके लिए क्या लिखा था। इस कारण उनके प्रेम-विरह की व्यथा शान्त न हो सकी। वे अत्यधिक व्याकुल हो कहने लगीं कि हम अब क्या करें? कृष्ण के बिना यह गोकुल हमें सूना लगता है और हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता। न मालूम हमारी किस गलती या अपराध के कारण स्वामी कृष्ण ने हमारी याद को इतना भुला दिया है कि यहाँ आते तक नहीं।

विशेष—(१) कृष्ण की चिट्ठी के गोपियों के आँसुओं द्वारा गल जाने का वर्णन सूर ने एक अन्य पद में भी किया है, जिसकी पहली पंक्ति इस प्रकार है—

"निरखति अंक स्याम सुन्दर के, बार-बार लावति छाती।"

(२) 'अपने-अपने' में पुनरुक्ति प्रकाश; 'नयन····सुहाई' में विभावना; तथा 'नयनन नीर निरखि नहि' में अनुप्रास अलंकार है।

(३) रत्नाकर ने 'उद्धव-शतक' में कृष्ण की चिट्ठी आने का समाचार सुन गोपियों पर हुई उसकी प्रतिक्रिया का अत्यन्त मार्मिक और कलात्मक अंकन किया है, जो इस प्रकार है—

"भेजे मन भावन की, ऊधव के आवन की,
सुधि ब्रज गाँवनि में पावन जबै लगीं।
कहै रतनाकर गुवालिनि की झौंरि झौंरि,
दौरि दौरि नन्द पौरि आवन तबै लगीं।
उझकि उझकि पद कंजन के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगीं।
हमको लिख्यौ है कहा, हमको लिख्यौ है कहा,
हमको लिख्यौ है कहा, कहन सबै लगीं॥

इस पद में अद्भुत गत्यात्मक सौन्दर्य है, परन्तु सूर के उपर्युक्त पद का-सा भाव-सौन्दर्य नहीं है।

राग नट

सुनु गोपी हरि को संदेस।
करि समाधि अन्तर-गति चितवौ, प्रभु को यह उपदेस ।।
वै अबिगत, अबिनासी, पूरन, घट-घट रहे समाय।
तिहि निश्चय कै ध्यावहु ऐसे, सुचित कमलमन लाइ ।।
यह उपाय करि बिरह तजौगी, मिलै ब्रह्म तब आय।
तत्त्वज्ञान बिनु मुक्ति न होई, निगम सुनाबत गाय ।।
सुनत सँदेश दुसह माधव के, गोपीजन बिलखानी।
सूर बिरह की कौन चलावै, नयन ढरत अति पानी ।।१६८।।

शब्दार्थ—अन्तर-गति=हृदय में। कै=करके। ध्यावहु=ध्यान करो, चिंतन करो। सुचित=स्वस्थ चित्त होकर। कमलमन=कमलरूपी मन। दुसह=असह्य।

भावार्थ—उद्धव गोपियों को कृष्ण का सन्देश सुनाते हुए कह रहे हैं कि हे गोपियो ! कृष्ण का सन्देश सुनो। तुम्हारे स्वामी कृष्ण का तुम्हारे लिए यह उपदेश है कि तुम समाधि लगाकर (ध्यानस्थ होकर) अपने हृदय में ब्रह्म को देखने का प्रयत्न करो। क्योंकि ब्रह्म कभी नष्ट न होने वाला, अगम्य, परिपूर्ण अर्थात् अखण्ड है। वह संसार के कण-कण में समाया हुआ है। ब्रह्म के ऐसे स्वरूप पर अपनी दृढ़ आस्था जमा, अपनी चित्तवृत्ति को स्थिर कर, अपना सम्पूर्ण ध्यान कमल रूपी मन अर्थात् हृदय-कमल पर केन्द्रित कर ब्रह्म का चिन्तन करो। अर्थात् स्थितप्रज्ञ होकर अपने चित्त में उसकी अनुभूति करो। भाव यह है कि जिस प्रकार योगी षट्चक्रों को, जो कमल माने गए हैं, भेदन करता हुआ सहस्रार कमल में पहुँच ब्रह्म की प्राप्ति करते हैं, उसी प्रकार तुम भी मन और इन्द्रियों का निग्रह कर, उन्हें वश में कर, साधना करती हुई ब्रह्म की प्राप्ति का प्रयत्न करो। इस उपाय (साधना) द्वारा जब तुम कृष्ण-विरह की इस लौकिक-भावना-जन्य पीड़ा से मुक्ति प्राप्त कर लोगी, तब तुम्हें ब्रह्म की प्राप्ति होगी। वेद पुकार-पुकार कर इस बात की घोषणा कर रहे हैं कि बिना तत्त्वज्ञान की उपलब्धि के मुक्ति नहीं प्राप्त की जा सकती।

उद्धव के मुख से कृष्ण का यह असह्य (कठोर, भयंकर) सन्देश सुनते ही गोपियाँ व्याकुल हो बिलख-बिलख कर रोने लगीं। वे उद्धव से अपनी विरह-व्यथा की बात भला क्या कह पातीं, उल्टे उनके नेत्रों से आँसुओं की धारा प्रवाहित होने लगी। अर्थात् इस भयानक सन्देश को सुनकर गोपियाँ अपनी विरह-व्यथा की बात तो भूल गईं, उल्टे कृष्ण की स्मृति तक छिन जाने के भय से व्याकुल हो हाहाकार करतीं आँसू बहाने लगीं।

विशेष—(१) यह एक मान्य तथ्य है कि 'सूर सागर' पूर्ण रूप से एक सुगठित प्रबन्ध-काव्य न होकर मुक्तक काव्य ही अधिक है। उपर्युक्त पद से यह ध्वनि निकलती

है कि कृष्ण का सन्देश अब यहाँ से प्रारम्भ हो रहा है, जबकि पिछले अनेक पदों में कृष्ण के इस सन्देश का स्पष्ट उल्लेख हो चुका है। भरसक प्रबन्धात्मकता लाने का प्रयत्न करने पर भी ऐसे पद कथा-प्रवाह में व्याघात उत्पन्न कर देते हैं। 'सूर सागर' में भी भ्रमर गीत-प्रसंग में यह पद आरम्भ में न होकर बीच में ही दिया गया है। यही कारण है कि ऐसे पद 'सूर सागर' को और विशेष रूप से उसके दशम-स्कन्ध में वर्णित भ्रमर गीत-प्रसंग को मुक्तक काव्य घोषित करने के लिए बाध्य कर देते हैं। अतः भ्रमर गीत में कथा का सुचारु निर्वाह करना असम्भव कार्य है।

(२) उपर्युक्त पद में अतिशयोक्ति अलंकार है।

राग सारंग

मधुकर ! भली सुमति मति खोई।
हाँसी होन लगी या ब्रज में, जोगै राखौ गोई।।
आतमराम लखावत डोलत, घट-घट व्यापक जोई।
चापे काँख फिरत निर्गुन को, ह्याँ गाहक नहिं कोई।।
प्रेम-बिथा सोई पै जानै, जापै बीती होई।
तू नीरस एती कह जानै ? बूझि देखिबे ओई।
बड़ो दूत तू, बड़े ठौर को, कहिए बुद्धि बड़ोई।
सूरदास पूरीषहि षटपद ! कहत फिरत है सोई।।१६६।।

शब्दार्थ—सुमति=ज्ञान, अच्छी, श्रेष्ठ बुद्धि। गोई=छिपाकर। जोगै=योग को। लखावत=दिखाते। चापे=दबाये हुए। काँख=बगल में। एती=इतनी, ऐसी। ओई=वही पूरीषहि=पुरीष, विष्टा, मल।

भावार्थ—उद्धव के ब्रह्म सम्बन्धी उपदेश को सुन-गोपियाँ यह आशंका कर कि इनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है, भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कह रही हैं कि—

हे भ्रमर ! तुम्हें अच्छी यह श्रेष्ठ बुद्धि (ज्ञान बुद्धि) प्राप्त हुई कि तुम अपनी साधारण बुद्धि से भी हाथ धो बैठे। अर्थात् पागलों के-से काम करने लगे। तुम्हारे इस योग को (योग-सन्देश को सुनकर) देखकर सारे ब्रज-मण्डल में इसकी बड़ी हँसी हो रही है। इसलिए तुम अपने इस योग को छिपाकर रखो। कहीं किसी की इस पर नजर न पड़ जाय। तुम इस योग द्वारा अन्तर्यामी आत्मा अर्थात् ब्रह्म के दर्शन कराते फिरते हो जो तुम्हारे ही कथनानुसार घट-घट में समाया हुआ है। तुम अपने निर्गुण (गुणहीन) ब्रह्म की पोटली को बगल में दावे घर-घर भटकते फिर रहे हो कि शायद कोई इसे खरीद ले अर्थात् स्वीकार कर ले। परन्तु तुम इस बात को अच्छी तरह से समझ लो कि यहाँ ब्रज में तुम्हें इसका कोई भी ग्राहक नहीं मिलेगा।

रे भ्रमर ! प्रेम की पीड़ा को तो वही जानता है, जिस पर बीत चुकी है।

अर्थात् जो स्वयं इस पीड़ा का अनुभव कर चुका है। परन्तु तू तो निर्मोही, रूखे स्वभाव का है। तू क्या जाने कि प्रेम की पीड़ा कैसी होती है। अगर तुम इसे जानना ही चाहते हो तो जाकर अपने स्वामी उन्हीं कृष्ण से पूछ लेना। अर्थात् कृष्ण हमसे प्रेम करते हैं, इसलिए प्रेम की पीड़ा का उन्हें अनुभव है। रे भ्रमर ! वैसे कहने को तो तू महान् (ज्ञानी) दूत है और बड़ी जगह (कृष्ण की राजधानी मथुरा) का रहने वाला है, इसीलिए तू जो कुछ भी कहेगा वह बुद्धिमानी की बात ही मानी जायेगी। परन्तु असलियत यह है कि तू षट्पद (छः पैरों वाला) अर्थात् गुबरीला जाति का है (गुबरीला कीड़ा भौंरा जैसा ही होता है और गोबर में रहता और पलता है)। इसलिए तुझे गोबर का ही स्वाद मालूम है और तू चारों ओर उसी का गुणगान करता फिर रहा है। जाति का असर थोड़े ही जा सकता है ! भाव यह है कि ब्रह्म की उपासना गोबर के स्वाद के समान नीरस, गर्हित और मलिन है; और कृष्ण की उपासना अमृत के समान मधुर। उद्धव को ब्रह्माराधना का ही अनुभव था, कृष्ण से प्रेम करने का नहीं। इसलिए उद्धव ब्रह्माराधना की प्रशंसा करते हुए चारों ओर उसका उपदेश देते फिर रहे थे।

विशेष—(१) गोपियों का निर्गुण ब्रह्म पर तीक्ष्ण व्यंग्य द्रष्टव्य है।

(२) 'निर्गुण' में श्लेष; 'बड़ो दूत.........बड़ोई' में विपरीत लक्षणा तथा सम्पूर्ण पद में अन्योक्ति अलंकार माना जा सकता है।

(३) शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन किया गया है।

(४) अन्तिम दो पंक्तियों में 'षट्पद' शब्द द्वारा उद्धव पर भयानक व्यंग्य किया गया है। बात तो भ्रमर से कही गई है, परन्तु चोट उद्धव पर पड़ी है। उद्धव को महान् दूत, बड़े स्थान का निवासी बताते हुए भी उन्हें अपने असली स्वभाव से विवश सिद्ध किया गया है। वह अपने असली स्वभाव से विवश हो, कृष्ण का साहचर्य प्राप्त करने पर भी गोपियों को ऐसी अनुचित, असंगत शिक्षा देने पधारे हैं। उनकी इस स्थिति पर संस्कृत की यह लोकोक्ति ठीक बैठती है—"श्वा यदि क्रियते राजा स किं नाश्नात्युपानहम्।" अर्थात् यदि कुत्ता राजा बन जाय तो क्या वह जूते चबाना छोड़ देता है।

सुनियत ज्ञानकथा अलि गात।
जिहि मुख सुधा बेनुरव पूरित, हरि प्रति छनहिं सुनात॥
जहँ लीलारस सखी-समाजहिं, कहत कहत दिन जात।
बिधना फेरि दियो सब देखत, तहँ षटपद समुझात॥
विद्यमान रसरास लड़ैते, कतं सन इत अरुझात?
रूपरहित कछु बकत बदन तें, मति कोउ ठग भुरबात॥
साधुवाद स्तुतिसार जानिकै, उचित न मन बिसरात।
नंदनन्दन कर कमलन की, छबि मुख उर पर परसात॥

एक एक तैं सबै सयानीं, ब्रजसुन्दरि न सकात।
सूर स्याम रससिंधु-गामिनी, नहिं वह दसा हिरात ॥१७०॥

शब्दार्थ—अलि=भ्रमर। गात=गा रहा है। वेनुरवपूरित=वंशी ध्वनि से पूर्ण। जात=समाप्त। बिधिना=बिधाता। षट्पद=भ्रमर, छः पैरों वाला। समुझात=समझाता है। विद्यमान=रहते हुए। अरुझात=उलझता, आकर्षित होता। बदन=मुख। भुरवात=भुलावे में डालता है। स्रुतिसार=वेदों का तत्त्व। बिसरात=भुलाता। परसात=स्पर्श करता। सकात=डरती हैं। हिरात=खोतीं, भूलतीं।

भावार्थ—उद्धव के योग-उपदेश से मर्माहित-सी हो गोपियाँ अपने अतीत के सुख की वर्तमान के दुःख से तुलना करती हुई अपनी दृढ़ कृष्ण-प्रेम-निष्ठा की घोषणा कर रहीं हैं। वे आपस में कह रही हैं कि—

हम भ्रमर अर्थात् उद्धव द्वारा गाई जा रही ज्ञानकथा को सुनती हैं। अथवा यह सुना जाता है कि भ्रमर ज्ञानकथा सुना रहा है। यह कैसी अनहोनी बात हो रही है। यह नीरस ज्ञानकथा वहाँ सुनाई जा रही है, जहाँ पहले कृष्ण अपने मुख से प्रति क्षण अमृत के समान मधुर वंशी नाद सुनाया करते थे। सारा वायुमण्डल उनकी वंशी की ध्वनि से आपूरित हो उठता था। जहाँ सखियाँ एक साथ बैठकर कृष्ण द्वारा की गईं नाना प्रकार की लीलाओं से प्राप्त आनन्द की चर्चा करती हुईं सारा दिन व्यतीत कर देती थीं, सारे दिन उन्हीं लीलाओं की चर्चा करती रहती थीं। परन्तु इस विधाता को हम क्या कहें जिसने हमारे उन सुन्दर, रसभरे दिवसों को बदल दिया, नष्ट कर दिया। हमारा भाग्य ऐसा बदला कि अब उसी स्थान पर बैठकर यह षट्पद भ्रमर हमें नीरस योग को समझा रहा है। परन्तु रास-क्रीड़ा के प्रेमी लाड़ले कृष्ण के रहते हुए हमारा मन योग की इन नीरस बातों के प्रति कैसे आकर्षित हो। उन्हें स्वकार कर सकता है? यह भ्रमर किसी रूपहीन ब्रह्म के सम्बन्ध में अपने मुख से कुछ उसी प्रकार बकता चला जा रहा है, जैसे कोई ठग मीठी-चुपड़ी तरह-तरह की बातें कर किसी को भुलावे में डाल, उसे लूट लेने का षड्यन्त्र रच रहा हो।

हे उद्धव! तुम धन्य हो कि हमें ऐसा महान् उपदेश दे रहे हो। हम तुम्हारी इस बात को स्वीकार कर रही हैं कि तुम जो उपदेश दे रहे हो, वह वेदों का सार होने के कारण श्रेष्ठ और महान् है। परन्तु हम क्या करें, मजबूर हैं, क्योंकि हमारा यह मन कृष्ण को भूलता ही नहीं। नन्दनन्दन कृष्ण की कमल के समान सुन्दर, कोमल छवि सदैव हमारे मुख और हृदय का स्पर्श करती रहती है। अर्थात् हम मुख से सदैव उन्हीं का गुणगान करती रहती हैं और वे सदैव हमारे हृदय में समाये रहते हैं। तुम चाहे कितना ही प्रयत्न करो, परन्तु यहाँ ब्रज की एक-एक सुन्दरी चतुर और समझदार है। वह किसी से भी नहीं डरती। अर्थात् वह तुम्हारे ब्रह्म के महान् रूप को देखकर भी प्रभावित नहीं होती। ब्रज की गोपियाँ उस नदी के समान हैं जो अपने

प्रियतम सागर की ही दिशा में सदैव प्रभावित होती रहती हैं और कभी भी अपनी दिशा नहीं भूलतीं ! इसी प्रकार ब्रज की ये गोपियाँ नदी के समान अपने प्रियतम प्रेम के सागर कृष्ण के प्रति ही सदैव उन्मुख बनी रहती हैं। वे कभी भी अपने निर्धारित मार्ग से नहीं भटक सकतीं। अर्थात् कृष्ण को त्याग तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को किसी भी दशा में स्वीकार नहीं कर सकतीं।

विशेष—(१) अन्तिम दो पंक्तियों में रूपक अलंकार है।

ऊधो ! लहनौ अपनो पैए।
जो कछु विधना रची सो भइए, आन दोष न लगैए ।।
कहिए कहा जु कहत बनाई, सोच हृदय पछितैए।
कुब्जा बर पावै मोहन सो, हमहीं जोग बतैए ।।
आज्ञा होय सोई तुम कहिबो, बितनी यहै सुनैए।
सूरदास प्रभु कृपा जानि, जो दरसन-सुधा पिबैए ।।१७१।।

शब्दार्थ—लहनौ=प्राप्तव्य, जो भाग्य में लिखा है। पैए=लेना पड़ेगा। आन=अन्य को, दूसरे को।

भावार्थ—कृष्ण-विरह के तीव्र, असह्य दाह ने गोपियों को भाग्यवादी बना दिया है। इसलिए ये अपने भाग्य को ही दोष देती हुई अत्यन्त कातर और दीन बन उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! जो भाग्य में लिखा होता है, उसे भोगना ही पड़ता है। हमारे भाग्य में विधाता ने जो लिख दिया था, हमें वही भोगना पड़ रहा है। इसके लिए किसी अन्य को दोष नहीं देना चाहिए। अर्थात् हमारे भाग्य में ही कृष्ण-विरह में इस प्रकार दग्ध होते रहना लिखा था तो इसके लिए हम किसी दूसरे को दोष क्यों दें ? हमारे भाग्य ने हमारी जो दशा कर दी है, उसके सम्बन्ध में हम बार-बार क्या कहें। और उसे सोच-सोचकर पछताने से ही क्या होता है। अर्थात् हमारा पछताना और कहना व्यर्थ है। भाग्य की यह विडम्बना तो देखो कि कुब्जा जैसी नीच दासी को तो कृष्ण के समान पति मिले हैं और हमें योग की शिक्षा दी जा रही है। तुम्हें कृष्ण ने हमसे कहने के लिए जो भी आज्ञा दी हो, तुम वही कह दो। हम उसे सुन लेंगी। परन्तु जब उनके पास लौटकर जाओ तो उनसे हमारी केवल यह प्रार्थना कह देना कि हम अपने स्वामी की अपने ऊपर बहुत कृपा समझेंगी, यदि वह यहाँ पधार कर हमें अपने दर्शन-रूपी अमृत का पान करा दें, अर्थात् हमें अपने दर्शन करा दें।

विशेष—(१) इस पद में गोपियाँ अपनी सम्पूर्ण अक्खड़ता त्याग, निराश हो भाग्यवादी बन गई हैं। इसी भाग्यवाद ने उनमें दीनता, कातरता और निराशा उत्पन्न कर दी है। कुब्जा के प्रति असूया भाव (सौतिया डाह) उन्हें थोड़ा-सा उभारता है, परन्तु वे फिर दीन बन जाती हैं।

(२) 'दरसन सुधा' में रूपक अलंकार है।

ऊधो ! इतनी कहियो जाय।
अति कृसगात भई हैं तुम बिनु, बहुत दुखारी गाय ।।
जल समूह बरसत अँखियन तें, हूँकत लीने नाँव।
जहाँ जहाँ गोदोहन करते, ढूँढ़त सोइ सोइ ठाँव ।।
परति पछार खाय तेहि-तेहि थल, अति व्याकुल ह्वै दीन।
मातहुँ सूर काढ़ि डारे हैं, बारि-मध्य तें मीन ।।१७२।।

शब्दार्थ—कृसगात=दुबली । दुखारी=दुःखी । हूँकत=हुँकरती हैं । गोदोहन=दूध दुहना। ठाँव=स्थान । काढ़ि डारे=निकालकर डाल दी हैं। बारि-मध्य=पानी में से।

भावार्थ—गोपियाँ जानती थीं कि कृष्ण अपनी गायों से बहुत प्रेम करते थे। इसलिए गोपियाँ यह सोचकर कि शायद उन गायों की व्याकुलता का समाचार सुनकर ही कृष्ण उन्हें देखने ब्रज लौट आएँ, इसीलिए वे उद्धव से गायों की विरहाकुल दशा का उल्लेख करती हुई कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम जाकर कृष्ण से केवल इतना कह देना कि तुम्हारे बिना गाएँ बहुत दुबली हो गई हैं और सदैव दुःखी बनी रहती हैं। उनकी आँखों से हमेशा आँसुओं की झड़ी लगी रहती है। उनके सामने जब कोई कृष्ण का नाम लेता है तो उसे सुनकर हुँकराने लगती हैं। अर्थात् कृष्ण की याद में व्याकुल हो उन्हें पुकारने लगती हैं। जिस-जिस स्थान पर कृष्ण उनका दूध दुहा करते थे, अब वे हमेशा उन्हीं स्थानों को ढूँढ़ती रहती हैं। और जब उस स्थान पर पहुँच जाती हैं तो अत्यन्त व्याकुल और दीन हो, वहीं पछाड़ खा, धरती पर गिर पड़ती हैं। उस समय वे उसी प्रकार बुरी तरह से छटपटाने लगती हैं, जैसे मछली को जल में से निकालकर धरती पर डाल दिया गया हो और वह छटपटा रही हो।

विशेष—(१) कृष्ण के वियोग में व्यथित-कातर गायों का यह मार्मिक चित्रण कृष्ण के उस प्रेम रूप का प्रमाण है जो ब्रज के कण-कण से अमित प्यार करता था। कृष्ण-वियोग में गायों का इस प्रकार व्याकुल रहना अस्वाभाविक नहीं है। जीवन में अनेक ऐसे उदाहरण देखने को मिल जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने राम के वन-गमन पर उनके वियोग में व्यथित उनके घोड़ों का भी ऐसा ही चित्रण किया है—

आली ! हौं इन्हहिं बुझाबौं कैसे ?
लेत हिए भरि-भरि पति को हित, मातु देत सुत जैसे ।।
बार-बार हिहिनात हेरि उत, जो बोले कोउ द्वारे।
अंग लगाइ लिए बारे तें, करुनामय सुत प्यारे ।।
लोचन सजल, सदा सोवत से खान-पान बिसराए।
चितवत चौंकि नाम सुनि, सोचत राम सुरति उर आए ।।

तुलसी प्रभु के बिरह बधिक हठि राजहंस-से जोरे।
ऐसेहु दुखित देखि हौं जीवित राम लखन के घोरे।।

(२) सम्पूर्ण पद में स्वाभावोक्ति तथा 'मानहु·······मीन' में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार हैं।

ऊधो जोग सिखावन आए।
सिंघी, भस्म, अधारी, मुद्रा, लै ब्रजनाथ पठाए।।
जोपै जोग लिख्यो गोपिन को, कत रसरास खिलाए ?
तबहि ज्ञान काहे न उपदेस्यो, अधर-सुधारस प्याए।।
मुरली शब्द सुनत बन गवनति, सुत-पति-गृह बिसराए।
सूरदास सँग छाँड़ि स्याम को, मनहिं रहे पछिताए।।१७३।।

शब्दार्थ—पठाए=भेजे। जोपै=यदि। गवनति=जाती हैं।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव के योग-उपदेश को अपने लिए सर्वथा अनुपयुक्त घोषित करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! तुम हमें योग की शिक्षा देने के लिए आए हो। ब्रजनाथ कृष्ण ने तुम्हें सिंघी, भस्म, अधारी, मुद्रा आदि योग-साधना के लिए आवश्यक चीजें देकर यहाँ भेजा है। पहले यह बताओ कि यदि हमारे भाग्य में योग-साधना करना ही लिखा था तो स्वयं अन्तर्यामी, घट-घट के जानने वाले स्वामी कृष्ण ने हमें रास-क्रीड़ा का खेल क्यों खिलाया था, हमारे साथ रास-क्रीड़ा क्यों की थी ? जब हमने उन्हें अपना अधरामृत (होठों का रस) पिलाया था अथवा उन्होंने हमें अपना अधरामृत पिलाया था, तभी हमें ज्ञान-योग का उपदेश क्यों नहीं दे दिया था ? अर्थात् यदि हमारे भाग्य में योग-साधना करना ही बिदा था तो कृष्ण ने हमारे साथ वे केलि-क्रीड़ाएँ क्यों की थीं ? वे अन्तर्यायी हैं, इसलिए जानते थे कि हमारे भाग्य में केवल उनसे प्रेम करना ही बदा है, न कि योग-साधना करना। इसलिए तुम्हारा हमें यह योग का उपदेश देना व्यर्थ है।

जब कृष्ण यहाँ रहते थे, तब हमारी यह दशा रहती थी कि वन में उनकी मुरली की मधुर ध्वनि को गुँजरित होते ही हम उसे सुन अपने पति, पुत्र, घर आदि सबको भूलकर तुरन्त वन को भाग उठती थीं। हमें तो अब अपने मन में केवल इसी बात का पछतावा है कि हमने कृष्ण का साथ क्यों छोड़ा। अर्थात् उनके मथुरा जाते समय हमें भी उनके साथ ही चला जाना चाहिए था। मगर उस समय हम चूक गईं। अब उसी बात का पछतावा है।

विशेष—'जोग' शब्द का प्रयोग कर वक्रोक्ति द्वारा गोपियाँ उद्धव और कृष्ण पर गहरा व्यंग्य कर रही हैं।

ऊधो ! कहा करैं लै पाती ?
जौ लगि नाहिं गोपालहिं देखति, बिरह दहति मेरी छाती।।

**निमिष एक मोहिं बिसरत नाहिंन, सरद-समय की राती ।
मन तौ तबही ते हरि लीन्हों, जब भयो मदन बराती ।।
पीर पराई कह तुम जानौ, तुम तो स्याम-सँघाती ।
सूरदास स्वामी सों तुम, पुनि कहियो ठकुरसुहाती ।।१७४।।**

शब्दार्थ—जौ लगि=जब तक । दहति=जलती है । निमिष=पल, क्षण । राती=रात्रि । मदन=कामदेव । सँघाती=साथी, मित्र । ठकुरसुहाती=खुशामद भरी बातें ।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव के बार-बार योग-उपदेश देने पर झुँझला उठती हैं और अपनी असह्य विरह-वेदना का वर्णन करती हुईं उनसे कहती हैं कि—

हे उद्धव ! हम तुम्हारे द्वारा लाई हुई कृष्ण की इस चिट्ठी को लेकर क्या करें ? इससे हमारा क्या भला होगा ? हमारी दशा तो यह है कि जब तक हम अपने कृष्ण को नहीं देख लेंगी, हमारी छाती इसी तरह उनकी विरहाग्नि में दग्ध होती रहेगी । हमें शरद्-ऋतु की वे रातें एक क्षण के लिए भी नहीं भूलतीं । अर्थात् जब हम शरद पूर्णिमा की रात्रि में कृष्ण के साथ रास-क्रीड़ा किया करती थीं, उनकी स्मृति हमें क्षण भर के लिए भी नहीं भूलती । हमारे मन को तो कृष्ण ने उसी समय हमसे छीनकर अपने वश में कर लिया था, जिस समय कामदेव हमारा साथी (दूल्हे के साथ रहने वाले बराती के समान) बन गया था । अर्थात् यौवन आने पर हमारे हृदय में काम-भावना उत्पन्न हुई थी और हम उसी समय से कृष्ण की वशवर्तिनी हो गई थीं । परन्तु तुम हमारी इस पीड़ा को कैसे जान सकोगे, क्योंकि हो तो उन्हीं कृष्ण के साथी जो हमारे दुःख-दर्द की तनिक की चिन्ता न कर वहाँ कुब्जा के साथ रंगरेलियाँ करने में डूबे रहते हैं । अर्थात् तुम और कृष्ण—दोनों ही हृदयहीन और निष्ठुर हो, इसलिए हमारी पीड़ा को नहीं समझ सकते । तुम यहाँ हमारी ऐसी भयानक दशा को अपनी आँखों से देखकर जा रहे हो । परन्तु हमें इस बात का पूरा विश्वास है कि अपने स्वामी कृष्ण के पास पहुँचकर तुम उनके सामने हमारी सच्ची दशा का वर्णन न कर वही खुशामद भरी बातें करने लगोगे जो उन्हें अच्छी लगती हैं । इसलिए तुम्हारे सामने हमारा अपने दुःख का रोना-धोना व्यर्थ है ।

विशेष—(१) 'मदन बराती' से यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार बराती हमेशा दूल्हे के साथ ही रहते हैं, उसी प्रकार यौवन का उदय होने पर काम-भावना मन में उदय हो, सदैव मन के साथ ही लगी रहती है । अर्थात् सदैव काम सताता रहता है ।

(२) 'कहियो ठकुरसुहाती' कहकर गोपियाँ उद्धव की खुशामदी प्रवृत्ति पर व्यंग्य कर रही हैं, न कि उनसे यह प्रार्थना कर रही हैं कि वह कृष्ण से गोपियों के सम्बन्ध में खुशामदी बातें कहकर उन्हें ब्रज आने के लिए बाध्य करें ।

ऊधो ! बिरहौं प्रेमु करै ।
ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहिं, पुट गहे रसहि परै ।।
जौ आँवों घट दहत अनल तनु, तौ पुनि अमिय भरै ।
जौ धरि बीज देह अंकुर चिरि, तौ सत फरनि फरै ।।
जौ सर सहत सुभट संमुख रन, तौ रबिरथहि सरै ।
सूर गोपाल प्रेमपथ-जल तें, कोउ न दुखहि डरै ।।१७५।।

शब्दार्थ—बिरहौं=विरह से भी । पुट=कपड़े को रँगते समय रंग में सोडा या फिटकरी मिलाकर उसे पक्का, स्थायी बना देना 'पुट देना' कहलाता है । पट=वस्त्र । रसहि परै=रँग जाता है । आवों=कुम्हार का अवा जिसमें बर्तन पकाए जाते हैं । घट=घड़ा । जो=जब । चिरि=फटकर । फरनि फरै=फलों के रूप में फलता है, फल लगते हैं । सुभट=योद्धा । रविरथहि सरै=सूर्यलोक को जाता है ।

भावार्थ—गोपियों को अपना विरह इतना प्रिय है कि वे उसे प्रेम-वर्द्धक मानती हैं, न कि कष्टदायक । विरह उज्ज्वल, प्रगाढ़ और पवित्र प्रेम की अभिवृद्धि करता है । अपने इसी विश्वास को वे उद्धव के सामने व्यक्त करती हुई कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! विरह भी प्रेम करता है; अर्थात् विरह में प्रेम और अधिक सघन और दृढ़ बन जाता है । क्योंकि विरहावस्था में निरन्तर प्रियतम का ही ध्यान बना रहता है जो प्रेम को अधिकाधिक दृढ़ और निर्मल बनाता रहता है । विरह-व्यथा को सहने पर ही प्रेम पूर्णरूपेण परिपक्व बन जाता है । गोपियाँ कष्ट-सहन के विभिन्न उदाहरण देती हुई कष्ट-सहन को परिपक्वता के लिए अनिवार्य सिद्ध करती हैं । वे कहती हैं कि जिस प्रकार वस्त्र को रँगते समय जब तक उस रँग में पुट नहीं दिया जाता अर्थात् उसमें सोडा या फिटकरी नहीं मिलाई जाती, तब तक वह रंग पक्का (स्थायी) नहीं बनता । रंग में पुट देकर जब उसमें वस्त्र को डालकर अग्नि पर चढ़ा गरम किया जाता है, तभी उस वस्त्र पर पक्का रंग चढ़ पाता है । जैसे कच्ची मिट्टी के घड़े को अवा में रखकर खूब तपाया जाता है, तभी वह अमृत के समान जीवन-दायक जल भरने योग्य बनता है, तभी उसमें जल भरा जाता है । जब बीज धरती में बन्द हो अपने शरीर को फाड़ उसमें से अंकुर उत्पन्न करता है, तभी वह वृक्ष का रूप धारण कर सैकड़ों फलों के रूप में फलता है, उसमें सैकड़ों फल लगते हैं । जब योद्धा युद्ध-क्षेत्र में युद्ध करता हुआ अपने सीने पर बाण का आघात सहता है, तभी मरने पर उसे सूर्यलोक की प्राप्ति होती है । भाव यह है कि कष्ट-सहन करने के उपरान्त ही अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है ।

गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव ! प्रेम में कष्ट सहने पर ही अपने अभीष्ट प्रियतम की प्राप्ति होती है । यही कारण है कि यहाँ ब्रज में कोई भी गोपी ऐसी नहीं है जो कृष्ण-विरह में व्याकुल हो प्रेममार्ग के जल अर्थात् प्रेम के कारण उत्पन्न विरह-

दुःख के प्रतीक आँसुओं के दुःख से भयभीत हो उठे। अर्थात् कृष्ण-विरह में गोपियाँ रात-दिन आँसू बहातीं और दुःखी होती रहती हैं। परन्तु इस कष्ट से किसी को भी भय नहीं लगता। क्योंकि यह विरह कृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम को अधिकाधिक बढ़ाता और परिपक्व बनाता रहता है। और उन्हें पूर्ण विश्वास है कि अन्त में उन्हें अपने अभीष्ट (कृष्ण-मिलन) की प्राप्ति अवश्य होगी। इस कारण वे कृष्ण-विरह के दुःखों की परवाह नहीं करतीं।

विशेष—(१) विरहिणी गोपियों की अनन्य प्रेम-निष्ठा सराहनीय है।

(२) कबीर भी विरह के महत्त्व को बताते हुए कहते हैं—

"बिरहा-बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान।
जिहि घट बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान॥"

और कबीर के ही शब्दों में प्रियतम की प्राप्ति रो-रोकर ही सम्भव होती है—

"हँस हँस कंत न पाइए, जिन पाया तिन रोय।
जौ हँस-हँस कंता मिलै, तौ न दुहागिनि कोय॥"

(३) सम्पूर्ण पद में उदाहरणमाला और रूपक अलंकार हैं।

ऊधो! इतनी जाय कहो।
सब बल्लभी कहति हरि सों, ये दिन मधुपुरी रहो॥
आज काल तुमहूँ देखत हौ, तपत तरनि सम चंद।
सुन्दर स्याम परम कोमल, तनु क्यों सहिहैं नँदनंद॥
मधुर मोर पिक परुष प्रबल, अति बन उपबन चढ़ि बोलत।
सिंह, बृकन सम गाय बच्छ, ब्रज बीथिन-बीथिन डोलत॥
आसन असन, बसन बिष अहि, सम भूषन भवन भँडार।
जित तित फिरत दुसह द्रुम-द्रुम, प्रति धनुष लए सत मार॥
तुम तौ परम साधु कोमलमन, जानत हौ सब रीति।
सूर स्याम को क्यों बोलैं, ब्रज बिन टारे यह ईति॥१७६॥

शब्दार्थ—बल्लभी=प्रियतमाएँ, गोपियाँ। ये दिन=इन दिनों। तरनि=सूर्य। पुरुष=कठोर, कड़े। वृकन=भेड़ियों। बीथिन=गलियों में। असन=भोजन। बसन=वस्त्र। अहि=सर्प। लए=लिए हुए। सत मार=सैकड़ों कामदेव। बोलैं=बुलाएँ। टारे=दूर किए। ईति=बाधा, उपद्रव।

भावार्थ—संयोगावस्था में सुखद लगने वाली प्रकृति वियोगावस्था में दुःखदायी लगने लगती है। ब्रज में वसन्त हुआ है, परन्तु वसन्त से शोभित बनी प्रकृति विरहिणी गोपियों के काम को उद्दीप्त कर उन्हें भयंकर कष्ट दे रही है। अपनी इस विषम मानसिक अवस्था के कारण ही गोपियाँ यह सोच रही हैं कि ऐसे समय कृष्ण का यहाँ आना ठीक नहीं है, क्योंकि आने पर उन्हें भी वही कष्ट उठाने पड़ेंगे

जो वे स्वयं उठा रही हैं। वे इसी आशंका को उद्धव के सम्मुख प्रकट कर रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम मथुरा पहुँचने पर प्रियतम कृष्ण से केवल इतना कह देना कि उनकी सारी प्रियतमाएँ (गोपियाँ) यह कह रही हैं कि इन दिनों कृष्ण मथुरा में ही रहें, यहाँ ब्रज में न आएँ। हे उद्धव ! आजकल तुम स्वयं यह देख रहे होंगे कि यहाँ चन्द्रमा सूर्य के समान तप रहा है। अर्थात् उसकी चन्द्रिका अपनी शीतलता त्याग ग्रीष्मकालीन सूर्य की तीखी किरणों के समान सबको जलाती रहती है। हमारे सुन्दर-सलोने कृष्ण कोमल शरीर वाले हैं, इसलिए इस तपती हुई चाँदनी को कैसे सहन कर पायेंगे ? जो मोर और कोयल पहले मधुर स्वर में कूका करते थे; वे सब अत्यन्त उद्धव बन वन-उपवनों में वृक्षों पर चढ़-चढ़कर अत्यन्त कठोर, कर्कश स्वर में चीखते रहते हैं। (विरह में चन्द्रिका और मयूर-कोयल का कूजन काम को उद्दीप्त करने वाला होता है, इसलिए इनसे विरहिणी गोपियों को कामोद्दीन होता है, अतः वे उन्हें भयानक प्रतीत होने लगे हैं।) आजकल यहाँ गाय और बछड़े जैसे सीधे-सादे पशु भी सिंह और भेड़ियों के समान भयानक रूप धारण कर ब्रज की गलियों में घूमते रहते हैं। (गाय और बछड़ों को देख गोपियों को कृष्ण की याद सताती रहती है, इसलिए ये भी उन्हें अच्छे नहीं लगते।) आसन, भोजन और वस्त्र विष के समान दग्धकारी हो उठे हैं। और आभूषणों का पिटारा सर्प के समान प्राणघातक बन गया है। अर्थात् कृष्ण के बिना गोपियों को रहना, खाना, वस्त्र और आभूषण पहनना अत्यन्त कष्टदायक बन गया है। यहाँ वनों में इधर-उधर वृक्ष-वृक्ष पर सैकड़ों कामदेव धनुष हाथ में लिए घूमते रहते हैं। उन्हें देखना असह्य हो उठा है। अर्थात् वृक्षों पर खिले हुए पुष्पों को देख गोपियों को भयंकर कामोद्दीपन होता है।

हे उद्धव ! तुम तो परम साधु प्रकृति और कोमल स्वभाव वाले हो। तुम सब भला-बुरा अच्छी तरह से समझते हो, यह बताओ कि हम ब्रज से इन सारी भयंकर बाधाओं या दुष्टों को दूर भगाए बिना अपने कृष्ण को यहाँ कैसे बुला लें ? क्योंकि उनके आने पर ये सब उन्हें भी उसी प्रकार दुःख देने लगेंगे, जैसे हमें दे रहे हैं।

विशेष—(१) कुछ आलोचकों ने इस पद में अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि का चमत्कार माना है। परन्तु ऐसा मानना गलत है ! कृष्ण-विरह में अत्यधिक व्यथित गोपियों को वसन्त का मादक, कामोद्दीपक वातावरण प्रियतम की स्मृति दिलाकर भयंकर रूप से दग्ध कर रहा है। इसी कारण संयोगावस्था में सुखद लगने वाला प्रकृति का यह मादक रूप, उन्हें विरह में दुःखदायी और भयानक लगने लगा है। सूर ने यहाँ गोपियों की इसी विषम मानसिक स्थिति का कलापूर्ण और संवेदनशील चित्रण किया है।

(२) 'आसन····भंडार' में शब्द-मैत्री दर्शनीय है।

राग मलार

जौ पै ऊधो ! हिरदय माँझ हरी।
तौ पै इती अवज्ञा उनपैं कैसे सही परी ?
तबहिं दवा द्रुम वहन न पाये, अब क्यों देह जरी ?
सुंदरस्याम निकसि उर तें, हम सीतल क्यों न करी ?
इंद्र रिसाय बरस नयनन मग, घटत न एक घरी।
भीजत भीत भीत तन काँपत रहे, गिरि क्यों न धरी ?
कर कंकन दर्पन लै दोऊ, अब यहि अनख मरी।
एतो मान सूर सुनि योग जु बिरहिनि विरह धरी ।।१७७।।

शब्दार्थ—अवज्ञा=उपेक्षा, अवहेलना। दवा=दावाग्नि। द्रुम=वृक्ष। दहन=जलाना। रिसाय=क्रुद्ध होकर। भीत=भय से। गिरि=पर्वत। अनख=कुढ़न। मान=सम्मान। धरी=देती हैं, धारण करना।

भावार्थ—उद्धव द्वारा यह कहने पर कि कृष्ण ब्रह्म हैं और ब्रह्म प्रत्येक के हृदय में निवास करता है, गोपियाँ इन्द्र के क्रोध से कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत उँगली पर उठा ब्रज की रक्षा करने वाले प्रसंग का उल्लेख करती हुईं, उद्धव की इस मान्यता का खण्डन कर रही हैं—

हे उद्धव ! यदि ब्रह्म रूप कृष्ण हमारे हृदय में ही निवास करते हैं तो फिर उनसे हमारी इतनी उपेक्षा करना कैसे सहन हो रहा है ? अर्थात् पहले तो वे संकट आने पर तुरन्त दौड़कर हमारी रक्षा करते थे, परन्तु अब जब हम वियोग का इतना भयंकर कष्ट भोग रहीं हैं तो वे हमारी रक्षा क्यों नहीं करते ? पहले जब यहाँ ब्रज के वनों में दावाग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी थी, तब उन्होंने वन के एक भी वृक्ष को जलने नहीं दिया था। और उस दावाग्नि को शान्त कर दिया था, परन्तु अब जब उनकी विरहाग्नि से हमारा शरीर निरन्तर दग्ध होता रहता है तो सुन्दर श्याम हमारे हृदय से बाहर आकर हमें अपने दर्शन दे, हृदय को शीतल क्यों नहीं करते ? पहले जब इन्द्र ने क्रुद्ध होकर मूसलाधार वर्षा द्वारा ब्रज को नष्ट करने का प्रयत्न किया था, तब तो कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को अपनी उँगली पर धारण कर ब्रज की रक्षा की थी, परन्तु अब इन्द्र क्रुद्ध होकर हमारे नेत्रों के मार्ग द्वारा निरन्तर बरसता रहता है और घड़ी भर के लिए भी यह वर्षा बन्द नहीं होती। अर्थात् हम कृष्ण-वियोग में निरन्तर आँसू की धारा बहाती रहती हैं, उस अश्रुरूपी वर्षा से भीग और भयभीत हो, ठण्ड और भय के कारण हमारा शरीर काँपता रहता है। अब कृष्ण हमारी रक्षा करने के लिए पहले के ही समान गोवर्धन पर्वत को धारण क्यों नहीं करते ? अर्थात् अपने दर्शन दे हमारे इन आँसुओं को क्यों नहीं बन्द कर देते ?

हे उद्धव ! हम इतनी निर्बल और क्षीण हो गई हैं कि जब अपने हाथ में पड़े कंकड़ को अब इतना ढीला हो गया और दर्पण में अपने मुख को इतना पीला और

निष्प्रभ हो गया देखती हैं तो मन में बहुत कुढ़न होती है कि हमारे उस सुन्दर शरीर का यह क्या हाल हो गया है ! हम कृष्ण-विरह में इतना कष्ट झेल रही हैं, परन्तु इतने पर भी तुम्हारे योग की तुलना में अपने विरह को अधिक महत्त्व प्रदान कर सदैव उसे ही धारण किए रहती हैं। अर्थात् निरन्तर कृष्ण-विरह के दुःख में दग्ध होती रहती हैं।

विशेष—(१) गोपियाँ निर्गुण ब्रह्म का खण्डन करती हुईं अप्रत्यक्ष रूप से सगुण रूप का प्रतिपादन कर रही हैं। पुष्टिमार्ग में विरह को प्रमुख माना गया है, इसलिए गोपियाँ उसे ही अधिक महत्त्व दे रही हैं।

(२) सात्त्विक भावों का सुन्दर संयोजन किया गया है।

(३) सम्पूर्ण पद में प्रत्यनीक एवं सूक्ष्म अलंकारों का प्रयोग हुआ है।

राग धनाश्री

ऊधो ! तुम कहियो ऐसे गोकुल आवैं।
दिन दस रहे सो भली कीनी, अब जनि गहरु लगावैं ॥
तुम बिनु कछु न सुहाय प्रानपति, कानन भवन न भावैं।
बाल बिलख, मुख गौ न चरत तृन, बछरनि छीर न प्यावैं ॥
देखत अपनी आँखिन, ऊधो, हम कहि कहा जनावैं।
सूर स्याम बिनु, तपति रैंन-दिनु, हरिहि मिले सचु पावैं ॥१७८॥

शब्दार्थ—ऐसे=इस प्रकार से। गहरु=विलम्ब, देर। कानन=वन। छीर =क्षीर, दूध। सचु=सुख।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव की खुशामद करती हुईं यह प्रयत्न कर रही हैं कि किसी प्रकार उद्धव कृष्णको ब्रज आने के लिए समझा-बुझाकर तैयार कर दें। गोपियाँ अपनी विरह-व्यथा का मार्मिक, हृदय-द्रावक वर्णन करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम मथुरा पहुँचकर कृष्ण से यहाँ का वर्णन इस प्रकार करना जिससे द्रवित हो वे यहाँ चले आएँ। तुम उनसे कहना कि गोपियों ने यह कहा है कि तुम दस दिन तक अर्थात् कुछ समय तक जो मथुरा में रहे सो अच्छा किया; मगर अब यहाँ आने में देर न करो। अर्थात् शीघ्र ही यहाँ आ जाओ। हे प्राणपति ! तुम्हारे बिना हमें यहाँ कुछ भी नहीं सुहाता, न घर अच्छे लगते हैं और वन। तुम्हारे वियोग में बच्चे बिलखते रहते हैं। गाएँ मुख में घास का तिनका तक नहीं डालतीं और न अपने बछड़ों को दूध ही पिलाती हैं। हे उद्धव ! यहाँ की यह सारी दशा तुम स्वयं अपनी आँखों से देख रहे हो। हम कह-कहकर तुम्हें और अधिक क्या बताएँ ! हम कृष्ण के बिना रात-दिन उनके विरह में दग्ध होती रहती हैं। हमें तो कृष्ण के मिलने पर ही सुख-शान्ति मिल सकेगी। (इसलिए तुम किसी प्रकार समझा-बुझाकर कृष्ण को यहाँ ले आना।)

विशेष—(१) गोपियों की विरह-व्याकुलता, दीनता और कातरता दर्शनीय है।

(२) अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग किया गया है।

ऊधौ ! इतै हितूकर रहियो।
या ब्रज के व्योहार जिते हैं, सब हरि सों कहियो॥
देखि जात अपनी इन आँखिन, दावानल दहियो।
कहँ लौं कहौं बिथा अति लाजति, यह मन को सहियो॥
कितो प्रहार करत मकरध्वज, हृदय फारि चहियो।
यह तन नहिं जरि जात सूर प्रभु, नयनन को बहियो॥१७६॥

शब्दार्थ—इतै=इधर। हितूकर=हितकारी, कृपालु। जिते=जितने। कितो=कितना। मकरध्वज=कामदेव। चहियो=चाहता है। बहियो=बहना।

भावार्थ—गोपियों को आशंका है कि कहीं उद्धव मथुरा लौट, कृष्ण को ब्रज की वास्तविक स्थिति को न बताएँ और इधर-उधर की भिड़ाकर उन्हें यहाँ न आने दें। इसलिए वे उद्धव की खुशामद करती हुईं उनसे कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम इधर अर्थात् हम पर कृपालु बने रहना। जब तुम यहाँ से लौटकर कृष्ण के पास पहुँचो तो उन्हें उन सारे व्यवहारों के सम्बन्ध में बता देना जो तुमने यहाँ देखे हैं। अर्थात् उनसे हमारी विषम विरह-दशा और ब्रज पर छाए संकटों का वर्णन कर देना। तुम यहाँ स्वयं अपनी आँखों से यह देखकर जा रहे हो कि हम उनके विरह में उसी प्रकार दग्ध हो रही हैं, जैसे दावाग्नि वनों को दग्ध करती रहती है। हम अपनी व्यथा की बातें तुमसे कहाँ तक कहें ! इसका वर्णन करने में हमें बहुत लज्जा आती है। इस विरह-व्यथा को तो मन-ही-मन सहना पड़ता है। किसी से कहने में कोई लाभ नहीं। कामदेव हम पर निरन्तर इतने प्रहार करता रहता है कि उस वेदना से व्याकुल हो, मन यह चाहने लगता है कि अपने इस दग्ध होते हृदय को फाड़कर समाप्त कर दें। हृदय फट जाने पर उसमें व्याप्त विरह-व्यथा स्वतः ही शान्त हो जायगी। कृष्ण की विरहाग्नि में दग्ध होता हुआ हमारा शरीर पूर्ण रूप से जलकर इसलिए भस्म नहीं हो पाता क्यों इन नेत्रों से निरन्तर प्रवाहित होते रहने वाले आँसू गिरकर इसे नष्ट होने से बचाते रहते हैं। अर्थात् निरन्तर रोते रहने से मन को थोड़ी-सी शान्ति मिल जाती है।

विशेष—(१) मकरध्वज—कामदेव को मकरध्वज इसलिए कहा जाता है कि उसकी ध्वजा पर मकर अर्थात् मछली का निशान बना होता है।

(२) इस पद में गोपियों की अतिशय विरह-व्यथा का अत्यन्त संयमित और मार्मिक, संवेदनशील अंकन हुआ है।

(३) सम्पूर्ण पद में काव्यलिंग अलंकार है।

ऊधो ! यहि ब्रज बिरह बढ्यो ।
घर, बाहर, सरिता, बन, उपबन, बल्ली, द्रुमन चढ्यो ।।
बासर-रैन सधूम भयानक, दिसि-दिसि तिमिर मढ्यो ।
दुंद करत अति प्रबल होत पुर, पय सों अनल डढ्यो ।।
जरि किन होत भस्म छन महियाँ, हा हरि, मंत्र पढ्यो ।
सूरदास प्रभु नंदनंदन बिनु, नाहिन जात कढ्यो ।।१८०।।

शब्दार्थ—यहि=इस । बल्ली=बेल, लता । द्रुमन=वृक्षों पर । बासर-रैन=दिन और रात । सधूम=धुएँ सहित । तिमिर=अन्धकार । मढ्यो=छा गया है । दुंद=द्वन्द्व, उत्पात । पुर=गाँव । पय=जल । डढ्यो=बढ़ रहा है । अनल=अग्नि । महियाँ=में । कढ्यो=निकला । होत=होती ।

भावार्थ—ब्रज में व्याप्त कृष्ण-विरह के भयङ्कर प्रभाव का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! इस ब्रज में कृष्ण का विरह रूपी दावानल चारों ओर बढ़ता ही चला जा रहा है । इससे सम्पूर्ण ब्रज को अपने प्रभाव से आक्रान्त कर रखा है । घर में, घर से बाहर नदी, वन-उपवन, लता, वृक्ष आदि सब इसमें दग्ध हुए जा रहे हैं । इसके कारण उत्पन्न धुँआ रात-दिन छाया रहता है और उसके कारण चारों दिशाओं में भयंकर अन्धकार छाया रहता है । यह विरहानल अत्यन्त उत्पात मचाता रहता है और अत्यन्त प्रबल रूप धारण कर सारे गाँव को भस्म किये दे रहा है । परन्तु सबसे विचित्र बात यह है कि यह विरहानल जल के पड़ने से और भी अधिक प्रज्ज्वलित होने लगता है, अर्थात् कृष्ण-विरह में दग्ध होती हुई गोपियों के आँसुओं के जल से यह और अधिक भयानक रूप धारण कर लेता है । गोपियों की विरह-व्यथा और अधिक बढ़ जाती है ।

इतनी भयंकर विरहाग्नि में तो ब्रज को अब तक क्षण भर में ही जलकर भस्म हो जाना चाहिए था, परन्तु यह भस्म इसलिए नहीं हो रहा कि हम निरन्तर 'हा हरि, हा हरि' के मन्त्र का उच्चारण करती रहती हैं । अर्थात् निरन्तर कृष्ण नाम का आर्त्त स्वर के साथ मन्त्र-सा जपती रहती हैं । परन्तु आखिर हमारी ऐसी स्थिति कब तक बनी रहेगी, क्योंकि बिना नन्दनन्दन कृष्ण के हमको इस विरहाग्नि से छुटकारा नहीं मिल सकता । हमसे इसे छोड़ते ही नहीं बनता । अर्थात् यह भयङ्कर दावाग्नि के सामान धू-धूकर जलती रहने वाली विरहाग्नि केवल कृष्ण के दर्शन मिलने पर ही शान्त हो सकेगी, अन्यथा नहीं होगी ।

विशेष—(१) कृष्ण-विरह की तीव्रता और दाहकता को दावानल के समान भयानक बताया गया है ।

(२) विरह का फारसी की ऊहात्मक पद्धति जैसा अतिशयोक्ति पूर्ण चित्रण हुआ है ।

(३) 'घर……चढ्यो' में मानवीकरण; 'दुन्द……डढ्यो' में विशेषोक्ति' 'दिसि दिसि' में पुनरुक्ति प्रकाश; 'ब्रज बिरह बढ़्यो' में वृत्यानुप्रास अलंकार हैं।

(४) विरह का मानवीकरण द्रष्टव्य है।

ऊधो ! अब जो कान्ह न ऐहैं।
जिय जानौ अरु हृदय बिचारौ, हम न इतौ दुख सैहैं।।
बूझौ जाय कौन के ढोटा, का उत्तर तब दैहैं ?
खायो खेल्यो संग हमारे, ताको कहा बनैहैं।।
गोकुलमनि मथुरा के बासी, कौ लौं झूठो कैहैं।
अब हम लिखि पठवन चाहति हैं, वहाँ पाँति नहिं पैहैं।।
इन गैयन चरिबो छाँड्यो है जौ नहिं लाल चुरैहैं।
एते पै नहिं मिलत सूर प्रभु, फिरि पाछे पछितैहैं।।१८१।।

शब्दार्थ—ऐहैं=आयेंगे। इतो=इतना। ढोटा=पुत्र। बनैं हैं=क्या बातें बनायेंगे। गोकुलमनि=गोकुल के स्वामी। कौ लौं=कब तक। पाँति नहिं पैहैं=पाँत में से निकाल दिया जायगा, कोई भोजन करने के लिए नहीं बुलाएगा। एते पैं=इतने पर भी।

भावार्थ—खुशामद से काम न बनता देख, गोपियाँ कृष्ण को धमकी देने पर उतर आई हैं। वे उद्धव को धमकी देती हुई उनसे कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! अभी भी यदि कृष्ण यहाँ ब्रज में नहीं आयेंगे तो तुम अपने मन में अच्छी तरह से जान लो और हृदय में सोच लो कि हम उनके विरह का दु;ख अब और अधिक सहन नहीं करेंगी। अगर उन्हें हम पर तरस नहीं आता तो फिर हम भी उनकी पोल खोल देंगी। अर्थात् उनकी असलियत मथुरा वासियों को बता देंगी। अगर उनसे यह पूछा जाय कि तुम किसके पुत्र हो तो वे क्या उत्तर देंगे ? इतने दिनों तक उन्होंने हमारे साथ जो खाया-पिया है, क्रीड़ाएँ की हैं, उनके सम्बन्ध में वे क्या सफाई देते फिरेंगे ? इन बातों को कैसे छिपाते रहेंगे ? वे दरअसल हैं तो गोकुल के मणि अर्थात् स्वामी; परन्तु अब अपने को मथुरा का निवासी सिद्ध कर कब तक झूठ बोलते रहेंगे ? हम तो अब यह चाहती हैं कि चिट्ठी में उनकी सारी पोल खोल कर उस चिट्ठी को मथुरा के लोगों के पास पहुँचा दें। अर्थात् हम चिट्ठी में साफ-साफ लिख देंगी कि ये कृष्ण यदुवंशी क्षत्रिय न होकर जाति के अहीर हैं; इनके पिता वसुदेव नहीं हैं अपितु गोकुल के नन्द बाबा हैं। इन्होंने हम अहीरिनों के साथ खाया-पिया है और क्रीड़ाएँ की हैं। इन सब बातों को जानकर मथुरा के लोग इन्हें जाति में से निकाल देंगे। ऐसा हो जाने पर वहाँ कोई भी इन्हें अपनी पंगत में खाने के लिए नहीं बुलायेगा।

इधर गोकुल में उनके बिना यह दशा हो रही है कि कृष्ण-विरह में गायों ने चरना छोड़ दिया है। यदि हमारे लाड़ले कृष्ण इन्हें पुनः चराने के लिए यहाँ नहीं

आयेंगे तो ये गाएँ भूखी-प्यासी ही मर जायेंगी। और ऐसा हो जाने पर गौ-हत्या का पाप उन्हें ही लगेगा। यदि कृष्ण इन बातों को जानकर भी हमसे नहीं मिलते तो फिर बाद में उन्हें पछताना पड़ेगा। अर्थात् यदि वह अब भी यहाँ आने को तैयार नहीं होते तो बाद में जब हम उनकी सारी पोल खोद देंगी तो मथुरावासी उनकी असलियत को जान, उन्हें अपने यहाँ से निकाल देंगे और तब कृष्ण हमारी बात न मानने पर पछताते हुए यहाँ लौट आयेंगे। इसलिए अच्छा यही रहेगा कि वे चुपचाप अभी वहाँ से चले आएँ।

विशेष—(१) गोपियों द्वारा कृष्ण को धमकी देना बड़ा मनोरंजक और अर्थ-गर्भित है। ऐसे पदों में गोपियाँ अपनी सारी दीनता और कायरता त्याग बुद्धि से काम लेने का प्रयत्न करती हैं। वे रोकर, गिड़-गिड़ाकर, खुशामद कर और अन्त में धमकी देकर कृष्ण को ब्रज लौटा लाने के लिए लगातार प्रयत्न करती रहती हैं। ऐसे पद उनकी विवशता और विरह-व्यथा की अतिशयता के प्रतीक बन गए हैं।

(२) सम्पूर्ण पद में अतिशयोक्ति अलंकार है।

ऊधो ! हमैं दोउ कठिन परी।
जो जीवैं तौ, सुन सठ ! ज्ञानी, तन तजैं रूपहरी।।
गुन गावैं तौ, सुक-सनकादिक, संग धावैं तौ लीला करी।
आसा अवधि संतोष धरैं, तौ धार्मिक ब्रज-सुन्दरी।।
स्यामा हैं सब सखी सुजाती, पै सब बिरह-भरी।
सोक-सिंधु तरिबे की नौका, जिहि मुख मुरलि धरी।।
निसदिन फिरत निरंकुस अति बड़ मातो मदन करी।
डाहैगौ सब धाम सूर जो चितौ न वह केहरी।।१८२।।

शब्दार्थ—दोउ=दोनों तरह से। रूपहरी=कृष्ण का रूप या कृष्ण के रूप से वंचित हो जाना। धावैं=दौड़ी फिरें। स्यामा=एक नायिका, गोपियाँ, कृष्ण की अनुरागिनी। सुजाती=श्रेष्ठ। बड़ मातो=अत्यन्त मदमत्त। मदन करी=कामदेव रूपी हाथ। डाहैगौ=ध्वंस कर देगा, गिरा देगा। केहरि=सिंह।

भावार्थ—कृष्ण-विरह और योग-सन्देश—इन दो पाटों के बीच दबी हुई गोपियाँ स्वयं को अत्यन्त विषम अवस्था में पड़ी हुई अनुभव कर रही हैं। वे इनमें से किसे त्यागें और किसे अपनाएँ? अपनी इस विषम दशा का वर्णन करती हुई वे उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! हमें तो दोनों ही स्थितियाँ कठिन मालू हो रही हैं। अर्थात् न हमसे जीवित ही रहा जाता है और न मरा ही। रे दुष्ट ! (यहाँ उद्धव के लिए यह सम्बोधन अनुचित है, यदि भ्रमर के लिए होता तो उचित था) यदि हम जीवित रहती हैं ती संसार हमें ज्ञानी कहेगा, क्योंकि प्रियतम का बिछोह होने पर, सच्ची

अनुरागिनी होने के कारण हमें प्राण-त्याग कर देना चाहिए। यदि हम प्राण-त्याग नहीं करती हैं तो संसार यह समझेगा कि हम कृष्ण को त्याग योग-साधना कर ज्ञान-मार्ग की अनुगामिनी बन गई हैं। इससे हमारा प्रेम कलंकित होगा। और यदि हम कृष्ण-विरह में प्राण-त्याग देती हैं तो हमसे कृष्ण का रूप दूर हो जायगा, छिन जायेगा क्योंकि मरने के बाद फिर हम कृष्ण के रूप के दर्शन नहीं कर सकेंगी। यदि हम सदैव भगवान कृष्ण के गुणों का गान करती रहें तो संसार हमें शुकदेव और सनकादिक की श्रेणी का वीताराग अर्थात् विरक्त समझने लगेगा, जबकि दरअसल हम हैं कृष्ण की अनुरागिनी अर्थात् उनसे गहरी आसक्ति रखने वालीं, जो विरक्तों का लक्षण नहीं होता। और यदि हम कृष्ण के साथ भागती फिरें तो संसार यह कहेगा कि हम लीला कर रही हैं अर्थात् त्रिया-चरित्र दिखा रही हैं। अर्थात् हम संसार के उपहास की पात्र बन जायेंगी। और यदि हम कृष्ण के आने की अवधि की आशा लगाए सन्तोष धारण कर लें कि कभी-न-कभी तो कृष्ण आयेंगे ही, तो ब्रज की सारी सुन्दरियाँ धार्मिक कहलाने लगेंगी। क्योंकि सन्तोष धारण करना धार्मिकों का प्रधान लक्षण माना जाता है। परन्तु हे उद्धव ! असलियत यह है कि न हम ज्ञान-मार्गी हैं, न विरह में प्राण त्याग देने वाली प्रेमिकाएँ हैं, न शुक-सनकादिक के समान संसार से विरक्त रहने वाली हैं, न साधारण स्त्रियों के समान त्रिया-चरित्र दिखाने वाली साधारण निम्नकोटि की नारियाँ हैं, और न प्रत्येक स्थिति में सदैव सन्तोष धारण करने वाली धार्मिक प्रवृत्ति वाली ही। हम इन सबसे नितान्त भिन्न हैं।

हे उद्धव ! हम सब गोपियाँ तो श्यामा जाति की श्रेष्ठ सखियाँ हैं। परन्तु कृष्ण-विरह से भरी हुई है, कृष्ण-विरह में आकण्ठ निमग्न बनी रहती हैं। हम सब कृष्ण-विरह रूपी शोक के समुद्र में डूब रही हैं और इससे पार होने के लिए हमारे लिए केवल एक ही नौका ऐसी है जो हमें पार पहुँचा सकती है। और वह नौका है—कृष्ण का वह सुन्दर मुख, जिस पर रखकर वह मुरली बजाया करते थे। अर्थात् मुरली बजाते हुए कृष्ण का दर्शन करने पर ही हमारा यह शोक (दुःख) दूर हो सकेगा, अन्यथा नहीं। यहाँ ब्रज में कामदेव रूपी अत्यन्त मतवाला हाथी पूर्ण निरंकुश (स्वच्छन्द) बना रात-दिन घूमता रहता है। यदि कृष्ण रूपी सिंह आकर उस हाथी को चेतावनी नहीं देगा, उस पर आक्रमण नहीं करेगा तो वह हाथी इस ब्रज के सारे घरों को गिराकर तहस-नहस कर डालेगा। अर्थात् कृष्ण-विरह में गोपियों को काम-भावना बहुत सतती रहती है और वह तभी दूर हो सकेगी, जब कृष्ण आकर अपने दर्शन दें, उनके विरह को दूर कर दें।

विशेष—(१) पाँचवीं पंक्ति में आया 'स्यामा' शब्द विचारणीय है। इसके कई अर्थ हो सकते हैं, जैसे—श्यामा अर्थात् श्याम की प्रियतमा, गोपी, श्यामा-नायिका। परन्तु यहाँ श्यामा जाति की नायिका से ही अभिप्राय है। श्यामा नायिक—श्रेष्ठ नायिका मानी गई है। गोपियाँ साधारण नारियाँ न होकर, कृष्ण की अनन्य अनु-रागिनी होने के कारण विशिष्ट मानी गई हैं।

कालिदास ने श्यामा नायिका के लक्षण इस प्रकार बताए हैं—

"तन्वी श्यामा शखिरदशना पक्व बिम्बाधरोष्ठी।"

सारी गोपियाँ अहीर जाति की होने के कारण रंग की साँवली रही होंगी। इसलिए यहाँ उन्हीं से अभिप्राय है।

(२) 'रूपहरी' शब्द भी विचारणीय है। कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—भक्त स्वयं हरि का रूप हो जायगा जिससे वह हरि के दर्शन-सुख से वंचित हो जायगा। भक्ति में इस स्थिति को सारूप्य मुक्ति की स्थिति माना गया है। परन्तु पुष्टिमार्ग में भक्त इस स्थिति को प्राप्त करने की कामना नहीं करता, क्योंकि इससे उसकी आत्म-हानि होती है। परन्तु इस पद में इस शब्द का सीधा-सादा यही अर्थ लेना चाहिए कि गोपियाँ कृष्ण के रूप से वंचित हो जायेंगी, मरने पर कृष्ण के दर्शन नहीं कर पायेंगी।

(३) 'मदन करी' में रूपक तथा 'केहरी' में परिकरांकुर अलंकार है।

(४) भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से यह बहुत सुन्दर पद है।

ऊधो ! बहुतै दिन गए चरनकमल-विमुख हो।
दरस-हीन, दुखित दीन, छन-छन बिपदा सही॥
रजनी अति प्रेमपीर, गृह बन मन धरै न धीर।
बासर मग जोवत, उर सरिता बही नयननीर॥
आवन की अवधि-आस सोई गनि घटत स्वास।
इतो बिरह बिरहिनि क्यों सहि सकै कह सूरदास ?॥१८३॥

शब्दार्थ—बहुतै=बहुत। बासर=दिवस। जोवत=देखते। गनि=गिरकर। घटत स्वास=साँसें घट रही हैं, जीवन बीता जा रहा है। इतो=इतना।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण के विरह में बहुत व्याकुल और दुःखी रहती हैं। उन्हें कृष्ण से बिछुड़े हुए बहुत दिन हो गए हैं। अपनी उसी विरह-व्यथा का वर्णन करती हुई वे उद्धव से कह रही हैं—

हे उद्धव ! कृष्ण के चरण-कमलों से बिछुड़े हुए हमें बहुत दिन हो गए हैं। हम उनके दर्शनों से वंचित होकर बहुत दुःखी और दीन बन गई हैं और प्रतिक्षण तरह-तरह की विपदाओं को हमें सहना पड़ता है। अर्थात् जब कृष्ण यहाँ रहते थे तब तो सारी आपत्तियों से हमारी रक्षा कर लेते थे, परन्तु अब उनके बिना कौन हमारी रक्षा करे, इसलिए हमें सारी विपदाएँ झेलनी पड़ती हैं। रात्रि के समय हमारी प्रेम-पीड़ा बहुत बढ़ जाती है, न घर में न मन को चैन मिलता है और न वन में। दिन में हम उनकी बाट जोहती रहती हैं और हृदय रूपी नदी आँखों के आँसुओं रूपी जल के रूप में प्रवाहित होती रहती है; अर्थात् जब कृष्ण की याद आती है तो हृदय उमड़ने लगता है और आँखें आँसुओं से बहने लगती हैं। हम कृष्ण के आने

की अवधि की आशा में बैठी एक-एक दिन गिनती रहती हैं और अपने जीवन की साँसें पूरी करती रहती हैं। अर्थात् उनके आने की आशा में हमारा जीवन समाप्त होता चला जाता है। (यह लोक-विश्वास है कि विधाता प्रत्येक व्यक्ति को गिनकर निश्चित साँसें अर्थात् आयु की अवधि प्रदान करता है। और प्रत्येक साँस के साथ व्यक्ति की आयु घटती चली जाती है। यहाँ गोपियाँ इसी भाव को व्यक्त कर रही हैं।) सूरदास कहते हैं कि ये विरहिणी गोपियाँ विरह की इतनी लम्बी अवधि को कैसे सह सकेंगी ? अर्थात् उनके लिए यह विरह-वेदना असह्य हो उठी है।

विशेष—(१) गोपियों की विरह-व्यथा का संयत और भावात्मक चित्रण है।
(२) रूपक अलंकार है।

राग आसावरी

ऊधो ! कहत न कछू बनै।
अधरामृत-आस्वादिनि रसना कैसे जोग भनै ?
जेहि लोचन अवलोके नखसिख-सुन्दर नन्दतनै।
ते लोचन क्यों जायँ और पथ लै पठए अपनै ?
रागिनि राग तरंग तान घन जे स्रुति मुरलि सुनै।
ते स्रुति जोग-सँदेस कठिन कह काँकर मेलि हनै।।
सूरदास स्यामा मोहन के यह गुन बिबिध गुनै।
कनक लता तें उपज न मुक्ता, षटपद ! रंग चुनै।।१८४।।

शब्दार्थ—आस्वादिनि=स्वाद चखने वाली। रसना=जिह्वा। भनै=कहे। अवलोके=देखे। नन्दतनै=नन्दतनय, नन्द के पुत्र कृष्ण। स्रुति=कान। काँकर=कंकड़। मेलि हनै=डालकर मारते हो। कनक लता=सोने की लता। रंग चुनै=चुने हुए रंगों वाले।

भावार्थ—कृष्ण के सुन्दर रूप और मुरली की मधुर तान पर दीवानी बनी गोपियाँ उद्धव के योग-सन्देश को त्याज्य घोषित करती हुईं, उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! (तुम्हारी योग-सम्बन्धी ऐसी असम्भव, अदभुत बातें सुन-सुनकर) हमसे कुछ भी कहते नहीं बनता। अर्थात् हमसे यह योग किसी भी प्रकार स्वीकार करते नहीं बनता। तुम्हीं सोचो कि हमारी जो जिह्वा कृष्ण के अधरों के रस रूपी अमृत का स्वाद चख चुकी है, उनके अधरामृत का पान कर चुकी है, अब हम अपनी उसी जिह्वा से तुम्हारे नीरस, कड़वे योग का गुणगान कैसे करें, कैसे उसे स्वीकार कर लें ? हमारे जिन नेत्रों ने नन्द के पुत्र कृष्ण के मनोरम नख-शिख सौन्दर्य को देखा है, अपने उन नेत्रों को अब यदि हम किसी अन्य मार्ग अर्थात् तुम्हारे योग-मार्ग पर चलाना चाहें, निर्गुण ब्रह्म के दर्शन कराना चाहें, तो वे इसे कैसे स्वीकार कर उस

मार्ग पर चलने को तैयार होंगे ? अर्थात् यह असम्भव है। हमारे जिन कानों ने मुरली को नाना प्रकार की राग-रागिनियों से तरंगायित मधुर तानों (स्वरों) को सुना है, अब तुम हमारे उन्हीं कानों को अपना यह कठोर योग-सन्देश सुनाकर क्यों कंकड़-सा मार उन्हें चोट पहुँचा रहे हो ? अर्थात् हमारे कानों को तुम्हारा योग-सन्देश कर्कश और कठोर लगता है।

सूरदास कहते हैं कि इस प्रकार श्यामा नायिका के समान सुन्दर श्रेष्ठ गोपियाँ कृष्ण के विभिन्न गुणों का बखान करने लगीं, उनके गुण गाने लगीं। और फिर भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कहने लगीं कि रे छः पैरों वाले पशु भ्रमर ! यह बता कि कहीं स्वर्णलता से मोती उत्पन्न होते हैं, और मोती भी कैसे कि चुने हुए अर्थात् मन-वांछित विभिन्न रंगों वाले। अर्थात् न तो स्वर्णलता होती है और न लता पर विभिन्न रंगों के मोती ही लगते हैं। जिस प्रकार यह होना असम्भव है, उसी प्रकार कृष्ण-प्रेम की अनन्य अनुरागिनी गोपियों द्वारा तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म और योग-मार्ग को स्वीकार कर लेना भी असम्भव है।

विशेष—रूपक अलंकार है।

राग मारू

> **ऊधो ! नयनन नेम लियो।**
> **नँदनंदन सो पतिब्रत बाँध्यो, दरसत नाहिं बियो ॥**
> **इंदु चकोर, मेघ प्रति चातक, जैसे धरन दियो।**
> **तैसे ये लोचन गोपालै, इकटक प्रेम पियो ॥**
> **ज्ञानकुसुम लै आए ऊधो ! चपल न उचित कियो।**
> **हरिमुख-कमल अमिय रस सूरज, चाहत बहै लियो ॥१८५॥**

शब्दार्थ—नेम लियो=व्रत धारण किया है। बियो=दूसरा। दरसत=दिखाई देता है। धरन=धारण करना। अमिय रस=अमृत रूपी रस। बहै=उसी को। लियो=लेना, प्राप्त करना।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपने दृढ़ पातिव्रत और अनन्य प्रेम की उद्घोषणा और ज्ञान का खण्डन करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! हमारे इन नेत्रों ने (एकमात्र कृष्ण के ही दर्शन करने का) दृढ़ व्रत धारण किया है। इन्होंने नन्दनन्दन कृष्ण को ही अपना पति स्वीकार कर उनके प्रति दृढ़ पातिव्रत-धर्म का व्रत साधा है। ये कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी की ओर नहीं देखते। इन्होंने कृष्ण के प्रति उसी प्रकार दृढ़ प्रेम-व्रत धारण कर रखा है, जैसा चकोर का चन्द्रमा के, और चातक का मेघ के प्रति होता है। चकोर और चातक की-सी एकनिष्ठा और दृढ़ता के साथ, ये नेत्र गोपाल की ओर टकटकी बाँधे उनके प्रेमरस का पान किया करते हैं। हे उद्धव ! तुम हमारे लिए जो ज्ञान रूपी

पुष्प लाए हो, ऐसा करके तुमने उचित कार्य नहीं किया है। यह तुम्हारे स्वभाव की चंचलता का ही प्रमाण है कि तुम हमारे एकनिष्ठ प्रेम को विचलित करने का प्रयत्न कर रहे हो।

सूरदास कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हमारे भ्रमर रूपी नेत्र तो एकमात्र कृष्ण के मुख रूपी कमल के ही अनुरागी हैं और उसी के दर्शन रूपी अमृत रस को प्राप्त करना चाहते हैं। अर्थात् हम एकमात्र कृष्ण के ही दर्शन करने की आकांक्षा रखती हैं। जिस प्रकार भ्रमर कमल को छोड़ अन्य किसी भी पुष्प से सच्चा प्रेम नहीं करता, उसी प्रकार हम भी तुम्हारे इस ज्ञान-योग-रूपी पुष्प को स्वीकार नहीं कर सकतीं, क्योंकि हम एकमात्र कृष्ण की ही अनुरागिनी हैं।

विशेष—(१) अन्तिम पंक्ति में आए 'सूरज' शब्द से सूरदास से अभिप्राय है। सूरदास ने कई पदों में 'सूर' अथवा 'सूरदास' का प्रयोग न कर 'सूरजदास' या 'सूरज' का प्रयोग किया है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि यह 'सूरज' कोई अन्य कवि है, सूरदास नहीं। परन्तु कुछ विद्वान् सूरदास को ही 'सूरज' या 'सूरजदास' मानते हैं।

(२) 'हरिमुख कमल' और 'ज्ञान-कुसुम' में रूपक; 'इन्दु·······पियो' में उपमा तथा 'प्रेम पियो' में अनुप्रास अलंकार है। 'तैसे ये·······प्रेम पियो' में विरोधाभास अलंकार भी माना जा सकता है।

राग केदारो

ऊधो ! ब्रजरिपु बहुरि जिये।
जे हमरे कारन नँदनंदन, हति-हति दूर किए।।
निसि के बेष बकी है आवति, अति डर करति सकंप हिये।
तिन पय तें तन प्रान हमारे, रबि ही छिनक छिनाय दिए।।
बन बृकरूप, अघासुर सम गृह, कितहू तौ न बितै सकिए।
कोटिक कालीसम कालिंदी, दोषन सलिल न जात पिए।।
अरु ऊँचे उच्छ्वास तृनाव्रत तिहि सुख सकल उड़ाय दिए।
केसी सकल कर्म केसव बिन, सूर सरन काकी तकिए ? ।।१८६।।

शब्दार्थ—बहुरि जिए=फिर जीवित हो गए। ब्रजरिपु=ब्रज के शत्रु। हति-हति=मार-मारकर। बकी=पूतना। सकंप=कम्पित। पय=दूध। छिनक=क्षण भर में। वृक=बकासुर। बितै=व्यतीत करना। काली=कालियनाग। दोषन=दोष, विष से युक्त। तृनाव्रत=तृणाव्रत नामक राक्षस। केसी=एक राक्षस। काकी=किसकी। तकिए=देखिए।

भावार्थ—व्रज में दहते समय कृष्ण ने जिन राक्षसों का वध किया था वे अब

भिन्न-भिन्न रूप धारण कर ब्रज में पुनः उपद्रव करने लगे हैं । गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि ब्रज में कृष्ण के न रहने से ये राक्षस पुनः उन्हें सताने लगे हैं—

हे उद्धव ! ब्रज के वे शत्रु जिन्हें कृष्ण ने यहाँ रहते समय हमारे कारण मार डाला था, अब कृष्ण के यहाँ न रहने के कारण पुनः जीवित हो उठे हैं । रात्रि का वेश धारण कर पूतना राक्षसी आती है और उसे देख, भय के कारण हमारा हृदय काँपने लगता है । जिस प्रकार कृष्ण ने उसके विष भरे स्तनों का पानकर क्षण भर में ही उसके प्राण खींच लिए थे, उसी प्रकार इस रात्रि रूपी राक्षसी पूतना के विषैले दूध के चंगुल से सूर्य उदय होकर हमारे प्राणों की रक्षा कर लेता है; अर्थात् रात्रि के समय हम विरह-व्यथा से बहुत त्रस्त होकर व्याकुल हो उठती हैं और उससे मुक्ति तभी मिलती है, जब सूर्योदय होने पर रात्रि समाप्त हो जाती है । वन हमारे लिए बकासुर के समान भयानक बन गया है और घर अघासुर के समान कष्टदायक । इन दोनों के कारण हम कहीं भी अपना समय नहीं व्यतीत कर पातीं । अर्थात् हमें कृष्ण-वियोग के कारण घर और वन—दोनों ही स्थान भयानक कष्ट पहुँचाते रहते हैं । कालिन्दी (यमुना) हमें करोड़ों कालिय नागों के समान दाहक और भयानक लगती है । हमें उसका जल विषभरा प्रतीत होता है । इसलिए हम उसका पान नहीं करतीं । अर्थात् यमुना को देखकर हमें कृष्ण के साथ की गई चीर-हरण-लीला और जल-क्रीड़ाओं की तीव्र स्मृति हो जाती है, इसलिए यमुना और उसका जल हमें कालिय नाग और उसके विष के समान भयानक और दाहक प्रतीत होने लगा है ।

और जिस प्रकार कृष्ण के यहाँ रहते समय तृणाव्रत राक्षस भयंकर आँधी के समान सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट करता हुआ यहाँ आया था, अब कृष्ण-विरह में हमारे हृदय से निरन्तर उठते रहने वाले दीर्घ उच्छ्वासों ने तृणाव्रत का रूप धारण कर लिया है और हमारे सारे सुखों को उड़ाकर नष्ट कर दिया है । कृष्ण के बिना हमें अपने सारे कर्म (काम) केसी राक्षस के समान दुःखदायक और भयानक लगने लगे हैं । अर्थात् अपने दैनिक कार्य करने में हमें भयानक कष्ट होने लगा है । क्योंकि कृष्ण के बिना ये काम करना हमें अच्छा नहीं लगता । हे उद्धव ! अब तुम्हीं बताओ कि हम इन दुष्टों से अपनी रक्षा करने के लिए किसकी शरण में जायँ, किसका आसरा तकें ? अर्थात् कृष्ण ही इनसे हमारी रक्षा कर सकते हैं, क्योंकि पहले भी उन्होंने इन राक्षसों के अत्याचारों से हमारी रक्षा की थी । भाव यह है कि कृष्ण के यहाँ आ जाने से हमारे ये सारे कष्ट दूर हो जायेंगे ।

विशेष—(१) पूतना, बकासुर, अघासुर, तृणाव्रत, केसी आदि राक्षसों को कंस ने कृष्ण का वध करने के लिए ब्रज में भेजा था । ये लोग छद्मवेश धारण कर ब्रज में आए थे, परन्तु कृष्ण ने इन सबका वध कर डाला था । यहाँ गोपियाँ उन्हीं पुरानी घटनाओं का रूपक के रूप में वर्णन कर कृष्ण को पुनः ब्रज लौटा लाने का उद्धव से आग्रह कर रही हैं ।

(२) इस पद में प्रकृति के उद्दीपन रूप का कलात्मक चित्रण हुआ है ।

(३) उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा और पुनरुक्ति प्रकाश अलंकारों का प्रयोग हुआ है। परन्तु कृष्ण की विभिन्न बाल-लीलाओं के प्रति संकेत होने के कारण मुद्रा अलंकार भी माना जा सकता है।

(४) पूतना सुन्दर नारी का, बकासुर बगुले का, अघासुर अजगर का, तृणाव्रत भयंकर आँधी का और केसी घोड़े का रूप धारण कर कृष्ण को मारने व्रज में आए थे।

राग सारंग

ऊधो ! कहिये काहि सुनाये ?
हरि बिछुरत जेती सहियत हैं, इते बिरह के घाये।
बरु माधव मधुबन ही रहते, कत जसुदा के आये ?
कत प्रभु गोप बेष ब्रज धार्‌यो, कत ये सुख उपजाये ?
कत गिरि धारि इन्द्र-मद मेट्यो, कत बन रास बनाये ?
अब कह निठुर भये हम ऊपर, लिखि-लिखि जोग पठाये ?
परम प्रबीन सबै जानत हौ, तातें यह कहि आये ?
अपनी कौन कहै सुनु सूरज, मात-पिता बिसराये ॥१८७॥

शब्दार्थ—काहि=किसे। जेती=जितनी। घाए=घाव। कत=क्यों। मधुबन=मथुरा। मद=घमण्ड। प्रवीन=चतुर। तातें=इसलिए।

भावार्थ—कृष्ण की निष्ठुरता के लिए उनकी भर्त्सना करती हुईं, गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! हम अपने दुःख की बात किसे सुनाएँ ? हम कृष्ण के बिछुड़ जाने से उनके विरह के घावों की पीड़ा जितनी सहन कर रही हैं, उसे किससे कहकर अपना मन हल्का करें ? हम सोचती हैं कि यदि कृष्ण प्रारम्भ से ही मथुरा में ही रहते तो अच्छा रहता। वे जन्म लेते ही मथुरा छोड़ यहाँ यशोदा के यहाँ क्यों चले आए ? अर्थात् न वे यहाँ आते, न हम उनसे प्रेम करतीं और न उनके बिछुड़ने पर हमें यह विरह-व्यथा सहन करनी पड़ती। उन्होंने क्यों ग्वालों का वेश धारण किया था और क्यों अपनी विभिन्न क्रीड़ाओं द्वारा यहाँ सबको इतना सुख पहुँचाया था ? क्यों उन्होंने अपनी उँगली पर गोवर्धन-पर्वत धारण कर इन्द्र का घमण्ड दूर किया था और क्यों वन में हमारे साथ रास-क्रीड़ा की थी ? यह बताओ कि हमें इतना अधिक सुख पहुँचाकर अब वह हमारे प्रति इतने अधिक निष्ठुर क्यों बन गए हैं कि हमें लिख-लिखकर योग का सन्देश भेज रहे हैं ? यदि हमें इतना वियोग का दुःख देना था तो पहले संयोग का इतना अधिक सुख क्यों दिया था ?

हे उद्धव ! तुम परम बुद्धिमान हो, सब कुछ जानते हो, इसीलिए हम तुमसे इतनी बातें कह सकी हैं। असली बात तो यह है कि हम अपने प्रति की गई उनकी

निष्ठुरता की बातें क्या करें, क्योंकि वे तो इतने अधिक निष्ठुर हैं कि उन्होंने अपने माता-पिता—यशोदा और नन्द—तक को भुला दिया है। अर्थात् जो व्यक्ति अपने माता-पिता तक को भुला सकता है, उसकी निष्ठुरता की कोई सीमा नहीं। इसलिए हमारे साथ उन्होंने जो निष्ठुरता दिखाई है, उसका हम क्या बुरा मानें ? ऐसे निष्ठुर से कोई आशा रखना व्यर्थ है।

विशेष—(१) कृष्ण की निष्ठुरता का मार्मिक चित्रण है। साथ ही उनके जन्म लेते ही मथुरा से ब्रज आने और विभिन्न प्रकार की बाल-क्रीड़ाओं का भी उल्लेख हुआ है।

(२) रहीम ने भी इसी पद के भाव को व्यक्त करने वाला एक दोहा लिखा है—

"जो रहीम करिबो हुतो, ब्रज कौ यही हवाल।
तौ कत मातहिं दुख दियो, गिरिवरधर गोपाल॥"

(३) 'लिखि-लिखि' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।

(४) गोपियाँ व्यंग्य वचन बरसाना त्याग करुण और दीन हो उठी हैं। कृष्ण-सम्बन्धी प्राचीन स्मृतियों ने उन्हें कोमल और करुण बना दिया है।

ऊधो ! भली करी गोपाल।
आपनु तौ आवत नाहीं ह्याँ, वहाँ रहे यहि काल॥
चन्दन चन्द हुतो तब सीतल, कोकिल सब्द रसाल।
अब समीर पावक सम लागत, सब ब्रज उलटी चाल॥
हार, चीर, कंचुकि कंटक भए, तरनि तिलक भये भाल।
सेज सिंह, गृह तिमिर-कंदरा, सर्प सुमन-मनि-माल॥
हम तौ न्याय सहैं एतो दुख बनबासी जो ग्वाल।
सूरदास स्वामी सुखसागर, भोगी भ्रमर भुवाल॥१८८॥

शब्दार्थ—भली करी=अच्छा किया। ह्याँ=यहाँ। हुतो=थे। पावक=अग्नि। कंचुकि=चोली। तरनि=सूर्य। तिमिर कंदरा=अन्धकार से पूर्ण गुफा। भुवाल=भूप, राजा।

भावार्थ—संयोगावस्था में सुखद लगने वाले उपकरण और प्रकृति वियोगावस्था में भयानक और दुःखदायी लगने लगते हैं। गोपियाँ इसी काव्य-परम्परा के अनुसार अपनी विरह-व्यथा की अभिव्यंजना करती हुई कृष्ण पर व्यंग्य कसतीं, उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! कृष्ण ने अच्छा ही किया जो स्वयं यहाँ नहीं आते और आजकल वहीं मथुरा में रह रहे हैं। यदि वे आजकल यहाँ आते तो उन्हें भयंकर कष्ट उठाने पड़ते, क्योंकि यहाँ आजकल सब कुछ उल्टा हो गया है। जब कृष्ण यहाँ रहते थे उस समय चन्दन और चन्द्रमा शीतल तथा कोयल की कूक मधुर-रसीली मालूम पड़ती

थी। परन्तु अब चन्दन और चन्द्रमा की क्या चलाई, पवन भी अग्नि के समान गर्म और झुलसा देने वाला प्रतीत होता है। ब्रज में अब सब अपने स्वाभाविक गुणों को त्याग उल्टी चाल (विपरीत आचरण) चलने लगे हैं। हमारे शृङ्गार के साधन—हार, वस्त्र, चोली आदि शरीर में काँटों के समान चुभने लगे हैं और मस्तक पर लगा हुआ तिलक सूर्य के समान दाहक बन गया है। भाव यह है कि कृष्ण के बिना गोपियों को शृङ्गार करना अच्छा नहीं लगता और दुःख देता है। हमें सेज (शय्या) सिंह के समान, घर अन्धकार से भरी गुफा के समान और फूलों तथा मणियों की मालाएँ सूर्य के समान भयानक और दुःखदायी लगने लगी हैं। हम तो इन सारे कष्टों को सहन करने में समर्थ हैं, क्योंकि हम वन की वासिनी ग्वालिनें हैं, इसलिए ऐसे कष्ट सहने की अभ्यस्त हैं। परन्तु हमारे स्वामी कृष्ण सुख के सागर अर्थात् सर्वत्र-सदैव सुख प्राप्त करने के अभ्यस्त, भ्रमर के समान भोगी और विलासी तथा राजा के समान वैभव-विलास में डूबे रहने वाले हैं। इसलिए ऐसे कष्ट सहने के अभ्यस्त न होने के कारण आजकल यहाँ आने पर उन्हें भयंकर कष्ट उठाने पड़ते। अतः उन्होंने इन दिनों यहाँ न आकर अच्छा ही किया।

विशेष—(१) यह पद श्रेष्ठ काव्य का सुन्दर उदाहरण है। इसमें गोपियाँ प्रकट रूप से अपनी विषम विरह-व्यथा का वर्णन करती हुई अप्रकट रूप से कृष्ण के विश्वासघात और निष्ठुरता पर गहरा व्यंग्य कर उन्हें, सुखान्वेषी, विलासी और राजा सिद्ध कर रही हैं। यह व्यंग्य ही इस पद का प्राण है।

(२) इस पद में सूरदास ने उस काव्य-परम्परा का भी कलात्मक उपयोग किया है, जिसके अनुसार संयोगावस्था के सुखद उपकरण वियोगावस्था में दुःखद बन जाते हैं।

(३) प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण किया गया है।

(४) सम्पूर्ण पद में अतिशयोक्ति अलंकार है।

राग सोरठ

अपने मन सुरति करत रहिबी।
ऊधो! इतनी बात स्याम सौं, समय पाय कहिबी॥
घोष बसत की चूक हमारी, कछू न जिय गहिबी।
परम दीन जदुनाथ जानिकै, गुन बिचारि सहिबी॥
एकहि बार दयाल दरस दै, बिरह-रासि दहिबी।
सूरदास प्रभु बहुत कहत कहौं, बचन-लाज बहिबी॥१८६॥

शब्दार्थ—सुरति=स्मृति, याद। करत रहिबी=करते रहें। कहिबी=कह देना। घोष=अहीरों का गाँव। चूक=गलती, अपराध। गहिबी=ग्रहण करें। सहिबी=सहन कर लें। दहिबी=भस्म कर दें। बहिबी=निर्वाह कर लें।

भवार्थ—गोपियाँ अपना सम्पूर्ण व्यंग्य, कटाक्ष त्याग उद्धव से विनय कर रही हैं कि हे उद्धव ! तुम उचित अवसर मिलने पर कृष्ण से हमारी इतनी सी बात अवश्य कह देना कि (यदि वे यहाँ नहीं आते तो कोई बात नहीं, परन्तु) अपने मन में हमें याद अवश्य कर लिया करें। उनसे यह भी कह देना कि उनके ब्रज-निवास काल में हमसे उनके प्रति जो कुछ भी अपराध हो गए हों, उन्हें वह अपने मन में स्थान न दें। अर्थात् उनके लिए हमें क्षमा कर उन्हें मन से निकाल दें। यदुवंश के स्वामी कृष्ण हमें अत्यन्त दीन-हीन समझ कर हमारे गुणों का विचार कर, यदि हम में कोई गुण हों, तो हमारे उन अपराधों को भी सहन कर लें। वे दयालु हैं, इसलिए हम पर दया कर केवल एक बार हमें अपने दर्शन देकर हमारे विरह के सम्पूर्ण कष्टों को भस्म कर दें, दूर कर दें। हे उद्धव ! हम अपने स्वामी कृष्ण से और अधिक क्या कहें ? हमारी तो केवल यही प्रार्थना है कि वे हमें दिये हुए अपने वचनों की लाज रख लें। अर्थात् उन्होंने अक्रूर के साथ यहाँ से जाते समय हमें यह वचन दिया था कि वे थोड़े दिनों के लिए ही मथुरा जा रहे हैं और शीघ्र ही लौट आएँगे। अब वह एक बार पुनः यहाँ आ, हमें अपने दर्शन दे, अपने उसी वचन (वायदे) की लाज रख लें। अर्थात् उसे पूरा कर दें। हमारी केवल यही प्रार्थना है।

विशेष—(१) हरिविलास नामक एक कवि का इसी भाव से मिलता-जुलता एक दोहा द्रष्टव्य है—

"नंद के फरजंद से अब जा कहो यों 'हरिविलास'।
अब तो वे, बातें निबाहों कौल औ इकरार की॥"

(२) उपर्युक्त पद की प्रत्येक पंक्ति के अन्त में सूरदास ने 'रहिबी', 'कहिबी' आदि अवधी के क्रियापदों का उपयोग कियां है।

राग केदारो

ऊधो ! नँदनंदन सों इतनी कहियो।
जद्यपि ब्रज अनाथ करि छाँड्यो, तदपि बार इक चित करि रहियो॥
तिनकातोर करौ जनि हमसौं, एक बास की लज्जा गहियो।
गुन-औगुनन रोष नहिं कीजत, दासनिदासि की इतनी सहियो।
तुम बिन स्याम कहा हम करिहैं, यह अवलंब न सपने लहियो।
सूरदास प्रभु यह कहि पठई, कहाँ जोग कहँ पीवन दहियो॥१९०॥

शब्दार्थ—बार इक=एक बार। तिनकातोर=हमेशा के लिए सम्बन्ध तोड़ देना। बास=निवास करना, रहना। कीजत=करते। दासनिदासि=दासों की भी दासी। लहियो=प्राप्त करना। पीवन=प्रियतम के बिना। दहियो=जलना, दग्ध होना।

भावार्थ—गोपियाँ अपनी विरह-व्यथा सुनाती हुईं उद्धव द्वारा कृष्ण के पास, अपना मार्मिक सन्देश भेज रही हैं। वे उद्धव से कहती हैं कि—

हे उद्धव ! तुम जाकर नन्दनन्दन कृष्ण से हमारी इतनी-सी बात कह देना कि यद्यपि वह ब्रज को अनाथ बना, उसे छोड़ मथुरा चले गए हैं, फिर भी कम से कम एक बार अपने हृदय में उसके सम्बन्ध में फिर सोच लें। अर्थात् एक बार तो उसकी याद कर यहाँ आ जायँ। उनसे कहना कि हमसे हमेशा के लिए सम्बन्ध न तोड़ दें। वह एक बार यहाँ रह चुके हैं, इसलिए उस रहने का तो थोड़ा-सा लिहाज करें। भाव यह है कि जो एक बार थोड़े समय के लिए भी किसी स्थान पर रह लेता है, उसे उस स्थान से ममता हो जाती है और वह उसे बिल्कुल नहीं भूल जाता। इसलिए कृष्ण को ब्रज को इस प्रकार सदैव के लिए नहीं भुला देना चाहिए। अपने दासों के गुण-अवगुणों को देखकर उन पर क्रोध नहीं करना चाहिए। और हम तो उनके दासों (भक्तों) की भी दासियाँ हैं, इसलिए उन्हें इसी सम्बन्ध के नाते हमारे अवगुणों और अपराधों को सहन कर लेना चाहिए। अर्थात् उन अपराधों के कारण हमें इस प्रकार सदैव के लिए नहीं भुला देना चाहिए।

हे कृष्ण ! तुम्हारे बिना हम क्या कर सकती हैं ? अर्थात् तुम्हीं हमारे एकमात्र अवलम्ब हो। हम तुम्हें त्याग अन्य किसी अवलम्ब को स्वप्न में भी स्वीकार नहीं सकतीं। अर्थात् तुमने हमारे लिए निर्गुण ब्रह्म रूपी यह जो अवलम्ब (सहारा) भेजा है, इसे हम स्वप्न में भी अर्थात् किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं कर सकतीं। हे स्वामी ! तुमने हमारे लिए यह जो योग का सन्देश कहला भेजा है, इसे हम स्वीकार नहीं कर सकतीं—क्योंकि कहाँ योग-साधना करना और कहाँ प्रियतम के बिना उसकी विरहाग्नि में दग्ध होना ! इन दोनों में परस्पर कितना विरोध और अन्तर है। अर्थात् हमें तुम्हारी इस नीरस कष्टसाध्य योग-साधना की तुलना में अपने प्रिय की विरहाग्नि में दग्ध होना अधिक सह्य और पसन्द है। दूसरी बात यह है कि युवतियों को तो प्रिय-वियोग में दग्ध होना ही अच्छा लगता है, न कि योग-साधना करना। युवतियों के लिए योग-साधना सर्वथा अनुचित और त्याज्य है।

विशेष—'तिनकातोर' ब्रज में प्रचलित एक मुहावरा है। जिस प्रकार तिनके को बीच में से तोड़कर हमेशा के लिए दो टुकड़े कर देते हैं, जो फिर नहीं जुड़ सकते, उसी प्रकार आपस के प्रगाढ़ सम्बन्धों को हमेशा के लिए तोड़ देना, अलग-अलग हो जाना, यह भाव है।

राग सारंग

ऊधो ! हरि करि पठवत जेती।
जौ मन हाथ हमारे होतो, तौ कत सहती एती ?
हृदय कठोर कुलिस हू तें, अति तामें चेत अचेती।
तब उर बिच अंचल नहिं सहती, अब जमुना की रेती ॥
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन को, सरन देहु अब सेंती।
बिन देखे मोहिं कल न परति है, जाको स्त्रुति गावत है नेती ॥१६१॥

शब्दार्थ—पठवत=भेजते हैं। जेती=जितनी। एती=इतनी। कुलिस=वज्र। चेत=चेतना, चित्त। अब सेंती=अब से। कल=चैन। स्रुति=वेद, शास्त्र। नेती=नेति-नेति, ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है।

भावार्थ—कृष्ण-विरह में व्यथित-व्याकुल गोपियाँ अपने मन के परवश होने के कारण कृष्ण के योग-सन्देश को स्वीकार करने में स्वयं को असमर्थ पाती हैं। इसी भाव को व्यक्त करती हुईं वे उद्धव से कहती हैं कि—

हे उद्धव! हमें सान्त्वना प्रदान करने के लिए कृष्ण जितने प्रयत्न कर योग-साधना की बातें लिख-लिखकर हमारे पास भेजते रहते हैं, हम उन्हें स्वीकार कर लेतीं, यदि हमारा मन हमारे वश में होता। यदि मन ही वश में होता तो हम इतनी विरह-वेदना क्यों सहतीं? अर्थात् योग-सन्देश को स्वीकार कर इस विरह-वेदना से छुटकारा पा जातीं। परन्तु हम करें क्या, अपने मन से विवश हैं। हमारा हृदय वज्र से भी अधिक कठोर बन गया है और ऊपर से हमारा चित्त (मन) सदैव अचेत बना रहता है। अर्थात् कृष्ण की स्मृति में डूबा बेसुध पड़ा रहता है। उसमें योग-ज्ञान की बातें समझने की चेतना (शक्ति) ही नहीं रही है, फिर वह तुम्हारी इन बातों को कैसे समझे? जब कृष्ण यहाँ रहते थे, उस समय हमारा हृदय अपने और कृष्ण के बीच वस्त्र तक का व्यवधान (अन्तर) सहन नहीं कर पाता था। अर्थात् कृष्ण का आलिंगन करते समय हमें अपने और उनके बीच हृदय पड़े वस्त्र का रहना तक सहन नहीं होता था। परन्तु अब हमारे और उनके बीच यमुना की मीलों लम्बी रेत का व्यवधान पड़ गया है। अर्थात् कृष्ण यमुना के उस पार मथुरा में रहते हैं और हम इस पार गोकुल में। यह समय का ही उलट-फेर है कि हमारा हृदय वज्र के समान कठोर अब इस विशाल अन्तर को भी सहन कर रहा है।

हे स्वामी हम तुमसे मिलने के लिए बहुत व्याकुल हो रही हैं। अब तो तुम हमें अपनी शरण में ले लो। जिन भगवान् कृष्ण के सम्बन्ध में वेद-शास्त्र तक नेति-नेति की घोषणा कर रहे हैं, हमें उन्हें देखे बिना चैन नहीं पड़ता। भाव यह है कि जो ब्रह्म वेद-शास्त्र के लिए भी सदैव अगम्य रहा, हम उन्हीं ब्रह्म रूपी कृष्ण के दर्शनों के लिए व्याकुल हो रही हैं। अर्थात् ज्ञान-मार्ग का ब्रह्म भले ही निराकार होने के कारण अगम्य हो, परन्तु हमारे लिए तो वह कृष्ण के रूप में सगुण-साकार और सुलभ ही है।

विशेष—(१) अन्तिम पंक्ति में निर्गुण का खण्डन कर सगुण की महत्ता प्रतिपादित की गई है।

(२) गोपियों की विवशता और उत्कट, विरह-वेदना करुण और हृदय-द्रावक है।

(३) भ्रमर गीत के मूल-स्वर व्यंग्य और उपालम्भ का अप्रभाव है, परन्तु मार्मिक विरह-वेदना की अभिव्यक्ति में ऐसे पद श्रेष्ठ और गहन रूप से संवेदनशील, बन गये हैं।

राग सोरठ

ऊधो ! यह हरि कहा कर्‌यौ ?
राजकाज चित दियो साँवरे, गोकुल क्यों बिसर्‌यौ ?
जौ लों घोष रहे तौ लों, हम संतत सेवा कीनी।
बारक कबहुँ उलूखल परसे, सोई मानि जिय लीनी ॥
जौ तुम कोटि करौ ब्रजनायक, बहुतै राजकुमारि।
तौ ये नंद पिता कहँ मिलिहैं, अरु जसुमति महतारि ?
कहँ गोधन, कहँ गोप-बृंद सब, कहँ गोरस को खैबो ?
सूरदास अब सोई करौ, जिहि होय कान्ह को ऐबो ? ॥१६२॥

शब्दार्थ—कर्‌यौ=किया। घोष=अहीरों का गाँव, गोकुल। संतत=निरन्तर। उलूखल=ऊखल। परसे=स्पर्श। खैबो=खाना। ऐबो=आना।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण द्वारा ब्रज को पूर्णतः भुला देने के उनके अनुचित कार्य पर खेद प्रकट करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! कृष्ण ने यह क्या कर डाला ! वे मथुरा पहुँच राज-काज में इतने गहरे रूप से व्यस्त हो गए, यह तो ठीक किया, परन्तु उन्होंने गोकुल को क्यों भुला दिया ? वे गोकुल को भूल कैसे सके ? जब तक वे यहाँ गोकुल (अहीरों की बस्ती) में रहे थे, हमने बराबर उनकी सेवा की थी। परन्तु कभी एक बार उन्हें ऊखल से स्पर्श कर दिया था; अर्थात् यशोदा माता से उनकी शिकायत कर उन्हें ऊखल से बँधवा दिया था, बस उन्होंने हमारे उसी अपराध की अपने मन में गाँठ बाँध ली है। अर्थात् वे उसी का बुरा मान गए हैं और इसी कारण उन्होंने गोकुल को इस तरह भुला दिया है। हे उद्धव ! तुम उन ब्रज नायक (ब्रज के स्वामी) कृष्ण से यह कह देना कि वहाँ जाकर अब वे राजकुमार बन गए हैं, इसलिए उन्हें राजकुमारियाँ तो बहुत-सी मिल जायेंगी, परन्तु करोड़ों प्रयत्न करने पर भी उन्हें नन्द-से पिता और यशोदा-सी माता कहाँ मिलेंगी ? अर्थात् नन्द-यशोदा जैसे निश्छल, निर्मल स्नेह करने वाले माता-पिता उन्हें कहीं भी नहीं मिल सकेंगे।

(हम मानती हैं कि वहाँ मथुरा में इनका राज-समाज है, वैभव है, सब सुख है) परन्तु वहाँ ये गाएँ, ये ग्वाल-बालों का समूह, यह दूध-दही का खाना उन्हें कहाँ नसीब हो सकेगा ? अर्थात् इनमें जो सुख है, आनन्द है, वह मथुरा में प्राप्त होना सर्वथा असम्भव है। इस सुख का आनन्द ही निराला है। इसलिए हे उद्धव ! अब तुम वही उपाय करो, जिससे कृष्ण का पुनः यहाँ आना सम्भव हो सके। अर्थात् वे यहाँ गोकुल में लौट आएँ।

विशेष—(१) इस पद में गोपियों की विनयशीलता, शालीनता और वाक्-चातुर्य दर्शनीय है। वे यह तो कहती हैं कि उन्हें मथुरा में नन्द-यशोदा जैसे वात्सल्य

के साकार रूप माता-पिता नहीं मिलेंगे, परन्तु यह कहने में संकोच कर जाती हैं कि वहाँ गोपियों जैसी अनन्य प्रेमिकाएँ नहीं मिल सकेंगी। यद्यपि राजकुमारियों का उल्लेख कर गोपियाँ अप्रत्यक्ष रूप से इसका संकेत अवश्य दे देती हैं।

(२) गोकुल में प्राप्त किये सुख और आनन्द की स्मृति दिलाकर गोपियाँ कृष्ण को गोकुल लौट आने के लिए ललचाने का कलात्मक प्रयास कर रही हैं। सूर का वाग्वैदग्ध्य ऐसे स्थलों में अत्यन्त सूक्ष्म और सांकेतिक होने के कारण, गहरे रूप से प्रभावशाली हो उठता है।

राग आसावरी

ऊधो ! ऐसो काम न कीजै।
एकरंग कारे तुम दोऊ, धोय सेत क्यों कीजै ?
फेरि फेरिकै दुख अवगाहैं, हम सब करो अचेत।
कत पटपर गोता मारत हौ, निरे भूँड़ के खेत ॥
तरपट कोट कीटकुल जनमे, कहा भलाई जाने ?
फोरत बाँस-गाँठि दाँतन सों, बार-बार ललचाने ॥
छाँड़ि कमल सों हेतु आपनो, तू कत अनतहि जाय ?
लंपट, ढीठ, बहुत अपराधी, कैसे मन पतिआय ?
यहै जुबात कहति हौं तुमसों, फिरि मन कबहूँ आवहु।
एक बार समुझावहु सूरज, अपनो ज्ञान सिखावहु ॥१६३॥

शब्दार्थ—सेत=श्वेत, सफेद। अवगाहैं=डुबाकर। पटपर=सपाट मैदान। भूँड़=ऊसर मिट्टी। तरपट=अन्तर, भीतर। कोट=बाँस का झुरमुट। कीटकुल= कीड़े-मकोड़े। पतिआय=विश्वास करे।

भावार्थ—उद्धव के बार-बार ज्ञानोपदेश देने पर गोपियाँ अपनी सम्पूर्ण कातरता और दैन्य त्याग झुँझला उठती हैं और उद्धव को फटकारती हुई कहती हैं कि—

हे उद्धव ! तुम ऐसा काम करने का प्रयत्न मत करो जो अनुचित और असम्भव हो। परन्तु इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं, क्योंकि तुम स्वभाव से ही ऐसे हो। तुम और तुम्हारे सखा—दोनों ही एक ही रंग वाले अर्थात् काले हो। रंग के ही समान तुम दोनों ही विश्वासघाती और दूसरों को दुःख पहुँचाने में आनन्द प्राप्त करने के अभ्यस्त हो। तुम्हारा यह कुटिल स्वभाव दूर होना उसी प्रकार असम्भव है, जैसे किसी काली चीज को बार-बार धो-धोकर सफेद करने का प्रयत्न करना। काला कभी सफेद नहीं हो सकता, वैसे ही तुम भी अपना कुटिल स्वभाव नहीं छोड़ सकते। तुमने बार-बार निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दे-देकर हमें बार-बार दुःख के समुद्र

मे डुबाया है, दुःखी किया है। और इतना अधिक दुःखी किया है कि हम सब बेहोश हो गई हैं। तुम हमें बार-बार यह उपदेश देकर वैसा ही निष्फल और असम्भव प्रयत्न कर रहे हो, जैसे कोई सपाट मैदान में गोता मारने का प्रयत्न करे (गोता जल में ही मारा जा सकता है, न कि मैदान में) या कोई नितान्त ऊसर जमीन में खेत बना, उसमें खेती करने की कोशिश करे। (ऊसर जमीन में घास तक नहीं उगती। भूँड़ का खेत खारी और रेतीली मिट्टी का होता है, जिसमें खेती करना असम्भव है।) अर्थात् हम तुम्हारे इस उपदेश को स्वीकार करने में सर्वथा असमर्थ हैं।

इसके उपरान्त गोपियाँ सीधे उद्धव से न कहकर भ्रमर के माध्यम द्वारा उन्हें खूब खरी-खोटी सुनाती हैं। वे कहती हैं कि रे भ्रमर ! तेरा जन्म नीरस बाँसों के झुरमुट के भीतर कीड़ों के वंश में होता है, इसलिए तू दूसरों की भलाई करना क्या जाने ? तेरी प्रकृति तो कीड़े-मकोड़ों के समान ही नीच होती है, जो हमेशा दूसरों को काट-काटकर दुःख ही दिया करते हैं। तू जहाँ जन्म लेता है, उन्हीं बाँस की गाँठों को बार-बार दाँतों से काटने और फोड़ने के लिए ललचाता रहता है। अर्थात् जन्म और शरण देने वाले का विनाश करने में ही तुझे आनन्द आता है। परन्तु तू स्वयं सच्चा प्रेम भी करना जानता है। यह बता कि तू कमल (जिससे तू प्रेम करता है) को त्याग कर अन्यत्र क्यों नहीं जाता ? जब तू कमल से इतना प्रेम करता है कि उसे छोड़, अन्यत्र कहीं नहीं जाता तो फिर हमें यह उपदेश क्यों दे रहा है कि हम अपने प्रियतम कृष्ण को त्याग निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लें ? परन्तु तू तो स्वभाव से ही लम्पट, ढीठ और भयंकर अपराधी है, तुझे दूसरों (अन्य फूलों) को कष्ट देने में ही आनन्द आता है। फिर बता कि हम मन में तुझ पर कैसे विश्वास कर लें। अर्थात् तू हमें कष्ट देने के लिए ही यह उपदेश दे रहा है, हमें इसी बात का सन्देह है। इसलिए हम तुझसे एक बात कहे देती हैं कि तू यहाँ फिर कभी मत आना। तुझे जो कुछ भी ज्ञान सिखाना हो, उसे एक बार ही हमें समझा दे। बार-बार हमारी जान मत खा, हमें परेशान मत कर।

विशेष—(१) इस पद में गोपियाँ झुँझलाकर पुनः उद्धत हो उठी हैं और भ्रमर के बहाने उद्धव को खूब खरी-खोटी सुना, उन्हें वहाँ से भगा देना चाहती हैं। गोपियों की यह झुँझलाहट और खीझ बहुत मनोरम है।

(२) इस पद में अन्योक्ति अलंकार माना गया है।

राग सारंग

ऊधो ! औरै कथा कहौ।
तजि जस, ज्ञान सुने तावत तनु, बरु गहि मौन रहौ ॥
जाके बिच राजत मन-परबत, स्यामसूल-अनुरागी।
तापै रतिद्रुम रीति नयनजल, सींचत निसदिन जागी ॥

ग्रीषम अलि आए प्रगस्यो ब्रज, कठिन जोग-रवि हेरे।
सो मुरझात सूर को राखै, मेह-नेह बिन तेरे ? ॥१९४॥

शब्दार्थ—औरै=अन्य। तावत=जलता है, दग्ध होने लगता है। मन-परवत=मन रूपी पर्वत। तापै=उस पर। रतिद्रुम=प्रेम का वृक्ष। रीती=खाली करके। जोग-रवि=योग रूपी सूर्य। हेरे=देखने से। मेह-नेह=प्रेम रूपी वर्षा।

भावार्थ—गोपियों को उद्धव की ज्ञान-कथा अच्छी नहीं लगती। वे इसलिए अपने एकनिष्ठ कृष्ण-प्रेम की घोषणा करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! (तुम अपनी इस ज्ञान-कथा को सुनाना बन्द कर) कोई अन्य दूसरी तरह की कथा सुनाओ। कृष्ण के यश की कथाओं के स्थान पर जब हम तुम्हारी ये ज्ञान की बातें सुनती हैं तो उन्हें सुनकर हमारा शरीर जलने लगता है। अर्थात् तुम्हारी कृष्ण को भूल, निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लेने की बातें सुनकर हमारा शरीर क्रोध और विरह-दाह के कारण दग्ध होने लगता है। इसलिए या तो तुम कृष्ण की यश-सम्बन्धी कथा सुनाओ या चुप होकर बैठ जाओ। हम तुमसे योग-ज्ञान की ऐसी दग्ध करने वाली बातें हमसे न कहने के लिए इसलिए आग्रह कर रही हैं कि हमारे इस शरीर में मन-रूपी एक पर्वत विराजमान है। जिस प्रकार पर्वत अपने ऊपर उगे कँटीले वृक्षों का प्रेम-पूर्वक पालन-पोषण करता है और उनके काँटों की चुभन को प्रेम के साथ सहता है, उसी प्रकार हमारा यह मन-रूपी पर्वत कृष्ण के प्रेम का अनुरागी है और उनके प्रेम के कारण उत्पन्न कष्टों (विरह-व्यथा) को स्नेह के साथ सहन करता रहता है। अर्थात् हमारे मन को इस विरह-व्यथा को सहन करने में इसलिए आनन्द मिलता है क्योंकि यह प्रेम के कारण उत्पन्न हुई है। हमारे इस मन-रूपी पर्वत पर प्रेम का एक वृक्ष खड़ा हुआ है, जिसे हम रात-दिन जागकर अपने नेत्रों रूपी घड़ों में भरे जल (आँसुओं) को खाली कर-कर (आँसू बहाकर) सदैव सींचती रहती हैं। अर्थात् विरह के कारण उत्पन्न हमारे आँसू कृष्ण के प्रति हमारे प्रेम को कभी मुरझाने नहीं देते, उसे सदैव हरा-भरा बनाए रखते हैं।

परन्तु हे उद्धव ! तुम हमारे उस प्रेम रूपी वृक्ष को झुलसाकर नष्ट कर देने के लिए ग्रीष्म ऋतु के समान भयंकर रूप धारण कर यहाँ ब्रज में पधारे हो। ग्रीष्म-कालीन सूर्य के समान दाहक तुम्हारे इस योग रूपी सूर्य की ओर देखना तक हमारे लिए कठिन हो रहा है। इस योग-रूपी सूर्य के कठोर दाह के कारण हमारा यह प्रेम-रूपी वृक्ष मुरझाया जा रहा है। उसे प्रेम की वर्षा बिना और कौन बचा सकता है ? अर्थात् कृष्ण का प्रेम ही हमारे इस प्रेम की रक्षा कर सकता है। अतः तुम अपने योग के उपदेश द्वारा हमारे इस प्रेम को नष्ट करने का प्रयत्न मत करो। कृष्ण के यहाँ आने पर ही अब हमारा प्रेम पुनः नव-जीवन प्राप्त कर हरा-भरा बन जायगा, अन्यथा नष्ट हो जायगा।

विशेष—(१) विरह में व्यक्ति बहुत दीन बन जाता है। उस समय वह केवल

अपने प्रिय से सम्बन्धित बातें ही सुनना पसन्द करता है। इन बातों से उद्दीपन होता है। इसलिए विरहिणी गोपियाँ यहाँ उद्धव से कृष्ण-सम्बन्धी चर्चा करने की प्रार्थना कर रही हैं। योग-उपदेश उन्हें भयंकर रूप के दग्ध कर रहा है, इसीलिए वे उसे सुनना नहीं चाहतीं।

(२) सम्पूर्ण पद में सांगरूपक अलङ्कार का सुन्दर निर्वाह हुआ है।

ऊधो ! साँच कहौ हम आगे।
घर तें कहा बचै कहु ताके, प्रकट आगि के लागे।।
जा दिन तें गोपाल सिधारे, स्वास-अनल तन जार्यो।
ऋषि-हिरदय मुखचंद मुग्ध भयो, काढ़ि वाहि दै डार्यो।।
एते पै तोहिं सूझत नाहिंन, जोग सिखावन आयो।
फिरि लै जाहु सूर के प्रभु पै, जिहि है यहाँ पठायो।।१६५।।

शब्दार्थ—हम आगे=हमारे सामने। स्वास-अनल=साँस रूपी अग्नि। ऋषि-हिरदय=ऋषियों के समान निर्मल हृदय। वाहि=उसे। एते पै=इतने पर भी। सूझत=दिखाई देता। जिहि=जिन्होंने।

भावार्थ—उद्धव गोपियों की विरहाकुल दशा की ओर ध्यान दे, बार-बार उसके सामने योग और निर्गुण ब्रह्म की ही बातें कहे चले जाते हैं। अतः गोपियाँ उन्हें समझाती हुई कहती हैं कि—

हे उद्धव ! हम तुमसे एक बात पूछती हैं, उसका हमारे सामने सच-सच उत्तर देना। यह बताओ कि जिस घर में स्पष्ट रूप से—अर्थात् सम्पूर्ण रूप से आग लग जाय, उस घर में क्या बच सकता है ? अर्थात् सब कुछ भस्म हो जायगा। इस समय यही स्थिति हमारे शरीर रूपी घर की हो रही है। जिस दिन से कृष्ण यहाँ से मथुरा चले गये, उसी दिन से उनके विरह के कारण उत्तप्त बनी हमारी साँसें रूपी अग्नि हमारे इस शरीर रूपी घर को जलाती रहती है। अर्थात् हम उनके विरह में निरन्तर गहरी साँसें भरा करती हैं। हमने जिस दिन कृष्ण के चन्द्रमुख को देखा था, उसी दिन हमारा ऋषियों के समान सरल, निर्मल, निष्पाप हृदय उन पर मुग्ध हो गया था और हमने अपने उस हृदय को निकाल कर उन्हीं कृष्ण को दे डाला। अर्थात् अब हमारा हृदय हमारे पास नहीं है।

(परन्तु हे उद्धव ! तुम्हारी बुद्धि को क्या कहा जाय कि) इतने पर भी अर्थात् यह सब जानते हुए भी तुम्हें कुछ भी नहीं सूझता; अर्थात् तुम हमारी विषम दशा को नहीं समझ पा रहे और यहाँ योग सिखाने के लिए आये हो। जब हमारे पास हमारा हृदय (मन) ही नहीं है तो हम तुम्हारे इस योग को कैसे समझ और धारण कर सकेंगी। इसलिए तुम ऐसा करो कि अपने इस योग को सूरदास के स्वामी उन्हीं कृष्ण के पास वापस ले जाओ, जिन्होंने इसे तुम्हारे हाथों यहाँ भेजा था।

विशेष—(१) 'ऋषि हृदय'—ऋषिगण सरल, निश्छल, निष्पाप और निर्मल हृदय वाले होते हैं। वे सांसारिक छल-छद्मों से सर्वथा दूर और अनभिज्ञ रहते हैं। गोपियाँ भी निर्मल, निष्पाप हृदय से कृष्ण से प्रेम करती हैं और ऋषियों के समान ही अपनी प्रेम-तपस्या में अडिग स्थिर बनी रहती हैं। इसी कारण गोपियाँ अपने हृदय को ऋषि-हृदय कह रही हैं।

(२) इस पद में रूपक अलंकार है।

ऊधो ! सब स्वारथ के लोग।
आपुन केलि करत कुब्जा-सँग, हमहिं सिखावत जोग।।
भ्रमि बन जात साँवरी सूरति, नित देखहिं वह रूप।
अब रस-रास पुलिन जमुना के, करत लाज, भए भूप।।
अनुदिन नयन निमेष न लागत, भयो बिरह अति रोग।
मिलवहु कान्ह कुमार अस्विनी, मिटै सूर सब रोग।।१६६।।

शब्दार्थ—केलि करत=क्रीड़ा करते हैं। भ्रमि=विभ्रमित होकर। पुलिन =तट, किनारा। अनुदिन=रोज, प्रतिदिन। निमेष=पल, क्षण। कुमार अस्विनी =अश्विनी कुमार, देवताओं के वैद्य।

भावार्थ—कृष्ण की स्वार्थपरता पर क्षोभ प्रकट करती हुई गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! सभी मनुष्य स्वार्थी होते हैं, सदैव अपनी स्वार्थ-सिद्धि में ही लगे रहते हैं (सर्वः स्वार्थ समीहते)। कृष्ण की स्वार्थपरता तो देखो कि स्वयं तो कुब्जा के साथ रति-क्रीड़ा करते रहते है और हमें योग-साधना करना सिखा रहे हैं। जब कभी हम कृष्ण की याद कर विभ्रमित हो, वन की ओर जाती हैं तो हमें वहाँ उनकी साँवली मूर्त्ति ही सदैव दिखाई देती है। अर्थात् वन में उसके साथ रास-क्रीड़ा करने की स्मृति हमें व्याकुल बना, उनकी साँवली मूर्त्ति को हमारे सामने प्रत्यक्ष-सी कर देती है। परन्तु अब तो कृष्ण राजा बन गए हैं, इसलिए अब उन्हें यमुना के तट पर हमारे साथ रास-क्रीड़ा करने में लज्जा अनुभव होती होगी। इसीलिए वे यहाँ लौट कर नहीं आते।

हम रात-दिन उनकी प्रतीक्षा में आँखें बिछाए बैठी रहती हैं। क्षण भर के लिए भी हमारी आँखें बन्द नहीं होतीं। अर्थात् हमें क्षण भर के लिए भी नींद नहीं आती। हमें विरह का ऐसा भयानक रोग लग गया है। (यहाँ अनिद्रा-रोग की ओर संकेत माना जा सकता है।) हमारा यह विरह का रोग तभी मिट सकता है, जब अश्विनीकुमार के समान योग्य वैद्य को यहाँ लाकर तुम उनको हमें दिखाओ, अर्थात् मिलाओ। भाव यह है कि केवल कृष्ण ही हमारे इस विरह-रोग को दूर करने में समर्थ हो सकते हैं, अन्य कोई भी नहीं।

विशेष—(१) अश्विनीकुमार—देवताओं के वैद्य माने गए हैं। यहाँ गोपियाँ

अपने विरह-रोग को दूर करने के लिए कृष्ण को अश्विनीकुमार के समान एकमात्र कुशल वैद्य घोषित कर रही हैं।

(२) द्वितीय पंक्ति में 'असूया' संचारी भाव है। कुब्जा के प्रति गोपियों का असूया भाव (सौतिया-डाह) दृष्टव्य है।

(३) 'अनुदिन·······सब रोग' में रूपक अलङ्कार है।

(४) इस पद के अन्तिम भाव से यथावत् मिलती हुई मीरा की एक पंक्ति दृष्टव्य है—

"मीरा के प्रभु पीर मिटै जब वैद सँवरिया हो।"

ऊधो ! दीनी प्रीति-दिनाई।
बातनि सुहृद, करम कपटी के, चले चोर की हाई॥
विरह-बीज बघवार सलिल, मानो अधर-माधुरी प्याई।
सो है जाय खगी अंतरगत, औषधि बल न बसाई॥
गरल-दान दीनो नीको याको नहिं उपाय।
कै मारै, कै काज सरै, यह दुख देख्यो नहिं जाय॥
कहि मारै सो सू कहावै, मित्रद्रोह न भलाई।
सूरदास ऐसे अलि जग में, तिनकी गति नहिं काई॥१६७॥

शब्दार्थ—दिनाई=विष प्रयोग की वस्तु, जहरीली वस्तु। सुहृद=शुभ-चिन्तक। हाई=घात लगाता हुआ। बघवार=बाघ की मूँछ के बाल, जो जहरीले समझे जाते हैं। अधर-माधुरी=होठों का मीठा रस। खगी=चुभ गई। अन्तर्गत=हृदय में। काज सरै=काम पूरा हो। सूर=वीर, बहादुर। काई=कभी।

भावार्थ—प्रेम-व्यापार में कृष्ण द्वारा अपने साथ किए गए विश्वासघात की भर्त्सना करती हुई गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! कृष्ण ने हमें अपना प्रेम रूपी विष दे दिया है। अर्थात् हमारे हृदय में अपने प्रति प्रेम उत्पन्न कर, हमें उसी प्रकार व्यथित किया है जैसे कोई किसी को धोखे से जहरीली चीज खिला दे। कृष्ण ऊपर से तो बड़े सज्जन, शुभचिन्तक और मीठा बोलने वाले (मिठबोले) हैं, परन्तु उनके सारे कर्म कपट (विश्वासघात) से भरे होते हैं और वह सदैव चोर की तरह घात लगाए रहते हैं। अर्थात् सदैव दूसरों की वस्तु (यहाँ हृदय से अभिप्राय है) चुराने की घात में लगे रहते हैं। जिस प्रकार कोई ठग किसी को लूटने के लिए धोखे से उसे बाघ की मूँछ के बाल पीस और उन्हें पानी में घोल पिला देता है और जब वह उस विष के प्रभाव से बेहोश हो जाता है तो उसे लूट लेता है, उसी प्रकार कृष्ण ने अपने प्रेम रूपी विष को अपने अधरों के मधुर रस में घोल हमें पिलाकर हमारा सर्वस्व लूट लिया है। अर्थात् वह हमें अपना अधरामृत पिला, हमारे हृदय में अपने प्रति प्रेम उत्पन्न कर, हमें उस प्रेम के नशे में

वेहोश बना, हमारा हृदय लूटकर चले गए हैं। उनका वह अधरामृत हमारे भीतर जाकर समा गया है, चुभ गया है। अब उस विष पर किसी भी औषधि का असर काम नहीं करता। अर्थात् हम किसी भी प्रकार कृष्ण के प्रति अपने प्रेम को त्याग नहीं पातीं।

उन्होंने हमें यह अच्छा विष का दान दिया है; अर्थात् अच्छा हमारे मन में अपने प्रति प्रेम उत्पन्न किया है कि अब इसको दूर करने का कोई भी उपाय नहीं रहा है। हम उनके प्रेम से किसी भी प्रकार मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकतीं। उनके इस विरह रूपी रोग से छुटकारा पाने के दो ही उपाय हैं—या तो यह विष अर्थात् उनका विष के समान घातक यह विरह हमारा प्राण ले ले, या हमारा काम पूरा हो जाय अर्थात् कृष्ण आकर हमारे इस विरह-दुःख को दूर कर दें। अब हमसे यह दुःख देखा अर्थात् सहा नहीं जाता। कृष्ण ने हमारे साथ मित्र बनकर विश्वासघात किया है। अर्थात् पहले हमसे प्रेम कर हमारे विश्वासपात्र बन गए और फिर हमें धोखा दे छोड़कर चले गये। उनका यह कार्य कायरतापूर्ण है। वीर तो वही कहलाता है जो शत्रु पर कहकर, उसे ललकार कर चोट करता है। मित्र के साथ विश्वासघात करने से कभी किसी का भला नहीं होता। जो मित्र के साथ विश्वासघात करता है, उसकी इस संसार में कभी सद्गति नहीं हो सकती। अर्थात् उसका कभी कल्याण नहीं हो सकता। क्योंकि मित्र के साथ विश्वासघात करना संसार में सबसे भयंकर पाप माना जाता है।

विशेष—(१) बघवार—कहा जाता है कि बाघ की मूँछ जहरीली होती है। ठग उसे पीस, पानी में मिला और लोगों को पिला उन्हें वेहोश कर देते हैं और फिर लूट लेते हैं।

(२) इस पद में मित्र-द्रोह को संसार का सबसे भयंकर पाप घोषित किया गया है और गोपियों के साथ विश्वासघात करने के कारण कृष्ण इस पाप के भागी बन गए हैं। अन्तिम पंक्ति का भाव संस्कृत नीतिशास्त्र की इस पंक्ति में भी मिलता है—"मित्रद्रोही न मुच्यते यावच्चन्द्र दिवाकरो।" अर्थात् जब तक सूर्य-चन्द्र की स्थिति संसार में रहेगी, तब तक मित्रद्रोही अपने पाप से छुटकार नहीं पा सकेगा। संस्कृत नीतिशास्त्र का इसी प्रकार का एक और उद्धरण द्रष्टव्य है—

"मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यश्च विश्वासघातकः।
ते नरा बरकं यान्ति यावच्चन्द्रदिवाकरो॥"

अर्थात् मित्रद्रोही, कृतघ्न और विश्वासघाती तब तक नरक में पड़े रहते हैं, जब तक सूर्य और चन्द्र की स्थिति रहती है।

(३) इस पद में रूपक अलंकार है।

ऊधो ! जो हरि आवै तो प्रान रहै।
आवत जात, उलटि फिरि बैठत जीवन-अवधि गहे॥

जब हे दाम उखल सों बाधे बदन नवाय रहे।
चुभि जु रही नवनीत-चोर-छबि, क्यों भूलति सो ज्ञान गहे ?
तिनसों ऐसी क्यों कहि आवै, जे कुल-पति की त्रास महे ?
सूर स्याम गुन-रसनिधि तजिकै, को घटनीर वहे ? ।।१९८।।

भावार्थ—गहे=पकड़े हुए। हे=थे। दाम=रस्सी। बदन=रूख। कुल-पति=अपने कुल और पति की। महे=नष्ट कर डाला, मथ डाला। वहे=स्वीकार करे, ग्रहण करे। घटनीर=घड़े का जल।

भावार्थ—कृष्ण-विरह की प्राणान्तक व्यथा से अत्यधिक व्याकुल गोपियाँ अपनी असीम-असह्य विरह-व्यथा का वर्णन करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! यदि कृष्ण यहाँ आ जाते हैं तब तो हमारे प्राण सुरक्षित रह सकते हैं। अर्थात् हम उनके वियोग में मरणासन्न हो रही हैं; यदि वे शीघ्र न आए तो हमारी मृत्यु हो जायगी। हमारे प्राणों की दशा ऐसी विषम हो रही है कि कभी तो कृष्ण के आने की आशा में शरीर में आ जाते हैं, हम चैतन्य हो उठती हैं; कभी असह्य विरह-व्यथा को न सह, शरीर में से निकल जाते हैं और कभी फिर लौटकर आ जाते हैं, क्योंकि हमारे भाग्य में अभी मरना नहीं बदा है। ये प्राण इसी प्रकार जीवन की इस अवधि को व्यतीत कर रहे हैं। इसके उपरान्त गोपियाँ कृष्ण की बाल-लीलाओं का स्मरण कर कहती हैं कि जब माता यशोदा ने कृष्ण को रस्सी द्वारा ऊखल से बाँध दिया था, उस समय कृष्ण अपना मुख नीचे किए चुपचाप बँधे पड़े रहे थे। उनकी वह छवि हमें कभी नहीं भूलती। इसी प्रकार जब वे माखन चुराते समय रंगे हाथों पकड़े जाते थे तो उनकी वह छवि अद्भुत और सुन्दर हो उठती थी। उनकी वही छवि हमारे हृदय में गढ़ी हुई है। उसे भुलाकर हमारा हृदय तुम्हारे इस ज्ञान को कैसे आत्मसात्—स्वीकार—कर सकता है ?

हमें आश्चर्य और दुःख तो इस बात का है कि जिन कृष्ण के पीछे हमने अपने कुल और पति की मर्यादाओं को पूरी तरह से नष्ट कर डाला था; अर्थात् अपने कुल और पति की तनिक भी चिन्ता न कर कृष्ण के पीछे हरदम दीवानी बनी रहती थीं, उन्हीं कृष्ण से हमारे लिए ऐसा कठोर ज्ञान का सन्देश कैसे भिजवाया जा सका ? अर्थात् वे हमारे प्रति ऐसे निष्ठुर और उदासीन कैसे बन सके ? हे उद्धव ! हमारे कृष्ण विभिन्न प्रकार के गुणों के विशाल, अथाह सागर के समान हैं। हम उन्हें त्याग कर घड़े के जल के समान तुच्छ तुम्हारे इस गुणहीन (निर्गुण) ब्रह्म को कैसे स्वीकार कर लें ? भाव यह है कि कृष्ण समुद्र के समान विशाल, व्यापक और अथाह हैं। निर्गुण ब्रह्म उनकी तुलना में उसी प्रकार तुच्छ और नगण्य है, जैसे समुद्र की तुलना में जल भरा हुआ घड़ा। कृष्ण की भक्ति अपार आनन्द प्रदान करने वाली है और निर्गुण की उपासना कठोर साधनाओं द्वारा दुःख देने वाली है। फिर ऐसे ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए साधना करना कौन पसन्द करेगा ?

विशेष—(१) पुष्टिमार्ग में कृष्ण-भक्ति को भूमा के समान माना गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में कृष्ण-भक्ति को भूमा कहा गया है—"यो वै तत्सुखं नाल्ये सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति।" उपर्युक्त पद की अन्तिम पंक्ति से यही भाव प्रकट हो रहा है।

(२) कृष्ण के बाल-रूप का ध्यान होने से स्मृति संचारी है।

(३) रूपक अलंकार माना जा सकता है।

ऊधो ! यह निस्चय हम जानीं।
खोयो गयो नेहनग उनपै, प्रीति-कोटरी भई पुरानी॥
पहिले अधरसुधा करि सींची, दियो पोष बहु लाड़ लड़ानी।
बहुरै खेल कियो केसव सिसु-गृहरचना ज्यों चलत बुझानी॥
ऐसे ही परतीति दिखाई पन्नग केंचुरि ज्यों लपटानी।
बहुरौ सुरति लई नहिं जैसे भँवर लता त्यागत कुम्हलानी॥
बहुरंगी जहँ जाय तहाँ सुख, एकरंग दुख देह दहानी।
सूरदास पसु धनी चोर के खायो चाहत दाना पानी॥१६६॥

शब्दार्थ—नेहनग=प्रेमरूपी रत्न। प्रीति-कोटरी=प्रेम का कोटर, निवास-स्थान। लाड़ लड़ानी=लाड़-प्यार किया। बहुरै=फिर। बुझानी=नष्ट कर दी। पन्नग=सर्प। बहुरौ=लौटकर। दहानी=जली, दग्ध हुई। धनी=मालिक।

भावार्थ—अपने एकनिष्ठ, अनन्य प्रेम और कृष्ण की अस्थिरता का वर्णन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं—

हे उद्धव ! अब हम इस बात को निश्चित रूप से समझ गई हैं कि कृष्ण से हमारा प्रेम-रूपी रत्न खो गया है और प्रेम का कोटर (घोंसला) पुराना पड़ गया है। अर्थात् कृष्ण हम से प्रेम करना भूल गए हैं और अब उन्हें हमारे उस पुराने प्रेम में उसी प्रकार आनन्द नहीं आता, जिस प्रकार कोई चीज पुरानी हो जाने से आकर्षण-हीन लगने लगती है। अब वे नये स्थान की तलाश में यहाँ से दूर चले गए हैं। पहले उन्होंने हमारी प्रेम रूपी लता को अपने अधरामृत से सींच-सींचकर पाला-पोसा था और तरह-तरह से उससे लाड़-प्यार किया था। अर्थात् पहले वह हमें अपना अधर-रस पिलाया करते थे और लाड़-प्यार करते थे। परन्तु बाद में उन्होंने हमारे प्रति अपने इस प्रेम को बच्चों का-सा खेल समझा और यहाँ से मथुरा जाते समय हमारे उस प्रेम के घरोंदे को उसी प्रकार नष्ट कर चले गए; जैसे बच्चे खेल-खेल में मिट्टी का घरोंदा बनाते हैं और खेल समाप्त होने पर घर जाते समय उसे लात मार कर नष्ट कर जाते हैं।

कृष्ण ने हमें प्रेम का वही खेल दिखाया था, जो सर्प केंचुली के साथ खेलता है। सर्प पहले केंचुली को अपने सम्पूर्ण शरीर पर लिपटाए फिरता रहता है, परन्तु बाद में उसे त्याग आगे बढ़ जाता है और फिर लौटकर उसके पास तक नहीं

फैंकता। कृष्ण भी पहले हमें अपने प्रेम में विमुग्ध बनाए क्षण भर के लिए भी अपने से दूर नहीं होने देते थे और अब उस सारे स्नेह को भूल, हमें त्याग यहाँ से चले गए हैं और अब लौटकर हमारी खबर तक नहीं लेते। अथवा जैसे भ्रमर लता के मुरझा जाने पर उसे त्यागकर चला जाता है और फिर लौटकर कभी उसकी खबर नहीं लेता, कृष्ण ने भी हमारे प्रेम और यौवन का जी-भर रस-भोग करने के उपरान्त हमें नीरस हुआ जान उसी प्रकार त्याग दिया है। इसका कारण यह है कि बहुरंगी अर्थात् अनेक से प्रेम करने वाले लोग जहाँ भी जाते हैं, वहीं उन्हें सुख प्राप्त हो जाता है। परन्तु केवल एक से ही प्रेम करने वाले लोग सदैव अपने प्रियतम के विरह में अपने शरीर को जलाते रहते हैं। अर्थात् कृष्ण तो रसिक हैं, इसलिए मथुरा जाकर कुब्जा से प्रेम कर सुख-भोग रहे हैं। परन्तु हम तो एकमात्र कृष्ण से ही प्रेम करती हैं, इसलिए उनके विरह में दग्ध हो रही हैं। पशु का यह स्वभाव होता है कि यदि कोई धनवान चोर उसे चुराकर अपने घर ले जाता है तो वह पशु अपने पुराने मालिक को भूल, नये मालिक—उस चोर के यहाँ दाना-पानी खाने की इच्छा करने लगता है। भाव यह है कि कृष्ण को अक्रूर यहाँ से चुराकर ले गए थे और कृष्ण मथुरा पहुँच कुब्जा को प्राप्त कर उसी के साथ अपनी वासना को तृप्त करने लगे और हमें बिल्कुल भूल गए। अर्थात् कृष्ण मानव न होकर पशु हैं। इसीलिए वह पशु-प्रवृत्ति के अनुसार स्नेह की गम्भीरता और अनन्यता को कोई महत्त्व न दे, अपनी काम-तृप्ति करने में ही सुख का अनुभव करते हैं।

विशेष—(१) इस पद में गोपियाँ कृष्ण को लम्पट, विलासी और पशु के समान स्थूल भूख-प्यास तथा कामेच्छा की पूर्ति करने वाला घोषित कर अपने एक-निष्ठ प्रेम की उद्घोषणा कर रही हैं। स्नेह—मानवीय प्रवृत्ति होती है और केवल कामेच्छा की पूर्ति—पशु-प्रवृत्ति।

(२) कृष्ण के अस्थिर प्रेम पर गहरा व्यंग्य किया गया है।

(३) 'नेह-नग', 'प्रीति-कोटरी' तथा 'अधर-सुधा' में रूपक; 'बहुरै.........लपटानी' तथा अन्तिम पंक्ति में उपमा; और 'बहुरंगी.........दहानी'—में अर्थान्तरन्यास अलंकार हैं।

(४) अन्तिम पंक्ति में असूया संचारी है।

ऊधो ! हम हैं तुम्हारी दासी।
काहे को कटु बचन कहत हौ, करत आपनी हाँसी॥
हमरे गुनहि गाँठि' किन बाँध्यो, हमपै कहा बिचार ?
जैसी तुम कीनी सो सब ही जानतु है संसार॥
जो कछु भली-बुरी तुम कहिहौ, सो सब हम सहि लैहैं।
अपनो कियो आप भुगतैंगी, दोष न काहू दैहैं॥

तुम तौ बड़े, बड़े के पठए, अरु सबके सरदार।
यह दुख भयो सूर के प्रभु सुनि, कहत लगावन छार ॥२००॥

शब्दार्थ—हाँसी=हँसी। बड़े के पठए=बड़े आदमी (कृष्ण) के भेजे हुए। छार=भस्म।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव के ज्ञानोपदेश को सुन, अत्यन्त दुःखी हो उद्धव से विनय के साथ कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! हम तो तुम्हारी दासी हैं। (कृष्ण हमारे स्वामी हैं और तुम उनके सखा हो, इसलिए हम तुम्हारी भी दासी हैं)। तुम हमसे ज्ञान-योग के ऐसे कड़वे वचन क्यों कह रहे हो ? ऐसा करके तो तुम स्वयं अपने-आप ही अपनी हँसी उड़वा रहे हो, क्योंकि दासियों से कड़वे वचन कहना शोभा नहीं देता। तुम हमारे गुणों को अपनी गाँठ में क्यों नहीं बाँध लेते, क्यों नहीं स्वीकार कर लेते ? हमें देखकर अपनी धारणा क्यों नहीं बनाते हो ? अर्थात् तुम हमारे एकनिष्ठ प्रेम को देख स्वयं भी कृष्ण से वैसा ही प्रेम क्यों नहीं करते ? क्यों कृष्ण को त्याग, निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते फिरते हो ? तुमने हम युवतियों को योग का उपदेश देकर जैसा अनुचित काम किया है उसे सारा संसार जानता है। तुम कृष्ण के सखा हो, इसलिए हमसे जो कुछ भी भली-बुरी बातें कहोगे, हम सब सह लेंगी। हम जैसा कर चुकी हैं, उसका परिणाम खुद ही भुगतेंगी। उसके लिए किसी दूसरे को दोष नहीं देंगी। अर्थात् हमने कृष्ण से प्रेम किया है तो उसका परिणाम (इस असह्य विरह-व्यथा के रूप में) स्वयं ही भुगत लेंगी, किसी से शिकायत करने नहीं जायेंगी।

हे उद्धव ! (हम तो साधारण अज्ञानी नारियाँ हैं परन्तु) तुम तो स्वयं बड़े आदमी अर्थात् कृष्ण के सखा और महान् ज्ञानी हो, तुम्हें बड़े आदमी (राजा कृष्ण) ने यहाँ भेजा है और तुम सबके अर्थात् ज्ञानमार्गियों के सरदार हो; इसलिए हम तुमसे कुछ कह भी नहीं सकतीं। परन्तु एक बात तो फिर भी कहनी ही पड़ती है कि तुमने हमसे जो भस्म लगाने (संन्यासिनी बन योग-साधना करने) की बात कही है, उसे सुनकर हमें बहुत दुःख हुआ है। अर्थात् अपने पति (कृष्ण) के रहते हुए हम विधवाओं के समान संन्यास धारण कर योग-साधना करना कैसे स्वीकार कर लें ? यह तो भयंकर पाप है।

विशेष—(१) इस पद में गोपियाँ विनय का बाह्य आवरण धारण कर उद्धव पर गहरा और मार्मिक व्यंग्य कस रही हैं। उनका यह कौशल उनके अद्भुत, सूक्ष्म वाग्वैदग्ध्य का सुन्दर प्रमाण है।

(२) 'हमरे गुनहि······विचार' में ज्ञानमार्गियों के ज्ञान (विचार) पर आधारित योग-साधना पर तथा उद्धव के अस्थिर प्रेम पर व्यंग्य है तथा सगुण-भक्ति का प्रतिपादन है।

(३) 'तुम तौ·······सरदार' में विपरीत लक्षणा (वक्रोक्ति) है। काकु वक्रोक्ति का चमत्कार दृष्टव्य है।

ऊधो ! तुम जो कहत हरि हृदय रहत हैं।
कैसे होय प्रतीति क्रूर सुनि, ये बातें जु सहत है ।।
बासर-रैन कठिन बिरहानल, अंतर प्राण दहत है।
प्रजरि प्रजरि पचि निकसि धूम अब, नयनन नीर बहत है।
कहि ! क्यों मन मानै सूरज प्रभु, इन बातनि जु कहत हैं ।।२०१।।

शब्दार्थ—प्रतीति=विश्वास। बासर-रैनि=दिनरात। प्रजरि प्रजरि—सुलग-सुलगकर। पचि=घुटकर। धूम=धुआँ। अवज्ञा=अनादर।

भावार्थ—कृष्ण को ब्रह्म रूप और घट-घटवासी सिद्ध करने वाले उद्धव के सिद्धान्त का विरोध करती हुईं गोपियाँ उनसे कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम जो यह कहते हो कि कृष्ण साक्षात् ब्रह्म हैं और प्रत्येक के हृदय में निवास करते हैं अर्थात् घट-घटवासी है, इसका हमें कैसे विश्वास हो ? क्या वे इतने क्रूर हैं कि हमारे हृदय में बैठे हुए तुम्हारी इन बातों (कृष्ण को त्याग निर्गुण ब्रह्म की साधना करना) को सुनते हुए भी सहन कर रहे हैं। अर्थात् उन्हें हमारी इस विषम दशा को देखकर भी हम पर तरस नहीं आता। हमारे प्राण हृदय के भीतर रात-दिन कठिन विरह की अग्नि में जलते रहते हैं। हृदय धीरे-धीरे (कृष्ण की याद कर-कर) सुलगता रहता है और उसका धुआँ भीतर घुट-घुट कर धीरे-धीरे हमारे आँसुओं के रूप में बाहर निकलता रहता है, अर्थात् जिस प्रकार धीरे-धीरे सुलगती अग्नि में से निकलता हुआ गहरा धुआँ, आँखों में पानी भर देता है, उसी प्रकार हम कृष्ण की याद में घुटती हुईं रोती रहती हैं।

हमारा यह शरीर दुःख के मारे नष्ट हुआ जा रहा है, हमारे दुःखों की कोई सीमा नहीं रही है, फिर भी कृष्ण हमारे हृदय में चुपचाप बैठे हुए हमारा इतना अधिक अनादर कैसे कर पा रहे हैं ? इसलिए हे उद्धव ! तुम्हीं बताओ कि तुम्हारी इन बातों को कि कृष्ण हमारे हृदय में निवास करते हैं, हमारा मन कैसे स्वीकार कर ले ? यदि वे हमारे हृदय में निवास करते होते तो हमारा यह दुःख देख और तुम्हारी विश्वासघात से भरी बातें (कृष्ण को त्याग निर्गुण की उपासना करना) सुन, तुरन्त बाहर निकल हमें सान्त्वना प्रदान करते और तुम्हें डाँटते। इसलिए तुम्हारी यह बात गलत है कि वह घट-घटवासी हैं।

विशेष—(१) सूर ने इसी भाव को एक अन्य पद में भी व्यक्त किया है, जिसकी प्रथम पंक्ति इस प्रकार है—

"जो पै हिरदय माँझ हरी।"

(२) 'विरहानल' के वर्णन द्वारा इस पद में रूपक अलंकार का बन्धन बाँधा गया है। 'प्रजरि-प्रजरि' में पुनरुक्ति प्रकाश तथा अनुप्रास अलंकार हैं।

ऊधो ! तुमहीं हौ सब जान।
हमको सोई सिखावन दीजै, नंदसुवन की आन॥
आमिष भोजन हित है जाके, सो क्यों साग प्रमान।
ता मुख सेमि-पात क्यों भावत, जा मुख खाए पान ?
किंगिरी-सुर कैसे सचु मानत, सुनि मुरली को गान ?
ता भीतर क्यों निर्गुन आवत, जा उर स्याम सुजान ?
हम बिन स्याम बियोगिन रहि हैं, जब लग यह घट प्रान।
सुख ता दिन तें होय सूर प्रभु, ब्रज आवैं ब्रजभान॥२०२॥

शब्दार्थ—जान=ज्ञानी, सुजान, चतुर। सिखावन=शिक्षा। आन=शपथ। आमिष=माँसाहारी। हित=लाभकारी। प्रमान=उपयुक्त। सेमि-पात=सेम के पत्ते। किंगिरी-सुर=सारंगी का स्वर। सचु=सुख। जब लग=जब तक। घट=शरीर।

भावार्थ—उद्धव को खूब खरी-खोटी सुनाने से अपना काम बनता न देख, गोपियाँ अपनी विवशता का चित्रण और उद्धव की खुशामद करती हुईं उनसे कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम सब तरह से एकमात्र सज्जन और चतुर पुरुष हो। तुम्हें नन्दनन्दन कृष्ण की शपथ है, तुम हमें वही उपदेश दो जो हमारे लिए हितकारी और उचित हो। अर्थात् तुम स्वयं ज्ञानी, सज्जन और चतुर हो, इसलिए हमें अपने इन गुणों के अनुसार ही उचित और हितकारी शिक्षा दो। जिसे माँसाहरी भोजन लाभकारी होता है, अच्छा लगता है, वह साग-पात अर्थात् शाकाहारी भोजन को अपने लिए कैसे प्रमाण्य अर्थात् उपयुक्त मान उसे स्वीकार कर सकता है ? जो मुख पान खाने का अभ्यस्त हो चुका है, उसे सेम के पत्ते खाना कैसे अच्छा लग सकता है ? जो कान मुरली के मधुर-माधक स्वर को सुन चुके हैं, उन्हें एकतारा (छोटी सारंगी) के स्वर सुनकर कैसे सुख मिल सकता है ? जिस हृदय के भीतर सुजान (प्रियतम कृष्ण) सदैव स्थित रहते हैं, उसके भीतर निर्गुण (गुणहीन ब्रह्म) कैसे प्रवेश पा सकता है ? अर्थात् व्यक्ति की अपनी रुचियों का प्रश्न है। जो जिसे अच्छा लगता है, वह उसे त्याग अरुचिकर पदार्थों को कभी स्वीकार नहीं कर सकता। हमें कृष्ण अच्छे लगते हैं, इसलिए हम उन्हें त्याग गुणहीन, नीरस ब्रह्म को स्वीकार नहीं कर सकतीं।

हे उद्धव ! हमारा तो यह दृढ़ निश्चय है कि जब तक हमारे शरीर में प्राण रहेंगे, तब तक हम कृष्ण की वियोगिनी ही बनी रहेंगी, परन्तु तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को कदापि स्वीकार नहीं करेंगी। हमें तो उसी दिन सुख मिलेगा, जिस दिन ब्रज के सूर्य (स्वामी) कृष्ण ब्रज में लौट आयेंगे।

विशेष—(१) विभिन्न उदाहृणों द्वारा सम्पोषित गोपियों की विवशता मार्मिक है।

(२) सम्पूर्ण पद में माला प्रतिवस्तूपमा; तथा 'मुख.......गान' में निदर्शना अलंकार है।

राग सारंग

ऊधो ! तुम आए किहि काज ?
हित की कहत अहित की लागत, बकत न आवै लाज ।।
आपुन को उपचार करौ कछु, तब औरनि सिख देहु ।
मेरे कहे जाहु सत्वर ही, गहौ सीयरे गेहु ।।
ह्वाँ भेषत नानाबिधि के, अरु मधुरिपु से हैं बैदु ।
हम कातर डराति अपने सिर, कहुँ कलँक ह्वै कैदु ।।
साँची बात छाँड़ि अब झूठी, कहौ कौन बिधि सुनिहैं ?
सूरदास मुक्ताफलभोगी, हंस बह्नि क्यों चुनिहैं ? ।।२०३।।

शब्दार्थ—किहि काज=किस काम के लिए। आपुन को=अपना। सत्वर =शीघ्र, तुरन्त। गहो सीयरे गेहु=ठण्डे-ठण्डे में घर पहुँच जाओ। ह्वाँ=वहाँ। भेषज=औषधि। मधुरिपु=मधु नामक राक्षस को मारने वाले कृष्ण। बैदु=वैद्य। कैदु=कहीं, कदाचित्। मुक्ताफलभोगी=मोतियों को चुगने वाले। बह्नि=अग्नि। चुनि हैं=चुगेंगे, खायेंगे।

भावार्थ—उद्धव द्वारा निरन्तर योग और ब्रह्म की ही रट लगाते रहने पर गोपियाँ झुँझला उठती हैं और उन्हें रोग-ग्रस्त घोषित करती हुईं उनसे कहती हैं कि—

हे उद्धव ! हमारी समझ में नहीं आता कि तुम यहाँ किस काम के लिए आए हो ? हम तुमसे तुम्हारे भले की बात कह रही हैं, किन्तु तुम्हें हमारी वे बातें बुरी लगती हैं और तुम बराबर अपनी ही बात बकते चले जा रहे हो। ऐसा करते हुए तुम्हें लजा भी नहीं आती। तुम स्वयं रोग-ग्रस्त हो रहे हो, इसलिए पहले अपना इलाज करवा लो, तब दूसरों को शिक्षा देना। तुम हमारी बात मानकर तुरन्त यहाँ से चले जाओ और ठण्डे-ठण्डे में अपने घर मथुरा जा पहुँचो। वहाँ तुम्हारे घर मथुरा में नाना प्रकार की औषधियाँ और मधु जैसे राक्षस का वध करने वाले कृष्ण जैसे कुशल वैद्य उपलब्ध हैं। इसलिए तुम वहीं जाकर अपने इस रोग (सन्निपात) का इलाज कराओ। हम तो इसलिए इतनी अधिक कातर और भयभीत हो रही हैं कि कहीं हमारे ऊपर यह कलंक न लग जाय कि गोपियों की लापरवाही से ही उद्धव प्रलाप करते-करते स्वर्ग सिधार गए। तुम्हारा रोग इतना असाध्य है कि यहाँ उसका

इलाज हो ही नहीं सकता। इसका इलाज तो वही वैद्य (कृष्ण) कर सकता है, जिसने तुम्हें यह रोग (बकने का) दिया है।

हे उद्धव ! यह बताओ कि हम तुम्हारी इन बातों को कैसे सुन लें क्योंकि तुम सच बातों को छोड़कर अब झूठी बातें कह रहे हो। झूठी बात यह है कि हमें कृष्ण को त्याग ब्रह्माराधना करने से शान्ति मिलेगी। तुम ये झूठी बातें इसलिए बक रहे हो क्योंकि तुम अपने होश में नहीं हो। तुम्हें बकने का (सन्निपात का) रोग लग गया है। तुम जरा यह तो सोचो कि मोती चुगने वाला हंस अग्नि का भक्षण कैसे कर सकता है ? (उसके सम्बन्ध में तो यह प्रसिद्ध है कि—'कै हंसा मोती चुगै, कै लंघन मरि जाय।') अर्थात् हम गोपियाँ एकमात्र कृष्ण के मधुर प्रेम की ही अनुरागिनी हैं, अतः हम, चाहे कुछ भी हो जाय, अग्नि के समान दाहक तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को किसी भी दशा में स्वीकार नहीं कर सकतीं।

विशेष—(१) कृष्ण को 'मधुरिपु' कहकर गोपियाँ उन पर व्यंग्य कर रही हैं। यहाँ 'मधु' में श्लेष है—मधु नामक राक्षस और माधुर्य अर्थात् सरस प्रेम।

(२) अन्तिम पंक्ति में निदर्शना अलंकार है।

ऊधो ! यहै बिचार गहौ।
कै तन गए भलो मानैं, कै हरि ब्रज आय रहौ।।
कानन-देह बिरह-दव लागी इन्द्रिय-जीव जरौ।
बुझै स्याम-घन कमल-प्रेम मुख मुरली-बूँद परौ।।
चरन-सरोवर-मनस मीन-मन रहै एक रसरीति।
तुम निर्गुनबारू महँ डारौ, सूर कौन यह नीति।।२०४।।

शब्दार्थ—गए=नष्ट हो जाने पर। कानन-देह=शरीर रूपी वन। बिरह-दव=विरह रूपी दावाग्नि। इन्द्रिय-जीव=इन्द्रिय रूपी जीव-जन्तु। मनस=मान-सरोवर। बारू=बालू, रेत।

भावार्थ—गोपियाँ अपनी एकान्त प्रेमनिष्ठा की उद्घोषणा करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! अब हमने यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि हमारा कल्याण दो ही प्रकार से हो सकता है कि—या तो कृष्ण-विरह में तड़प-तड़पकर हमारा यह शरीर नष्ट हो जाय, या कृष्ण आकर ब्रज में रहने लगें। इन दो उपायों द्वारा ही हमारा भला हो सकता है, अन्य किसी उपाय द्वारा नहीं। हमारे इस शरीर रूपी वन में विरह रूपी दावाग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है, जिसके दाह में हमारी इन्द्रियाँ रूपी जीव-जन्तु जले जा रहे हैं। अर्थात् हमारी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ कृष्ण-विरह के कारण अत्यधिक व्याकुल और सन्तप्त हो रही हैं। यह विरहाग्नि तभी बुझ (शान्त) हो सकती है जब कृष्ण रूपी काले बादल अपने कमल के समान सुन्दर मुख से प्रेम भरी बाँसुरी की

ध्वनि रूपी अमृतमयी वर्षा कर इसे तृप्त करें। कृष्ण के चरण रूपी मानसरोवर में मन रूपी मछलियाँ सदैव दृढ़ प्रेमनिष्ठा के साथ निवास करती रहती हैं। अर्थात् हमारा मन कृष्ण के चरणों से उसी प्रकार एकनिष्ठ प्रेम करता रहता है, जिस प्रकार मछलियाँ जल से प्रेम करती हैं। यह तुम्हारी कौन-सी नीति (न्याय) है कि तुम हमारी मन रूपी इन मछलियों को कृष्ण के चरण रूपी उस मानसरोवर से बाहर निकाल कर अपने निर्गुण ब्रह्म रूपी बालू पर पटक तड़पा-तड़पा कर उनकी हत्या करने का प्रयत्न कर रहे हो? अर्थात् कृष्ण को त्याग निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लेने से हमारा मन उसी प्रकार कृष्ण-विरह में तड़प-तड़पकर नष्ट हो जायगा, जैसे मछलियाँ जल से अलग होने पर तड़प-तड़प कर प्राण छोड़ देती हैं।

विशेष—(१) सम्पूर्ण पद में, विशेष रूप से तृतीय पंक्ति से लेकर अन्तिम पंक्ति तक, साँगरूपक एवं परम्परित रूपक अलंकार हैं।

(२) इस पद में सूर का कलात्मक भाषा-कौशल दर्शनीय है। विभिन्न रूपकों द्वारा उन्होंने गोपियों की एकान्त प्रेमनिष्ठा का हृदयग्राही चित्र प्रस्तुत करते हुए निर्गुण ब्रह्म पर गहरी चोट की है।

ऊधो ! कत वे बातें चाली ?
अति मीठी माधुरी हरि-मुख की, है उर-अंतर साली ।।
स्याम सघन तन सींची बेली, हस्तकमल धरि पाली ।
अब ये बेली सूखन लागीं, छाँड़ि दई हरि-माली ।।
तब तो कृपा करत ब्रज ऊपर, संग लता ब्रजबाली ।
सूर स्याम बिन मरि न गई क्यों, बिरहबिथा की घाली ।।२०५।।

शब्दार्थ—कत=कैसे, किस तरह। माधुरी=माधुर्य। साली=बँसी, घुसी। हरि-माली=कृष्ण रूपी माली। ब्रजबाली=ब्रजबालाएँ। घाली=घायल, चोट से पीड़ित।

भावार्थ—उद्धव द्वारा निर्गुण के सन्देश को कृष्ण द्वारा भेजा हुआ कहे जाने पर गोपियाँ आश्चर्य प्रकट करती हुईं उद्धव से पूछ रही हैं कि—

हे उद्धव ! यह बताओ कि आखिर निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी इन बातों की शुरुआत (आरम्भ) कैसे हुई ? किस प्रसंग में ये बातें उठ खड़ी हुईं ? क्योंकि ये कृष्ण के माधुर्यपूर्ण मुख से निकली हैं, इसलिए हमें सुनने में बड़ी मीठी लगती हैं, क्योंकि इसी बहाने हमें कृष्ण का सन्देश तो सुनने को मिला। परन्तु उनकी बातें हमारे हृदय के भीतर चुभ कर हमें बहुत कष्ट पहुँचा रही हैं। हमारी इन शरीर रूपी लताओं को कृष्ण रूपी सघन मेघ ने अपने प्रगाढ़ स्नेह रूपी जल से सींचा था और कमल के समान अपने सुन्दर हाथों से हमारी रक्षा करते हुए हमें पाला-पोसा था। परन्तु अब हमारी ये शरीर रूपी लताएँ सूखने लगी हैं, क्योंकि कृष्ण-रूपी माली ने इन्हें त्याग इनकी साज-सँवार करना बन्द कर दिया है। भाव यह है कि कृष्ण का प्रगाढ़ स्नेह प्राप्त

कर हम प्रसन्न और स्वस्थ बनी रहती थीं, परन्तु अब उनके वियोग की ज्वाला में हमारे शरीर सूख कर नष्ट हुए जा रहे हैं।

जब कृष्ण यहाँ ब्रज में रहते थे उस समय सम्पूर्ण ब्रज के साथ-साथ हम ब्रज-बालाओं (गोपियों) पर भी कृपा करते रहते थे। हमें दुःख तो इस बात का है कि ऐसा स्नेह और संरक्षण करने वाले कृष्ण के विरह से घायल बनीं हम उनके बिना मर क्यों न गईं ? अर्थात् गोपियाँ अपने कृष्ण-प्रेम की एकान्त निष्ठा और दृढ़ता पर सन्देह-सा प्रकट करती हुईं इस बात का अफसोस कर रही हैं कि उन्हें कृष्ण-विरह में मर क्यों नहीं जाना चाहिए था। क्योंकि सच्ची प्रेमिकाएँ प्रिय-विछोह होते ही प्राण त्याग देती हैं।

विशेष—(१) रूपक अलंकार है।

राग केदारो

ऊधो ! जो हरि हितू तिहारे।
तौ तुम कहियो जाय कृपाकै, जे दुख सबै हमारे ॥
तन तरुवर ज्यों जरति बिरहिनी, तुम दव ज्यों हम जारे।
नहिं सिरात, नहिं जरत छार ह्वै, सुलगि सुलगि भए कारे ॥
जद्यपि उमगि प्रेमजल भिजवत, बरषि बरषि घन-तारे।
जो सींचे यहि भाँति जतन करि, तौ इतने प्रतिपारे ॥
कीर, कपोल, कोकिला, खंजन, बधिक-बियोग बिडारे।
इन दुःखन क्यों जियहिं सूर प्रभु, ब्रज के लोग बिचारे ? ॥२०६॥

शब्दार्थ—हितू=शुभचिन्तक। जे=ये। दव=दावाग्नि, वन में लगने वाली अग्नि। जारे=जलाए। सिरात=ठण्ठा होता। घन-तारे=आँख की पुतली रूपी बादल। प्रतिपारे=प्रतिपालन किया। बिडारे=भगा दिए।

भावार्थ—गोपियाँ अपनी असह्य विरह-वेदना का वर्णन करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! यदि कृष्ण सचमुच तुम्हारे शुभचिन्तक और सच्चे मित्र हैं (सच्चा मित्र अपने मित्र की बात पर विश्वास करता है) तो तुम वहाँ जाकर कृपा कर उनसे हमारे इन सारे दुःखों का वर्णन कर देना। उनसे कहना कि जिस प्रकार दावाग्नि वन के सारे वृक्षों को जला डालती है, उसी प्रकार तुमने अपने विरह रूपी दावाग्नि में हमारे शरीरों को दग्ध कर डाला है। हमारी स्थिति ऐसी विषम हो उठी है कि न तो इन शरीरों को शीतलता ही मिलती है और न ये जल कर राख ही हो पाते हैं। केवल निरन्तर तुम्हारी विरहाग्नि में सुलगते हुए काले पड़ गए हैं। अर्थात् न तो कृष्ण के दर्शन कर इन्हें सान्त्वना मिलती है और न विरह की असह्य वेदना के कारण इनका प्राणान्त ही हो पाता है। निरन्तर कृष्ण की याद से घुल-घुलकर इनको

रंग काला पड़ गया है, शरीर का सम्पूर्ण सौन्दर्य नष्ट हो गया है। यद्यपि हमारे नेत्रों की पुतली रूपी बादल, हृदय से उमड़े हुए स्नेह रूपी जल से इस शरीर को निरन्तर बरस-बरसकर भिगोते रहते हैं, परन्तु फिर भी यह विरहाग्नि शान्त नहीं होती। (रोने से दुःख हल्का और शान्त हो जाता है।) हमने इतने प्रयत्न कर अपने इन शरीरों को इस प्रकार अश्रु जल से सींच-सींचकर इनका प्रतिपालन किया है। अर्थात् यदि हम रोकर अपने दुःख को शान्त करने का प्रयत्न न करती रहतीं तो अब तक हमारे ये शरीर विरहाग्नि में जलकर भस्म हो गए होते।

इस विरह रूपी बहेलिए ने हमारे इन शरीर रूपी वृक्षों पर रहने वाले तोता, कबूतर, कोयल, खंजन आदि पक्षियों को मारकर भगा दिया है। (यहाँ नासिका मानो तोता, ग्रीवा कबूतर, मीठी वाणी कोयल और नेत्र खंजन के समान हैं।) भाव यह है कि कृष्ण-विरह की व्यथा के कारण गोपियों के उपर्युक्त अंग-प्रत्यंग अपनी स्वाभाविक शोभा और गुणों से हीन हो गए हैं। उनकी सम्पूर्ण शोभा मारी गई है। हे उद्धव! तुम हमारे स्वामी कृष्ण से यह कहना कि ब्रज के बेचारे (दुःखी) लोग इन दुःखों के मारे कैसे जीवित रह सकते हैं? अतः तुम आकर शीघ्र दर्शन दे, इस विरह रूपी व्याधा से सबकी रक्षा करो।

विशेष—(१) वर्षा होने पर भी अग्नि (विरहाग्नि) का शान्त न होना—चमत्कार है। इसी चमत्कार को एक उर्दू शायर ने इस प्रकार प्रदर्शित किया है—

"चश्मे पुर आब हैं तिस पर भी जिगर जलता है।
क्या क़यामत है कि बरसात में घर जलता है॥"

(२) 'कीर·······खंजन' में रूपकातिशयोक्ति और 'क' की आवृत्ति होने से वृत्यानुप्रास—दो अलंकार एक साथ आए हैं। इसी कारण इन दो अलंकारों के मेल के कारण कुछ विद्वानों ने इस पंक्ति में 'संसृष्टि' नामक उभयालंकार माना है।

(३) 'नहिं सिरात····घन तारे' में विशेषोक्ति; 'तन-तरुवर', 'तुम दव', 'प्रेम-जल', 'घन-तारे' और 'बधिक-वियोग' में रूपक तथा 'सुलगि-सुलगि' और 'बरसि-बरसि' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।

राग बिलावल

ऊधो! तुम कहियो हरि सों जाय, हमारे जिय को दरद।
दिन नहिं चैन, रैन नहिं सोवत, पावक भई जुन्हैया सरद॥
जब तें अक्रूर लै गए मधुपुरी, भई विरह तन बाय छरद।
कीन्हीं प्रबल जगी अति ऊधो! सोचन भइ जस पीरी हरद॥
सखा प्रबीन निरन्तर हौ तुम, तातें कहियत खोलि परद!
क्वाथ रूप दरसन बिन हरि के, सूर मूरि नहिं हियो सुरद॥२०७॥

शब्दार्थ—पावक=अग्नि। जुन्हैया सरद=शरद ऋतु की चाँदनी। वाय=

एक रोग अर्थात् सन्निपात जिसमें रोगी बकता रहता है। छरद=वमन, उल्टी, कै होना। हरद=हल्दी। खोलि परद=परदा खोलकर, साफ-साफ। क्वाथ=काढ़ा, एक प्रकार की दवा जो औटाकर बनाई जाती है। मूरि=जड़ी। सुरद=स्वस्थ, ठीक।

भावार्थ—कृष्ण-विरह में अत्यधिक व्याकुल गोपियाँ स्वयं को विरह रूपी सन्निपात से ग्रस्त कृष्ण के लिए सन्देश भेजती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव! तुम मथुरा जाकर कृष्ण को हमारे हृदय की पीड़ा बता देना कि हम उनके विरह में कितना अधिक दुःख भोग रही हैं। हमारी हालत ऐसी हो गई है कि न दिन को चैन मिलता है और न रात को सो पाती हैं। शरद् ऋतु की शीतल चाँदनी हमारे लिए अग्नि के समान दाहक बन गई है। (विरह में शीतल चाँदनी उद्दीपनकारी बन जाने के कारण दग्ध करने लगती है।) जब से अक्रूर कृष्ण को अपने साथ मथुरा ले गये हैं तब से हमारे शरीर को विरह के कारण बाय (सन्निपात) नामक रोग लग गया है और विरह के अतिरेक के कारण उल्टियाँ होने लगी हैं। अर्थात् खाया-पीया कुछ भी हमारे अंग नहीं लगता। हे उद्धव! तुम्हारे इस ज्ञानोपदेश ने हमारे इस रोग को जगाकर और भी अधिक प्रबल बना दिया है; अर्थात् इस रोग ने और भी अधिक प्रचण्ड रूप धारण कर लिया है। इस विरह-रूपी रोग से हम कैसे छुटकारा पा सकेंगी, निरन्तर इसी के सम्बन्ध में चिन्ता करते रहने के कारण हमारा शरीर हल्दी के समान पीला हो गया है। (अधिक चिन्ता करने से शरीर पीला पड़ जाता है।)

हे उद्धव! तुम कृष्ण के सखा हो, चतुर हो और निरन्तर उनके समीप रहते हो अर्थात् तुमसे उनकी अत्यधिक घनिष्ठता है। इसी कारण हम सारा संकोच त्याग, पर्दा खोलकर तुमसे अपनी विरह-व्यथा की सारी बातें साफ-साफ कहने का साहस कर रही हैं। हमारा यह रोग केवल एक ही औषधि द्वारा दूर हो सकता है और वह है—कृष्ण के दर्शन रूपी काढ़ा। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार की जड़ी-बूटी के प्रयोग से हमारा शरीर स्वस्थ और नीरोग नहीं हो सकता। अर्थात् हमारी यह विरह-वेदना कृष्ण के दर्शन से ही दूर हो सकती है, तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लेने से नहीं। इसलिए हम उसे अपनाने में असमर्थ हैं। (यहाँ कृष्ण-दर्शन काढ़े के समान प्रभावकारी और निर्गुण ब्रह्म अन्य जड़ी-बूटियों के समान तुच्छ और अप्रभावकारी माना गया है।

विशेष—(१) 'जिय को दरद' में सूफी प्रभाव लक्षित होता है।

(२) प्रधान रूप से रूपक अलंकार है। विरह में 'बाय' का रूपक बाँधा गया है। इसके अतिरिक्त अतिशयोक्ति और उपमा अलंकारों का भी उपयोग द्रष्टव्य है।

राग गौरी

ऊधो क्यों आए ब्रज धावते ?

सहायक, सखा राजपदवी मिलि दिन दस कछुक कमावते ॥

कह्यो जु धर्म कृपा करि कानन, सो उत बसिकै गावते।
गुरु निर्बति देखि आँखिन जे, स्रोता सकल अघावते।।
इत कोउ कछू न जानत हरि बिन, तुम कत जुगुति बनावते ?
जो कछु कहत सबन सों तुम, सो अनुभव कै सुख पावते।।
मनमोहन बिन देखे—कैसे उर सों औरहिं चाहते।
सूरदास प्रभु दरसन बिनु, वह बार-बार पछितावते।।२०८।।

शब्दार्थ—धावते=दौड़ते हुए। कानन=कानों में। बसिकै=रहकर। निर्बति=पूजाकर। स्रोता=सुनने वाले। अघावते=सन्तुष्ट हो जाते। इत=इधर, यहाँ। जुगति=युक्ति, उपाय। कै=करके।

भावार्थ—उद्धव के ज्ञानोपदेश और उनकी पात्र-अपात्र न देखकर उपदेश देने लगने की प्रवृत्ति तथा निर्गुण ब्रह्म की निस्सारता पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उनसे कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम भागे हुए यहाँ ब्रज में क्यों आ टपके ! कृष्ण को वहाँ मथुरा में राज-पदवी मिल गई है वह राजा हो गए हैं और तुम उनके सहायक और मित्र हो। इसलिए वहीं उनके पास रह, उनके प्रभाव का उपयोग कर कुछ दिन वहाँ कमाई कर लेते। आखिर यहाँ तुम्हारे लिए ऐसा क्या रखा था जिसके लालच में यहाँ भागे चले आए हो ? तुमने हम पर कृपा करके जो अपना धर्मोपदेश हमारे कानों में उँडेला है, सुनाया है, अपने इस उपदेश को यदि तुम वहीं मथुरा से रहकर वहाँ के लोगों को गाकर सुनाते तो तुम्हारा और उनका—सभी का कल्याण होता। वहाँ सभी श्रोतागण तुम्हें गुरु स्वीकार कर तुम्हारी पूजा करते और आँखों से तुम्हारे दर्शन कर पूर्ण तृप्त हो जाते। अर्थात् वहीं तुम्हारी इन बातों का महत्त्व समझा जाता और सब लोग तुम्हें गुरु स्वीकार कर तुम्हारा सम्मान करते।

यहाँ ब्रज की स्थिति तो बिल्कुल दूसरी ही है। यहाँ तो अपने प्रिय कृष्ण के बिना कोई और कुछ जानता ही नहीं, अर्थात् सब एकमात्र कृष्ण को ही अपना मान उन्हीं के लिए दीवाने बने रहते हैं। इसलिए तुम तरह-तरह की बातें बनाकर ब्रह्म को प्राप्त करने की जो युक्तियाँ बता रहे हो, वे हमारे लिए व्यर्थ हैं। इन्हें यहाँ कोई भी स्वीकार नहीं करेगा। तुम यहाँ सबको जो बातें सुना रहे हो, यदि तुम स्वयं उनका अनुभव कर लेते तो तुम्हें सुख मिलता। अर्थात् यदि तुम वहाँ मथुरा में निरन्तर कृष्ण के समीप रहते हुए भी अपनी इन बातों का (योग-ब्रह्म की बातों का) स्वयं अनुभव कर पाते तो तुम्हें बहुत सुख मिलता। उस समय हम देखतीं कि कृष्ण को बिना देखे हुए तुम अपने हृदय में अन्य किसी (ब्रह्म) को कैसे चाहने लगते ? भाव यह है कि कृष्ण के साथ रह लेने के उपरान्त, उन्हें भूलकर अन्य किसी को चाहने लगना सर्वथा असम्भव है। उस समय जब तुम्हें कृष्ण के दर्शन नहीं प्राप्त होते तो तुम बार-बार मन में पछताते रहते कि कृष्ण को त्याग निर्गुण ब्रह्म को अपनाने की

मूर्खता क्यों कर बैठे। गोपियाँ यह कहना चाह रही हैं कि एक बार कृष्ण से प्रेम करने के उपरान्त अन्य किसी से भी प्रेम करना असम्भव है, इसलिए उनके लिए निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लेना सर्वथा असम्भव है। कृष्ण का आकर्षण ही ऐसा विचित्र और स्थायी प्रभाव डालने वाला होता है।

विशेष—कुछ टीकाकारों ने अन्तिम पंक्ति का अर्थ यह माना है कि गोपियों की बातें सुन, उद्धव कृष्ण को त्याग ब्रज चले आने के कारण उनकी स्मृति तीव्र हो जाने से बार-बार पश्चात्ताप करने लगे कि वे उन्हें छोड़ यहाँ क्यों चले आए ? परन्तु यह अर्थ संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि यह सारी उक्ति गोपियों की ही है, न कि किसी क्रिया का वर्णन है।

राग देसाख

ऊधो ! यहाँ प्रकृति परि आई तेरे।
जो कोउ कोटि करै कैसे हू, फिरत नहीं मन फेरे ॥
जा दिन तें जसुदागृह आए, मोहन जादवराई।
ता दिन तें हरिदरस परस बिनु, और न कछू सुहाई ॥
क्रीड़त, हँसत, कृपा अवलोकत, जुग छन भरि तब जात।
परम तृप्त सबहिन तन होती, लोचन हृदय अघात ॥
जागत, सोवत, स्वप्न स्यामघन, सुन्दर तन अति भावै।
सूरदास अब कमलनयन बिनु बातन ही बहरावै ॥२०६॥

शब्दार्थ—प्रकृति=स्वभाव, आदत। जादवराई=यादवपति, यादवों के राजा। छन भरि=एक क्षण के समान। भावै=अच्छा लगता है। बहरावै=बहलाना।

भावार्थ—गोपियों द्वारा बार-बार निर्गुण ब्रह्म को अस्वीकार करने के अपने दृढ़ निश्चय की घोषणा करने पर भी जब उद्धव नहीं मानते और अपनी ही बात की बार-बार रट लगाए चले जाते हैं तो गोपियाँ झुँझलाकर उनकी भर्त्सना करती हुईं उनसे कहती हैं कि—

हे उद्धव ! तुम्हारी तो यह टेव पड़ गई है, अर्थात् अपनी ही बात को बार-बार दुहराते रहने की तुम्हारी आदत पड़ गई है। परन्तु तुम्हारा यह सारा प्रयत्न व्यर्थ है। क्योंकि कोई चाहे करोड़ों प्रयत्न क्यों न करे, परन्तु हमारा यह मन फेरने की कोशिश करने पर भी नहीं फिरता। अर्थात् हमारे इस मन को भी कृष्ण से ही प्रेम करने की आदत पड़ गई है और अब यह उन्हें त्याग अन्य किसी की भी आराधना करने को प्रस्तुत नहीं होता। बात यह है कि मोहन (यादवपति कृष्ण) जिस दिन से माता यशोदा के घर आए थे, उस दिन से हमारे इस मन को कृष्ण के दर्शन और

स्पर्श के अतिरिक्त और कुछ भी अच्छा नहीं लगता। अर्थात् हमारा मन सदैव उन्हीं के दर्शन करने और स्पर्श करने को व्याकुल और उत्कण्ठित बना रहता है।

जब कृष्ण यहाँ रहते थे उस समय उनके साथ क्रीड़ाएँ करते, हँसते और अपने ऊपर उनकी इतनी अधिक कृपा को देखते हुए एक युग क्षण भर के समान बीत जाता था। अर्थात् हम उनके साथ इतनी डूबी रहती थी, कि समय जाते हुए ही नहीं मालूम पड़ता था। यही ज्ञात नहीं होता था कि समय इतनी जल्दी कैसे बीत जाता था। उनके स्पर्श और आलिंगन को पाकर हमारे शरीर पूर्णतः तृप्त हो जाते थे और उनके दर्शन कर नेत्र और हृदय सदैव पूर्ण सन्तुष्ट बने रहते थे। हमें जागते, सोते, स्वप्न में अर्थात् सम्पूर्ण अवस्थाओं में काले मेघ के समान उनका सुन्दर शरीर बहुत ही अच्छा और सुन्दर लगता था। परन्तु हे उद्धव ! अब तुम हमें उन कमलनयन कृष्ण के दर्शन प्राप्त करने की युक्ति तो बताते नहीं, केवल इधर-उधर की अर्थात् निर्गुण ब्रह्म की बातें कर-कर ही बहलाने का प्रयत्न कर रहे हो। अथवा अब हम कृष्ण के बिना उनकी बातें कर-कर ही अपने हृदय को बहलाने का प्रयत्न करती रहती हैं।

विशेष—(१) स्वभाव की प्रबलता के उल्लेख द्वारा गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य प्रेम-निष्ठा का प्रतिपादन कर रही हैं।

(२) प्रथम पंक्ति में यदि 'तेरे' के स्थान पर 'मेरे' पाठ मान लिया जाय तो इस पद के अर्थ में पूर्ण संगति बैठ जाती है। क्योंकि गोपियाँ अपने मन के स्वभाव का वर्णन कर रही हैं, न कि उद्धव के स्वभाव का।

राग धनाश्री

ऊधो ! मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो हरि के सँग, को अराधै तुव ईस ?
भईं अति सिथिल सबै माधव बिनु, जथा देह बिन सीस।
स्वासा अटकि रहे आसा लगि, जीवहिं कोटि बरीस॥
तुम तौ सखा स्यामसुन्दर के, सकल जोग के ईस।
सूरदास रसिक की बतियाँ, पुरबौ मन जगदीस॥२१०॥

शब्दार्थ—हुतो=था। अराधै=आराधना करे। तुव=तुम्हारा। जथा=यथा, जैसे। स्वासा=साँस। बरीस=वर्ष। ईस=स्वामी, अधिकारी। पुरबौ=पूरी करो।

भावार्थ—किसी को मन द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु गोपियों का मन तो कृष्ण के साथ ही चला गया था, फिर वे निर्गुण ब्रह्म को कैसे स्वीकार कर लें ? अपनी इसी विवशता का स्पष्टीकरण करती हुई वें उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! मन तो केवल एक ही होता है, दस-बीस अर्थात् अनेक मन नहीं होते। हमारा एक मन था, वह तो कृष्ण के साथ मथुरा चला गया। अब यह बताओ कि तुम्हारे इस ईश्वर (ब्रह्म) की आराधना कौन करे ? क्योंकि आराधना तो मन से

ही की जाती है और हमारा मन हमारे पास नहीं है। फिर हम ब्रह्म की आराधना कैसे करें ? कृष्ण के बिना हम सब गोपियाँ उसी प्रकार शिथिल अर्थात् निष्प्राण हो उठी हैं, जैसे मस्तक के कट जाने पर शरीर निष्प्राण और निश्चेतन हो जाता है। हमारे शरीर में हमारे प्राण (साँसें) केवल एक इसी आशा पर टिके हुए हैं कि कृष्ण कभी-न-कभी लौटकर यहाँ अवश्य आयेंगे। हम इसी आशा के सहारे करोड़ों वर्ष तक जीवित बनी रहेंगी। अर्थात् हमसे उनके बिना प्राण भी नहीं त्यागे जा सकेंगे।

हे उद्धव ! तुम तो श्यामसुन्दर कृष्ण के सखा और सम्पूर्ण प्रकार की योग-साधनाओं के स्वामी अर्थात् परम ज्ञाता हो; अर्थात् योग-साधना द्वारा सब कुछ करने में पूर्ण समर्थ हो। इसलिए हमारी तुमसे केवल एक यही प्रार्थना है कि संसार के स्वामी उन रसिक कृष्ण के मन में रसिकता की वही सारी बातें पुनः उत्पन्न कर दो, जो वे यहाँ किया करते थे। उनके मन में उन बातों की स्मृति हो जाने से वह यहाँ अवश्य लौट आयेंगे।

विशेष—(१) अन्तिम दो पंक्तियों में गोपियाँ उद्धव से यह प्रार्थना कर रही हैं कि वे अपनी योग-शक्ति द्वारा कृष्ण के मन में उन पुरानी केलि-क्रीड़ाओं की स्मृति जाग्रत कर दें, जिससे कृष्ण उनका स्मरण कर पुनः ब्रज लौट आयें।

(२) प्रस्तुत पद में काव्य और संगीत का सन्तुलित-कलात्मक समन्वय दृष्टव्य है। गेयता इस पद की प्रधान विशेषता मानी जा सकती है।

(३) विवशता संचारी है।

(४) अन्तिम पंक्ति का यह अर्थ भी हो सकता है कि हे उद्धव ! तुम परमात्मा (जगदीश) के रसिक रूप (कृष्ण रूप) की बातों को ही हमारे मन में पूरी तरह से भर दो अर्थात् हमें उनकी रसिकता की ही बातें सुनाओ, न कि नीरस योग-साधना की जटिल-क्लिष्ट और रूखी बातें।

राग मलार

ऊधो ! तुम सब साथी भोरे।
मेरे कहे बिलग मानौगे, कोटि कुटिल लै जोरे ।।
वै अक्रूर क्रूर कृत तिनके, रीते भरे, भरे गहि ढोरे।
वै घनस्याम, स्याम अंतरमन, स्याम काम महँ बोरे ।।
ये मधुकर दुति निर्गुन गुनते, देखे फटकि पछोरे।
सूरदास कारन संगति के, कहा पूजियत गोरे ? ।।२११।।

शब्दार्थ—भोरे=भोले-भाले। बिलग=बुरा। कृत=कर्म। ढोरे=लुढ़का दिया, खाली कर दिया। स्याम काम=काले कारनामे। बोरे=डूबे हुए। दुति=द्युति, कान्ति। गुनते=चिन्तन करते रहते हो। फटकि पछोरे=अच्छी तरह छान-फटक कर, साफ करके। कारन=कालों के। पूजियत=बराबरी करना।

१८

भावार्थ—गोपियाँ सभी काले रंग वालों को काकु-वक्रोक्ति और श्लेष के चमत्कार द्वारा छली और कपटी सिद्ध करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम और तुम्हारे सब साथी—अक्रूर और कृष्ण आदि—भोले-भाले हो। (काकु-वक्रोति द्वारा यहाँ यह व्यंग्य ध्वनित हो रहा है कि सब धूर्त्त और मक्कार हो।) हमारे कहने से तो तुम अवश्य बुरा मान जाओगे, परन्तु असलियत यह है कि करोड़ों प्रकार की कुटिलताओं को एकत्र कर, जोड़कर ही तुम सबका निर्माण किया गया है। अर्थात् तुम सब कुटिलताओं के भण्डार हो। एक वे तुम्हारे साथी अक्रूर नाम के हैं जिनका नाम तो अक्रूर अर्थात् क्रूरता रहित है, परन्तु उनके सारे कर्म अत्यन्त क्रूरतापूर्ण हैं। उनके कर्म ऐसे हैं कि जो घड़े खाली होते हैं उन्हें तो भर देते हैं, और जो भरे होते हैं उन्हें लुढ़काकर खाली कर देते हैं। अर्थात् जिन मथुरा-वासियों (कुब्जा से तात्पर्य है) को कृष्ण से तनिक भी प्रेम नहीं था, कृष्ण को यहाँ से ले जाकर उन्हें सौंप दिया और उनके जीवन को आनन्द से परिपूर्ण कर दिया। और हम, जो कृष्ण के प्रेम से ओतप्रोत हो रही थीं, सो हमसे उन कृष्ण को छीनकर हमारे जीवन को आनन्द से रहित बना दिया। तुम्हारे ऐसे ही दूसरे साथी वे हैं जिनका नाम 'घनश्याम' अर्थात् काले बादल के समान सबको शीतलता प्रदान करना और चातक की मनोकामना पूरी करने वाला माना जाता है, परन्तु उनका हृदय अत्यन्त काला और कपटी है। वे सदैव काले कारनामों में आकण्ठ डूबे रहते हैं। अर्थात् वे धोखेबाज और विलासी हैं। इसलिए हमारे प्रेम को ठुकरा कर कुब्जा के साथ रंग-रेलियाँ करने में डूबे रहते हैं।

और एक ये भ्रमर की-सी काली कान्ति वाले तुम हो, जो निर्गुण के ही गुणों के गीत गाते रहते हो। भला जिसमें कोई गुण ही नहीं, उनके गुणों के गीत गाना मूर्खतापूर्ण कार्य है। इस प्रकार हमने तुम सबको खूब अच्छी तरह से छान-फटककर अर्थात् अच्छी तरह से परखकर देख लिया है कि तुम काले लोग गोरे रंग वालों की बराबरी कैसे कर सकते हो ? अर्थात् काले रंग वालों का हृदय और कर्म भी काला ही होता है और गोरे रंग वालों (गोपियों) का हृदय और कर्म गोरे रङ्ग के ही समान उज्ज्वल, निर्मल और पवित्र होता है। अतः दोनों की कोई तुलना नहीं हो सकती।

विशेष—(१) इस पद में काले रंग वालों पर किया गया व्यंग्य और कटाक्ष दृष्टव्य है।

(२) सम्पूर्ण पद में व्याज-निन्दा अलंकार प्रधान है।

(३) प्रथम पंक्ति में काकु-वक्रोक्ति अलंकार के प्रयोग से चमत्कारपूर्ण अर्थ ध्वन्ति हो रहा है।

(४) 'वै अक्रूर····ढारे' में विरोधाभास है।

राग सोरठ

ऊधो ! समुझावै सो बैरनि ।
रे मधुकर ! निसिदिन मरियतु है, कान्ह-कँवर औसेरनि ।।
चित चुभि रही मोहिनी मूरति, चपल दृगन की हेरनि ।
तन-मन लियो चुराय हमारो, वा मुरली की टेरनि ।।
बिसरति नाहिं सुभग तन-सोभा, पीताम्बर की फेरनि ।
कहत न बनै काँध लकुटी धरि, छबि बन गायन घेरनि ।।
तुम प्रबीन, हम बिरहि, बताबत आँखि मूँदि भटभेरनि ।
जिहि उर बसत स्यामघन, सो क्यों परै मुक्ति के झेरनि ।।
तुम हमको कहँ लाए, ऊधो ! जोग-दुखन के ढेरनि ।
सूर रसिक बिन क्यों जीवत हैं, निर्गुन कठिन करेरनि ? ।।२१२।।

शब्दार्थ—सो=वह । बैरनि=शत्रु । औसेरनि=दुःख में । हेरनि=देखना, दृष्टि । टेरनि=बुलाना, ध्वनि । बिसरति=भूलती । फेरनि=पहनावा । काँध=कन्धे पर भटभेरनि=टक्कर, मुठभेड़ होना । झेरनि=गड्ढे में, झंझट में । ढेरनि=ढेर, समूह । करेरनि=चोट, आघात ।

भावार्थ—गोपियाँ बार-बार उद्धव को समझाने का प्रयास करती हैं कि हम तुम्हारी योग-साधना और निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार नहीं कर सकतीं । परन्तु बार-बार समझाने पर भी जब उपदेश देने की अपनी हठ पर अड़े रहते हैं तो गोपियाँ खीझकर उनसे कहती हैं कि—

हे उद्धव ! तुम तो ऐसे जिद्दी हो कि जो तुम्हें समझाने का प्रयत्न करता है, उसे तुम अपना दुश्मन समझने लगते हो । इसके उपरान्त गोपियाँ भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कहती हैं कि रे मधुकर ! तू यह नहीं देखता कि हम असने कृष्ण-कुँवर के बिना रात-दिन वियोग-व्यथा के दुःखों के मारे मरी जा रही हैं । अर्थात् हमारे तो प्राणों पर बनी है और तू अपने योग का चर्खा काते चला जा रहा है । हमारे हृदय में कृष्ण की मोहिनी मूर्त्ति और उनके चंचल नेत्रों की चितवन गहरी समा गई है । उनकी उस मुरली की ध्वनि ने हमारा तन और मन चुरा लिया है । अर्थात् हम तन-मन से मुरली की उस मादक-मधुर ध्वनि पर न्यौछावर हो चुकी हैं । हमें पीताम्बर से शोभित उनके सुन्दर शरीर की शोभा क्षण भर के लिए भी नहीं भूलती । हम सदैव उसी के ध्यान में डूबी रहती हैं । कन्धे पर लाठी रख, वन में गायों को घेरते फिरने की उनकी शोभा हमसे कहते नहीं बनती । अर्थात् वह शोभा अनिवर्चनीय है ।

हे उद्धव ! तुम तो ज्ञानी और चतुर पुरुष हो और हम विरहिणी अबला नारियाँ हैं, इसलिए कदाचित् तुम हमें आँख बन्दकर इधर-उधर टक्कर खाने और भटकते फिरने का उपदेश दे रहे हो । (ब्रह्माराधना आँखें मूँद ध्यानस्थ होकर की जाती है ।) परन्तु जिसके हृदय में घनश्याम कृष्ण सदैव विराजमान रहते हों, वह

तुम्हारी मुक्ति के झंझटों में फँसना क्यों पसन्द करेगा ? अर्थात् हमारे लिए अपने कृष्ण की अनुपम शोभा के सामने मुक्ति भी हेय और नगण्य है। हमें उसकी आकांक्षा नहीं है। हे उद्धव ! तुम कहाँ से हमारे लिए दु:खों का यह ढेर बाँधकर ले आए हो; अर्थात् कृष्ण को त्याग योग-साधना के कठिन मार्ग को पार कर मुक्ति प्राप्त करने में दु:ख ही दु:ख हैं। तुम क्यों इन दु:खों को हमारे गले मढ़ना चाहते हो ? तुम्हीं बताओ कि रसिक-शिरोमणि कृष्ण के बिना हम तुम्हारी इस निर्गुण ब्रह्माराधना के कठिन आघातों को सहन कर कैसे जीवित रह सकेंगी ? अर्थात् हम कृष्ण को त्याग योग-साधना करने पर जीवित नहीं रह सकेंगीं, हमारा प्राणान्त हो जायगा।

विशेष—स्मृति संचारी है। गोपियाँ कृष्ण की मोहिनी मूर्त्ति का ध्यान कर रही हैं।

(२) सगुण-उपासना का मण्डन और निर्गुण का खण्डन है।

राग सारंग

ऊधो ! स्यामहि तुम लै आओ।
ब्रजजन-चातक प्यास मरत हैं, स्वाति-बूँद बरसाओ॥
घोष-सरोज भए हैं संपुट, दिनमनि ह्वै बिगसाओ।
ह्याँ तें जाव बिलंब करौ जनि, हमरी दसा सुनाओ॥
जौ ऊधो हरि यहाँ न आवैं, हमको तहाँ बुलाओ।
सूरदास प्रभु बेगि मिलाए, सँतन में जस पाओ॥२१३॥

शब्दार्थ—घोष-सरोज=गोप-ग्वाले रूपी कमल। संपुट=वन्द। दिनमनि=सूर्य। बिगसाओ=खिलाओ, प्रफुल्लित कर दो। जनि=मत। बेगि=शीघ्र।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण-दर्शन की अपनी आतुरता को प्रकट करती हुईं उद्धव से प्रार्थना कर रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम कृष्ण को यहाँ ब्रज में ले आओ। सम्पूर्ण ब्रजवासी चातक के समान उनके दर्शनों की प्यास के कारण मरे जा रहे हैं, अत्यधिक व्याकुल हो रहे हैं। तुम कृष्ण-दर्शन रूपी स्वाति-बूँदों की वर्षा कर इन सबको जीवन-दान दे दो; अर्थात् कृष्ण के दर्शन कराकर इन्हें मरने से बचा लो। सारे गोप-रूपी कमल कृष्ण-रूपी सूर्य के न दिखाई देने के कारण वन्द हो गए हैं; अर्थात् शिथिल हो सारे काम-काज छोड़ बैठे हैं। कृष्ण-रूपी सूर्य के दर्शन कराकर उन्हें पुनः प्रफुल्लित कर दो। कृष्ण के दर्शन पाने से पुनः वे चैतन्य और प्रसन्न हो उठेंगे। इसलिए तुम यहाँ से तुरन्त मथुरा चले जाओ, जरा भी देर मत करो। मथुरा पहुँचकर कृष्ण को हमारी इस दशा का समाचार सुना दो।

हे उद्धव ! यदि कृष्ण ब्रज की ऐसी दशा का समाचार सुनकर भी यहाँ आने के लिए तैयार न हों तो तुम हमें ही वहाँ बुला लेना। यदि तुम शीघ्र ही कृष्ण से

हमारा मिलन करा दोगे तो तुम्हें सन्तों में यश मिलेगा। अर्थात् सन्तगण तुम्हारा यशगान करेंगे। हम दुःखियों का उपकार करने के कारण तुम्हारी गणना संसार के सन्त और यशस्वी लोगों में की जाने लगेगी। और हमें दुःखों से मुक्ति मिल जायगी।

विशेष—(१) गोपियों की दीनता और कातरता द्रष्टव्य है।

(२) रूपक और अतिशयोक्ति अलंकारों का उपयोग किया गया है।

ऊधोजू ! जोग तबहिं हम जान्यो।
जा दिन तें सुफलकसुत के संग, रथ ब्रजनाथ पलान्यो ॥
जा दिन तें सब छोह-मोह मिटि, सुत-पति-हेत भुलान्यो।
तजि माया संसार-सार की, ब्रजबनितन ब्रत ठान्यौ ॥
नयन मुँदे, मुख रहे मौन धरि, तन तपि तेज सुखान्यो।
नंदनँदन-मुख मुरलीधारी, यहै रूप उर आन्यो ॥
सोउ सँजोग जिहि भूलैं हम, कहि तुमहूँ जोग बखान्यो।
ब्रह्मा पचि-पचि मुए प्रान तजि, तऊ न तिहि पहिचान्यो ॥
कहौ सु जोग कहा लै कीजै ? निर्गुन परत न जान्यो।
सूर वहै निज रूप स्याम को, है उर माहिं समान्यो ॥२१४॥

शब्दार्थ—सुफलकसुत=अक्रूर। पलान्यो=चले गए, पलायन कर गए। छोह-मोह=क्षोभ और मोह। संसार-सार=सांसारिक माया-मोह। तजि=छोड़कर। सँजोग=संयोग, मिलन। जिहि=जिससे। पचि-पचि=प्रयत्न कर-कर। मुए=मर गए। तिहि=उसे।

भावार्थ—अपनी विरह-साधना को ब्रह्म-प्राप्ति के लिए की जाने वाली योग-साधना से भी श्रेष्ठ और पूर्ण योग-साधना सिद्ध करती हुई गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! हमने तो यह उसी समय जान लिया था कि योग-साधना कैसी होती है और कैसे की जाती है, जिस दिन कृष्ण अक्रूर के साथ रथ पर आरूढ़ हो यहाँ से मथुरा के लिए पलायन कर गए थे। और जिस दिन से कृष्ण-विरह में हमारी सम्पूर्ण सांसारिक क्षोभ-मोह की भावना नष्ट हो गई थी और हमने पुत्र-पति आदि सभी सांसारिक सम्बन्धों का मोह और कल्याण-कामना करना आदि को भुला दिया था। सम्पूर्ण ब्रज की युवतियों ने सांसारिक माया-मोह को त्याग, उससे मुक्ति प्राप्त कर एकमात्र कृष्ण-विरह का ही व्रत ठान लिया था। भाव यह है कि जिस प्रकार योग-साधना करते समय साधक सम्पूर्ण सांसारिक माया-मोह और सम्बन्धों के प्रति पूर्णतः विरक्त बन एकाग्र मन से ब्रह्माराधना करता है, उसी प्रकार गोपियाँ इन सारे सम्बन्धों और भावनाओं को त्याग, इनके प्रति पूर्ण तटस्थ भाव धारण कर एकाग्र

मन से केवल कृष्ण के ही चिन्तन में डूबी रहती थीं। यही इनकी एकनिष्ठ प्रेम-साधना थी जो योग-साधना के ही समान थी।

जिस प्रकार योग-साधना में नेत्र बन्द कर मौन साध, ब्रह्म का ध्यान करते हुए, तपस्या की जाती है, उसी प्रकार हमने संसार को देखना बन्द कर अपनी आँखें मूँद, मौन धारण कर, अपने हृदय में मुरली धारण किए कृष्ण के सुन्दर मुख को स्थापित कर, निरन्तर उसी मुख के ध्यान में निमग्न रह अपने इस शरीर द्वारा कठिन तपस्या करते हुए, उसके विरह की अग्नि में अपने सम्पूर्ण अर्थात् शारीरिक कान्ति और सौन्दर्य को सुखा डाला। अर्थात् इस विरहाग्नि में दग्ध हो हमारा शरीर सूख कर कान्तिहीन और निष्प्रभ हो गया। हम हृदय में निरन्तर कृष्ण की उस मधुर छवि का ध्यान करती हुईं उनसे मिलन का (संयोग का) सुख प्राप्त करती रहती थीं। परन्तु तुमने आकर हमें अपनी योग-साधना का ऐसा उपदेश दिया, जिससे हम अपने उस संयोग-सुख (मिलन-सुख) को भी भूल जायँ, उससे वंचित हो जायें। अर्थात् तुम्हारी बात मान लेने पर हमें कृष्ण की स्मृति तक को भुलाकर ब्रह्माराधना करनी पड़ेगी और ऐसा करने से हम स्मृति द्वारा प्राप्त उस संयोग-सुख से भी वंचित हो जायेंगी।

हे उद्धव! यह बताओ कि ऐसी स्थिति में हम तुम्हारे इस योग को लेकर क्या करें? उसे स्वीकार कर लेने से हमें क्या लाभ होगा? क्योंकि इस योग-साधना द्वारा भी तुम्हारे उस निर्गुण ब्रह्म को नहीं जाना जा सकता, उसका ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। क्योंकि आज तक कोई भी उस ब्रह्म को नहीं जान सका है। वेद भी 'नेति-नेति' कहकर मौन हो गए हैं। इसलिए हमने तो अपने कृष्ण का वही मुरलीधारी मधुर रूप अपने हृदय में स्थापित कर लिया है, क्योंकि उससे हम पूर्णतः घनिष्ठ रूप से परिचित हैं। इसलिए तुम्हारी योग-साधना से हमारी यह विरह-साधना श्रेष्ठ और लाभदायक है। फिर हम उसे कैसे स्वीकार कर लें?

विशेष—इस पद द्वारा सूर की उपासना-पद्धति स्पष्ट हो जाती है। सगुण-भक्ति और निर्गुण योग—दोनों का ही लक्ष्य एक हीं; अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति है। परन्तु निर्गुणोपासना जटिल और दुरूह है। इसलिए भक्तगण सरल सगुण भक्ति को ही श्रेयस्कर मान उसी की साधना करते हैं। सूर ने सगुण और निर्गुण—दोनों को एक मानते हुए भी निर्गुण को अगम्य मान सगुण रूप को ही सुगम माना है—

"सब विधि अगम विचारहिं ताते सूर सगुन लीला पद गावै।"

गोपियाँ इसी सगुण रूप की उपासिका हैं। इसी कारण दुरूह, जटिल योग-साधना को स्वीकार न कर, अपनी प्रेम-साधना को सुलभ और श्रेष्ठ घोषित करती हैं।

ऊधो वै सुख आबै कहाँ?
छन छन नयनन निरखति जो मुख, फिरि मन जात तहाँ॥

मुख मुरली, सिर मोरपखौआ, उर घुंघुचिन को हारु।
आगे धेनु रेनु तन-मंडित, तिरछी चितवनि चारु।।
राति-द्यौस तब संग आपने, खेलत, बोलत, खात।
सूरदास यह प्रभुता चितवत, कहि न सकति वह बात ।।२१५।।

शब्दार्थ—अबै=अब। मोरपखौआ=मोर पंखों का मुकुट। हारु=हार। धेनु=गाय। रेनु=धूल। चारु=सुन्दर। द्यौस=दिवस। प्रभुता=प्रभुत्व, बड़प्पन।

भावार्थ—कृष्ण-विरह में संतप्त गोपियाँ कृष्ण के साथ संयोगावस्था के सुखों का स्मरण करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव! अब वे सुख कहाँ मिल सकते हैं? जब कृष्ण यहाँ रहते थे, तब क्षण-क्षण में हम उनके जिस मुख को देखा करती थीं, आज हमारा मन बार-बार उन्हीं सुखद स्मृतियों से लिपटा रहता है, सदैव उन्हीं की याद किया करता है। कृष्ण मुख पर मुरली धारण किए, उसे बजाते, सिर पर मोर के पंखों का मुकुट और गले में घुँघुचियों का हार धारण किए, गायों को आगे-आगे हाँकते, सारे शरीर पर धूल-मिट्टी लपेटें, सुन्दर तिरछी चितवन से चारों ओर देखते वन को आया करते थे। उस समय वह हमें रात-दिन अपने साथ रखते थे, हमारे साथ खेलते, बातें करते और खाते थे। अर्थात् उस समय हमारा-उनका क्षण भर के लिए भी विछोह नहीं होता था। परन्तु अब आनन्द भरे वे दिन बीत चुके हैं। अब तो कृष्ण प्रभुताशाली बन गए हैं, राजा हो गए हैं। इसलिए उनके इस बड़प्पन की ओर देख हमारा साहस नहीं होता कि हम उन पुरानी बातों को कह सकें। क्योंकि आज उनकी इस प्रभुता-मंडित स्थिति में ऐसी घनिष्ठता और ग्राम्य-जीवन सम्बन्धी पुरानी बात कहना उनकी इस नवीन स्थिति के प्रतिकूल होगा, और कहने पर कोई हमारा विश्वास भी नहीं करेगा कि कृष्ण कभी हमारे साथ इस प्रकार घुले-मिले रहे होंगे। इसी कारण उन बातों को कहने में हमें संकोच और भय लगता है।

विशेष—(१) गोपियों की विवशता हृदयग्राही है। कृष्ण के राजा बन जाने पर गोपियाँ उन सुखद प्राचीन स्मृतियों का वर्णन तक करने में संकोच का अनुभव कर रही हैं, परन्तु किसी भी प्रकार कृष्ण को भूल नहीं पातीं। समय के उलट-फेर ने उनकी स्थिति में कितना विषम परिवर्तन कर दिया है! यहाँ सूर लौकिक भावनाओं और मानव की विवशता का चित्रण कर अपने काव्य को जन-जीवन के साथ आबद्ध करने में पूर्ण सफल रहे हैं। गोपियों की यह विवशता मानवमात्र की अनुभूत विवशता है, अलौकिक नहीं।

(२) गोपियाँ कृष्ण के ललित रूप का ध्यान कर रही हैं।

(३) 'धेनु-रेनु' में शब्द-मैत्री द्रष्टव्य है।

कहि ऊधो! हरि गए तजि मथुरा, कौन बड़ाई पाई।
भुवन चतुर्दस की विभूति, वह, नृप की जूठि पराई।।

जो यह काज करै ताको, सेवक स्रुति पढ़ै बताई।
सेवत सेदत जन्म घटावत, करत फिरत निठुराई॥
तुम तौ परम साधु अंतरहित, जनि कछु कहौ बनाई।
सूर स्याम मन कहा बिचार्यो, कौन ठगौरी लाई॥२१६॥

शब्दार्थ—भुवन चतुर्दस=चौदह भुवन। विभूति=सम्पत्ति। जूठि=जूठन। पराई=दूसरे की। स्रुति=वेद। बताई=बताता है, उपदेश देता है। जनि=मत। बनाई=बना करें, गढ़ कर, झूठी बात। अन्तरहित=मन, हृदय। ठगौरी=ठग-विद्या।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण के मथुरा-गमन को अनुचित और हेय घोषित करती हुईं उद्धव से पूछ रही हैं कि—

हे उद्धव! यह बताओ कि कृष्ण व्रज को त्याग कर जो मथुरा चले गए तो ऐसा कार्य करके उन्होंने कौन-सा बड़प्पन और प्रशंसा प्राप्त कर ली? क्या वह वहाँ इस लालच से गए थे कि राजा बनकर अपार सम्पत्ति के स्वामी बन जायेंगे? परन्तु वह तो स्वयं (भगवान होने के कारण) चौदह भुवनों और सम्पूर्ण वैभव और सम्पत्ति के स्वामी हैं। उसकी तुलना में वह मथुरा का छोटा-सा तुच्छ राज्य और वैभव क्या महत्त्व रखता है? और वह राज्य और वैभव भी कैसा कि जो दूसरों की जूठन है। अर्थात् अनेक राजा उसका भोग कर चुके हैं। उन्हीं राजाओं की इस जूठन को प्राप्त कर कृष्ण ने ऐसा कौन-सा महान् प्रशंसा और गौरव का काम किया है? जो व्यक्ति अर्थात् कृष्ण दूसरों की जूठन खाने जैसा गर्हित और निन्दनीय कार्य करता फिरता है, उसका सेवक (अर्थात् तुम यानी उद्धव) दूसरों को वेदों का अध्ययन करने का उपदेश देता फिर रहा है, ज्ञान-साधना की ऊँची-ऊँची बातें करता है। ऐसा यह सेवक (उद्धव) अपने ऐसे स्वामी (कृष्ण) की सेवा करते-करते अपने जीवन को कम करता जाता है अर्थात् जीवन नष्ट करता फिरता है, क्योंकि यह अपने उस स्वामी के इशारे पर अत्यन्त क्रूरतापूर्ण कार्य करता रहता है। अर्थात् उद्धव का यह कहना क्रूरतापूर्ण है कि गोपियाँ कृष्ण को भूल ब्रह्माराधना करने लगें। दूसरों का दिल दुखाना क्रूरता का कार्य कहलाता है।

हे उद्धव! तुम तो परम साधु-सज्जन पुरुष हो, इसलिए अपने मन से गढ़ कर कोई झूठी बात हमसे मत कहना, अर्थात् झूठी सफाई मत देने लगना। हमें यह सच-सच बता दो कि कृष्ण ने क्या करने का इरादा ठान लिया है जिसे पूरा करने के लिए तुम हमारे साथ यह ठग-विद्या की चाल चल रहे हो। अर्थात् कृष्ण और तुम—दोनों यह क्यों चाहते हो कि हम कृष्ण को भूलकर निर्गुण की उपासना करने लगें? इसमें क्या रहस्य है?

विशेष—(१) गोपियाँ उद्धव के ज्ञान-योग के उपदेश के पीछे निहित किसी षड्यन्त्र की आशंका कर कृष्ण के राजा-रूप को महत्त्वहीन, निन्दनीय और हेय घोषित कर रही हैं।

(२) 'तुम तौ·······बनाई' में व्यंग्य अभिप्रेत है। इसमें काकु-वक्रोक्ति द्वारा गोपियाँ यह कहना चाह रही हैं कि उद्धव धूर्त्त, मक्कार और झूठे हैं।

राग धनाश्री

ऊधो ! जाय बहुरि सुनि आवहु, कहा कह्यो है नंदकुमार।
यह न होय उपदेस स्याम को, कहत लगावन छार ॥
निर्गुन ज्योति कहा उन पाई, सिखवत बारम्बार।
काल्हिहि करत हुते हमरे अंग, अपने हाथ सिंगार ॥
व्याकुल भए गोपालहि बिछुरे, गयो गुनज्ञान सँभार।
तातें ज्यों भावै त्यों बकत हौ, नाहीं दोष तुम्हार ॥
बिरह सहन को हम सिरजी हैं, पाहन हृदय हमार।
सूरदास अंतरगति मोहन, जीवन-प्रान-अधार ॥२१७॥

शब्दार्थ—बहुरि=फिर, दुबारा। काल्हिहि=कल ही। हुते=थे। सँभार=होश-हवास। सिरजी=उत्पन्न की गईं, बनाई गईं। पाहन=पत्थर। अंतरगति=हृदय, प्राण।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव के ज्ञानोपदेश पर विश्वास न कर, कि उनके लिए कृष्ण ने ऐसा निष्ठुर सन्देश भेजा होगा, उद्धव को पागल के समान ऊट-पटांग बकने वाला समझा, उनसे कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम एक बार फिर मथुरा जाओ और दुबारा अच्छी तरह से सुन कर आओ कि नन्दकुमार ने तुमसे क्या कहा था, हमारे लिए क्या सन्देश भेजा था ? क्योंकि हमें सन्देह है कि तुम पागल हो गए हो, इसलिए उनके असली सन्देश को भूल ऊट-पटाँग बके चले जा रहे हो। हमें यह विश्वास ही नहीं होता कि शरीर पर भस्म लगाने (योग-साधना करने) वाला यह सन्देश कृष्ण द्वारा भेजा हुआ हो सकता है। तुम हमें यह तो बताओ कि कृष्ण को यह निर्गुण ज्योति कहाँ से मिल गई, जिसकी शिक्षा तुम हमें बार-बार दे रहे हो। अर्थात् साकार-सगुण कृष्ण निर्गुण-ज्योति (ब्रह्म का रूप ज्योति-स्वरूप माना गया है) कैसे बन गए ? क्योंकि कल तक तो वह सगुण-साकार रूप में अपने हाथों से हमारे अंग-प्रत्यंगों का श्रृङ्गार किया करते में, हमें सजाते रहते थे।

हे उद्धव ! हमें तो ऐसा लगता है कि कृष्ण से बिछुड़ जाने के कारण उनके वियोग में तुम बहुत व्याकुल हो उठे हो और अपना सारा ज्ञान, गुण और होश-हवास (चेतना) खो बैठे हो। अर्थात् विरह-व्यथा के कारण पागल हो गए हो। इसलिए पागल के समान जो मन में आता है, सो बकते चले जा रहे हो। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है, क्योंकि विरह-व्यथा में व्यक्ति पागल बन प्रलाप करने लगता है। और तुम

कृष्ण की विरह-वेदना भुगत रहे हो। परन्तु इस विरह-व्यथा को झेलना प्रत्येक के लिए सम्भव नहीं है। इसको सहने के लिए पत्थर के समान कठोर हृदय होना चाहिए। इस विरह-व्यथा को सहने के लिए तो भगवान ने हमें ही उत्पन्न किया है, क्योंकि हमारा हृदय पत्थर के समान कठोर है। यदि हमारा हृदय पत्थर के समान कठोर न होता तो अब तक फटकर टुकड़े-टुकड़े हो गया होता। परन्तु यह फटता इसलिए नहीं कि इसके भीतर हमारे जीवन और प्राणों के आधार मोहन कृष्ण सदैव विराजमान रहते हैं। इसी कारण हम इस असह्य विरह-वेदना को सहन करती हुई जीवित रह रही हैं।

विशेष—(१) प्रथम पंक्ति में उद्धव पर व्यंग्य है।

(२) भगवान का वियोगी उद्धव के समान पागल हो जाता है। कबीर ने भी यही बात कही है—

"राम वियोगी ना जियें, जियें तो बोरा होंहि।"

राग बिलावल

ऊधो ! कह मत दीन्हो हमहि गोपाल ?
आवहु री सखि ! तब मिलि सोचैं, ज्यों पावैं नँदलाल ॥
घर बाहर तें बोलि लेहु, सब जावदेक ब्रजलाल।
कमलासन बैठहु री माई ! मूँदहु नयन बिसाल ॥
षट्पद कही सोऊ करि देखी, हाथ कछू नहिं आई।
सुन्दर स्याम कमल-दल लोचन, नेकु न देत दिखाई ॥
फिर भईं मगन बिरह-सागर में, काहुहि सुधि न रही।
पूरन प्रेम देखि गोपिन को, मधुकर मौन गही ॥
कहुँ धुनि सुनि स्रवननि चातक की, प्रान पलटि तब आए।
सूर सु अबकै टेरि पपीहे, बिरहिन मृतक जिवाए ॥२१८॥

शब्दार्थ—कह=कैसा। मत=सलाह। जावदेक=जितनी भी। माई=सखी। षट्पद=भ्रमर। नेकु=तनिक भी। पलटि=लौट। कमलासन=पद्मासन। टेर=पुकार।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव के ज्ञानोपदेश की खिल्ली उड़ाती हुईं उद्धव में कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! कृष्ण ने हमारे लिए क्या करने की सलाह दी है ? अर्थात् क्या सन्देश भेजा है ? इसके उपरान्त एक गोपी अन्य गोपियों को बुलाती हुई कहती है कि—हे सखियो ! आओ और सब मिलकर यह विचार करें कि नन्दलाल कृष्ण को कैसे प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा करो कि घर और बाहर जितनी भी ब्रजबालाएँ हों, सबको यहाँ बुला लाओ। और हे सखियो ! सब मिलकर पद्मासन लगाकर

बैठ जाओ और अपने विशाल नेत्रों को बन्द कर लो। भाव यह है कि उद्धव की बात मानकर योग-साधना करना प्रारम्भ कर दो। (सारी गोपियाँ उसी मुद्रा में बैठ जाती हैं और थोड़ी देर बाद आँख खोल कहने लगती हैं कि) हमने तो वह भी करके देख लिया जो इस भ्रमर ने करने के लिए कहा था, परन्तु हाथ कुछ भी नहीं लगा। अर्थात् कुछ भी परिणाम नहीं निकाला। हमें तो आँख मूँदने पर कमल-पत्र के समान सुन्दर नेत्रों वाले मनोहर कृष्ण तनिक भी दिखाई नहीं देते। (यहाँ आँख मूँद ब्रह्म का ध्यान करने की पद्धति पर गोपियाँ गहरा कटाक्ष कर रही हैं।)

इसके उपरान्त सारी गोपियाँ विरह-सागर में निमग्न हो गईं, किसी को भी अपना होश-हवास नहीं रहा। अर्थात् सब कृष्ण के ध्यान में डूब गईं। प्रेमातिरेक के कारण उनकी चेतना जाती रही। गोपियों के इस पूर्ण प्रेम-भाव को देख भ्रमर (उद्धव) मौन हो बैठा रह गया। अर्थात् स्तब्ध-सा बन मूक हो गया। उससे कुछ भी कहते न बना। परन्तु इसी बीच कहीं से चातक की 'पी-पी' की पुकार कानों में पड़ते ही मानो उनके प्राण लौट आए। अर्थात् वे सजग हो उठीं। सूरदास कहते हैं कि हे पपीहे! तू अब की फिर 'पीउ-पीउ' की पुकार लगा, क्योंकि तेरी इस आर्त्त-पुकार ने मरती हुई विरहिणियों को पुनर्जीवन प्रदान किया है।

विशेष—(१) चातक की 'पीउ-पीउ' द्वारा प्रिय की स्मृति में उसे अपना सहगामी जान गोपियों को बड़ी सान्त्वना प्राप्त होती है। सूर ने इसी भाव को अन्यत्र इस प्रकार व्यक्त किया है—

"सखी री, चातक मोहि जियावत।
जैसेहि रैनि रटति हौं 'पिउ-पिउ' तैसे ही वह गावत।"

(२) इस पद में विरह की अन्तिम अवस्था 'मरण' का चित्रण कर सूर ने गोपियों के विरह को चरम-सीमा तक पहुँचा दिया है। विरह-चित्रण की दृष्टि से यह पद महत्त्वपूर्ण है।

(३) इस पद में हास्य, व्यंग्य और चरम विरह-व्यथा का अद्भुत कलात्मक मिश्रण है। आरम्भ की पंक्तियाँ शालीन हास्य, व्यंग्य की सृष्टि करती हैं और अन्तिम चार पंक्तियाँ गहन प्रेम-तन्मयता और असीम विरह-व्यथा की। यह नाटकीयता इस पद को अत्यधिक कलात्मक और प्रभावशाली बना देती है।

(४) 'विरह-सागर' में रूपक तथा 'कमलदल लोचन' में उपमा अलंकार है।

ऊधो! ते कि चतुर पद पावत?
जे नहिं जानै पीर पराई, हैं सर्वज्ञ कहावत॥
जो पै मीन नीर तें बिछुरै, को करि जतन जियावत?
प्यासे प्रान जात हैं जल बिनु, सुधा-समुद्र बतावत॥
हम बिरहिनी स्यामसुन्दर की, तुम निर्गुन नहिं जनावत।
ये दृग मधुप सुमन सब परिहरि, कमलबदन-रस भावत॥

कहि पठवत संदेसनि मधुकर ! कत बकवाद बढ़ावत ?
करौ न कुटिल निठुर चित अंतर, सूरदास कबि गावत ।।२१६।।

शब्दार्थ—ते=वे। चतुर पद=ज्ञानी होने की पदवी। जियावत=जीवित रखता है। जनावत=बताते हो। बदन=मुख। भावत=अच्छा लगता है। दृग-मधुप=नेत्र रूपी भ्रमर।

भावार्थ—प्रेम-दिवानी गोपियों को योग का उपदेश देना नितान्त अनौचित्य-पूर्ण कार्य मान गोपियाँ उद्धव को मूर्ख, कुटिल, बकवादी आदि की पदवियाँ देती हुई उनसे कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! क्या ऐसे लोग चतुर अर्थात् ज्ञानी होने की पदवी प्राप्त करने के अधिकारी हो सकते हैं जो दूसरों के दुःख-दर्द को जान और समझ नहीं पाते, अनुभव नहीं कर पाते और फिर भी सर्वज्ञ (सब कुछ जानने वाला) होने का दावा करते और कहलाते भी हैं। अर्थात् उद्धव न तो चतुर हैं, न अनुभूतिशील हैं और न सर्वज्ञ ही हैं, क्योंकि योगी—ज्ञानी और सर्वज्ञ होता है परन्तु उद्धव इन दोनों ही गुणों से शून्य अर्थात् मूर्ख और ढोंगी हैं। यह बताओ कि यदि मछली अपने प्राणाधार जल से बिछुड़ जाती है तो फिर जल के अभाव में उसे कौन किस प्रकार जीवित रख सकता है ? अर्थात् जल के बिना उसे जीवित रखना सर्वथा असम्भव है। उसी प्रकार हम भी अपने प्राणाधार कृष्ण के बिना किसी भी दशा में जीवित नहीं रह सकतीं और तुम उन्हीं कृष्ण को हमसे छीन ब्रह्माराधना कर शान्ति प्राप्त करने का उपदेश दे रहे हो। मानो मछली के प्राण तो जल के बिना प्यास के मारे निकले जा रहे हों, और कोई उसे जल न देकर अमृत के समुद्र की राह बताने लगे। अर्थात् कृष्ण के बिना हमारे तो प्राण निकले जा रहे हैं और तुम हमें कृष्ण के स्थान पर अमृत-सागर जैसे ब्रह्म की उपासना करने का उपदेश दे रहे हो।

हे उद्धव ! हम तो अपने श्यामसुन्दर की विरहिणी हैं और तुम हमें निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दे रहे हो। परन्तु हमारे इन नेत्र रूपी भ्रमरों को कमल के समान सुन्दर मुख वाले कृष्ण के सौन्दर्य का ही रसपान करना अच्छा लगता है, अन्य फूलों का नहीं। हे मधुकर ! फिर भी न मालूम क्यों कृष्ण हमारे लिए ऐसा कठोर, निर्मम सन्देश (कि हम उन्हें भूल ब्रह्माराधना करें) भिजवाते रहते हैं ? और तुम अपनी व्यर्थ की बकवाद द्वारा उस सन्देश को और भी अधिक बढ़ा-चढ़ाकर हमें सुनाए चले जा रहे हो। सूरदास कवि गाकर यह कहते हैं कि (गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं) तुम अपने हृदय को इतना कुटिल और कठोर मत बनाओ। अर्थात् अपनी इन कुटिल-कठोर बातों द्वारा हमें दुःख मत दो।

विशेष—(१) गोपियाँ कृष्ण की अनन्य अनुरागिनी हैं, इसलिए निर्गुण को अपने लिए सर्वथा निरर्थक और त्याज्य घोषित करती हुई उद्धव को खूब खरी-खोटी सुना रही हैं। प्रथम पंक्ति में उद्धव पर उनका कटाक्ष दर्शनीय है।

(२) 'सुधा-समुद्र', 'दृग-मधुप', 'कमल-बदन' में रूपक अलंकार है।

राग कल्याण

ऊधो ! भली करी अब आए ।
बिधि-कुलाल कीने काँचे घट, ते तुम आनि पकाए ।।
रंग दियो हो कान्ह साँवरे, अंग-अंग चित्र बनाए ।
गलन न पाए नयन-नीर तें, अवधि-अटा जो छाए ।।
ब्रज करि अँवाँ, जोग करि ईंधन, सुरति-अगिनि सुलगाए ।
फूँक उसास बिरह परजारनि, दरसन-आस फिराए ।।
भए सँपूरन भरे प्रेम-जल, छुवन न काहू पाए ।
राजकाज त गए सूर सुनि, नँदनंदन कर लाए ।।२२०।।

शब्दार्थ—बिधि-कुलाल=ब्रह्मा रूपी कुम्हार । काँचे=कच्चे । घट=घड़ा, हृदय । अटा=अटारी, आच्छादन । सुरति=स्मृति । परजारनि=प्रज्ज्वलित करना । फिराए=घुमाना । छुवन=छूना, स्पर्श करना ।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव के ब्रज-आगमन को अपने लिए हितकारी सिद्ध करती हुई उनसे कह रही हैं कि—

उद्धव ! तुमने यह अच्छा ही किया कि तुम यहाँ ब्रज में पधारे । तुम्हारा यह आगमन हमारे लिए हितकर ही सिद्ध हुआ है क्योंकि ब्रह्मा-रूपी कुम्हार ने हमारे हृदय-रूपी घड़ों को कच्चा ही बनाया था, पकाकर मजबूत नहीं किया था । परन्तु तुमने यहाँ आकर उन्हें पकाकर पुष्ट बना दिया है । भाव यह है कि उद्धव के आगमन से पूर्व गोपियों को अपने हृदय की प्रेमनिष्ठा पर एकान्त विश्वास नहीं था । परन्तु उद्धव की कृष्ण को भूल, ब्रह्माराधना करने की बात सुन उनकी विरहाग्नि अत्यधिक तीव्र हो उठी थी और उसमें पककर कृष्ण के प्रति उनकी प्रेमनिष्ठा सर्वाङ्ग रूप से अटल-अचल बन गई थी । (यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब हमसे अपनी किसी प्रिय वस्तु को छोड़ देने का बार-बार आग्रह किया जाता है तो उस वस्तु के प्रति हमारा आकर्षण और ममता और अधिक बढ़ जाती है । यही गोपियों के साथ हुआ है । उनके प्रेम की सम्भावित अपूर्णता कृष्ण को सदैव के लिए खो बैठने की आशंका से परिपूर्ण और दृढ़ बन गई है ।)

हमारे इन हृदय रूपी घड़ों को साँवरिया (कृष्ण) ने स्वयं अपने हाथ से अपने अनुराग (प्रेम) के रंगों से रँगा था और उनके अंग-प्रत्यंग पर अपनी विभिन्न क्रीड़ाओं रूपी स्मृतियों के चित्र बनाए थे । अर्थात् हमारे हृदय कृष्ण-प्रेम और उनकी क्रीड़ाओं की स्मृति से ओत-प्रोत रहते हैं । क्योंकि पहले ये हृदय रूपी घड़े कच्चे थे, इसलिए भय था कि आँखों से बहने वाले आँसुओं से गल जायेंगे; अर्थात् हम दुःख से त्रस्त हो कृष्ण को भूल जायेंगी । परन्तु ये गले अर्थात् नष्ट इसलिए नहीं हुए कि इनके ऊपर कृष्ण के आने की अवधि रूपी आच्छादन (छप्पर) छाया कर रहा था । अर्थात् उनके आने की अवधि की आशा के कारण ही हमारे हृदय विदीर्ण होने से बच गए ।

(इसके उपरान्त गोपियाँ अपने हृदय-रूपी घड़ों को उद्धव द्वारा पकाए जाने की प्रक्रिया का योग-साधना की प्रक्रिया से रूपक बाँधती हुई कहती हैं कि) तुमने ब्रज को अवा बनाया; उसमें योग रूपी ईंधन लगाया और स्मृति रूपी अग्नि से उसमें अग्नि सुलगाई। इसके उपरान्त गहरे उच्छ्वासों रूपी फूँक मारी और विरह के रूप में उसे प्रज्ज्वलित कर कृष्ण के दर्शन रूपी आशा से उन्हें चारों ओर घुमाते हुए अच्छी तरह से पका दिया। जब ये हृदय रूपी घड़े पूरी तरह से पक गए तो इनमें प्रेम रूपी जल भर दिया गया। और ये हृदय रूपी घड़े आज तक पूर्णरूपेण विशुद्ध और निर्मल हैं क्योंकि आज तक कोई भी इनका स्पर्श नहीं कर पाया है। अर्थात् गोपियों के हृदय को कृष्ण-प्रेम के अतिरिक्त अन्य कोई स्पर्श नहीं कर पाया है, अपने प्रति उनमें आकर्षण नहीं उत्पन्न कर सका है। ये हृदय रूपी घड़े प्रेम-जल से परिपूर्ण नन्दनन्दन कृष्ण के लिए ही अछूते रखे हुए हैं। कृष्ण राज-कार्य से मथुरा गए हुए हैं। वहाँ से लौटने पर इन्हीं घड़ों द्वारा उनका स्वागत किया जायेगा और वे इन्हीं के प्रेम रूपी जल का पान कर अपनी यात्रा की सम्पूर्ण विश्रान्ति दूर करेंगे।

विशेष—(१) इस पद के उत्तरार्द्ध में घड़े पकाए जाने की प्रक्रिया का योग-साधना की प्रक्रिया द्वारा रूपक बाँधा गया है। गोपियों का भाव यह है कि उद्धव के ज्ञानोपदेश ने गोपियों की विरहाग्नि को और अधिक उद्दीप्त कर उनकी प्रेमनिष्ठा को पूर्ण रूप से दृढ़ और अनन्य बना दिया है। यदि उद्धव उनसे कृष्ण को भूल जाने की बात न कहते तो उनका विरह इतना सर्वग्राही और दृढ़ रूप न प्रदर्शित कर पाता। साथ ही गोपियाँ यह भी कहना चाह रही हैं कि इस विरह-वेदना के अत्यधिक उद्दीप्त हो उठने से उनके प्रेम की परीक्षा हो गई है और उसमें वे खरी सिद्ध हुई हैं।

(२) सुरति का सामान्य अर्थ स्मृति होता है। परन्तु योग की प्रक्रिया में जब आत्मा (चेतना) ब्रह्म में तल्लीन हो जाती है, तब वह सुरति अवस्था को प्राप्त हुई मानी जाती है। यहाँ गोपियाँ पूर्णरूपेण कृष्ण की स्मृति में तल्लीन हो रही हैं।

(३) इस पद में प्रेम की दृढ़ता, हृदय की निर्मलता और प्रियतम के प्रति अनन्यता का अंकन किया गया है।

(४) घड़े पकाने की प्रक्रिया का रूपक बाँधने के कारण इस पद में सांगरूपक अलंकार है।

राग सारंग

ऊधो ! कौन कुदिन छाँड्यो हो गोकुल।
बहुरि न आए फिरि या ब्रज में, बिछुर्‌यो तबहिं मिल्यो अब सो कुल ।।
गरग-वचन समुझे अब मधुबन, कथा-प्रसंग सुन्यो हो जो कुल।
सूर भये अब त्रिभुवन के पति, नातो ज्ञाति लहे अब निज कुल ।।२२१।।

शब्दार्थ—कुदिन=बुरे दिन। हो=था। बहुरि=लौटकर। सो कुल=वह वंश, यादव वंश। गरग=गर्ग ऋषि। ज्ञाति=जाति।

भावार्थ—कृष्ण-विरह में संतप्त गोपियाँ उस दिन को बुरा बताती हुईं, जिस दिन कृष्ण गोकुल से गए थे, उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! न जाने वह कैसा बुरा दिन था, अशुभ घड़ी थी, जब कृष्ण इस गोकुल को छोड़कर मथुरा गए थे। इसी कारण फिर लौट कर इस ब्रज में नहीं आए। वह बुरा दिन गोकुल के लिए तो दुर्दिन बन गया था; परन्तु स्वयं कृष्ण के लिए शुभ घड़ी थी। क्योंकि कृष्ण जन्म लेते ही अपने जिस यादव वंश से बिछुड़ यहाँ आए थे, अब पुनः वहीं पहुँच अपने बिछुड़े हुए कुल से जा मिले। अब हमारी समझ में गर्ग ऋषि के वे वचन आये हैं अर्थात् हम अब उनकी बात को पूरी तरह से समझ पाई हैं जो उन्होंने मथुरा से सम्बन्धित कथा कहते हुए कहे थे। हमने उसी समय इस यादव वंश के सम्बन्ध में सुना था। गर्ग ऋषि ने बताया था कि कृष्ण भगवान के अवतार हैं और कुछ समय बाद गोकुल त्याग, मथुरा पहुँच अपने कुल के साथ रहने लगेंगे और वहाँ के राजा बन जायेंगे। गोपियाँ यहाँ गर्ग ऋषि की उसी भविष्यवाणी के सम्बन्ध में कह रही हैं।) अब तो कृष्ण वहाँ जाकर तीनों लोकों के स्वामी अर्थात् भगवान बन गए हैं और उन्होंने अपने सम्बन्धियों (पारिवारिकों) और अपनी जाति (यादव) को ग्रहण कर लिया, अपना लिया है।

भाव यह है कि कृष्ण अपनी जाति और परिवार में पहुँचकर हमें पूरी तरह से भूल गए हैं। जब तक उनका स्वार्थ रहा, वह यहाँ गोकुल में रहते रहे और स्वार्थ पूरा हो जाने पर सबको त्याग, अपनी जाति और घरवालों से जा मिले हैं। अर्थात् कृष्ण पूरे स्वार्थी हैं। अब वह हम नीच और निर्धन गोपियों से क्यों प्रेम करने लगे, क्योंकि अब उच्च कुल के राजा बन गए हैं।

विशेष—इस छोटे से पद में काव्य और संगीत का कलात्मक समन्वय हुआ है।

ऊधो ! राखिए वह बात।
कहत हौ अनहद सुबानी, सुनत हम चपि जात।।
जोग फल-कुष्माँड ऐसो, अजामुख न समात।
बार-बार न भाखिए कोउ, अमृत तजि विष खात ?
नयन प्यासे रूप के, जल दए नाहिं अघात।
सूर प्रभु मन हरि गए, लै छाँड़ि तन-कुसलात।।२२२।।

शब्दार्थ—राखिए=रखो, रहने दो। सुबानी=सुन्दर वाणी, बात। चपि=दब, सहम। कुष्मांड=काशीफल, कद्दू। अजामुख=बकरी का मुँह। भाखिए=कहिए। कुशलात=कुशलता।

भावार्थ—गोपियाँ निर्गुण की कष्टदायक चर्चा नहीं सुनना चाहतीं। इसीलिए वे उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम अपनी योग की वे बातें रहने दो, अर्थात् हमसे मत कहो।

तुम हमसे अनहद नाद की श्रेष्ठता का वर्णन कर रहे हो कि अनहद नाद का बड़ा मधुर और श्रेष्ठ होता है, परन्तु हम तुम्हारी इन बातों को सुनकर ही सहम जाती हैं। अर्थात् इतनी कठोर-कठिन योग-साधना करने के उपरान्त उस अनहद नाद को सुन पाने की कल्पना मात्र से हम सहम उठती हैं, क्योंकि उस साधना को करना हमारे लिए असम्भव है। यह हमारे लिए उसी प्रकार असम्भव है, जैसे बकरी के छोटे से मुख में विशाल काशीफल का समाना असंभव है। तुम बार-बार अपनी इन बातों को हमें मत सुनाओ, क्योंकि कोई भी अमृत को त्याग विष का खाना स्वीकार नहीं कर सकता। अर्थात् तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म हमारे लिए विष के समान घातक है और कृष्ण अमृत के समान मधुर और जीवनप्रदायक हैं। इसलिए हम कृष्ण को त्याग, निर्गुण ब्रह्म को किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं कर सकतीं।

हमारे ये नेत्र कृष्ण के मधुर रूप के दर्शनों के प्यासे हैं। हम कृष्ण-विरह में संतप्त हो निरन्तर इन्हें अपना अश्रु-जल (आँसू) पिलाती रहती हैं। परन्तु उससे इनकी तृप्ति नहीं होती। अर्थात् ये सदैव कृष्ण-दर्शन के लिए ही व्याकुल बने रहते हैं। हमारे स्वामी कृष्ण हमारे मन कोतो हरण कर अपने साथ मथुरा ले गए और हमारे शरीर की कुशलता का उन्होंने तनिक भी ध्यान नहीं रखा कि उनके वियोग में मन से बिना हमारे ये शरीर कैसे सुरक्षित रह सकेंगे ? अर्थात् कृष्ण-विरह में हमारे शरीर के नष्ट हो जाने की आशंका है।

विशेष—'जोग····समात' लोकोक्ति अलंकार है।

राग मलार

ऊधो ! कुलिस भई यह छाती।
मेरो मन रहिक लग्यो नँदलालहि, झखत रहत दिनराती॥
तजि ब्रजलोक, पिता अरु जननी, कंठ लाय गए काती।
ऐसे निठुर भए हरि हमको, कबहुँ न पठई पाती॥
पिय-पिय कहत रहत जिय मेरो, ह्वै चातक की जाती।
सूरदास प्रभु प्रानहिं राखहु, ह्वै कै बूँद-सवाती॥२२३॥

शब्दार्थ—कुलिस=वज्र। झखत रहत=झींकती रहती हूँ। ब्रजलोक=ब्रज-वासियों। काती=करती, छुरी। जाती=जाति की। बूँद-सवाती=स्वाति नक्षत्र की बूँद।

भावार्थ—राधा या कोई गोपी कृष्ण-विरह की अपनी व्यथा को अभिव्यक्ति करती हुई उद्धव से कह रही है कि—

हे उद्धव ! मेरी यह छाती (हृदय) वज्र के समान कठोर हो गई है, क्योंकि कृष्ण-विरह की दारुण व्यथा से भी यह विदीर्ण नहीं हो पाई है। मेरा रसिक (प्रेमी) मन नन्दलाल में ही लगा रहता है। अर्थात् यह समझने से भी उनका ध्यान करना

नहीं छोड़ता और मैं इसकी इस हरकत को देख-देख रात-दिन झींकती रहती हूँ कि इस मन के कारण मेरे गले कैसी मुसीबत आ पड़ी है ! कृष्ण ब्रज को त्याग कर क्या गए मानो हम सारे ब्रजवासियों और अपने माता-पिता (नन्द-यशोदा) के गले पर छुरी चला गए, सबको अपने विरह में तड़पता हुआ छोड़कर चले गए। और वहाँ मथुरा जाकर वह इतने निष्ठुर हो गए हैं कि उन्होंने हमारे लिए कभी एक चिट्ठी तक नहीं भेजी।

परन्तु मेरा हृदय चातक की जाति के समान बन, अर्थात् चातक के समान सदैव 'पिउ-पिउ' की ही रट लगाए रहता है, सदैव उन्हीं को पुकारता रहता है। इसलिए मेरी अपने स्वामी कृष्ण से केवल यही एक प्रार्थना है कि मेरे इस चातक-रूपी हृदय को अपने स्वाति-नक्षत्र के जल की बूँद रूपी दर्शन देकर उसके प्राणों की रक्षा कर लो। अर्थात् अपने दर्शन देकर मुझे मरने से बचा लो। भाव यह है कि जिस प्रकार चातक स्वाति-नक्षत्र के मेघ की एक बूँद के लिए व्याकुल हो सदैव मेघ को पुकारता रहता है, उसी प्रकार गोपियाँ भी कृष्ण-दर्शन के लिए निरन्तर आर्त्त-पुकार करती रहती हैं। यह दर्शन ही विरह की प्राणान्तक वेदना से उनकी रक्षा कर सकेगा।

विशेष—(१) इस पद में परम्परित रूपक, उपमा तथा उत्प्रेक्षा अलंकार हैं। (२) कठिन विरह में दग्ध गोपियों की कातर दशा का मार्मिक चित्रण है।

राग मारू

ऊधो ! कहु मधुबन की रीति।
राजा ह्वै ब्रजनाथ तिहारे कहा चलावत नीति ?
निसि लौं करत दाह दिनकर ज्यों हुतो सदा ससि सोति।
पुरवा पवन कह्यो नहिं मानत गए सहज बपु जीति ।।
कुब्जा-काज कंस को मार्‌यो, भई निरन्तर प्रीति।
सूर बिरह ब्रज भलो न लागत जहाँ ब्याह तहँ गीति ।।२२४।।

शब्दार्थ—रीति=लोक व्यवहार। नीति=न्याय, व्यवस्था। दाह=दग्ध। हुतो=था। सीति=शीतल। पुरवा पवन=पूर्व दिशा का पवन। बपु=शरीर। काज=कारण।

भावार्थ—कृष्ण की निष्ठुरता पर व्यंग्य करती हुईं गोपियाँ उन्हें अन्यायी-अत्याचारी सिद्ध कर उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम अपनी मथुरा की रीति (चलन) के सम्बन्ध में हमें बताओ कि वह कैसी है ? तुम्हारे ब्रजनाथ कृष्ण वहाँ राजा बनकर कैसी नीति से काम ले रहे हैं, कैसा राज्य-प्रबन्ध कर रहे हैं ? हमें तो ऐसा लगता है कि उन्हें राज्य करना नहीं

आता, क्योंकि उनके राज्य में सब कुछ उल्टा ही हो रहा है, जैसा कि हमने पहले कभी भी न देखा और न सुना था। उनके निर्बल कुशासन का सबसे प्रथम और प्रबल प्रमाण यह है कि जो चन्द्रमा सदैव शीतलता प्रदान करता रहता था, वही अब रात-भर सूर्य के समान प्रचण्ड रूप से दाहक बन हमें जलाता रहता है। यह पुरवैया पवन, जो अपने शीतल स्पर्श द्वारा शरीर को शान्ति प्रदान करता था, अब हमारा कहना ही नहीं मानता और उसने बड़ी सरलतापूर्वक हमारे शरीर को जीत, उस पर अपना अधिकार जमा लिया है। (चन्द्रमा और पुरवैया पवन—दोनों ही संयोगावस्था में शीतलता प्रदान कर संयोगियों को सुख पहुँचाते हैं, परन्तु वियोगावस्था, में कामोद्दीपक होने के कारण विरहियों को बहुत कष्ट पहुँचाते हैं। पुरवैया पवन के स्पर्श से उनके शरीर कामोद्दीपन के कारण रोमांचित हो अवश और शिथिल हो उठते हैं।)

हे उद्धव ! कृष्ण ने कंस का वध जनता को उसके अत्याचारों से मुक्त करने के लिए नहीं किया था, बल्कि कुब्जा को प्राप्त करने के लिए किया था। और अब कृष्ण और कुब्जा निरन्तर प्रेम-क्रीड़ाओं में डूबे रहते हैं। हमें कृष्ण के विरह में यहाँ ब्रज में रहना अच्छा नहीं लगता, क्योंकि ब्रज तो कृष्ण के कारण ही अच्छा लगता था। गीत गाना वहीं शोभा देता है, जहाँ किसी का विवाह हो रहा हो। अर्थात् प्रसन्नता के अवसर पर ही गीत गाना अच्छा लगता है, न कि दुःख में। इसी प्रकार यह ब्रज भी हमें तभी अच्छा लगता था जब कृष्ण यहाँ रहते थे। अब उनके बिना हमें सब कुछ अरुचिकर और सूना-सूना-सा लगता है।

विशेष—(१) इस पद में अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग किया गया है।

(२) इसी पद के भाव को गोपियों ने एक अन्य पद में भी व्यक्त किया है—

"बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजैं।

(३) 'जहाँ व्याह तहँ गीत' में लोकोक्ति का सुन्दर-सार्थक उपयोग किया गया है।

ऊधो ! काल-चाल चौरासी।
मन हरि मदनगोपाल हमारो बोलत बोल उदासी।।
एतें पै हम जोग करहिं क्यों लै अबिगत अबिनासी।
गुप्त गोपाल करी बनलीला हम लूटी सुखरासी।।
लोचन उमगि चलत हरि के हित बिन देखे बरिसा सी।
रसना सूर स्याम के रस बिनु चातकहू तें प्यासी।।२२५।।

शब्दार्थ—काल-चाल=काल, समय की गतियाँ। चौरासी=अनेक से अभिप्राय है। हरि=हरण कर। उदासी=उदासीनता भरे। एते पैं=इतने पर भी। सुखरासी=अनेक प्रकार के सुख। हित=प्रेम। बरिसा=वर्षा। रसना=जिह्वा। रस=प्रेम रूपी जल।

भावार्थ—अपने प्रति कृष्ण की उदासीनता से व्यथित हो, गोपियाँ विगत केलि-क्रीड़ाओं की स्मृति और अपनी असीम विरह-व्यथा का वर्णन करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! काल (समय) की गतियाँ अनेक प्रकार की होती हैं। न मालूम समय कब कैसा उलट-फेर उत्पन्न कर दे, इसे जान लेना दुष्कर है। हमें ही देखो कि एक तो वह समय था—जब कृष्ण ने अपने मोहक सौन्दर्य और केलि-क्रीड़ाओं द्वारा हमारा मन अपने वश में कर लिया था, हमारे साथ दिन-रात प्रेम किया करते थे और अब एक यह समय आ गया है कि हमारे मन को हर कर वह अपने साथ मथुरा ले गये हैं और वहाँ से हमारे प्रति पूर्ण उदासीनता दिखाते हुए हमारे लिए अपने को भूल जाने और योग-साधना करने का सन्देश भेज रहे हैं। यद्यपि अब वह हमारे प्रति उदासीन बन गये हैं, परन्तु इतने पर भी हम तुम्हारे इस अविगत अविनाशी ब्रह्म को प्राप्त करने वाली योग-साधना को क्यों स्वीकार कर लें ? क्योंकि इससे हमें अपने प्रियतम कृष्ण की प्राप्ति होना तो सम्भव ही नहीं है; फिर हमारे लिए इसकी क्या उपयोगिता है ? हमारे कृष्ण ने हमारे साथ गुप्त रूप से वन में नाना प्रकार की लीलाएँ की थीं, रास रचा था, और हमने उनके द्वारा अनेक प्रकार के सुख प्राप्त किए थे। परन्तु अब कृष्ण को बिना देखे, उनके उस अमित प्रेम का स्मरण कर हमारे नेत्र आँसुओं से भर उमड़ कर प्रवाहित होने लगते हैं और आँसुओं की झड़ी-सी लग जाती है। और हमारी जिह्वा कृष्ण के प्रेम रूपी जल के अभाव में चातक से भी अधिक प्यासी बनी रहती है। अर्थात् उनके साथ प्रेमालाप करने के लिए अत्यधिक व्याकुल बन तरसती रहती है।

विशेष—'लोचन·······बरिसा सी' में पूर्णोपमा, तथा 'रसना·······प्यासी' में प्रतीप अलङ्कार है।

राग कान्हारो

ऊधो ! सरद समयहू आयो।
बहुतै दिवस रटत चातक तकि तेउ स्वाति-जल पायो ।।
कबहुँक ध्यान धरत उर-अंतर मुख मुरली लै गावत।
सो रसरास पुलिन जमुना की ससि देखें सुधि आवत ।।
जासों लगन-प्रीति अंतरगत औगुन गुन करि भावत।
हमसों कपट, लोक डर तातें सूर सनेह जनावत ।।२२६।।

शब्दार्थ—समयहू=समय भी, ऋतु भी। बहुतै=बहुत। तकि=ताकता हुआ। तेउ=उसने भी। उर-अन्तर=हृदय के भीतर। पुलिन=तट, किनारा। भावत=अच्छे लगते हैं।

भावार्थ—शरद-ऋतु आ गई है। गोपियाँ इस ऋतु में कृष्ण के साथ रास-

लीला रचाया करती थीं। अब उन्हीं स्मृतियों से व्यथित हो, वे उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! अब यह शरद्-ऋतु भी आ गई है। चातक बहुत दिनों से अपने प्रियतम मेघ को ताकता हुआ स्वाति नक्षत्र के जल की एक बूँद के लिए निरन्तर पुकारता रहता था। अब शरद-ऋतु आने पर उसकी मनोकामना पूरी हो गई है, उसे स्वाति-जल की बूँद मिल गई है। (स्वाति-नक्षत्र शरद काल में ही उदय होता है और तभी चातक की मनोकामना पूरी होती है, ऐसा कवि-समय माना गया है।) परन्तु हमारी कृष्ण-दर्शन की मनोकामना पूरी नहीं हो सकी है। कभी जब हम अपने हृदय में उनका ध्यान करती हैं तो कृष्ण मुख पर मुरली धर बजाने लगते हैं। अर्थात् उनका वह मुरली बजाता हुआ रूप हमारे हृदय में मानो साकार-सा हो उठता है। जब हम चन्द्रमा को देखती हैं तो यमुना-तट पर कृष्ण के साथ की गई रास-क्रीड़ा की स्मृति मन में भर उठती है, क्योंकि पूर्णिमा की रात्रि में ही हम वहाँ रास रचाया करती थीं।

हे उद्धव ! जिससे हृदय से प्रेम की लगन हुआ करती है, उसके अवगुण (बुराइयाँ) भी मन को अच्छे लगने लगते हैं। इसलिए कृष्ण के अवगुण भी हमें अच्छे लगते हैं। यदि कृष्ण हम से सच्चा प्रेम करते होते तो छोटी नीच जाति की होने के हमारे अवगुण भी उन्हें अच्छे लगते। परन्तु असलियत यह है कि वह हम से हृदय से प्रेम नहीं करते थे। उन्होंने हमारे प्रति तो कपटपूर्ण व्यवहार किया है, उसके सम्बन्ध में उन्हें यह भय है कि यदि संसार को उनके इस कपटपूर्ण व्यवहार का पता चल गया तो उनकी बहुत बदनामी होगी। उन्हें यह भी भय है कि कहीं हम उनके इस कपट का पर्दाफाश न कर दें। इसी कारण वह हमारे प्रति अपना प्रेम दिखा रहे हैं। अर्थात् उन्होंने तुम्हें यहाँ संसार को यही दिखाने के लिए हमारे पास भेजा है कि वह हमसे प्रेम करते हैं। वस्तुतः अपने कपटपूर्ण व्यवहार को संसार की नजरों से छिपाने के लिए ही उन्होंने यह चाल चली है।

विशेष—(१) 'सो रसरास····आवत' में स्मरण अलंकार है।
(२) स्मृति संचारी भी माना जा सकता है।

ऊधो बात तिहारी जानी।
आए हौ ब्रज को बिन काजहि, दहत हृदय कटु बानी ।।
जो पै स्याम रहत घट तौ कत बिरह-बिथा न परानी ?
झूठी बातनि क्यों मन मानत चलमति, अलप गियानी ।।
जोग-जुगुति की नीति अगम हम ब्रजबासिनि कह जाने ?
सिखबहु जाय जहाँ नटनागर रहत प्रेम लपटाने ।।
दासी घेरि रहे हरि, तुम ह्याँ गढ़ि गढ़ि कहत बनाई।
निपट निलज्ज अजहुँ न चलत उठि कहत सूर समुझाई ।।२२७।।

शब्दार्थ—घट=हृदय में। कत=क्यों। परानी=भाग गई, दूर हो गई। चलमति=चंचल मति वाला। अलप=अल्प, थोड़ा। गियानी=ज्ञानी, बुद्धि वाला। नटनागर=कृष्ण। गढ़ि गढ़ि=बना-बना कर। अजहुँ=अब भी।

भावार्थ—उद्धव द्वारा बार-बार योग-ज्ञान की चर्चा किए जाने पर गोपियाँ झुँझला उठती हैं और उन्हें खूब उल्टी-सीधी सुनाती हुई कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! अब हम तुम्हारे यहाँ आने और इस प्रकार की व्यर्थ बातें करने के रहस्य को जान गई हैं। असली बात यह है कि तुम्हारे पास करने को कुछ काम-काज तो है नहीं, निठल्ले इधर-उधर घूमते-फिरते हो। इसलिए बिना किसी काम के यहाँ व्रज में आ धमके हो और कठोर वचन (योग के) कह-कहकर हमारे हृदय को जला रहे हो। यह बताओ कि यदि तुम्हारे कथनानुसार कृष्ण हमारे हृदयों में ही विराजमान रहते हैं (ब्रह्म घट-घट वासी माना गया है और कृष्ण ब्रह्म के ही रूप हैं) तो हमारे हृदय में स्थित यह विरह-व्यथा दूर क्यों नहीं हो गई ? अर्थात् जब कृष्ण सदैव हमारे भीतर ही निवास करते हैं तो उनसे बिछोह होने और विरह-व्यथा उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में तुम्हारी इन झूठी बातों को हमारा मन कैसे सच्चा मान स्वीकार कर सकता है ? परन्तु इसके लिए तुम्हें दोष क्या दें, क्योंकि तुम अस्थिर मति और अल्प बुद्धि (मूर्ख) होने के कारण ही ऐसी झूठी और ऊट-पटाँग बातें बकते रहते हो। कोई उनका कैसे विश्वास कर ले ?

अगर तुम्हारे पास बुद्धि होती, सोचने-समझने की शक्ति होती तो क्या तुम इस बात को नहीं समझ जाते कि कहाँ तो तुम्हारी योग-साधना की अगम्य, दुरूह युक्तियाँ और कहाँ हम व्रज की रहने वाली अबला-अशिक्षित युवतियाँ ! भला योग-साधना की ऐसी जटिल, कठिन साधना हमारे द्वारा कैसे सम्भव है ? इसे तो तुम वहाँ मथुरा जाकर सिखाओ जहाँ नटनागर कृष्ण दिन-रात कुब्जा के साथ प्रेम में लिपटे हुए पड़े रहते हैं। अर्थात् इस योग-साधना को जाकर कृष्ण को ही सिखाओ, क्योंकि दिन-रात विलास में डूबे रहने के कारण उन्हें ही इसकी सबसे अधिक जरूरत है। (भोग से विरक्ति ही योग-साधना मानी जाती है।)

वहाँ कृष्ण तो दासी कुब्जा को घेरे (उसे अपने घर बैठाकर) रहते हैं, उसके साथ भोग-विलास करते रहते हैं और तुम यहाँ हमारे पास आकर गढ़-गढ़कर बातें बना हमें योग-साधना का उपदेश दे रहे हो। जबकि इस उपदेश की सबसे ज्यादा जरूरत तुम्हारे उन कृष्ण को ही है। परन्तु तुम तो इतने पक्के बेशर्म हो कि हमारे इस प्रकार समझा कर साफ-साफ कह देने पर भी यहाँ से उठकर चले नहीं जाते। भाव यह है कि गोपियाँ उद्धव से स्पष्ट यह कह रही हैं कि अब उन्हें वहाँ से काला मुँह कर जाना चाहिए, चले जाना चाहिए।

विशेष—'जो पै····न परानी'—कहकर गोपियाँ निर्गुण ब्रह्म की सर्वव्यापकता का खण्डन कर रही हैं।

ऊधो ! राखति हौं पति तेरी ।
ह्याँ तें जाहु, दुरहु आगे तें देखत आँखि बरति हैं मेरी ।।
तुम जो कहत गोपाल सत्य है, देखहु जाय न कुब्जा घेरी ।
ते तौ तैसेइ दोउ बने हैं, वे अहीर वह कंस की चेरी ।।
तुम सारिखे बसीठ पठाए, कहा कहौं उनकी मति फेरी ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन को ग्वालिनि कै सँग जोवत हेरी ।।२२८।।

शब्दार्थ—पति=इज्जत, मान-मर्यादा । दुरहु=दूर हो जाओ, छिप जाओ । बरति=जलती हैं । चेरी=दासी । सारिखे=समान । बसीठ=दूत । कै संग=मिल कर । जोवत हेरी=टकटकी लगाए प्रतीक्षा करती रहती है ।

भावार्थ—उद्धव द्वारा बार-बार कृष्ण को त्याग, निर्गुण की आराधना करने का उपदेश सुन, गोपियाँ अत्यधिक क्रोध में भर जाती हैं और उद्धव को फटकारती हुई उनसे कहती हैं कि—

हे उद्धव ! हम तुम्हारी इज्जत रखे लेती हैं । अर्थात् यही बहुत है कि तुम्हें धक्के मार कर यहाँ से न भगा, तुम्हारी इज्जत को बचाए ले रही हैं (क्योंकि तुम कृष्ण के सखा अतः हमारे पूज्य हो ।) परन्तु हम तुमसे इतना कहे दे रही हैं कि तुम यहाँ से चले जाओ, हमारे सामने से अपना मुँह काला कर जाओ; क्योंकि तुम्हें देख क्रोध के मारे हमारी आँखें जलने लगती हैं, आँखों में खून उतर आता है । तुम जो यह कहते हो कि कृष्ण सत्य-स्वरूप हैं, ब्रह्म होने के कारण सच्चिदानन्द-स्वरूप है तो यदि तुम्हें उनका यही सत्य-स्वरूप (असली रूप) देखना हो तो वहाँ मथुरा जाकर देखो जहाँ वह कुब्जा को घेरे बैठे है । उसे अपने घर में डाल रखा है । अर्थात् कृष्ण का असली रूप तो वही कुब्जा वाला रूप हैं, न कि वह जो तुम बता रहे हो । वे दोनों अर्थात् कृष्ण और कुब्जा एक से ही बने हुए हैं, दोनों की खूब एक-सी जोड़ी मिली है । कृष्ण अहीर हैं और कुब्जा कंस की दासी है । अर्थात् दोनों ही एक-से ही छोटी जाति और मर्यादा वाले हैं ।

और सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्हें हमारे पास सन्देश भेजने के लिए केवल तुम सरीखा (तुम्हारे समान) दूत ही मिला । अर्थात् अन्य कोई भला आदमी नहीं मिला । अब इस मूर्खता के लिए हम क्या कहें ! उनकी तो मति ही मारी गई है । यह कहकर गोपियाँ कृष्ण की याद कर व्याकुल हो गईं और कृष्ण को सम्बोधन कर कहने लगीं कि) हे स्वामी ! हम सब गोपियाँ एकत्र होकर तुमसे मिलने के लिए बैठी रात-दिन टकटकी बाँध तुम्हारी प्रतीक्षा करतीं, तुम्हारी राह देखती रहती हैं ।

विशेष—(१) कुब्जा के प्रति असूया भाव (सौतिया डाह) होने के कारण यहाँ असूया संचारी भाव है । यह सौतिया डाह का सुन्दर उदाहरण है ।

(२) गोपियाँ अपनी शालीनता त्याग उद्दण्ड और उच्छृङ्खल हो उठी हैं । उनका

क्रोध उद्धव से आरम्भ होकर कुब्जा पर जा उतरता है और फिर अन्त में वे अपना सारा क्रोध भूल कातर और दीन वन प्रार्थना करने लगती हैं। विभिन्न भावों के इस चढ़ाव-उतार ने इस पद में एक अप्रत्यक्ष परन्तु मार्मिक नाटकीयता उत्पन्न कर दी है। इसे कला की दृष्टि से सुन्दर और प्रभावशाली स्वीकार किया जा सकता है।

राग नट

ऊधो बेदबचन परमान।
कमल-मुख पर नयन-खंजन देखिहैं क्यों आन ?
श्री निकेत-समेत सब गुन, सकल-रूप-निधान।
अधर-सुधा पिवाय बिछुरे पठै दीनो ज्ञान।।
दूरि नहीं दयाल सब घट कहत एक समान।
निकसि क्यों न गोपाल बोधत दुखिन के दुख जान ?
रूप-रेख न देखिए, बिन स्वाद सब्द भुलान।
ईखदंडहि डारि हरिगुन, गहत पानि बिषान।।
बीतराग सुजान जोगिन भक्तजनन निवास।
निगम-बानी मेटिकै क्यों कहै सूरजदास ? ।।२२९।।

शब्दार्थ—परमान=प्रमाण्य, सत्य। आन=अन्य को। श्रीनिकेत=शोभा के धाम, समूह। पठं दीनो=भेज दिया। निकसि=निकल कर। बोधत=समझाते। शब्द भुलान=शब्दों की भूलभुलैया। ईखदंडहि=गन्ने को। डारि=फेंक कर। पानि=पाणि, हाथ। बिषान=सींग। बीतराग=संसार में पूर्णतः निर्लिप्त, परमहंस। निगम-बानी=वेदों की वाणी, उपदेश।

भावार्थ—उद्धव द्वारा उपदेशित निर्गुण ब्रह्म की आराधना को अपने लिए नितान्त अनुपयोगी और अनुचित बताती हुई गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! वेदों के वचन प्रमाण्य अर्थात् सत्य होते हैं। परन्तु जिन्होंने कृष्ण के कमल-समान सुन्दर मुख पर उनके खंजन के समान चंचल नेत्रों की क्रीड़ा के सौन्दर्य को देखा है, वे किसी अन्य की ओर देखना क्यों पसन्द करेंगे ? अर्थात् उस सौन्दर्य के अतिरिक्त फिर अन्य किसी को देखने की चाह ही नहीं रह जाती। भाव यह है कि उद्धव का योग-मार्ग वेदों द्वारा प्रमाण्य-समर्थित होने के कारण सबको मान्य होना चाहिए, परन्तु गोपियों की विवशता तो यह है कि उन्हें कृष्ण के उस सौन्दर्य के सामने किसी दूसरे की ओर देखना अच्छा ही नहीं लगता। वे चाहने पर भी निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार नहीं कर सकतीं। यही उनकी विवशता है। गोपियाँ कहती हैं कि हमारे कृष्ण सम्पूर्ण शोभा के साथ-साथ समस्त गुणों के आगार हैं, भण्डार हैं, सम्पूर्ण सौन्दर्य के समुच्चय (भण्डार) हैं। ऐसे कृष्ण ने पहले तो हमें अपने अधरामृत का

पान करा कर अमित आनन्द प्रदान किया था और फिर हमसे बिछुड़ने पर हमारे लिए यह ज्ञान का सन्देश भेज दिया है।

हे उद्धव ! तुम कहते हो कि वह दयालु कृष्ण हमसे दूर न होकर एक समान सब के घट-घट में निवास करते हैं; अर्थात् हमारे हृदय में ही स्थित रहते हैं। यदि ऐसी बात है तो वे हम दुखियों के दुःख को जान हृदय से बाहर निकल हमें समझाते क्यों नहीं, सान्त्वना क्यों नहीं प्रदान करते ? तुम कहते हो कि ब्रह्म रूपरेखा-हीन अर्थात् अरूप है, स्वाद हीन अर्थात् रस हीन है। परन्तु तुम्हारी यह शब्दों की भूल-भुलैया हमारी समझ में नहीं आती। जब तुम्हारा ब्रह्म ऐसा ही है, इतना रूपहीन और नीरस है तो हम अपने साकार-सरस कृष्ण को त्याग उसे कैसे स्वीकार कर लें ? कृष्ण को भुला ब्रह्म को स्वीकार कर लेना वैसा ही मूर्खतापूर्ण कार्य होगा, जैसे कोई हाथ के गन्ने को फेंककर सूखा हुआ सींग उठा ले। कृष्ण के गुण हमारे लिए गन्ने के रस के समान मधुर और सरस हैं तथा निर्गुण बह्म सूखे हुए सींग के समान अशुभ, अपवित्र और व्यर्थ है।

हे उद्धव ! योगी लोग तो ज्ञानी और वीतराग होते हैं। वे सम्पूर्ण सांसारिक माया-मोह त्याग, ज्ञान द्वारा निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन करते हैं और भक्त लोग इसी संसार में रहते हुए अपने आराध्य कृष्ण के मधुर-मोहक रूप के पूर्ण अनुरागी बने जीवन व्यतीत करते हैं अर्थात् योगी राग से परे होते हैं और भक्त अनुरागी होते हैं। वेदों का कथन यही है। फिर तुम इस वेद-वाक्य का उल्लंघन, खण्डन कर हम भक्तों को योग-मार्ग की शिक्षा देने का प्रयत्न क्यों कर रहे हो ? अर्थात् ऐसा करके तुम वेदों का विरोध करते हो और यह अनुचित कार्य है।

विशेष—(१) गोपियाँ योग-मार्ग और भक्ति-मार्ग को ब्रह्म-प्राप्ति के दो भिन्न मार्ग सिद्ध कर भक्ति-मार्ग को योग-मार्ग से श्रेष्ठ, सरस और सरल-ग्राह्य घोषित कर रही हैं।

(२) 'कमल-सुख' में उपमा; 'नयन-खंजन' में रूपक; तथा 'बिन····विषान' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

राग सारंग

ऊधो अब चित भए कठोर।
पूरब प्रीति बिसारी गिरिवर, नवतन राचे ओर ॥
जा दिन तें मधुपुरी सिधारे, धीरज रह्यो न मोर।
जन्म-जन्म की दासी तुम्हरी, नागर नंदकिसोर ॥
चितवनि-बान लगाए मोहन, निकसे उर बहि ओर।
सूरदास प्रभु कबहिं मिलौगे, कहाँ रहे रनछोर ? ॥२३०॥

शब्दार्थ—पूरब=पहली, पुरानी। नवतन=नये शरीर, नयों के प्रति।

राचे=अनुरक्त हो रहे। मोर=मेरा। वहि ओर=उस पार, दूसरी तरफ। रनछोर =रण छोड़कर भाग जाने वाले।

भावार्थ—गोपियाँ प्रेम के क्षेत्र में कृष्ण द्वारा पीठ दिखाकर भाग जाने अर्थात् विश्वासघात करने पर कटाक्ष करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! अब कृष्ण का हृदय हमारे प्रति कठोर हो गया है। उन्होंने हमारे साथ किये पहले (पुराने) प्रेम को भुला दिया है और अब वह अन्य नये शरीर अर्थात् नई- नवेली कुब्जा के प्रेम में अनुरक्त हो रहे हैं। जिस दिन से वे मथुरा गये हैं, हमारा सारा धैर्य समाप्त हो गया है। अर्थात् उनके विरह में हम निरन्तर व्याकुल बनी रहती हैं। हे चतुर नन्दकिशोर कृष्ण ! हम तो तुम्हारी जन्म-जन्म की दासियाँ हैं (फिर तुम हमारी प्रीति को भुला, हमें त्याग हमारे प्रति इतने कठोर क्यों बन गए हो ?)

हे मोहन ! तुमने हमारे हृदय में अपने चितवन-रूपी वाण अर्थात् कटाक्ष मारे थे जो हमारे हृदय में घुस कर दूसरी ओर जा निकले हैं। (शरीर में आर-पार बिंधा हुआ बाण निकल नहीं सकता।) भाव यह है कि तुम्हारा वह कटाक्ष हमारे हृदय में समा कर हमें निरन्तर अमित वेदना पहुँचाया करता है। हम उसे भुला नहीं पातीं। हे स्वामी ! तुम कब मिलोगे ? हे रणक्षेत्र में पीठ दिखाकर भाग जाने वाले रणछोड़ ! तुम कहाँ हो ? भाव यह है कि गोपियाँ कृष्ण को रणछोड़ इसलिए कह रही हैं क्योंकि कृष्ण प्रेम के रणक्षेत्र से पीठ मोड़कर भाग खड़े हुए हैं। अर्थात् गोपियों के प्रेम को त्याग कुब्जा से प्रेम करने लगे हैं। (कृष्ण का एक नाम 'रणछोड़' भी माना गया है। कृष्ण जरासन्ध के साथ हुए युद्धों में अनेक वार युद्ध-क्षेत्र छोड़कर भाग खड़े हुए थे और अन्त में उसी के भय के काण मथुरा छोड़ द्वारिका में जा बसे थे। सम्भवत: इसी कारण उनका नाम 'रणछोड़' पड़ गया है। इस नाम का अर्थ यह भी निकल सकता है कि जो शत्रु को रण छोड़ने के लिए बाध्य कर दे; अर्थात् अद्भुत पराक्रमी और सर्वजयी हो। यहाँ गोपियाँ 'रणछोड़' शब्द का व्यंग्य करती हुई कह रही हैं कि हे कृष्ण ! तुम तो 'रणछोड़'—रण छोड़कर भाग जाने के लिए प्रसिद्ध हो। अब इस प्रेम-रण को छोड़कर कहाँ जा छिपे हो ? इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि तुम तो दूसरों को रण छुड़वा, उन्हें रणक्षेत्र से भगा देने के लिए प्रसिद्ध हो, फिर स्वयं रण छोड़कर क्यों भाग खड़े हुए हो ?)

विशेष—(१) 'रणछोड़' शब्द में श्लेष द्वारा उत्पन्न व्यंग्य दर्शनीय है।

(२) जायसी ने भी प्रेम-प्रसंग में इसी प्रकार का युद्ध रूपक बाँधा है।

(३) 'चितवनि-बान' में रूपक; 'रणछोड़' में श्लेष और परिकर; तथा 'चितवनि-वान·······वहि ओर' अतिशयोक्ति अलंकार है।

ऊधो ! अब नहिं स्याम हमारे।
मधबन बसत बदलि से गे वे, माधव मधुप तिहारे॥

इतनहिं दूरि भए कछु औरै, जोग जोय मगु हारे।
कपटी कुटिल काक कोकिल ज्यों, अंत भए उड़ि न्यारे।।
रस लै भँवर जाय स्वारथ-हित, प्रीतम चितहिं बिसारे।
सूरदास तिनसों कह कहिए, जे तन हूँ मन कारे।।२३१।।

शब्दार्थ—गे=गए। जोय-जोय मगु=रास्ता देख-देखकर। न्यारे=अलग। बिसारे=भुला दिया।

शब्दार्थ—गोपियाँ इस बार से बहुत दुःखी हैं कि कृष्ण उनके प्रेम के साथ विश्वासघात कर मथुरा जा वहीं के होकर रह गए हैं। वे अपनी इस बात को उद्धव से कह रहीं है कि—

हे उद्धव! अब कृष्ण हमारे नहीं रहे। मथुरा में बस कर (रहकर) अब वे बदल से गए हैं। हे मधुप! अब वे कृष्ण तुम्हारे बन गए हैं। अर्थात् कृष्ण हमसे सारा नाता तोड़कर अब केवल तुम्हारे ही हो गए हैं। वे इतनी सी ही दूरी पर जाकर कुछ और ही तरह के हो गए हैं। अर्थात् मथुरा गोकुल से ज्यादा दूर नहीं है परन्तु इतने थोड़े से अन्तर से ही उनमें इतना बड़ा परिवर्तन हो गया है कि हम उनका रास्ता देखते-देखते, प्रतीक्षा करते-करते हार गई हैं, हताश हो उठी हैं, परन्तु वे लौटकर नहीं आए। उन्होंने हमारे साथ वैसा ही कुटिलता भरा और कपटपूर्ण व्यवहार किया है, जैसे कोयल का बच्चा कौए के साथ करता है। कौआ कोयल के अण्डे को अपना समझ उसे सेता है और बच्चा निकलने पर बड़े प्रेम के साथ उसका पालन-पोषण करता है। परन्तु वह बच्चा बड़ा हो जाने पर कौए को त्याग अपने कुल में जा मिलता है और फिर लौटकर कभी उस कौए के पास नहीं आता। इसी प्रकार कृष्ण को ब्रजवासियों ने पाला-पोसा, लाड़-प्यार किया, परन्तु जब वे बड़े हो गए तो उन्हें त्याग मथुरा पहुँच, अपने कुल में जा मिले और फिर कभी लौटकर नहीं आए।

इसके अतिरिक्त उन्होंने हमारे साथ वैसा ही व्यवहार किया है, जैसा भ्रमर फूलों के साथ करता है। भ्रमर अपने स्वार्थ के कारण, रस-लोभ के कारण फूलों से बनावटी प्रेम करता है और उनका रसपान करने के उपरान्त उन्हें त्याग अन्यत्र चला जाता है और उन फूलों को बिल्कुल भुला देता है, कभी उनको याद नहीं करता। कृष्ण ने भी हमारे साथ केलि-क्रीड़ाएँ करने के लिए बनावटी प्रेम का अभिनय किया था और हमारे साथ खूब रस-भोग करने के उपरान्त हमें त्याग मथुरा चले गए और हमें पूरी तरह से भुला दिया है। वे ऐसे प्रियतम हैं, जो स्वार्थ-वश प्रेम करते हैं और स्वार्थ-सिद्धि हो जाने पर कभी याद तक नहीं करते। परन्तु ऐसे लोगों से क्या कहा जाय, उन्हें क्या उलाहना दिया जाय जो शरीर और मन—दोनों से ही काले अर्थात् कपटी होते हैं। भाव यह है कि कृष्ण दोनों ही प्रकार से कपटी और विश्वासघाती हैं। शरीर के समान उनका मन भी काला है।

विशेष—(१) गोपियों का उपालम्भ और विरह-व्यथा की गहनता द्रष्टव्य है।

(२) 'कपटी····कोकिल' में उपमा तथा अनुप्रास; तथा 'जोय-जोय' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।

ऊधो ! पा लागौं भले आए।
तुम देखे जनु माधव देखे, तुम त्रयताप नसाए।।
नंद जसोदा नातो टूटो, बेद पुरानन गाए।
हम अहीरि, तुम अहीर नाम तजि, निर्गुन नाम लखाए।।
तब यहि घोष खेल बहु खेले, ऊखल भुजा बँधाए।
सूरदास प्रभु यहै सूल जिय, बहुरि न चरन दिखाए।।२३२।।

शब्दार्थ—पा लागौं=चरण स्पर्श करना। भले=अच्छे। त्रयताप=तीनों तरह के दैहिक, दैविक, भौतिक दुःख। नसाए=नष्ट किए। लखाए=दिखाएं। घोष=अहीरों का गाँव। सूल=दुःख, काँटा। बहुरि=लौटकर।

भावार्थ—उद्धव द्वारा कृष्ण को ब्रह्म घोषित कर योग-मार्ग के अनुसार उनका वर्णन करने पर गोपियाँ व्यंग्य करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! हम तुम्हारे चरण छूती हैं। तुमने यहाँ आकर बहुत अच्छा किया। क्योंकि तुम्हें देखकर हमें वैसा ही आनन्द हुआ, मानो हमने स्वयं कृष्ण के ही दर्शन कर लिए हों; अर्थात् तुम में और कृष्ण में रूप-साम्य है और तुम हमारे लिए कृष्ण का सन्देश लेकर आए हो, इसलिए तुम्हें देख हमें कृष्ण को देखने जैसा ही आनन्द मिला है। तुमने हमारे तीनों प्रकार के (दैहिक, दैविक, भौतिक) दुःखों को दूर कर दिया है। अर्थात् तुमने निर्गुण ब्रह्म की व्याख्या कर यह सिद्ध कर दिया है कि हमारे कृष्ण ब्रह्म हैं। इसलिए हमें उन्हें भूल ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए। जब कृष्ण से नाता ही टूट गया, वे हमारे नहीं रहे तो उनके वियोग में हम जो इतना दुःख भोग रही थीं, वह स्वतः ही दूर हो गया। (यहाँ गोपियों का यही व्यंग्य अभिप्रेत है।) तुम्हारी व्याख्या के अनुराग कृष्ण का नन्द-यशोदा वाला नाता (सम्बन्ध) भी टूट गया अर्थात् जब कृष्ण नन्द-यशोदा के पुत्र न रहकर परम ब्रह्म बन गए हैं जिनका वेदों ने यश गाया है। चलो छुटटी हुई, जब कृष्ण हमारे वे कृष्ण ही नहीं रहे तो फिर उनके वियोग में रोना-बिसूरना क्या ! हे उद्धव ! हम तो जाति की अहीर हैं और अहीर ही रहेंगी परन्तु तुमने तो कृष्ण के अहीर नाम को दूर कर, यह सिद्ध कर कि कृष्ण अहीर न होकर निर्गुण नामधारी ब्रह्म हैं, हमें उनके दर्शन कराए हैं। (ब्रह्म अगोचर, अलक्ष्य माना गया है और उद्धव गोपियों को उसी का दर्शन करा रहे हैं। यहाँ 'लखाए' शब्द द्वारा इसी अद्भुत, असम्भव कर्म के प्रति गोपियाँ व्यंग्य कर रही हैं।)

जब कृष्ण अहीर थे, यहाँ अहीरों के गाँव में रहते थे, तब तो उन्होंने यहाँ तरह-तरह के खेल खेले थे, क्रीड़ाएँ की थीं और (माखन चुराने पर) ऊखल से अपने हाथ बँधवाए थे। अर्थात् उस समय वह निर्गुण ब्रह्म न होकर साकार-सगुण रूप थे। हमारे मन में तो एक यही दुःख सालता रहता है कि उन्होंने यहाँ से जाने के बाद

लौटकर हमें अपने श्री चरणों के दर्शन नहीं कराए। अर्थात् कृष्ण मथुरा जाकर भले ही निर्गुण ब्रह्म बन गए हों, परन्तु हमें तो उनके उसी सगुण-साकार रूप के दर्शन करने की ही एकमात्र कामना है। इसलिए हम तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार नहीं कर सकतीं।

विशेष—(१) 'तुम देखे····देखे' में उत्प्रेक्षा; तथा 'पा लागौं' में वक्रोक्ति अलंकार है।

(२) गोपियाँ उद्धव के निर्गुण ब्रह्म पर गहरा व्यंग्य कर रही हैं।

ऊधो ! निरगुन कहत हौ तुमहीं अब धौं लेहु।
सगुन मूरति नंदनँदन हमहि आनि सु देहू ॥
अगम पंथ परम कठिन गवन तहाँ नाहि।
सनकादिक भूलि परे अबला कहँ जाहि ?
पंचतत्व प्रकृति कहो अपर कैसे जानि ?
मन-बच-क्रम कहत सूर बैरनि की बानि ॥२३३॥

शब्दार्थ—आनि=लाकर। सनकादिक=सनक आदि ऋषिगण। अपर=परे, अन्य। क्रम=कर्म। बैरनि की बानि=शत्रुओं का-सा व्यवहार।

भावार्थ—गोपियाँ निर्गुण की प्राप्ति को दुष्कर और असम्भव तथा सगुण की प्राप्ति को सहज-सुलभ घोषित करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम जिस निर्गुण-ब्रह्म की बात कह रहे हो उसे अब तुम्हीं ले लो। हमें वह नहीं चाहिए। हमें तो नन्दनन्दन कृष्ण की सगुण मूर्ति ही लाकर दे दो। अर्थात् हमें कृष्ण के दर्शन करा दो। क्योंकि तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग (योग-साधना) अगम्य और अत्यन्त कठिन है। उस मार्ग पर चलना नहीं हो सकता। जब उस मार्ग पर चलने का प्रयत्न करते हुए सनक आदि ऋषि भी मार्ग भूल गए (साधना-भ्रष्ट हो गए) तो हम अबलाएँ उस मार्ग पर कैसे चल सकती हैं ? अर्थात् हम अबलाओं के लिए योग-साधना करना सर्वथा असम्भव है। तुम जो यह कहते हो कि निर्गुण ब्रह्म पाँच तत्त्वों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—से परे है तो फिर उन्हीं पाँच तत्त्वों से निर्मित शरीर वाली हम अबलाएँ उसे कैसे जान सकती हैं, कैसे उसका ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं ? परन्तु हे उद्धव ! तुम बार-बार उन्हीं बातों को दुहरा कर हमारे साथ वैसा ही कठोर, द्वेषपूर्ण व्यवहार कर रहे हो जैसा शत्रु करता है। तुम अपने मन, वचन और कर्म द्वारा समर्पित बातें कर हमारे साथ शत्रु का-सा व्यवहार कर रहे हो। असम्भव की प्राप्ति का उपदेश दे रहे हो।

विशेष—(१) इस पद में निर्गुण को सर्वथा अगम्य और अप्राप्य तथा सगुण को सहज और प्राप्य सिद्ध किया गया है।

ऊधो ! और कछू कहिबे को ?
सोऊ कहि डारौ पा लागैं, हम सब सुनि सहिबे को ।।
यह उपदेश आज लौं, मैं सखि, स्त्रवन सुन्यो नहिं देख्यो।
नीरस कटुक तपत जीवनगत, चाहत मन उर लेख्यो !
बसत स्याम निकसत न एक पल हिये मनोहर ऐन।
या कहँ यहाँ ठौर नाहीं, लै राखौ जहाँ सुचैन ।।
हम सब सखि गोपाल-उपासिनि हमसों बातैं छाँड़ि।
सूर मधुप ! लै राखु मधुपुरी, कुबजा के घर गाड़ि ।।२३४।।

शब्दार्थ—कहिबे को=कहने के लिए। कटुक=कड़वा। तपत=जलाने वाला। जीवनगत=जीवन के लिए। लेख्यो=लिखना, अंकित करना। ऐन=अयन, समूह। या कहँ=इसके अर्थात् निर्गुण के लिए। ठौर=स्थान। सुचैन=सुख-शान्ति मिले। गाड़ि=गाढ़कर, खूब सम्हाल कर।

भावार्थ—उद्धव के निर्गुण-उपदेश की भर्त्सना करती हुई गोपियाँ झुँझला कर उनसे कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! यदि तुम्हें हमसे और कुछ भी कहना हो तो उसे भी कह डालो। हम तुम्हारे चरण छूती हैं। हम तुम्हारी सारी (अनर्गल) बातें सुनकर सहन कर लेंगी। अर्थात् तुम्हारे मन में जो कुछ भी हो उसे निस्संकोच कह डालो। जहाँ इतना सहा है, उसे भी सह लेंगी। इसके उपरान्त कोई गोपी दूसरी गोपी से कहती है कि हे सखि ! मैंने आज तक अपने कानों से न तो कभी ऐसा उपदेश सुना ही है और न किसी को ऐसा उपदेश देते देखा ही है। इनका यह उपदेश नीरस और कड़वा है और जीवन में दुःख देने वाला है। और ये हजरत अपने ऐसे इस उपदेश को हमारे मन और हृदय में अंकित कर देना चाहते हैं। हमारे द्वारा इसे स्वीकार करा लेने के लिए अथक प्रयत्न कर रहे हैं। लेकिन हमारे इस हृदय में तो सुन्दरता के समूह कृष्ण निवास करते हैं और क्षण भर के लिए भी बाहर नहीं निकलते। अर्थात् हम निरन्तर हृदय में कृष्ण का ही ध्यान करती रहती हैं। इसलिए हमारे इस हृदय में तो इस निर्गुण ब्रह्म के लिए कोई स्थान है ही नहीं। अतः ये उद्धव इसे ले जाकर वहाँ रखें, जहाँ यह सुख-चैन के साथ रह सके।

हम सब सखियाँ तो एकमात्र गोपाल कृष्ण की ही उपासिका हैं। इसलिए हे उद्धव ! तुम हमसे निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी ऐसी बातें मत करो। हे मधुप ! (यहाँ उद्धव से ही अभिप्राय है) तुम इसे अपने साथ मथुरा ले जाओ और वहीं कुब्जा के घर में खूब अच्छी तरह से गाढ़कर रख दो। भाव यह है कि तुम्हारा यह निर्गुण-ब्रह्म कुब्जा के ही उपयुक्त है। क्योंकि वही आजकल भोग-विलास में डूबी हुई है, इसलिए वैराग्य-साधना की उसे ही जरूरत है, हमें नहीं। हम तो कृष्ण-वियोग में वैसे ही योग-साधना-सी कर रही हैं।

विशेष—(१) इस पद में काकुवक्रोक्ति अलंकार है।

(२) कुब्जा पर व्यंग्य होने के कारण असूया संचारी भाव भी है। गोपियों का महीन, मीठा व्यंग्य और कुब्जा के प्रति असूया (सौतिया) भाव दर्शनीय है।

राग आसावरी

ऊधो ! कहियो सबै सोहती।
जानि ज्ञान सिखवन तुम आए, सो कहो व्रज में कोय ती ?
अंतहु सीख सुनहुगे हमरो, कहियत बात बिचारि।
फुरत न बचन कछू कहिबे को, रहे प्रीत सों हारि॥
देखियत हौ करुना की मूरति, सुनियत हौ परपीरक।
सोय करौ ज्यों मिटै हृदय को दाह, परै उर सीरक॥
राजपंथ तें टारि बतावत उरझ कुबील कुपैंड़ों।
सूरदास समाय कहाँ लौं, अज के बदन कुम्हैड़ो ? ॥२३५॥

शब्दार्थ—सबै=सबको। सोहती=अच्छी लगने वाली। कोय ती=कौन स्त्री। अन्तहु=अन्त में ही। फुरत=मुँह से निकलता है। परपीरक=दूसरों की पीड़ा समझने वाले। सोय=वही। सीरक=ठंडक, शीतलता। टारि=हटाकर। उरझ=उलझन पूर्ण। कुबील=काँटों से भरा। कुपैंड़ों=बुरा, ऊबड़-खाबड़ रास्ता। अज=बकरी। कुम्हैड़ो=काशीफल, कुम्हड़ा, कद्दू।

भावार्थ—निर्गुणोपासना का अनौचित्य स्पष्ट करती हुई गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम्हें ऐसी बात कहनी चाहिए, जो सबको अच्छी लगे। अर्थात् केवल स्वयं को ही अच्छी लगने वाली बात न कहकर, सबको भली लगने वाली और कल्याणकारी बात कहो। अच्छा, यह बताओ कि इस व्रज में तुम्हें कोई भी ऐसी स्त्री मिली, जिसे तुम योग सिखाने के लिए यहाँ पधारे हो ? अर्थात् यहाँ कोई भी स्त्री ऐसी नहीं है जो तुम्हारे योग को सीख सके। हम तो हर बात बहुत सोच-समझकर कहती हैं। अगर तुम इस समय हमारी बात नहीं मानोगे तो अन्त में तो तुम्हें झख मारकर हमारी बात माननी ही पड़ेगी। क्योंकि हम जो कुछ कह रही हैं वही एकमात्र सत्य और सबका कल्याण करने वाली बातें हैं। अभी तुम्हारी यह हालत हो रही है कि हमारी बातें सुनकर तुम उनका कुछ भी उत्तर नहीं दे पा रहे हो और हमारे प्रेम की अनन्यता और गम्भीरता को देख उसके सामने अपनी पराजय स्वीकार कर मौन बैठे रह गए हो।

हे उद्धव ! तुम देखने में साक्षात् करुणा की मूर्त्ति जैसे जान पड़ते हो। अर्थात् तुम्हारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व करुणा का साक्षात् रूप-सा दिखाई पड़ता है। और तुम्हारे सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध है कि तुम दूसरों की पीड़ा को समझने वाले और उसका

अनुभव करने वाले भी हो। अर्थात् तुम सबकी पीड़ा (दुःख) का स्वयं अनुभव कर उसे दूर करने का प्रयत्न करते रहते हो। इसलिए ऐसा प्रयत्न करो, जिससे हमारे हृदय का यह दाह (विरह की जलन) दूर हो जाय और हमारे हृदय शीतल हो जायँ। भाव यह है कि तुम किसी प्रकार हमारे कृष्ण को यहाँ ला, हमें उनके दर्शन करा, हमारी विरह-व्यथा को दूर कर हमारे हृदय को शान्ति प्रदान करो। परन्तु इसके विपरीत तुम ऐसा अनुचित और अन्यायपूर्ण काम कर रहे हो कि हमें प्रशस्त, सरल राजमार्ग जैसे प्रेम पंथ से हटाकर अपने उलझनों से भरे, कंटकाकीर्ण, ऊबड़-खाबड़ योग-मार्ग पर चलने की शिक्षा दे रहे हो। तुम ऐसा करके वैसा ही असम्भव प्रयत्न कर रहे हो, जैसे कोई बकरी के छोटे-से मुँह में बड़ा-सा काशीभूल ठूँसने की कोशिश करे। भला कहीं, बकरी के मुँह में काशीफल समा सकता है? जिस प्रकार यह असम्भव है, उसी प्रकार हम प्रेम-साधिका गोपियों द्वारा तुम्हारी यह योग-साधना स्वीकार कर लेना भी असम्भव है।

विशेष—(१) इस पद में 'अंतहु·······बिचारि' कहकर गोपियाँ भ्रमरगीत-प्रसंग की उस सुखद परिणति की ओर संकेत कर रही हैं, जिसके अनुसार अन्त में गोपियों की प्रेम-साधना से प्रभावित हो उद्धव को प्रेम की महत्ता को स्वीकार करना पड़ा था। यह पंक्ति निर्गुण पर सगुण की विजय की उद्घोषणा कर रही है।

(२) 'परपीरक' शब्द में श्लेष है। साधारणतः इसका अर्थ होता है—दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाला। परन्तु यहाँ गोपियाँ इस शब्द का प्रयोग कर उसका यह अर्थ ध्वनित कर रही हैं कि दूसरों की पीड़ा को समझने और अनुभव करने वाला। यदि यहाँ पहला अर्थ लिया जाय तो काकु-वक्रोक्ति से इसका यह अर्थ होगा कि उद्धव देखने में तो करुणावान लगते हैं, परन्तु हैं दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाले। चमत्कार की दृष्टि से दोनों ही अर्थ स्वीकार किए जा सकते हैं।

(३) 'राजपंथ·······कुम्हैड़ो' में लोकोक्ति अलंकार है।

ऊधो! तुमहुँ सुनौ इक बात।
जो तुम करत सिखावन सों, हमैं नाहिंन नेकु सुहात॥
ससि दरसन बिनु मलिन कुमोदिनि, ज्यों रवि बिनु जलजात।
त्यों हम कमलनयन बिनु देखे, तलफि-तलफि मुरझात॥
घँसि चँदन घनसार सजे तन, ते क्यों भस्म भरात?
रहे स्रवन मुरलीधर सों रत, सिंगी सुनत डरात॥
अबलनि आनि जोग उसदेसत, नाहिंन नेकु लजात।
जिन पायो हरि परस सुधारस, ते कैसे कटु खात?
अवधि आस गनि-गनि जीवति हैं, अब नहीं प्रान खटात।
सूर स्याम हम निपट बिसारी, ज्यों तरु जीरन पात॥२३६॥

शब्दार्थ—तुमहुँ=तुम भी। नेकु=तनिक भी। मलिन=मुरझाई हुई। जलजात=कमल। घँसि=घिसकर। घनसार=कपूर। भरात=भरना। रत=अनुरक्त। आनि=आकर। परस=स्पर्श कर। गनि-गनि=गिन-गिन कर। खटात=खटना। जीरन=जीर्ण, सूखे। निपट=बिल्कुल।

भावार्थ—उद्धव के ज्ञानोपदेश को बार-बार सुनकर गोपियाँ अपनी असीम विरह-व्यथा का वर्णन करतीं और निर्गुण को अपने लिए पूर्णतः अनुपयुक्त सिद्ध करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! (हम इतनी देर से तुम्हारी सारी अनर्गल बातें सुनती रही हैं, अब) तुम भी हमारी एक बात सुन लो ! तुम हमें जो उपदेश दे रहे हो, वह हमें तनिक भी नहीं सुहाता, अच्छा नहीं लगता। जिस प्रकार कुमोदिनी चन्द्रमा को और कमल सूर्य को बिना देखे हुए मुरझाए रहते हैं (कुमोदिनी चन्द्रमा को देख खिलती है और कमल सूर्य को), उसी प्रकार हम कमल जैसे सुन्दर नेत्रों वाले अपने कृष्ण को न देख पाकर, उनके वियोग में तड़प-तड़पकर मुरझाती चली जा रही हैं; अर्थात् हमारा सम्पूर्ण शारीरिक सौन्दर्य नष्ट हुआ जा रहा है। हमने अपने जिन शरीरों को चन्दन और कपूर घिस-घिसकर सजाया था, अर्थात् शरीर पर चन्दन और कपूर लगाया था, अब उन शरीरों पर भस्म कैसे पोती जा सकती है ? हमारे जो कान सदैव कृष्ण की मुरली की मधुर ध्वनि सुनने में अनुरक्त रहते थे, अब वे कान सिंगी की कठोर-कर्कश ध्वनि को सुनकर डरते रहते हैं (योगी शरीर पर भस्म लगाते और सिंगी बजाया करते हैं। सिंगी—सींग का बना तुरही जैसा एक बाजा होता है)।

हे उद्धव ! तुम यहाँ आकर अबलाओं को योग का उपदेश दे रहे हो और अपने इस अनुचित कार्य पर तनिक भी लज्जा अनुभव नहीं करते। भला कहीं अबलाओं को भी योग का उपदेश दिया जाता है ? जिन्होंने अर्थात् हम गोपियों ने कृष्ण का स्पर्श कर उनके चुम्बन और आलिंगन का अमृत के समान मधुर रस-पान किया है, वे अब तुम्हारे नीरस, कड़वे निर्गुण ब्रह्म को कैसे स्वीकार कर सकती हैं ? हम तो केवल कृष्ण के आने की आशा में अवधि का एक-एक दिन गिनती हुई जीवित रह रही हैं। अब हमारे प्राण और अधिक कष्ट सहन कर इस शरीर में रहना नहीं चाहते। अर्थात् कृष्ण के आने की आशा ही हमें जीवित रखे हुए है। अब यह विरह-वेदना और अधिक नहीं सही जाती। कृष्ण ने तो हमें उसी तरह बिल्कुल भुला दिया है, जैसे वृक्ष अपने सूखे-पीले पत्तों को गिराकर उनकी फिर कभी खोज-खबर नहीं लेता।

विशेष—(१) नवीं पंक्ति में आए 'खटात' शब्द का अर्थ—खटने, अधिक परिश्रम करने से है। शुक्लजी ने इसका अर्थ—'ठहरता है' माना है। परन्तु यह अर्थ समीचीन नहीं प्रतीत होता।

(२) 'ससि····जलजात', तथा ज्यों तरु जीरन पात' में उपमा अलंकार हैं।

(२) पाँचवीं पंक्ति में 'सजे' और 'भरात' शब्दों का प्रयोग कर सूर ने अपनी शब्द-चयन कुशलता का परिचय दिया है। शरीर को चन्दन-कपूर के लेप से सजाना

तथा भस्म का वैसे ही शरीर में भर लेना, लपेट लेना। दोनों का अन्तर दो भिन्न शब्दों के प्रयोग द्वारा स्पष्ट और मार्मिक बन गया है।

राग कान्हरो

ऊधो अँखियाँ अति अनुरागी।
इकटक मग जोवित अरु रोवति, भूलेहु पलक न लागी ॥
बिन पावस पावस ऋतु आई देखत हौ बिदमान।
अब धौं कहा कियो चाहत हौ ? छाँड़हू नीरस ज्ञान ॥
सुनु प्रिय सखा स्यामसुन्दर के जानत सकल सुभाव।
जैसे मिलैं सूर प्रभु हमको सो कछु करहु उपाव ॥२३७॥

शब्दार्थ—जोवति=देखती हैं। भूलेहु=भूल से भी, कभी भी नहीं। बिद-मान=विद्यमान, प्रस्तुत।

भावार्थ—गोपियाँ विरह-व्यथा से अत्यन्त कातर हो, उद्धव से कृष्ण-मिलन का उपाय पूछती हुईं कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! हमारी आँखें कृष्ण-प्रेम में अत्यधिक अनुरक्त हो रही हैं वे। निरन्तर टकटकी बाँध कृष्ण की बाट देखतीं और विरह-व्यथा के कारण रोती रहतीं हैं। कभी भूल से (गलती से) भी पलक नहीं झपकातीं। अर्थात् उनकी प्रतीक्षा में निरन्तर जागती रहती हैं। तुम स्वयं देख रहे हो कि यहाँ बिना वर्षा ऋतु आए ही वर्षा ऋतु विद्यमान रहती है। अर्थात् कृष्ण-वियोग में हमारी आँखों से सदैव वर्षा ऋतु की-सी आँसुओं की झड़ी लगती रही है। (हमारी ऐसी विषम, दुःखी दशा देखकर भी तुम्हें हमारे ऊपर दया नहीं आती।) अब और क्या करना चाहते हो ? हमें और कौन-सा दुःख पहुँचाना चाहते हो ? अब तुम अपने इस नीरस ज्ञान का उपदेश देना बन्द कर दो।

हे श्यामसुन्दर के प्रिय सखा उद्धव ! सुनो ! तुम उनके प्रिय सखा हो, इसलिए उनके सम्पूर्ण स्वभाव को अच्छी तरह से जानते-पहचानते होगे। तुम अब कोई ऐसा उपाय करो जिससे स्वामी कृष्ण हमें पुनः मिल जायँ, उनसे हमारा मिलन हो जाय।

विशेष—(१) उद्धव को खरी-खोटी और गालियाँ सुनाने वाली गोपियाँ इस पद में अत्यन्त कातर बन उनकी खुशामद कर रही हैं। उनकी यह कातरता और उद्धव की खुशामद करना हृदयद्रावक है। अन्तिम पंक्तियों में उनकी प्रेम-विवशता अत्यन्त मार्मिक हो उठी है।

(२) 'बिन पावस-पावस ऋतु आई' में विभावना अलंकार है, क्योंकि यहाँ विना कारण के ही कार्य हो रहा है। बिना वर्षा ऋतु के ही वर्षा ऋतु छायी रहती है।

ऊधो ! कहत कही नहिं जाय।
मदनगोपाल लाल के बिछुरत प्रान रहे मुरझाय।

जब स्यंदन चढ़ि गवन कियो इत फिरि चितयो गोपाल।
तबहीं परम कृतज्ञ सबै उठि संग लगीं ब्रजबाल।।
अब यह औरै सृष्टि बिरह की बकति बाय-बौरानी।
तिनसौं कहा देत फिरि उत्तर ? तुम हौ पूरन ज्ञानी।।
अब सो मान घटै, का कीजै ? ज्यों उपजै परतीति।
सूरदास कछु बरनि न आवै, कठिन बिरह की रीति।।२३८।।

शब्दार्थ—स्यंदन=रथ। गवन=प्रस्थान। इत=इधर। चितयो=देखा। बाय-बौरानी=सन्निपात ग्रस्त, पागल। परतीति=विश्वास।

भावार्थ—विरह-व्यथा की असह्यता से व्याकुल हो गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! हम अपनी विरह-वेदना को व्यक्त करना, कहना चाहती हैं, परन्तु हम से कहा ही नहीं जाता। अर्थात् हमारी यह विरह-व्यथा अवर्णनीय है। इसका केवल अनुभव ही किया जा सकता है, वर्णन करना असम्भव है। मदनगोपाल कृष्ण के बिछुड़ते ही हमारे ये प्राण मुरझाए जा रहे हैं। अर्थात् अब हमारे लिए जीवन-धारण करना असाध्य हो उठा है। जब कृष्ण ने रथ पर सवार हो, यहाँ से मथुरा के लिए प्रस्थान किया था, तब उन्होंने मुड़कर हमारी ओर देखा था। उनकी उस दृष्टि से ही हम सब गोपियाँ उनकी परम कृतज्ञ हो उठी थीं और उठकर उनके साथ लग लीं थीं। अर्थात् उनके रथ के साथ-साथ चलने लगी थीं। (गोपियाँ कृष्ण को मुड़कर अपनी ओर देखते पा, यह सोचकर कृतज्ञता से भर उठी थीं कि कृष्ण हमारा इतना अधिक ध्यान रखते और प्रेम करते है कि अपने को मुड़कर देखने से रोक न सके।)

परन्तु अब उनके चले जाने से यहाँ विरह की अन्य ही प्रकार की विचित्र-सी सृष्टि हो उठी है कि हम विरह-व्यथा से अत्यधिक संतप्त हो सन्निपात-ग्रस्त रोगी के समान पागल-सी बन अनर्गल बकती रहती हैं। कहाँ उनका वह प्रेम से भर मुड़कर देखना और कहाँ यह विरह में हमारा पागल-सा बन जाना ! इन दोनों स्थितियों में कितना भयानक अन्तर है। जो गोपियाँ विरह-व्यथा के कारण ऐसी पागल बन ऊँट-पटाँग बक रही हैं, हे उद्धव ! तुम परम ज्ञानी होकर भी उनकी बातों का क्यों उत्तर देते हो ? पागलों की बात का कोई भी उत्तर नहीं देता। अर्थात् तुम हम गोपियों को पागल समझ हमारी बातों पर ध्यान मत दो। अब तुम हमें कोई ऐसा उपाय बताओ जिसके करने से कृष्ण की मान की भावना दूर हो सके, वह अपना मान त्याग हमारे पास पुनः लौट आएँ। कोई ऐसा उपाय बताओ जिससे उनके हृदय में हमारे प्रति विश्वास की भावना उत्पन्न हो सके, (गोपियों को यह सन्देह है कि उनके पिछले अपराधों के कारण ही कृष्ण मान करके मथुरा में बैठ गए हैं और गोपियों पर विश्वास न कर पाने के कारण ही लौटकर ब्रज नहीं आते।)

हे उद्धव ! यह विरह की रीति (पद्धति) बड़ी कठिन होती है, इसका कुछ भी वर्णन करते नहीं बन पड़ता। अर्थात् यह विरह-व्यथा केवल अनुभव हीं की जा सकती है, इसका वर्णन करना नितान्त असम्भव है।

विशेष—गोपियों की कातरता और दीनता द्रष्टव्य है। उनके शब्दों में भक्त की आर्त्त-पुकार मानो साकार हो उठी है।

राग बिहागरो

ऊधो ! यह मन अधिक कठोर।
निकसि न गयो कुंभ काँचे ज्यों बिछुरत नंदकिसोर॥
हम कछु प्रीति-रीति नहिं जानी तब ब्रजनाथ तजी।
हमरे प्रेम न उनको, ऊधो ! सब रस-रीति लजी॥
हमतें भली जलचरी बपुरी अपनो नेम निबाहैं।
जलतें बिछुरत ही तन त्यागैं जल ही जल को चाहैं॥
अचरज एक भयो सुनो, ऊधो ! जल बिनु मीन जियो।
सूरदास प्रभु आवन कहि गए मन बिस्वास कियो॥२३९॥

शब्दार्थ—निकसि=निकल। कुम्भ काँचे=कच्चा घड़ा। तब=तभी, इसी कारण। रस-रीति=प्रेम की रीति। लजी=लज्जित हुई। जलचरी=मछली। बपुरी=बेचारी।

भावार्थ—गोपियों को यह आशंका है कि वे प्रेम की रीति नहीं जानती थीं, इसी कारण कृष्ण उन्हें त्याग कर चले गए। अपनी इसी आशंका-जनित वेदना को प्रकट करती हुईं वे उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! हमारा यह मन बहुत ही कठोर है। नन्दकिशोर कृष्ण से बिछुड़ने पर यह मन हमारे शरीर को विदीर्ण कर उसी प्रकार बाहर क्यों न निकल गया, जैसे जल कच्ची मिट्टी के घड़े को गला, विदीर्ण कर बाहर निकल जाता है। अर्थात् कृष्ण-वियोग होने पर हमारा प्राणान्त क्यों नहीं हो गया ? (वस्तुतः यहाँ 'मन' से अभिप्राय 'प्राण' से है।) ब्रजनाथ कृष्ण ने तभी हमें त्यागा था, जब उन्होंने यह जान लिया था कि हम प्रेम की रीति तनिक भी नहीं जानतीं। अर्थात् यह नहीं जानतीं कि प्रेम कैसे किया जाता है। भाव यह है कि हमारा प्रेम परिपक्व और दृढ़ न होकर कच्चा और अस्थिर था, इसलिए कृष्ण हमको छोड़कर चले गए। हे उद्धव ! असली बात यह है कि हम उनसे सच्चा प्रेम नहीं करतीं। हमने तो प्रेम की सम्पूर्ण पद्धति को ही लज्जित किया है। अर्थात् हमने ऐसा कच्चा प्रेम कर, प्रेम के नाम को कलंकित कर दिया है।

हमसे वे बेचारी मछलियाँ ही अच्छी हैं जो जल के प्रति अपने प्रेम को निभाती हैं। मछलियाँ जल से बिछुड़ते ही अपने शरीर को त्याग देती हैं और केवल जल से

ही एकनिष्ठ प्रेम करती हैं। भाव यह है कि यदि कृष्ण के प्रति हमारा प्रेम वैसा ही एकनिष्ठ और सच्चा होता, जैसा कि मछली का जल के प्रति होता है तो हम भी कृष्ण के बिछुड़ते ही अपने प्राण त्याग देतीं। परन्तु हमारा प्रेम कच्चा था, हम प्रेम करना नहीं जानती थीं, इसलिए उनसे बिछुड़ने पर भी मर न सकीं। हे उद्धव ! हमने सुना है कि एक बड़ी आश्चर्यजनक घटना हुई है कि मछलियाँ जल के बिना भी जीवित रहती हैं। अर्थात् यह बड़े आश्चर्य की बात है कि गोपियाँ-रूपी मछलियाँ अपने प्राणाधार—प्रियतम कृष्ण रूपी जल से विछुड़ जाने पर भी जीवित बनी हुई हैं। परन्तु इस आश्चर्यजनक घटना का कारण यह है कि हम गोपियों ने कृष्ण के लौटकर आने की बात पर विश्वास कर लिया था। अर्थात् कृष्ण हमसे लौटकर आने का वचन दे गए थे, उसी वचन पर विश्वास कर, उनके दर्शन की आशा में हम जीवित रह रही हैं। अर्थात् यदि हमें यह आशा न होती तो उनसे बिछुड़ते ही हमारा प्राणान्त हो गया होता।

विशेष—(१) इसी भाव को सूर ने अन्यत्र इस प्रकार व्यक्त किया है—

"श्वासा अटकि रही आसा लगि, जीवहिं कोटि बरीस।"

(२) इस पद में उपमा और रूपकातिशयोक्ति अलङ्कारों का उपयोग किया गया है।

(३) मछली का जल के प्रति प्रेम प्रेम-क्षेत्र की अनन्यता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माना गया है। सूर को मछली और जल का यह सम्बन्ध बहुत प्रिय है। उन्होंने बार-बार अपने अनेक पदों में इसका उल्लेख कर गोपियों के कृष्ण-प्रेम की अनन्यता का पुष्टिकरण किया है।

ऊधो ! होत कहा समुझाए ?
चित चुभि रही साँवरी मूरति, जोग कहा तुम लाए ?
पा लागौं कहियो हरिजू सों, दरस देहु इक बेर।
सूरदास प्रभु सों बिनती करि, यहै सुनैयो टेर ॥२४०॥

भावार्थ—चुभि रही=समा रही है। चित=हृदय, मन में। बेर-बार। टेर=पुकार।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव द्वारा बार-बार ज्ञान-योग का उपदेश दिए जाने पर भी उससे रंचमात्र भी प्रभावित न हो, उद्धव को ऐसा निष्फल परिश्रम न करने की सलाह दे रही हैं—

हे उद्धव ! हमें बार-बार इस प्रकार उपदेश देकर समझने से क्या लाभ है ? क्योंकि हमारे ऊपर तुम्हारे इन उपदेशों का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ सकता। इसका कारण यह है कि हमारे हृदय में कृष्ण की साँवली-सलोनी मूर्ति चुभ गई है। अर्थात् हृदय में सदैव वही मूर्ति विराजमान रहती है। ऐसी स्थिति में तुम इस योग को

हमारे पास क्यों लाए हो ? अर्थात् इससे हमारा क्या कल्याण हो सकता है ? हे उद्धव ! हम तुम्हारे पैर छूती हैं। तुम कृष्ण से जाकर हमारा केवल यह सन्देश कह देना कि वे एक बार हमें अपने दर्शन दे दें। तुम स्वामी कृष्ण से विनती करके हमारी यही पुकार उन्हें सुना देना। अर्थात् हमारी यही प्रार्थना है कि वे केवल एक बार हमें अपने दर्शन दे दें। हम और कुछ भी नहीं चाहतीं।

विशेष—चार पंक्तियों के इस छोटे से पद में गोपियों का सम्पूर्ण जीवन-दर्शन—कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेमनिष्ठा, अपनी सम्पूर्ण गहनता के साथ अभिव्यक्त हो उठा है। भाव-शवलता की दृष्टि से ऐसे पद अत्यन्त प्रभावोत्पादक बन गए हैं।

ऊधो ! हमैं जोग नहिं भावै।
चित में बसत स्यामघन सुन्दर, सो कैसे बिसरावै !
तुम जो कही सत्य सब बातें, हमरे लेखे धूरि।
या घट-भीतर सगुन निरंतर, रहे स्याम भरि-पूरि॥
पा लागौं कहियो मोहन सों, जोग कूबरी दीजै।
सूरदास प्रभु-रूप निहारैं हमरे संमुख कीजै॥२४१॥

शब्दार्थ—भावै=अच्छा लगता है। बिसरावै=भुला दें। हमरे लेखे=हमारे लिये, हमारी दृष्टि में। घट=हृदय। भरि-पूरि=पूर्णरूपेण, लबालब। निहारैं=देखें।

भावार्थ—योग के प्रति अपनी रुचि का उल्लेख करती हुईं गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! हमें तुम्हारा यह योग अच्छा नहीं लगता। हमारे हृदय में तो एक मात्र श्यामसुन्दर कृष्ण सदैव समाए रहते हैं, हम उन्हें कैसे भुला दें। तुमने निर्गुण ब्रह्म और योग के सम्बन्ध में जो बातें कही हैं वे सब सत्य हो सकती हैं परन्तु हमारी दृष्टि में उनका धूल के बराबर भी मूल्य नहीं है। अर्थात् हमारे लिए वे सर्वथा व्यर्थ और अग्राह्य हैं। क्योंकि हमारे इस हृदय के भीतर तो सगुण रूप कृष्ण अपनी सम्पूर्णता के साथ पूर्णरूपेण स्थित रहते हैं। हे उद्धव ! हम तुम्हारे चरण छूती हैं, कृपा करके मोहन (कृष्ण) से यह कह देना कि वह योग का उपदेश अपनी उस कुब्जा को ही दें, क्योंकि उसे ही इसकी अधिक आवश्यकता है। यो-साधना तो संसार के भोग-विलास में डूबे लोगों के लिए ही मानी गई है और कुब्जा कृष्ण के साथ भोग-विलास में डूबी रहती है।) तुम कृष्ण से यह कह देना कि वह यहाँ आकर अपने रूप को हमारे सामने प्रस्तुत करें, जिससे हम जी भर कर उनके रूप के दर्शन कर सकें।

ऊधो ! हम न जोगपद साधे।
सुँदर स्याम सलोनो गिरिधर, नदनंदन आराधे॥
जा तन रचि-रचि भूषन पहिरे, भाँति-भाँति के साज।
ता तन को कहै भस्म चढ़ावन, आवत नाहिंन लाज॥

घट-भीतर नित बसत साँवरो, मोरमुकुट सिर धारे।
सूरदास चित नित सों लाग्यो, जोगहिं कौन सँभारे ? ॥२४२॥

शब्दार्थ—साधै=साधना करना। आराधै=राधना करना। रचि-रचि=सजा-सजाकर।

भावार्थ—कृष्ण-प्रेम में आकण्ठ निमग्न गोपियाँ योग-साधना के प्रति अपनी विरक्ति को स्पष्ट करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! हम तुम्हारे योग की साधना नहीं करना चाहतीं। हम तो एकमात्र अपने सुन्दर, साँवले-सलौने नन्दनन्दन, गिरिधारी कृष्ण की ही आराधना करती हैं। हमने अपने जिस शरीर पर सजा-सजाकर आभूषण पहते थे और तरह-तरह के वस्त्रों और श्रृङ्गार से उसे सजाया था, अब उसी शरीर पर भस्म लगाने के लिए कहते हो। ऐसी अनुचित बात कहते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती ? हमारे हृदय के भीतर तो अपने सिर पर मोर-मुकट धारण किए हुए साँवले-सलौने कृष्ण सदैव विराजमान रहते हैं। हमारा मन तो एकमात्र उन्हीं से लगा हुआ है, उन्हीं में अनुरक्त रहता है। फिर यह बताओ कि तुम्हारे इस योग की साज-सम्भार कौन करे ? कौन योग-साधना करे ? क्योंकि हमारे मन को तो कृष्ण का चिन्तन करने से ही फुरसत नहीं मिलती।

राग सारंग

ऊधो ! कहियो यह संदेस।
लोग कहत कुबजा-रस-माते तातें तुम सकुचौ जनि लेस॥
कबहुँक इत पग धारि सिधारौ धरि हरिखंड सुबेस।
हमरो मनरंजन कीन्हों तें ह्वै हो भुवननरेस॥
जब तुम इत ठहराइ रहौगे देखौगे सब देस।
नहिं बैकुण्ठ अखिल ब्रह्मांडहि ब्रज बिनु, हे हृषिकेस॥
यह किन मन्त्र दियो नँदनंदन, तजि ब्रज भ्रमन बिदेस ?
जसुमति जननी प्रिया राधिका देखे औरहि देस ?
इतनी कहत कहत स्यामा पै, कछु न रह्यो अवसेस।
मोहनलाल प्रबाल मृदुल-मन, ततछन करी सुहेस॥
को ऊधो, को दुसह बिरह-जुर, को नृपनगर-सुरेस ?
कैसो ज्ञान, कह्यो किन कासों, किन पठ्यो, उपदेस ?
मुख मृदुछबि मुरली-रव-पूरित, गोरज-कर्बुर केस।
नट-नाटकगति बिकट लटक जब बन तें कियो प्रवेस॥
अति आतुर अकुलाय धाय पिय पोंछत नैन कुसेस।
कुम्हिलानो मुखपद्म परस करि, देखत छबिहि बिसेस॥

सूर सोम, सनकादि, इन्द्र, अज, सारद, निगम, महेस ।
नित्य बिहार सकल रस भ्रमगति, कहि गावहिं मुख सेस ।।२४३।।

शब्दार्थ—जनि=मन । लेस=लेशमात्र भी, तनिक भी । हरिखंड=मोर-पंख । सुवेस=सुन्दर वेश । ठहराय=ठहरकर, स्थिर होकर । बिनु=बिना । हृषिकेस=विष्णु । भ्रमन=भ्रमण करना । सुहेस=मंगल तारा । प्रबाल=नवपल्लव । बिरह-जुर=बिरह का ज्वर, बुखार । रव=ध्वनि । पूरित=पूर्ण । गोरज-कर्बु र-केस=गायों के खुरों से उठी धूल से मटमैले बने केश । नट-नाटकगति=नाटक के अभिनेता के समान । बिकट=बाँकी । कुकेस=कुशेशय, कमल । मुखपद्म=कमल के समान सुन्दर मुख । अज=ब्रह्मा । सारद=शारदा, सरस्वती । भ्रमगति=भ्रान्ति-दशा । सेस=शेषनाग ।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! तुम कृष्ण से हमारा यह सन्देश कह देना । उनसे यह कहना कि लोग उनके सम्बन्ध में जो यह कहते हैं कि वह कुब्जा के प्रेम में मतवाले बने हुए हैं, इस बात के कारण वह तनिक भी संकोच न करें । अर्थात् इस संकोच को त्याग निस्संकोच यहाँ चले आएँ । हम इस बात के लिए उनसे कुछ भी नहीं कहेंगी । उनसे कहना कि कभी मोरपंख का मुकुट धारण कर, सुन्दर वेश में वह इधर ब्रज में आने की कृपा करें । हमारा मनोरंजन करने से वह सारे संसार के स्वामी अर्थात् साक्षात् ईश्वर बन जायेंगे । हे ऋषिकेश कृष्ण ! जब तुम यहाँ ब्रज में स्थिर होकर निवास करने लगोगे और सारे देशों को देखोगे, तब तुम्हें ज्ञात होगा कि इस अखिल ब्रह्माण्ड में ब्रज के सिवाय और कहीं भी वैकुण्ठ नहीं है । अर्थात् ब्रज ही एकमात्र वैकुण्ठ है । हे नन्दनन्दन ! तुम्हें यह सलाह (मन्त्र) किसने दी थी कि तुम ब्रज को त्याग कर देश-विदेशों में भ्रमण करते फिरो, भटकते डोलो । क्या तुमने किसी अन्य देश में भी यशोदा-सी माता और राधा-सी प्रियतमा देखी थी ?

इतना कहते-कहते उस श्यामा (गोपी) पर कहने के लिए और कुछ शेष नहीं रह गया । अर्थात् प्रेमातिरेक के कारण उसका कण्ठावरोध हो गया और वह आगे कुछ भी न कह सकी । स्नेह-विभोर हो जाने से वह शिथिल और अचेत सी हो उठी । मोहन कृष्ण के नव-पल्लव के समान प्रेम की लालिमा ने उसके मृदुल कोमल मन को आप्लावित कर तुरन्त मंगल तारे के समान लाल रंग से रँग दिया । अर्थात् उसका मन कृष्ण-प्रेम की लालिमा से ओत-प्रोत हो मंगल तारे के समान लाल रंग से भर उठा । (प्रेम का रंग लाल माना गया है और मंगल तारा भी लाल होता है ।) भाव यह है कि प्रेमातिरेक के कारण उस गोपी का मुख नव-पल्लव और मंगल तारे के समान लाल हो उठा, अथवा मन में स्थित अनुराग की लालिमा उसके मुख पर प्रकट हो उठी । प्रेम-विमोह की इस अचेतावस्था में वह सब कुछ भूल गई । उसे इसका ही ज्ञान नहीं रहा कि कौन उद्धव है, असह्य विरह-ज्वर कैसा होता है, राजधानी में कौन इन्द्र के समान राजा है, उद्धव ने कैसा ज्ञान का उपदेश दिया है, किसे वह

उपदेश दिया है, और किसने उस उपदेश को देने के लिए उद्धव को यहाँ भेजा है ? अर्थात् वह गोपी अथवा राधा कृष्ण-स्नेह में पूर्णतः निमग्न हो, अद्वैतावस्था को प्राप्त कर अपने चतुर्दिक व्याप्त सम्पूर्ण वातावरण से पूर्णतः निर्लिप्त बन, कृष्ण-प्रेम में पूरी तरह से डूब गई, निमग्न हो गई।

उसके सम्मुख कृष्ण की मृदुल-मधुर छवि साकार हो उठी। उसने देखा कि कृष्ण गायों के खुरों से उठी धूल से सने मटमैले केशों के साथ मुरली बजाते, नाटक में अभिनय करते हुए अभिनेता की सी बाँकी अदा (लटक) के साथ वन से ब्रज में प्रवेश कर रहे हैं। अपने मानस-नेत्रों के सम्मुख उपस्थित कृष्ण की उस मोहक छवि को देखते ही यह गोपी अथवा राधा अत्यन्त व्याकुल और आतुर हो, दौड़कर धूल से भरे उनके कमल जैसे सुन्दर नेत्रों को पोंछने लगी और उनके कुम्हलाए हुए कमल के समान मुख का स्पर्श कर, उस पर हाथ फेरती हुई उनकी उस विशिष्ट शोभा को देखने लगी। सूरदास कहते हैं कि उस गोपी अथवा राधा की यह भ्रान्ति-दशा (पूर्ण तादात्म्य की दशा) धन्य है। चन्द्रमा, सनकादिक, इन्द्र, ब्रह्मा, शारदा, वेद, महेश आदि कृष्ण-प्रेम की इस भ्रान्ति-दशा में नित्य विहार करते रहते हैं और शेषनाग निरन्तर अपने सहस्र सुखों से उसका गुण-गान करते रहते हैं।

विशेष—(१) इस पद में प्रेम की चरमावस्था का चित्रण किया गया है। इस अवस्था में पहुँच, भक्त और भगवान में कोई अन्तर नहीं रह जाता। भक्त सब कुछ भूल केवल अपने आराध्य के ही दर्शन करता रहता है। इसी को 'भ्रान्ति-दशा' कहा गया है।

(२) ब्रज का सर्वोपरि महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

(३) रूपक और रूपकातिशयोक्ति अलंकार प्रयुक्त हुए हैं।

राग आसावरी

ऊधो ! हरिजू हित जनाय चित चोराय लयो।
ऊधो ! चपल नयन चलाय अंगराग दयो।।
परम साधु सखा सुजन जदुकुल के मानि।
कहौ बात प्रात एक साँची जिय जानि।।
सरद-बारिज सरिस दृग भौंह काम-कमान।
क्यों जीवहिं बेधे उर लागे विषम बान ?
मोहन मथुरा पै बसैं, ब्रज पठयो जोग-सँदेस।
क्यों न काँपि मेदिनी कहत जुवतिन उपदेस ?
तुम सयाने स्याम के देखहु जिय बिचारि।
प्रीतम पति नृपति भए, औ गहे वर-नारि।।

कोमल कर मधुर मुरलि अधर धरे तान।
पसरि सुधा पूरि रही कहा सुनै कान ?
मृगी मृगज-लोचनी भए उभय एक प्रकार।
नाद नयनबिष-तते न जान्यो मारनहार।।
गोधन तजि गवन कियो लियो बिरद गोपाल।
नीके कै कहिबी, यह भली निगम-चाल।।२४४।।

शब्दार्थ—चोराय=चुरा। अंगराग=अंग-अंग में प्रेम। मानि=मानकर, समझ कर। सरद-बारिज=शरद ऋतु का कमल। सरिस=समान। बेधे=लगने पर। मेदिनी=पृथ्वी। गहे=ग्रहण कर लिया। वर=श्रेष्ठ। पसरि=फैलकर। मृगी=हिरनी। मृगज=हिरन का बच्चा। मृगज-लोचनी=मृगनयनी गोपियाँ। तते=ताप से। मारनहार=मारने वाला, वधिक। बिरद=यश। नीके कै=अच्छी तरह से। कहिबी=कहना। निगम-चाल=वेदमार्ग।

भावार्थ—कृष्ण के छल भरे प्रेम के प्रति उपालम्भ देती हुई गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! कृष्ण ने हमारे प्रति प्रेम का प्रदर्शन कर हमारे मन को चुरा लिया। उन्होंने अपने चंचल नेत्रों से हमारी ओर देख हमारे अंग-अंग में अनुराग (प्रेम) भर दिया, अथवा हमारी ओर कटाक्ष करते हुए हमारे अंग-अंग में उबटन लगाया। हे उद्धव ! हम तुम्हें परम साधु, कृष्ण के मित्र और यदुकुल का सज्जन व्यक्ति मान तुमसे एक बात कहती हैं। यह प्रातःकाल का पवित्र समय है। इसलिए तुम (झूठ न बोलकर) हृदय में अच्छी तरह से विचार कर सत्य बात कहना। यह बताओ कि जब शरद ऋतु के निर्मल कमल के समान नेत्र, कामदेव के धनुष समान सुन्दर भौंहों पर चढ़ाकर कटाक्ष रूपी भयंकर वाणों द्वारा किसी के हृदय को वेध दें तो वह कैसे जीवित रह सकता है ?

कृष्ण स्वयं तो मथुरा में रहते हैं और ब्रज में योग का सन्देश भेजते हैं। यह बताओ कि युवतियों को योग का उपदेश देने जैसे भयंकर अनीतिपूर्ण कार्य को देख कर यह पृथ्वी क्यों न काँप उठे ? हे उद्धव ! तुम चतुर हो, कृष्ण के मित्र हो, इसलिए अपने हृदय में स्वयं विचार कर देखो कि कृष्ण का यह कार्य कितना अन्यायपूर्ण है कि हमारे प्रियतम और पति—कृष्ण अब राजा हो गये हैं और वहाँ मथुरा में एक सुन्दर नारी (कुब्जा) को घेरकर (अपना कर) बैठ गए हैं। अर्थात् कृष्ण का ऐसा करना भयंकर अन्याय और हमारे प्रति कठोर अत्याचार है।

कृष्ण जब यहाँ थे, तब अपने कोमल हाथों द्वारा मधुर स्वर वाली मुरली को अपने अधर पर रख तानें सुनाया करते थे। मुरली की वे मधुर अमृतमयी तानें आज भी हमारे कानों में समा रही हैं। उन्हें छोड़कर हमारे कान अब तुम्हारे इस नीरस

उपदेश को कैसे सुन सकते हैं ? जिस प्रकार वधिक की वीणा के स्वरों को सुन हिरनी मुग्ध हो स्थिर खड़ी रह जाती है, हम हिरन के छौने की-सी सुन्दर आँखों वाली गोपियों की भी मुरली की मधुर तान को सुन वैसी ही स्थिति हो रही है। जिस प्रकार हिरनी वीणा के विषभरे प्राणघातक नाद को सुन विमुग्ध हो जाती है और अपने प्राण लेने वाले उस वीणा-वादक वधिक को नहीं पहचान पाती, उसी प्रकार हम गोपियाँ भी कृष्ण के उन चंचल प्राणघातक कटाक्षों और मुरली के नाद द्वारा प्रेम की ज्वाला से उन्मत्त हो उठी थीं और कृष्ण के इस विश्वासघाती प्राणघातक स्वरूप को नहीं पहचान पाई थीं।

कृष्ण यहाँ गायों को त्याग कर मथुरा चले गए, परन्तु यश प्राप्त किया 'गोपाल' होने का। यह कैसी विषमता है कि कहलाते तो 'गोपाल' हैं और गायों को त्याग उनकी खोज-खबर तक नहीं लेते ! हे उद्धव ! तुम अच्छी तरह से समझाकर कृष्ण से कहना कि ऐसा करके उन्होंने वेद-सम्मत मार्ग का कैसा बढ़िया पालन किया है ! अर्थात् 'गोपाल' कहलाकर गायों को त्याग देना वेद-मार्ग के सर्वथा विरुद्ध और अनुचित है।

विशेष—'सरद····वान' में उपमा तथा रूपक; मृगी····मारनहार' में तुल्योगिता; तथा 'गोधन····चाल' में काकुवक्रोक्ति अलंकार है।

मधुकर ! जानत है सब कोऊ।
जैसे तुम औ मीत तुम्हारे, गुननि निपुन हौ दोऊ॥
पाके चोर, हृदय के कपटी, तुम कारे औ वोऊ।
सरबसु हरत, करत अपनो सुख, कैसेहू किन होऊ॥
परम कृपन थोरे धन जीवन, उबरत नाहिंन सोऊ।
सूर सनेह करै जो तुमसों, सो करै आप-बिगोऊ॥२४५॥

शब्दार्थ—दोऊ=दोनों। पाके=पक्के। वोऊ=वे भी। सरबसु=सर्वस्व। कृपन=कंजूस। उबरत=मुक्त होता, छूटता। सोऊ=वह भी। आप-बिगोऊ=अपने आप अपना विनाश।

भावार्थ—गोपियाँ प्रेम में धोखा खाने के कारण कृष्ण और उद्धव—दोनों को जली-कटी सुनाती हुई मधुकर के माध्यम द्वारा उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! संसार में सब लोग इस बात को जानते हैं कि तुम (उद्धव) और तुम्हारे मित्र कृष्ण कैसे हैं। तुम दोनों ही गुणों में पूर्ण निपुण हो। अर्थात् धोखा देने के गुण (अवगुण) में दोनों पूरे उस्ताद हो। तुम दोनों ही पक्के चोर और हृदय के कपटी हो। तुम भी (अपने काले गुणों के अनुरूप) काले हो और वे कृष्ण भी काले हैं। तुम दोनों, चाहे जैसे भी हो, दूसरों का सर्वस्व हरण कर केवल अपने ही सुख में डूबे रहते हो। जिन्हें लूटते हो, उनके सुख-दुःख की तनिक भी चिन्ता नहीं करते, पक्के स्वार्थी हो। चाहे कोई भले ही अत्यन्त कंजूस हो, थोड़े से धन द्वारा अपना जीवन-

निर्वाह करता हो, परन्तु वह भी तुमसे मुक्ति नहीं प्राप्त कर पाता, तुमसे बच नहीं पाता। तुम उसे भी लूट लेते हो। अर्थात् हम गोपियाँ परम कृपण के समान अपनी छोटी-सी पूँजी—कृष्ण की स्मृति—को सँजोए अपने दिन काट रही थीं, परन्तु तुम हमसे हमारी उस छोटी-सी पूँजी—कृष्ण की स्मृति—को भी छीन लेने का प्रयत्न कर रहे हो। कृष्ण तो हमारा सर्वस्व अर्थात् मन चुरा कर ले गए थे, और तुम बची-खुची स्मृति तक छीन लेना चाहते हो। (उद्धव ने गोपियों को उपदेश दिया था कि वे कृष्ण को भूलकर निर्गुण ब्रह्म की आराधना करें। यहाँ यही भाव है।) तुमसे अर्थात् कृष्ण से जो प्रेम करे, वह स्वयं अपना सत्यानाश अपने हाथों कर डालता है। अर्थात् कृष्ण से प्रेम करना अपने पैरों में स्वयं कुल्हाड़ी मारने के समान आत्मघातक है क्योंकि प्रेम का प्रतिदान देना कृष्ण नहीं जानते।

विशेष—'गुननि निपुन हौ दोऊ' में काकुवक्रोक्ति द्वारा बिल्कुल उल्टा अर्थ ध्वनित हो रहा है। अर्थात् दोनों पक्के चोर और विश्वासघाती हैं।

मधुकर ! कहियत बहुत सयाने।
तुम्हरी मति कापै बनि आवै, हमरे काज-अजाने।।
तैसोई तू, तेरो ठाकुर, एकहि बरनहि बाने।
पहिले प्रीति पिवाय सुधारस, पाछे जोग बखाने।।
एक समय पंकज-रस बासे, दिनकर अस्त न माने।
सोइ सूर गति भइ ह्याँ हरि बिनु, हाथ मीड़ि पछिताने।।२४६।।

शब्दार्थ—कहियत=कहलाते हो। सयाने=चतुर। कातै=किस पर। बनि आवै=धारण कर सकता है। हमरे काज-अजाने=हमारे लिए भोले-भाले बन गये हो। ठाकुर=स्वामी। बरनहि=रंग वाले। बाने=वेश-भूषा। पंकजरस=कमल का रस। बासे=निवास करना। ह्याँ=यहाँ। हाथ मीड़ि=हाथ मलकर।

भावार्थ—गोपियाँ भ्रमर और कृष्ण के रूप-साम्य और स्वभाव-साम्य पर व्यंग्य करती हुई भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कह रही हैं कि—

हे भ्रमर ! अर्थात् उद्धव ! तुम तो बहुत चतुर (ज्ञानी, बुद्धिमान) कहलाते हो। परन्तु तुम्हारी-सी (स्वार्थ) बुद्धि किसके पास हो सकती है ? अर्थात् कौन तुम्हारे समान स्वार्थ-बुद्धि से काम ले सकता है ? तुम अपना स्वार्थ (हमसे कृष्ण की स्मृति छीन लेने का) साधने के लिए हमारे काम (कृष्ण मिलन) से बिल्कुल अनभिज्ञ से बन, कैसा भोला-भाला-सा रूप धारण कर हमें उपदेश दे रहे हो ? हे भ्रमर ! जैसा तू है, वैसे ही तेरे स्वामी कृष्ण भी हैं। दोनों का एक-सा ही रंग और एक-सी वेशभूषा है। (भ्रमर काला होता है, उसके माथे पर पीला टीका-सा होता है और वह निरन्तर गुंजार करता रहता है। कृष्ण भी काले हैं, ऊपर से पीताम्बर धारण किए रहते हैं और वंशी बजाते रहते हैं।) तुम दोनों का स्वभाव भी एक-सा ही कपटी है। तू पहले

फूलों का रसपान करता है और फिर उन्हें त्याग दूसरे फलों पर जा बैठता है। उसी प्रकार कृष्ण ने पहले हमारे प्रति प्रेम प्रदर्शित किया था और हमें अपने अधरामृत का पान कराया था। और यह सब करने के बाद अब हमें योग-साधना करने का उपदेश दे रहे हैं।

परन्तु हमारी दशा तो उस भ्रमर की दशा के समान भयंकर और प्राणघातक हो उठी है, जिसने एक समय कमल के रस के लालच में मुग्ध हो, कमल-कोश में ही अपना निवास-स्थान बना लिया था और सूर्य के अस्त होने की भी चिन्ता नहीं की थी। अर्थात् उसने इस बात की पूर्ण उपेक्षा कर दी थी कि सूर्यास्त होने पर कमल बन्द हो जायगा और उसे उसके भीतर वन्दी बन तड़प-तड़पकर प्राण दे देने पड़ेंगे। हमारी दशा भी बिल्कुल उस भ्रमर के समान हो रही है। अर्थात् हम कृष्ण के प्रेम में इतनी डूबी हुई थीं कि जब कृष्ण अक्रूर के साथ मथुरा चले गए थे, तब हमने इस बात की शंका तक नहीं की थी कि हमें उनके वियोग में इस तरह तड़प-तड़पकर प्राणान्तक वेदना सहनी पड़ेगी। परन्तु अब हम कृष्ण के बिना हाथ मल-मलकर पछता रही हैं कि उस समय हमने कृष्ण को यहाँ से जाने ही क्यों दिया था!

विशेष—'तुम्हारी मति····अजानें' में काकुवक्रोक्ति अलङ्कार है।

मधुकर ! कहत सँदेसो सूलहु।
हरिपद छाँड़ि चले तातें तुम, प्रीतिप्रेम भ्रमि भूलहु॥
नहिं या उक्ति मृदुल श्रीमुख की, जे तुम उर में हूलहु।
बिलज न बदन होत या उचरत, जो संधान न मूलहु॥
उत बड़ ठौर नगर मथुरा, इत तरनितनूजा कूलहु।
उत महाराज चतुर्भुज सुमिरौ, इत किसोरनँद दूलहु॥
जे तुम कही बड़ेन की बतियाँ, ब्रज जन नहिं समतूलहु।
सूर स्याम गोपी-सँग बिलसे, कंठ धरे भुजमूलहु॥२४७॥

शब्दार्थ—सूलहु=शूल उत्पन्न करते हो, दुःख देते हो। हरिपद=कृष्ण के चरण। या=यह। हूलहु=चुभाते हो। बिलज=लज्जित। बदन=सुख। उचरत उच्चारण करते, कहते। संधान=मिलावट। मूलहु=कृष्ण के मूल वचन। उत= =उधर। तरनितनूजा=सूर्य की पुत्री यमुना। कूलहु=तट, किनारा। दूलहु= दूल्हा, पति को। समतूलहु=अनुकूल। बिलसे=विलास किया।

भावार्थ—गोपियों को सन्देह है कि उद्धव द्वारा दिया जाने वाला यह योग-सन्देश उनके प्रियतम कृष्ण द्वारा भेजा हुआ नहीं है। वे इसी को स्पष्ट करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम अपने इस योग-साधना के सन्देश को कहकर हमारे हृदय में शूल उत्पन्न करते हो, भयंकर वेदना पहुँचा रहे हो। हमारे साथ तुम ऐसा निष्ठुर

व्यवहार इसलिए कर रहे हो—क्योंकि तुम कृष्ण के चरणों (जिनमें तुम्हारा अमित अनुराग है) को छोड़कर चले आए हो, उनसे अलग हो गए हो, और उनके प्रेम में व्याकुल हो, पागल से बन सब कुछ भूल इधर-उधर भटकते फिर रहे हो। अर्थात् तुम अपना होश-हवाश खो बैठे हो, इसी कारण ऐसे अकरणीय कार्य करते फिर रहे हो। तुम अपनी इस युक्ति को (योग-सन्देश को) जो जबरदस्ती हमारे हृदय में ठूँसने का प्रयत्न कर रहे हो, यह युक्ति कृष्ण के उस मृदुल सुन्दर मुख द्वारा कही हुई कदापि नहीं हो सकती। अर्थात् कृष्ण अपने कोमल-सुन्दर मुख से ऐसी कठोर (गोपियों के लिए योग-साधना करने की) बातें कभी नहीं कह सकते। अगर तुम कृष्ण की कही हुई मूल बातों (सन्देश) में अपनी तरफ से और बातें मिलाकर न कहते होते तो उन्हें कहते समय तुम्हारा मुख इस प्रकार लज्जित न हो उठता। अर्थात् तुम उन बातों को कहते समय इसलिए लज्जित हो रहे हो, क्योंकि असली बात न कहकर झूठी बातें कह रहे हो। और झूठ बोलने के कारण ही लज्जा का अनुभव कर रहे हो।

इसके उपरान्त उद्धव के बड़प्पन पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ आगे कहती हैं कि—हे उद्धव ! उधर तो तुम्हारी विशाल नगरी मथुरा बहुत बड़ा स्थान है। इसके विपरीत, यहाँ ब्रज में केवल यमुना का किनारा है। वहाँ पर तो तुम चतुर्भुज विष्णु भगवान् की आराधना किया करते हो और यहाँ ब्रज में हम अपने पति नन्दकुमार कृष्ण का स्मरण किया करती है। फिर तुम्हारी और हमारी क्या बराबरी हो सकती है ? मथुरावासी बड़े लोगों की जो बातें (योग-सन्देश) तुमने कही हैं, वे ब्रज के लोगों के अनुकूल नहीं हो सकतीं। अर्थात् हम छोटे लोगों के लिए वे बातें सर्वथा अनुपयुक्त हैं। वे तो उन्हीं मथुरावासियों के ही अनुकूल हैं, इसलिए योग-साधना उन्हें ही करनी चाहिए, न कि हम गोपियों को। यहाँ तो कृष्ण गोपियों के साथ, उनके कण्ठ में अपनी भुजाएँ डाल विलास किया करते थे, इसलिए हमें तो उनका वही रूप प्रिय है। तुम्हारा चतुर्भुजी विष्णु का रूप तुम्हें ही मुबारक हो, हमें उसकी जरूरत नहीं है।

विशेष—(१) उल्लेख अलंकार है।

(२) गोपियाँ चतुर्भुजी विष्णु के महान् रूप की अवहेलना करती हुईं, अपने साथ विलास करने वाले कृष्ण के उस मोहक रूप की आराधना करने पर ही बल दे रही हैं।

राग सोरठ

मधुकर ! यहाँ नहीं मन मेरो।
गयो जो संग नंदनंदन के, बहुरि न कीन्हों फेरो ॥
लयो नमन मुसकानि मोल है, कियो परायो चेरो।
सौंप्यो जाहि भयो बस ताके, बिसर्यो बास-बसेरो ॥
को समुझाय कहे सूरज, जो रसबस काहू केरो ?
मंदे पर्यो, सिधारु अनत लै, यह निर्गुन मत तेरो ॥२४८॥

शब्दार्थ—बहुरि=फिर। परायो=दूसरे का। चेरो=दास। बिसर्यो=भूल गया। बास-बसेरो=रहने का स्थान। रसबस=प्रेममग्न। मंदे=मन्द, मूल्यहीन। सिधारु=जाओ, सिधाओ। अनत=अन्यत्र।

भावार्थ—गोपियों की परवशता यह है कि उनका मन, उनका अपना नहीं रहा। वह तो कृष्ण के वश में है। इसलिए वे उद्धव की योग-साधना को कैसे स्वीकार कर लें ? अपनी इसी विवशता को स्पष्ट करती हुई वे उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! हमारा मन तो यहाँ है ही नहीं। वह जो एक बार नन्दनन्दन कृष्ण के साथ यहाँ से मथुरा चला गया था तो फिर लौटकर कभी नहीं आया। फिर बिना मन के हम योग-साधना कैसे करें, क्योंकि योग-साधना तो मन द्वारा ही की जाती है। कृष्ण ने हमारे नेत्रों द्वारा हमारी ओर प्रेमभरी दृष्टि डाल और मुस्करा कर उस दृष्टि और मुस्कान के बदले में हमसे हमारा मन मोल ले लिया था। अर्थात् हमारा मन उनकी उस दृष्टि और मुस्कान पर मुग्ध हो, उनका दास बन गया था। अब जबकि वह (मन) दूसरे का दास बन गया है तो उस पर हमारा कोई भी अधिकार नहीं रहा। हमने भी अपने उस मन को उसी को (कृष्ण को) सौंप दिया है, जिसके वश में हो गया था, और अब वह अपना मूल निवास-स्थान अर्थात् हमारे हृदय को भूल गया है। भाव यह है कि अब हमारा मन सदैव कृष्ण के पास ही रहता है, रात-दिन उन्हीं का चिन्तन करता रहता है।

ऐसे को कोई क्या कहकर समझाए जो किसी के प्रेम में पूरी तरह से मग्न हो रहा हो। ऐसे को समझाकर उस मार्ग से हटाना सर्वथा असम्भव है। अर्थात् हम अपने कृष्ण-प्रेम में आकण्ठ निमग्न मन को किसी भी प्रकार उनसे विरक्त करने में असमर्थ हैं। इसलिए हे उद्धव ! तुम्हारा यह योग-सन्देश यहाँ हमारे लिए मूल्यहीन हो चुका है। तुम इसे लेकर कहीं दूसरी जगह चले जाओ और वहीं इसे बेचने का प्रयत्न करना। यहाँ तुम्हें इसका ग्राहक नहीं मिल सकेगा।

विशेष—(१) इस पद में साध्यवसान रूपक अलंकार है।

(२) गोपियों की दृढ़ प्रेम-निष्ठा द्रष्टव्य है।

राग धनाश्री

को गोपाल कहाँ को बासी, कासों है पहिचान ?
तुमसों संदेसो कौन पठाए, कहत कौन सों आनि ?
अपनी चाँड़ आनि उड़ि बैठ्यो, भँवर भलो रस जानि।
कै वह बेलि बढ़ौ कै सूखौ, तिनको कह हितहानि॥
प्रथम बेनु बन हरत हरिन-मन राग-रागिनी ठानि।
जैसे बधिक बिसासि बिबस करि बधत विषम सर तानि॥

पय प्यावत पूतना हनी, छपि बालि हन्यो बलि दानि।
सूपनखा, ताड़का निपाती सूर स्याम यह बानि ॥२४९॥

शब्दार्थ—आनि=लाकर, आकर। चाँड़=इच्छा, अभिलाषा। हितहानि=स्वार्थ की हानि। बिसासि=विश्वास। बधत=वध करता है। पय=दूध। हनी=मारी। छपि=छिप कर। निपाती=नष्ट किया। बानि=स्वभाव।

भावार्थ—कृष्ण द्वारा भेजे गए योग-सन्देश को सुन, अत्यधिक मर्माहत हो, गोपियाँ कृष्ण के विभिन्न अवतारों द्वारा किये गए विश्वासघातों की चर्चा करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम्हारे ये गोपाल कहाँ के रहने वाले हैं, उनकी जान-पहचान किससे है, तुम्हारे द्वारा किसने सन्देश भिजवाया है, और तुम आकर उस सन्देश को किससे कह रहे हो ? अर्थात् हम तुम्हारे ऐसे विश्वासघाती गोपाल को नहीं जानतीं। तुम्हारे इस गोपाल का स्वभाव तो उस भ्रमर के समान है जो अपनी मधुपान की इच्छा-पूर्ति के लिए अच्छे, मधुर रस का पान करने के लोभ से फूलों पर स्वयं जा बैठता है और रस-पान करने के उपरान्त उन्हें त्याग चला जाता है और फिर कभी लौटकर उनके पास नहीं आता। रस-पान कर लेने के बाद उसकी बला से उन फूलों को धारण करने वाली वह लता और अधिक फूले-फले या सूख जाय। दोनों ही अवस्थाओं में उस भ्रमर के स्वार्थ की कोई भी हानि नहीं होती, क्योंकि वह तो उससे अपना स्वार्थ सिद्ध कर चुका। अब उससे उसे क्या मतलब ! कृष्ण ने भी हमारे साथ ऐसा ही विश्वासघातपूर्ण व्यवहार किया है। हमारे साथ मनमाना रस-भोग कर वह मथुरा चले गए। अब उन्हें हमसे क्या मतलब ? उनकी बला से हम मरें या जिएँ।

हे उद्धव ! तुम्हारे इन गोपाल का तो स्वभाव ही पहले विश्वास दिलाकर फिर घात करने का रहा है। जैसे बहेलिया पहले वन में बीन बजाकर, उसकी मोहिनी राग-रागनियों द्वारा हिरनों को मुग्ध बना उन्हें अपने वश में कर लेता है, और जब हिरन उस पर विश्वास कर संगीत की मोहनी में विवश बने उसके सामने आ खड़े होते हैं तो वह भयंकर बाण मारकर उनका वध कर डालता है। तुम्हारे गोपाल ने भी हमारे साथ ऐसा ही व्यवहार किया था। पहले हमारे प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित कर अपने मोहक सौन्दर्य और वंशी की मधुर ध्वनि द्वारा हमें अपने वश में कर लिया और फिर हमें त्याग, लौटने का झूठा वायदा कर यहाँ से चले गए और अब यह योग-सन्देश भेजकर हमारे प्राणों का हरण करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

तुम्हारे गोपाल की यह कोई नई हरकत नहीं है। वह तो हमेशा से ऐसा ही विश्वासघात करते आए हैं। स्वयं को अपने स्तनों द्वारा दूध पिलाती हुई पूतना के उन्होंने प्राण के लिए थे; बालि-सुग्रीव के युद्ध के समय छिपकर बालि का वध किया था; राजा बलि को बावन-अवतार धारण कर छला था और उसका राज-पाट छीन

उसे पाताल-लोक भेज दिया था; नारी सूर्पणखा तथा ताड़का का विनाश किया था—सूर्पणखा के नाक-कान लक्ष्मण द्वारा कटवा दिये थे और ताड़का को बाण मार कर मार डाला था, जबकि नारी-हत्या जघन्य अपराध माना गया है। तुम्हारे गोपाल को ऐसे छल भरे, अन्यायपूर्ण कार्य करने में कोई संकोच नहीं होता क्योंकि यह सब करने का तो उनका स्वभाव पड़ गया है।

विशेष—(१) इस पद में सूर ने गोपियों की विरह-व्यथित, व्याकुल-विषम मानसिक दशा का बहुत ही यथार्थ और मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। इसमें घृति, असूया, अमर्ष आदि भावों का सफल और सुन्दर चित्रण हुआ है। जब हम किसी से नाराज होते हैं तो उसके सद्‌गुण और सत्कार्य भी हमारी दृष्टि में अवगुण और अन्यायपूर्ण कार्य बन जाते हैं। इसी कारण गोपियाँ भगवान के लोकोद्धारक सत्कार्यों को भी छलपूर्ण और अन्यायकारक घोषित कर रही हैं।

(२) इस पद में अप्रस्तुत प्रशंसा और उपमा अलंकार है।

मधुकर ! हमहीं कौ समझावत।
बारम्बार ज्ञानगाथा व्रज अबलन आगे गावत ॥
नँदनँदन बिन कपट कथा कहि कत अनरुचि उपजावत ?
स्रक चंदन तन में जो सुधारत कहु कैसे सचु पावत !
देखु बिचारि तुहिं अपने जिय नागर है जु कहावत ?
सब सुमनन फिरि-फिरि नीरस करि काहे को कमल बँधावत ?
कमलनयन करकमल कमलपग कमलबदन बिरमावत।
सूरदास प्रभु अलि अनुरागी, काहे को और भुकावत ॥२५०॥

शब्दार्थ—अबलन=अबलाओं के। अनरुचि=अनिच्छा, विरक्ति। स्रक=माला। सुधारत=धारण करना। सचु=सुख। नागर=चतुर, ज्ञानी। सुमनन=फूलों को। बिरमावत=विश्राम करता है। भुकावअ=बकवाता है।

भावार्थ—जो जिसके प्रति अनुरक्त रहता है, वह उसे त्याग अन्य किसी को भी स्वीकार नहीं कर सकता। गोपियाँ इसी तथ्य की घोषणा करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि—

हे भ्रमर ! तू बार-बार हमें ही समझा रहा है, अपनी ओर ध्यान क्यों नहीं देता ? तू हम व्रज की अबलाओं के सामने बार-बार अपनी इस ज्ञाना-गाथा (ज्ञानोपदेश का गान गा रहा है, उसकी प्रशंसा कर रहा है। तू नन्दनन्दन कृष्ण की कथाओं से रहित अपनी इस छलभरी ज्ञान-गाथा को बार-बार कहकर हमारे मन में विरक्ति (अरुचि) क्यों उत्पन कर रहा है ? अर्थात् हमें कृष्ण के उल्लेख से रहित तेरी यह ज्ञान-कथा तनिक भी नहीं सुहाती। हमें तो केवल कृष्ण की ही कथा सुना। तू तो नागर अर्थात् बुद्धिमान कहलाता है। (यहाँ ज्ञानी उद्धव से अभिप्राय है), इसलिए

स्वयं अपने मन में विचार कर देख कि हम अपने जिस शरीर को माला चन्दन आदि धारण कर सजाती थीं, वह शरीर भस्म धारण कर कैसे सुख पा सकता है ? तू यह बता कि तू सारे फूलों पर बार-बार घूम-घूमकर, उनका मधुपान कर जब उन्हें नीरस कर देता है तो फिर स्वयं को कमल-कोश में बैठकर क्यों आबद्ध करवा लेता है ? अर्थात् तू कमल को त्यागकर क्यों नहीं जा पाता ? भाव यह है कि जिस प्रकार भ्रमर कमल से सच्चा प्रेम करने के कारण उसे त्याग नहीं पाता, उसी प्रकार कृष्ण की अनन्य अनुरागिनी गोपियाँ भी कृष्ण को त्याग, निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार नहीं कर सकतीं।

हे भ्रमर ! तू कमल का अनुरागी है—इसीलिए कमल के से नेत्र, कमल के से हाथ, कमल के समान चरण और कमल तुल्य कृष्ण के मुख को देख, क्यों सदैव उन्हीं के पास बना रहता है ? (यहाँ गोपियाँ भ्रमर के माध्यम से उद्धव से कह रही हैं—क्योंकि उद्धव कृष्ण के भक्त होने के कारण सदैव उन्हीं के समीप रहते थे।) हे भ्रमर ! तू स्वामी कृष्ण का सच्चा प्रेमी है, फिर हमसे और अधिक क्यों बकवाना चाहता है ? अर्थात् और अधिक जली-कटी बातें क्यों सुनना चाहता है ? यह तेरा सरासर अन्याय है कि स्वयं तो सदैव कृष्ण-प्रेम में अनुरक्त बना रहता है और हमें उन्हीं कृष्ण को त्याग, भुला, निर्गुण ब्रह्म को अपना लेने का उपदेश दे रहा है।

विशेष—(१) इस पद्य में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है।

(२) 'कमलनयन····कमलबदन' में उपमा तथा अनुप्रास अलंकार हैं।

मधुकर के पठए तें तुम्हरी ब्यापक न्यून परी।
नगरनारि मुखछबि तन निरखत, द्वै बतियाँ बिसरीं ॥
ब्रज को नेह, अरु आप पूर्नता, एकौ ना उबरी।
तीजो पंथ प्रगट भयो देखियत, जब भेंटी कुबरी ॥
यह तौ परम साधु तुम डहक्यो, इन यह मन की धरी।
जो कछु कह्यो सुनि चाल्यो सीस धरि, जोग-जुगुति-गठरी ॥
सूरदास प्रभुता का कहिए, प्रीति भली पसरी ?
राजमान सुख रहै कोटि पै, घोष न एक घरी ॥२५१॥

शब्दार्थ—पठए तें=भेजने से। व्यापक=व्यापकता। न्यून परी=कम हो गई। नगरनारि=नगर की नारियाँ। बिसरीं=भूल गईं। उबरी=पूरी हुई, सार्थक हुई। तीजो=तीसरा। डहक्यो=बहका लिया। पसरी=फैली। घोष=अहीरों का गाँव। राजमान=राज-सम्मान।

भावार्थ—उद्धव ने गोपियों से कहा था कि कृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं, सर्व-व्यापक हैं।

गोपियाँ उद्धव की इन्हीं बातों पर व्यंग्य करती हुई सीधे कृष्ण को सम्बोधित करती हुई कह रही हैं कि—

हे कृष्ण ! मधुकर को अपना सन्देश देकर उसे यहाँ हमारे पास भेजने से तुम्हारी सर्व-व्यापकता में कमी आ गई है। अर्थात् यदि तुम सचमुच सर्व-व्यापक होते तो फिर तुम्हें अपने दूत (उद्धव) को यहाँ क्यों भेजना पड़ता ? स्वयं ही हमारे हृदय में स्थित हो यह सन्देश हमसे कह देते। जब से तुम मथुरा गए हो, वहाँ की नागरिकाओं की मुख-छवि की ओर देख और उन पर मुग्ध हो दो बातें भूल गए हो। वे दो बातें हैं—ब्रह्म के प्रति अपना प्रेम या ब्रजवासियों का अपने प्रति प्रेम तथा अपनी पूर्णता। इन दोनों में से तुम एक की भी रक्षा नहीं कर सके हो। फिर वहाँ जाकर जब तुम्हारी कुब्जा से भेंट हुई तो एक तीसरा ही पंथ उदय होता हुआ दिखाई दिया। अर्थात् तुम ब्रह्म के प्रेम और अपनी पूर्णता को भूल, कुब्जा के प्रेम में आकण्ठ निमग्न हो, एक तीसरे ही मार्ग पर चलने लगे।

तुमने इस उद्धव को अपना सन्देश देकर जो यहाँ भेजा है, सो वह बेचारा तो परम सज्जन पुरुष है। इसे साधु-स्वभाव का जान तुमने इसे बहकाकर यहाँ हमारे पास भेज दिया है, जिससे इसके दूर रहने से तुम पूर्ण स्वच्छन्द हो कुब्जा के साथ मुक्त-विलास कर सको। क्योंकि यह तुम्हारा अभिन्न सखा होने के कारण रात-दिन तुम्हारे ही साथ लगा रहता था और तुम्हें कुब्जा के साथ विलास करने का पूर्ण अवसर नहीं मिल पाता था। इसलिए तुमने इसे टालकर यहाँ हमारे पास भेज दिया है। परन्तु यह इतना सीधा है कि तुम्हारी इस चालाकी को समझ ही नहीं सका। तुमने इससे जो कुछ भी कह दिया, उसी को स्वीकार कर यह योग-साधना की गठरी अपने सिर पर लाद, यहाँ हमें योग-साधना सिखाने के लिए चल खड़ा हुआ। यह इसके पीछे छिपे तुम्हारे षड्यन्त्र को नहीं समझ सका। अब इसकी अनुपस्थिति में तुम कुब्जा के साथ मुक्त भोग-विलास कर प्रेम-पन्थ का अच्छा प्रसार करते हुए अपनी प्रभुता का प्रदर्शन कर रहे हो ! अर्थात् राजा होकर एक कुबड़ी दासी के साथ प्रेम कर अपने प्रभुत्व का परिचय देते हुए अच्छी कीर्त्ति कमा रहे हो ! वहाँ तुम राज्य-सम्मान प्राप्त कर करोड़ों प्रकार के सुखों का भोग कर रहे हो, परन्तु तुमसे यह नहीं होता कि घड़ी भर के लिए यहाँ अहीरों की इस बस्ती में आकर हम दुःखी जनों को सांत्वना प्रदान कर सको ! तुम्हारे बिना हमें यहाँ घड़ी भर के लिए भी चैन नहीं मिलता। अथवा मथुरा के राज-सुख का भोग कर लेने के उपरान्त अब तुम्हें यहाँ हमारे इस गाँव में घड़ी भर के लिए भी चैन नहीं मिल सकेगा, इसी आशंका के कारण अब तुम यहाँ नहीं आते।

विशेष—(१) 'तीजो पंथ' से अभिप्राय है—'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः'। अर्थात् सारे सामाजिक और शास्त्रीय विधि-विधानों और बन्धनों को त्याग एकमात्र कृष्ण में ही अनुरक्त रहना। पुष्टि-मार्गीय भक्ति का यही मूल-सिद्धान्त माना गया है।

(२) यहाँ गोपियाँ उद्धव को पूर्ण निर्दोष घोषित करती हुई सारा दोष कृष्ण के सिर पर ही मढ़ देती हैं।

(३) यह·······गठरी' में उक्ति वैचित्र्य है।

(४) 'जोग-जुगति गठरी' में रूपक तथा 'सूरदास·······एक घरी' में वक्रोक्ति अलङ्कार है।

राग आसावरी

मधुकर ! बादि बचन कत बोलत ?
तनक तोहिं पत्याऊँ, कपटी अन्तर-कपट न खोलत ॥
तू अति चपल अलप को संगी बिकल चहूँ दिसि डोलत।
मानिक काँच, कपूर कटु खली, एक संग क्यों तोलत ?
सूरदास यह रटत बियोगिनि दुसह दाह क्यों झोलत।
अमृतरूप आनन्द अंगनिधि अनमिलि अगम अमोलत ॥२५२॥

शब्दार्थ—बादि=व्यर्थ। पत्याऊँ—विश्वास करूँ। अन्तर-कपट=हृदय का कपट। अलप=तुच्छ। कटु=कड़वी। खली=खल। झोलत=जलाता है। शंग-निधि=साकार स्वरूप। अगम=अगम्य। अमोलत=अमूल्य बनाना।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव की निर्गुण-साधना की बातें सुनकर झल्ला उठती हैं। सगुण की तुलना में उसे तुच्छ-नगण्य घोषित करती हुई मधुकर के माध्यम द्वारा उद्धव से कहती हैं कि—

हे मधुकर ! तू व्यर्थ की बकवाद क्यों कर रहा है ? हम तेरा तनिक भी विश्वास नहीं करतीं। तू कपटी है, इसलिए अपने हृदय में छिपे कपट को स्पष्ट न कर इधर-उधर की व्यर्थ की बातें कर रहा है। हम जानती हैं कि तू स्वभाव का चंचल है और ओछे, चंचल स्वभाव वाले व्यक्ति (कृष्ण) का साथी है। इसीलिए अपने चंचल, अस्थिर स्वभाव और कुसंग के प्रभाव के कारण तू व्याकुल बन चारों ओर भटकता फिर रहा है। (यहाँ कृष्ण गोपियों के स्नेह को त्याग, कुब्जा से प्रेम करने के कारण चंचल स्वभाव के घोषित किए गए हैं और भ्रमर रूप उद्धव उनके अभिन्न सखा होने के कारण अस्थिर बुद्धि वाले माने गये हैं।) तू ऐसा अन्याय क्यों कर रहा है कि माणिक्य और काँच को, तथा कपूर और कड़वी खल को एक ही समान सिद्ध कर रहा है ? अर्थात् हमारे कृष्ण माणिक्य और कपूर के समान बहुमूल्य हैं और तेरा निर्गुण ब्रह्म काँच और कड़वी खल के समान मूल्यहीन और सारहीन है। परन्तु तू कृष्ण और निर्गुण ब्रह्म को एक ही घोषित कर दोनों को समान बता रहा है।

हे मधुकर ! तू बार-बार अपनी ही बात की रट लगाता हुआ हम वियोगिनी गोपियों को असह्य अग्नि में और अधिक क्यों दग्ध कर रहा है ? अर्थात् कृष्ण को भूल निर्गुण-ब्रह्म की आराधना करने का उपदेश देकर हमारी वियोगाग्नि को और अधिक

उद्दीप्त क्यों कर रहा है ? हमारे कृष्ण तो साक्षात् अमृत के समान मधुर और जीवन-प्रदायक आनन्द प्रदान करने वाले और सम्पूर्ण मनोरम अंगों से युक्त अर्थात् साकार रूप हैं। तू उनके साथ अपने अगम्य, निराकार, मूल्यहीन निर्गुण ब्रह्म का अनमिल (असंगत) मिश्रण क्यों कर रहा है ? अर्थात् हमारे साकार-स्वरूप कृष्ण और तेरे निराकार, सारहीन निर्गुण ब्रह्म—दोनों कभी एक हो ही नहीं सकते। फिर तू इन दोनों को एक ही सिद्ध करने का असफल-असम्भव प्रयत्न क्यों कर रहा है ?

विशेष—'मानिक····तोलत' में प्रतिवस्तूपमा, तथा 'अमृत रूप····अमोलत' में वृत्त्यानुप्रास अलंकार है।

राग केदारो

मधुकर ! देखि स्याम तन तेरो।
हरि-मुख की सुनि मीठी बातें, डरपत है मन मेरो॥
कहत हौं चरन छुबन रसलंपट, बरजत हौ बेकाज।
परसत गात लगावत कुंकुम, इतनी में कछु लाज ?
बुधि बिबेक अरु बचन-चातुरी, ते सब चितै चुराए।
सो उनको कहो कहा बिसार्‌यो, लाज छाँड़ि ब्रज आए॥
अब लौं कौन हेतु गावत है, हम आगे यह गीत।
सूर इते सों गारि कहा है, जो पै त्रिगुन अतीत ?॥२५३॥

शब्दार्थ—रस लम्पट=रस का लोभी। बरजत=मना करता है, रोकता है। बेकाज=अकारण, व्यर्थ। परसत=स्पर्श करते। कुंकुम=रोली। बिसार्‌यो=भुला दिया। हेतु=कल्याण। गारि=बुराई, गाली।

भावार्थ—उद्धव के ज्ञानोपदेश को सुन गोपियाँ क्षुब्ध हो, भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव को जली-कटी सुनाती हुई कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! तेरे इस काले शरीर को देखकर और कृष्ण के मुख द्वारा कही गई इन मीठी चुपड़ी बातों (योग-सन्देश) को सुन, हमारा मन भयभीत हो उठा है। अर्थात् हमें यह भय सता रहा है कि तुम दोनों मिलकर हमारे खिलाफ कोई भयंकर कुचक्र रच रहे हो। रे रस-लम्पट ! हम तो केवल अपने कृष्ण के एक बार चरण-स्पर्श करवा देने की तुझसे प्रार्थना कर रही हैं। तू व्यर्थ ही हमें इस कार्य से क्यों रोक रहा है ? आखिर इसमें उनकी कौन-सी हानि हो जाने की सम्भावना है ? पहले जब वह यहाँ रहते थे, तब हमारे शरीर का स्पर्श करते थे, उस पर कुंकुम लगाते थे। और अब यदि हम केवल उनके चरणों का स्पर्श कर लेंगीं तो इसमें उनके लिए ऐसी कौन-सी लज्जित हो उठने की बात उठ खड़ी होगी ? अर्थात् इसमें लज्जित होने की ऐसी कोई बात नहीं है। हम उनसे और कुछ तो चाहती नहीं !

हे भ्रमर ! कृष्ण ने हमारी ओर अपनी मादक दृष्टि से देखकर हमारी सारी बुद्धि भले-बुरे का ज्ञान (विवेक) तथा सम्पूर्ण वाक्-चातुर्य (बात करने का चतुरता-पूर्ण ढंग, वाग्वैदग्ध्य) को चुरा लिया था। अर्थात् हम उन पर मुग्ध हो, अपना होश-हवास खो बैठी थीं। अब यह बताओ कि वह यहाँ व्रज में अपनी ऐसी कौन-सी वस्तु भूल गये हैं, जिसे ले जाने के लिए तुम इतने निर्लज्ज बनकर यहाँ दौड़े आए हो और धरना देकर बैठ गए हो। अब तुम हमारे सामने अपना यह निर्गुण का गीत किस लिए गाए जा रहे हो ? हम अपना सब कुछ तो कृष्ण को दे चुकीं, अब वह हमसे और क्या चाहते हैं ? तुम हमें जो निर्गुण को अपना लेने का उपदेश दे रहे हो, इससे अधिक बुरी गाली हमारे लिए और कोई नहीं हो सकती। क्योंकि तुम हमें अपने स्वामी, पति कृष्ण को त्याग ऐसे निर्गुण को स्वीकार कर लेने का आग्रह कर रहे हो जो तीनों गुणों—सत, रज, तम—से परे अर्थात् रहित है। ऐसे गुणहीन को स्वीकार कर हम क्या करेंगी ? (यहाँ गोपियाँ ब्रह्म की एक उपाधि 'त्रिगुणातीत' पर व्यंग्य कर रही हैं।)

विशेष— त्रिगुन अतीत' में श्लेष अलंकार है। इसका एक अर्थ है—त्रिगुणातीत ब्रह्म, तथा दूसरा अर्थ है—तीनों गुणों—सत, रज, तम—से परे अर्थात् हीन; जो पूर्णतः गुणहीन हो।

मधुकर काके मीत भए ?
दिवस चारि की प्रीति-सगाई सो लै अनत गए ॥
डहकत फिरत आपने स्वारथ पाखंड और ठए ।
चाँड़ै सरे चिन्हारी मेटी, करत हैं प्रीति न ए ॥
चितहि उचाटि मेलि गए रावल, मन हरि हरि जु लए ।
सूरदास प्रभु दूत-धरम तजि, बिष के बीज बए ॥२५४॥

शब्दार्थ—काके=किसके। मीत=मित्र। प्रीति-सगाई=प्रेम का सम्बन्ध। अनत=अन्यत्र। डहकत=बहकाते हुए। ठए=रचते हैं। पाखंड=आडम्बर। चाँड़ै=इच्छा, अभिलाषा। सरे=पूरी हो जाने पर। चिन्हारी=पहचान, परिचय। ए=यह। उचाटि=विरक्त होकर। रावल=महल, राजभवन। हरि=हरण कर लिया। बए=बोए।

भावार्थ—भ्रमर और कृष्ण की स्वार्थी-प्रवृत्ति की परस्पर तुलना करती हुईं गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! ये भ्रमर किसके मित्र होते हैं ? अर्थात् ये किसी के भी सच्चे मित्र नहीं होते। ये तो अपने स्वार्थ के लिए, फूलों का रस-पान करने के लिए चार दिन अर्थात् थोड़े से समय के लिए उनके साथ अपना प्रेम-सम्बन्ध जोड़ लेते हैं और इस बीच उन फूलों का जी-भर रस-पान कर लेने के बाद उन्हें छोड़ अन्यत्र चले जाते

हैं। ये अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए नये-नये आडम्बर (ढोंग) रच-रच सबको बहकाते और छलते फिरते रहते हैं और जब इनकी इच्छा पूरी हो जाती है, इनका स्वार्थ-सिद्ध हो जाता है तो ये उन फूलों से अपनी सारी जान-पहिचान तक मिटा डालते हैं अर्थात् उन्हें पहचानने तक से इन्कार कर देते हैं। ये दरअसल किसी से प्रेम करते ही नहीं, केवल प्रेम का अभिनय करते हैं। भाव यह है कि कृष्ण ने भी हमारे साथ ऐसा ही व्यवहार किया है। पहले हमारे प्रति अगाध प्रेम का अभिनय कर हमें अपने वश में कर लिया और हमारे साथ मनमाना भोग-विलास करने के उपरान्त, तृप्त हो हमें त्याग सदैव के लिए चले गए। और हमारी-अपनी सारी घनिष्ठता को भुला बैठे और मथुरा जाकर नये-नये प्रेम के रङ्गों में डूब गए, कुब्जा के प्रेम में निमग्न हो हमें भूल गए।

कृष्ण का मन जब यहाँ से उचाट (विरक्त) हुआ तो वह हमें यहाँ छोड़कर स्वयं मथुरा पहुँच वहाँ राजमहल में स्थित हो कुब्जा के प्रेम में डूब गए, परन्तु हमारा मन अपने साथ ही हरण कर लेते गये। हे उद्धव ! तुम्हारे स्वामी और सखा कृष्ण तो ऐसे स्वार्थी और विश्वासघाती निकले ही, परन्तु तुम भी अपने दूत धर्म (सच्ची बात कहना) को भूलकर यहाँ विष के बीज बो रहे हो। अर्थात् सच्ची बात न कह-कर हमें कृष्ण को भूल निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दे, हमारे जीवन में जहर घोल रहे हो। दूत को तो सदैव सच्ची और न्यायपूर्ण बात ही कहनी चाहिए, परन्तु तुम इस दूत-धर्म का उल्लंघन कर अनुचित बातें कह रहे हो।

विशेष—इस पद में काकु-वक्रोक्ति अलंकार है। 'हरि हरि जु लए' में यमक अलंकार भी है।

मधुकर कहाँ पढ़ी यह नीति ?
लोकबेद-स्रुति-ग्रन्थ-रहित, सब कथा कहत बिपरीत ।।
जन्मभूमि ब्रज, जननि जसोदा केहि अपराध तजी ?
अति कुलीन गुन रूप अमित सब दासी जाय भजी ।।
जोग-समाधि गूढ़ स्रुति मुनिमग क्यों समुझि है गँवारि।
जौ पै गुन-अतीत व्यापक तौ, होहिं कहा है गारि ?
रहु रे मधुप ! कपट स्वारथ हित तजि बहु बचन बिसेखि।
मन-क्रम-बचन बचत यहि ताते सूर-स्याम तन देखि ।।२५५।।

शब्दार्थ—विपरीत=भिन्न। अमित=अत्यधिक। भजीं=अंगीकार कर ली, भजन करने लगे। गूढ़=जटिल। स्रुति=वेद। मुनिमग=मुनियों की साधना का मार्ग। गुन-अतीत=गुणातीत, गुणों से परे, रहित। गारि=गाली। बेसेखि=विशेष, ज्यादा। बचत=बचा हुआ है। तन=ओर।

भावार्थ—गोपियाँ अपने लिए योग-साधना को सर्वथा जटिल, अव्यावहारिक

तथा शास्त्र-विरुद्ध घोषित करती हुई भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! तू यह नया नीति-शास्त्र कहाँ से पढ़कर, सीख कर आया है ? क्योंकि तू हम युवतियों को जो योग-साधना करने का उपदेश दे रहा है, वह लोक, वेद, शास्त्र-ग्रन्थ आदि सबके विरुद्ध है। अर्थात् इनमें से कोई भी युवतियों द्वारा योग-साधना करने के औचित्य को स्वीकार नहीं करता। हमने तो कोई अपराध नहीं किया है, परन्तु तुम फिर भी हमें कृष्ण को भूल जाने का दण्ड देना चाह रहे हो। परन्तु यह बताओ कि कृष्ण के प्रति उनकी जन्मभूमि व्रज ने तथा उनकी माता यशोदा ने कौन-सा अपराध किया था, जिसके कारण वह इन दोनों को त्याग कर चले गए ? अर्थात् कृष्ण का तो स्वभाव ही निरपराधों को सताने का रहा है, इसी कारण वह हम सबको इस प्रकार सता रहे हैं। खैर, हम सब तो नीच जाति की मलिन अहीर नारियाँ थीं, परन्तु कृष्ण तो अत्यन्त उच्च यादव कुल के तथा अमित रूप और गुण के धनी थे, फिर उन्होंने अपनी इस सम्पूर्ण श्रेष्ठता का परित्याग कर उस नीच, कुबड़ी दासी कुब्जा को कैसे स्वीकार कर लिया ? कुल, रूप और गुण के ये सारे बन्धन क्या केवल हमारे ही लिये थे ?

योग-समाधि को वेद भी गूढ़ घोषित करते हैं। योग-साधना का मार्ग तो केवल ऋषि-मुनियों की साधना का ही मार्ग है। फिर ऐसे जटिल, दुरूह, गूढ़ मार्ग को हम जैसी गँवार, अज्ञानी नारियाँ कैसे समझ सकती हैं ? अर्थात् यह हमारे लिए अगम्य है। अगर तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म गुणातीत और सर्वव्यापक है तो हमारे लिए इससे अधिक बुरी और दूसरी कौन-सी गाली हो सकती है। क्योंकि हमारे हृदय में तो सर्वगुण-सम्पन्न एकमात्र कृष्ण का ही स्थान है। हम उनके स्थान पर अन्य किसी को भी स्वीकार नहीं कर सकतीं। क्योंकि उसे स्वीकार कर लेने से हमें पातिव्रत-धर्म भंग करने का महापातक लगेगा।

रे दुष्ट कपटी भ्रमर ! तू अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए तरह-तरह की बातें अधिक बनाना छोड़ दे अर्थात् ज्यादा बकवक मत कर। तेरी बातें सुनना हमें असह्य हो रहा है। हम मन, वचन और कर्म के साथ तुझ से यह कह रहीं हैं अर्थात् सत्य कह रही हैं कि कृष्ण की ओर देखकर ही, उनके ही नाते से कि तू उनका सखा और दूत है, हम तेरी इन अनर्गल बातों को अब तक सहन करती आ रही हैं। तू इसी कारण अभी तक हमारी क्रोधाग्नि से बचा हुआ है।

विशेष—(१) 'अति कुलीन····जाय भँजी' में कृष्ण पर कुब्जा को लेकर गहरा व्यंग्य किया गया है।

(२) योग-साधना को नारियों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध किया गया है।

(३) गोपियों का कृष्ण और उद्धव के प्रति अमर्ष का भाव दर्शनीय है। उनकी खीझ ने पद को सुन्दर और प्रभावशाली बना दिया है।

मधुकर ! होहु यहाँ तें न्यारे ।
तुम देखत तन अधिक तपत है, अरु नयनन के तारे ।।
अपनो जोग सैंति धरि राखौ, यहाँ लेत को, डारे ?
तोरे हित अपने मुख करिहैं, मीठे ते नहिं खारे ।।
हमरे गिरिवरधर के नाम गुन, बसे कान्ह उर बारे ।
सूरदास हम सबै एकमत, तुम सब खोटे कारे ।।२५६।।

शब्दार्थ—न्यारे=दूर, अलग । तारे=पुतलियाँ । सैंति=सम्हालकर । डारे=डाले हुए हो । खारे=कड़वे । बारे=बचपन से ही । एकमत=एक राय की । खोटे=बुरे, दगाबाज ।

भावार्थ—उद्धव के योग-उपदेश को सुन-सुन गोपियाँ झल्ला उठती हैं और उन्हें मधुकर के माध्यम से फटकारती हुई कहती हैं कि—

हे मधुकर ! तुम यहाँ से दूर हो जाओ, चले जाओ । तुम्हें देखते ही हमारा शरीर क्रोध के मारे और अधिक जलने लगता है और आँखों की पुतलियों से आग निकलने लगती है । तुम अपने इस योग को अपने पास ही सेंत (सम्हाल, सहेज) कर रखो । यहाँ इसे लेने वाली कोई भी नहीं है । तुमने इसे यहाँ व्यर्थ ही फैलाकर डाल रखा है । अर्थात् व्यर्थ इसकी प्रदर्शनी कर रहे हो । हम तुम्हारी भलाई के लिए अपने कृष्ण-रूप के मधुर स्वाद का आस्वादन करने वाले मुखों को तुम्हारे कड़वे नीरस निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर कड़वा नहीं बनायेंगी । अर्थात् कृष्ण को त्याग निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार नहीं करेंगी । क्योंकि हमारे हृदय में तो बचपन से ही कृष्ण का नाम और गुण समाए हुए हैं । अर्थात् कृष्ण जब छोटे बालक थे, हम तभी से उनकी आराधना करती आ रही हैं । इस सम्बन्ध में हम सब गोपियों की यही राय है कि तुम सब काले रंग वाले बुरे और विश्वासघाती होते हो । इसलिए हम तुम्हारी बात नहीं मान सकतीं ।

विशेष—(१) गोपियों की खीझ और काले रंग वालों पर उनका अविश्वास दर्शनीय है ।

(२) 'तोरे हित''''नहिं खारे'—पंक्ति के भाव से मिलता-जुलता भाव अन्यत्र सूर की इस पंक्ति में द्रष्टव्य है—"जिन भौंरन अम्बुज रस चाख्यौ, क्यों करील फल खावै ।"

राग नट

मधुप ! बिराने लोग बटाऊ ।
दिन दस रहत काज अपने को तजि गए फिरे न काऊ ।।
प्रथम सिद्धि पठई हरि हमको, आयौ ज्ञान अगाऊ ।
हमको जोग, भोग कुब्जा को, वाको यहै सुभाऊ ।।

कीजै कहा नंदनंदन को जिनके सतभाऊ।
सूरदास प्रभु तन-मन अरप्यो, प्रान रहैं कै जाऊ ॥२५७॥

शब्दार्थ—बिराने=पराये, दूसरे। बटाऊ=यात्री, राहगीर। फिरे=लौटे। काऊ=कभी भी। अगाऊ=आगे-आगे, पहले ही। वाको=उनका। सतभाऊ=सच्चा भाव। अरप्यो=अर्पित कर दिया। जाऊ=जायें।

भावार्थ—प्रेम में कृष्ण द्वारा किए गए विश्वासघात और उपेक्षा से व्यथित हो, गोपियाँ मधुप के माध्यम से उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुप ! राहगीर लोग सदैव पराये ही रहते हैं। अर्थात् रास्ता चलने वाले लोग कभी अपने नहीं होते। वह रास्ता चलते हुए बीच में अपने किसी काम से दस दिन (थोड़े समय के लिए) के लिए कहीं रुक जाते हैं और काम पूरा हो जाने पर उस स्थान तथा वहाँ के लोगों को त्याग अपने रास्ते पर आगे बढ़ जाते हैं और फिर कभी भी लौटकर वहाँ नहीं आते। भाव यह है कि कृष्ण ने भी गोपियों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया था। वह थोड़े समय तक ब्रज में रहे थे, गोपियों के साथ प्रेम-क्रीड़ाएँ की थीं और मन भर जाने पर उन्हें त्याग और भुलाकर मथुरा चले गए थे और फिर कभी लौटकर नहीं आये। फिर ऐसे लोग अपने कैसे हो सकते हैं ? ऐसे लोग तो सदैव पराए ही रहते हैं।

पहले तो कृष्ण ने हमारे लिए सिद्धि भेजी थी; अर्थात यह आवश्वासन दिया था कि हमें उनके मिलन की सिद्धि प्राप्त होगी, हमारा उनसे मिलन होगा, परन्तु अब यह ज्ञान (योग-साधना का उपदेश) पहले ही बीच में आकर खड़ा हो गया है। अर्थात् अब हमें कृष्ण मिलन की सम्पूर्ण आशा त्याग, उन्हें भूल, निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति का उपदेश दिया जा रहा है। परन्तु इसके लिए हम दोष किसे दें, क्योंकि उन कृष्ण का स्वभाव ही सदैव अन्याय करने का रहा है और अपने इस स्वभाव के अनुसार ही वह हमारे लिए योग-साधना का और कुब्जा के लिए भोग-साधना का विधान रच रहे हैं। हम इस अन्यायपूर्ण कार्य के लिए उन नन्दनन्दन कृष्ण को क्या कहें ? कुछ कह भी तो नहीं सकतीं, क्योंकि उनके प्रति हमारा भाव (प्रेम) सच्चा है। हमने तो उन्हें अपना तन और मन—दोनों ही अर्पित कर रखे हैं। अब हम अपने व्रत से नहीं हट सकतीं, चाहे हमारे प्राण रहे या नष्ट हो जाएँ। अर्थात् एक बार कृष्ण को अपना सर्वस्व समर्पित कर देने के उपरान्त अब हम उन्हें त्याग, निर्गुण ब्रह्म को किसी भी दशा में स्वीकार नहीं कर सकतीं। भले ही हमें अपनी इस प्रेम-साधना में कितना ही दुःख क्यों न झेलना पड़े।

विशेष—(१) गोपियों की प्रेम-विवशता, कातरता और प्रेम-निष्ठा अनन्य और एकरस है। संसार का कोई भी प्रलोभन उन्हें अपने प्रेम-व्रत से विचलित नहीं कर सकता।

(२) 'हमको जोग, भोग कुब्जा को' में असूया संचारी भाव है।

राग सारंग

मधुकर ! महाप्रवीन सयाने ।
जानत तीन लोक की बातैं अबलन काज अयाने ।।
जे कच कनक-कचोरा भरि-भरि मेलत तेल-फुलेल ।
तिन केसन को भस्म बतावत, टेसू कैसो खेल ।।
जिंन केसन कबरी गहि सुन्दर अपने हाथ बनाई ।
तिनको जटा धरन को, ऊधो ! कैसे कै कहि आई ?
जिन स्रवनन ताटंक, खुभी अरु करनफूल खुटिलाऊ ।
तिन स्रवनन कसमीरी मुद्रा, लटकन,चीर झलाऊ ।।
भाल तिलक, काजर चख, नासा नकबेसरि, नथ फूली ।
ते सब तजि हमरे मेलन को उज्ज्वल भस्मी खूली ।।
कंठ सुमाल, हार मनि, मुक्ता, हीरा, रतन अपार ।
ताही कंठ बाँधिबे के हित सिंगी जोग सिंगार ।।
जिहि मुख मीत सुभाखत गावत करत परस्पर हास ।
ता मुख मौन गहे क्यों जीवैं, घूटैं ऊरध स्वास ?
कंचुकि छीन, उबटि घसि चंदन, सारी सारस चंद ।
अब कंथा एकै अति गूदर क्यों पहिरैं, मतिमंद ?
ऊधो उठो सबै पा लागैं, देख्यो ज्ञान तुम्हारो ।
सूरदास मुख बहुरि देखिहैं जीजौ कान्ह हमारो ।।२५८।।

शब्दार्थ—सयाने=चतुर । अबलन काज=अबलाओं के काम के लिए । अयाने=अज्ञानी, भोले । कच=केश, बाल । कनक-कचोरा=सोने का कटोरा । मेलत=डालते, लगाते । टेसू कैसो खेल=बच्चों का खेल । कबरी=वेणी । ताटंक, खुभी, करनफूल, खुटिला=कान के विभिन्न आभूषणों के नाम हैं । कसमीरी= स्फटिक पत्थर की । झलाऊ=ढीला-ढाला चोगा जैसा वस्त्र । चख=नेत्र । नकबेसरि =नथ । मेलन=लगाने के लिए । खूली=थैली । सिंगी=शृङ्गी, योगियों का तुरही जैसा एक बाजा । सुभाखत=अच्छी तरह से कहना । ऊरध=ऊर्ध्व, ऊँची । कंचुकी =चोली । सारी=साड़ी । सारस चन्द=कमल और चन्द्रमा के चित्रों से छपी हुई । कंथा=कथरी । गूदर=गुदड़ी । मतिमन्द=मूर्ख । जीजौ=चिरंजीवी हों ।

भावार्थ—विरहिनी युवती गोपियाँ योग-साधना को अपने लिए सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध करती हुई भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! तुम तो महान् प्रवीण और चतुर हो । तुम वैसे तो तीनों लोकों की सारी बातों (ज्ञान) को जानते हो अर्थात् परम ज्ञानी हो, परन्तु हम अबलाओं के

लिए नितान्त अज्ञानी अर्थात् भोले बन गये हो। भाव यह है कि हमारे सम्बन्ध में तुम अपना सारा ज्ञान भूल मूर्खों की-सी बातें कर रहे हो। अपने जिन केशों में हम सोने के कटोरों में भर-भर कर सुगन्धित तेल लगाया करती थीं, तुम अब उन्हीं केशों में भस्म लगाने का उपदेश दे रहे हो। यह तो तुम हमें अपने केशों के साथ बच्चों का टेसू का-सा खेल खेलने की शिक्षा दे रहे हो। अर्थात् जैसे बच्चे कुछ दिनों तक टेसू को सजाते और गीत गाते हैं, और फिर अन्त में उस टेसू को जल में फेंककर नष्ट कर डालते हैं; तुम चाहते हो कि हम भी यत्नपूर्वक सँवारे-सँजाये गये अपने बालों को उसी प्रकार भस्म लगाकर नष्ट कर डालें। कृष्ण ने स्वयं अपने हाथों से हमारे जिन केशों को लेकर उनकी वेणी गुही थी, हे उद्धव! अब उन्हीं केशों की जटा धारण करने से लिए कृष्ण से कैसे कहा गया? वह ऐसी कठोर बात कैसे कह सके?

अपने जिन कानों में हम ताटंक, खुभी, कर्णफूल और खुटिला जैसे आभूषण धारण किया करती थीं, अब उन्हीं कानों में तुम स्फटिक की बनी कश्मीरी मुद्रा और लटकन तथा शरीर पर योगियों का ढीला-ढाला चोगा धारण करने के लिए कह रहे हो। पहले हम अपने भाल (मस्तक) पर तिलक, आँखों में काजल, नाक में नकबेसरि, नथ और लौंग धारण किया करती थीं; अब तुम उन सबको त्याग सारे अंगों में लगाने के लिए सफेद भस्म की थैली लिए फिरते हो। हम पहले अपने जिस कण्ठ में सुन्दर माला और मणि, मोती, हीरा और अनेक रत्नों का बना हार धारण किया करती थीं, अब तुम उसी कण्ठ में बाँधने के लिए शृङ्गी बाजा और योगियों का शृंगार रुद्राक्ष की माला पहनने का उपदेश दे रहे हो। पहले हम अपने जिस मुख से कृष्ण के साथ सुन्दर बातें करती थीं, गीत गाती थीं और परस्पर हँसी-मजाक किया करती थीं, अब तुम्हीं बताओ कि उस मुख द्वारा मौन साधकर ऊँची उल्टी साँस खींच प्राणायाम कर हम कैसे जीवित रह सकेंगी?

पहले हम अपने जिस शरीर पर महीन वस्त्र की कंचुकी (चोली) पहनती थीं, उबटन लगाती थीं, घिसकर चन्दन का लेप करती थीं और कमल और चन्द्रमा के चित्र-छपी साड़ियाँ धारण किया करती थीं, हे मूर्ख! अब तुम्हीं बताओ कि हम उस शरीर पर गूदड़ों (फटे-पुराने वस्त्रों) का बना कंथा और वह भी केवल एक ही कंथा कैसे धारण कर लें?

इसलिए हे उद्धव! हम तुम्हारे चरण छूती हैं, अब तुम यहाँ से उठ जाओ अर्थात् चले जाओ। हमने तुम्हारा सारा ज्ञान देख और समझ लिया है। अर्थात् हम समझ गई हैं कि तुम ज्ञानी न होकर परम मूर्ख हो, तभी हमें ऐसा अनुचित उपदेश दे रहे हो। हमें तो इस बात का पूर्ण विश्वास है कि हम एक बार पुनः अपने कृष्ण के उस सुन्दर मुख का दर्शन अवश्य करेंगी। हम प्रार्थना करती हैं कि हमारे कृष्ण चिरंजीवी हों।

मधुकर ! कौन देस तें आए ?
जब तें क्रूर गयो लै मोहन तब तें भेद न पाए ।।
जाने सखा साधु हरिजू के अवधि बदन को आए ।
अब या भाग, नँदनंदन को या स्वामित को पाए ।।
आसन ध्यान, बायु-अवरोधन, अलि, तन-मन अति भाए ।
है बिचित्र अति, गुनत सुलच्छन गुनी जोगमत गाए ।।
मुद्रा, सिंगी, भस्म, त्वचा-मृग, ब्रजजुवती-तन ताए ।
अतसी कुसुमबरन मुख मुरली सूर स्याम किन लाए ? ।।२५६।।

शब्दार्थ—तें=से । क्रूर=अक्रूर । भेद=रहस्य, समाचार । बदन=कहने को । स्वामित=स्वामित्व, प्रभुता, बड़प्पन । वायु-अवरोधन=प्राणायाम करना । गुनत=विचार करते । त्वचा-मृग=मृगछाला । ताए=जलाए, तपाए । अतसी=अलसी, तीसी । कुसुमबरन=फूल के से रंग वाले । किन=क्यों नहीं ।

भावार्थ—उद्धव के ज्ञानोपदेश और योग-साधना पर व्यंग्य करती और कृष्ण-दर्शन की अपनी अटूट, एकमात्र अभिलाषा प्रकट करती हुईं गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! तुम किस देश से यहाँ आए हो ? अर्थात् कहाँ के रहने वाले हो ? जब से अक्रूर कृष्ण को अपने साथ यहाँ से मथुरा ले गए, तब से उनका कोई भी भेद अर्थात् असली समाचार हमें नहीं मिला । जब हमने तुम्हें यहाँ आया हुआ देखा तो हम यह समझीं कि तुम कृष्ण के सखा और सज्जन पुरुष हो और हमें कृष्ण के यहाँ आने की अवधि की सूचना देने के लिए आए हो । परन्तु तुम्हारी योग-साधना सम्बन्धी ये बातें सुनकर तो हमें अपने भाग्य पर शंका होने लगी है । पता नहीं, हमारे भाग्य में नन्दनन्दन कृष्ण को प्राप्त करना लिखा है या हमारी इस योग-साधना द्वारा प्रभुत्व (सम्पूर्ण सिद्धियों का स्वामित्व) प्राप्त करना लिखा है ।

हे भ्रमर ! तुम हमें योग-साधना सम्बन्धी आसन, ध्यान, प्राणायाम आदि जो बातें बता रहे हो, ये सभी चीजें हमारे शरीर और मन को बहुत अच्छी लग रही हैं, क्योंकि इनके द्वारा हमारा शरीर काम-विकार से मुक्त हो जायग और मन स्थिर-एकाग्र हो विरह-वेदना से मुक्ति पा लेगा । परन्तु तुम्हारी ये बातें ऐसी विचित्र हैं कि हमारी समझ में नहीं आतीं । तुम्हारा यह योग-मत तो विचारशील, सुलक्षणों से युक्त, गुणी योगीजनों के लिए ही उपयुक्त बताया गया है । वही इसकी साधना करने में समर्थ हो सकते हैं । तुम्हारी इन मुद्रा, शृंगी, भस्म, मृगछाला आदि को धारण करने वाली बातों को सुनकर हम ब्रज की युवतियों के शरीर दग्ध हो उठे हैं । अर्थात् ऐसा योगियों का-सा वेश धारण करना युवतियों के लिए सर्वथा अनुचित और अग्राह्य है । तुम इनके स्थान पर हमारे लिए अलसी के पुष्प के से वर्ण (रंग) वाले, मुरली धारण

किए कृष्ण के सुन्दर मुख को क्यों नहीं ले आए ? भाव यह है कि हम तो एकमात्र कृष्ण की उसी मुख-छवि की अनुरागिनी हैं, हमें उसी को देखना अच्छा लगता है। उसके सामने हमें तुम्हारी योग-साधना की ये बातें नहीं सुहातीं। इसलिए हम तुम्हारी बातों को स्वीकार कर उन्हें अपना लेने में असमर्थ हैं।

विशेष—(१) 'अतसी'—अलसी का फूल नीले रंग का होता है। इसी कारण श्याम वर्ण वाले कृष्ण के मुख को अलसी के पुष्प के से रंग वाला कहा गया है।

(२) 'अतसी····लाए'—में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है।

मधुकर ! कान्ह कही नहीं होहीं।
यह तौ नई सखी सिखई है, निज अनुराग बरोही ॥
सँचि राखी कूबरी-पीठि पै, ये बातैं चकचोही।
स्याम सुगाहक पाय सखी री, छार दिखायो मोही ॥
नागरमनि जे सोभा-सागर, जग जुबती हँसि मोही।
लियो रूप है ज्ञान ठगौरी, भलो ठग्यो ठग वोही ॥
है निर्गुन सरबरि कुबरी, अब घटी करी हम जोही।
सूर सो नागरि जोग दीन जिन, तिनहिं आज सब सोही ॥२६०॥

शब्दार्थ—नई सखी=कुब्जा। बरोही=बल से। सँचि=संचित करके। चकचोही=चुहल की। सुगाहक=अच्छा ग्राहक। छार=भस्म। मोही=मुझे। नागरमनि=सर्वश्रेष्ठ नागरिक। लियो रूप=रूप ले लिया, निराकार बना दिया। ठगौरी=ठगने की वस्तु। वोही=उसी। सरवरि=बराबरी। घटी करी=धोखा किया। जोही=जो। नागरि=चतुर कुब्जा। सोही=शोभा देता है।

भावार्थ—गोपियों को सन्देह है कि उनके लिए ये योग-सन्देश की बातें कृष्ण ने नहीं कही होंगी, बल्कि उस कुब्जा ने ही कहलाई होंगी। इसी बात को गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! योग-साधना और निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी ऐसी ये अनुचित बातें हमारे कृष्ण ने नहीं कही होंगी। अर्थात् कृष्ण तो परम रसिक हैं। वे ऐसी बातें कह नहीं सकते। हमें तो ऐसा लगता है कि कृष्ण की उस नई सखी (प्रियतमा) कुब्जा ने ही अपने प्रेम के बल से उन्हें ये नई (योग-सम्बन्धी) बातें सिखाई होंगी। ऐसी नई और अनुचित, चुहलभरी बातें उस कुबड़ी ने ही अपनी पीठ के कूबड़ में संचित करके रख ली होंगी। (यहाँ गोपियाँ कुब्जा के कूबड़ पर व्यंग्य कर रही हैं कि वह तो शरीर और स्वभाव से ही विकृत है, इसीलिए ऐसी अनुचित बातें कह-कहकर कृष्ण को हमारे विरुद्ध भड़काती रहती है। ऐसी बातों के कारण ही उसका कूबड़ इतना बड़ा और मोटा हो गया है।) उस कुब्जा ने अपना और अपनी ऐसी बातों का कृष्ण जैसा मनपसन्द ग्राहक पाकर ही हमें धूल दिखाई है। अर्थात् प्रेम-युद्ध में विजय प्राप्त

कर हमें धूल चटा दी है, पराजित कर दिया है। और इसी कारण वह हमें धूल (भस्म) दिखा रही है कि इसे धारण कर अब हम योगिनी बन जायें। क्योंकि अब कृष्ण तो उसके हो गये हैं, इसलिए हमें नहीं मिल सकते।

नागरिक जनों में सर्वश्रेष्ठ शोभा के सागर कृष्ण संसार की सारी युवतियों को हँसकर, अपनी मुस्कान द्वारा मोहित कर लिया करते थे, अपने रूप-जाल में बाँध, ठगकर उनका सर्वस्व हरण कर लिया करते थे। अब कुब्जा ने उन्हीं ठग कृष्ण को ज्ञान-रूपी नशीली वस्तु खिलाकर (ठगोरी) उनसे उनका रूप छीन अच्छी तरह से ठग लिया है। (उद्धव ने कृष्ण को निराकार निर्गुण ब्रह्म कहा था, यहाँ गोपियाँ उसी पर व्यंग्य कर रही हैं।) अर्थात् कुब्जा ने कृष्ण का सर्वस्व उनका साकार स्वरूप छीन कर उन्हें निराकार अर्थात् अस्तित्वहीन कर पूर्णतः अपने वश में कर रखा है। संसार को ठगने वाले कृष्ण को ठगकर कुब्जा ने उनसे अच्छा बदला लिया है। कृष्ण ने हमारे साथ जो विश्वासघात किया था, अब कुब्जा ने उन्हें निराकार बनाकर उनसे उस विश्वासघात का लेखा-जोखा बराबर कर दिया है अर्थात् खूब अच्छा बदला लिया है। ऐसे विश्वासघाती के साथ ऐसा ही व्यवहार होना चाहिए था। उन दोनों विश्वासघातियों की अच्छी जोड़ी बनी है। और अब जिस चतुर कुब्जा ने उन्हें यह योग की नई शिक्षा दी है, उन्हें ही आज यह सब शोभा देता है। अर्थात् अब योग-साधना तो कृष्ण को ही करनी चाहिए, न कि हमें। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि योग की शिक्षा देने वाली उस चतुर कुब्जा को ही हमारे लिए योग का यह सन्देश भेजना शोभा देता है, क्योंकि आजकल उसके अच्छे दिन हैं, वह कृष्ण की एकमात्र प्रियतमा बनी हुई है। इसी गर्व के कारण वह हमारे लिए ऐसा अनुचित सन्देश भेजने का साहस कर सकी है।

विशेष—(१) 'छार'—शब्द में श्लेष है। पहला अर्थ है—धूल चटाना, पराजित करना; तथा दूसरा अर्थ है—भस्म लगाना, योग-साधना करना।

(२) कुछ विद्वान् इस पद में उत्प्रेक्षा गम्य अलंकार मानते हैं।

राग सोरठ

मधुकर ! अब धौं कहा कर्‌यो चाहत ?
ये सब भई चित्र की पुतरी, सून्य सरीरहिं दाहत ।।
हमसों तोसों बैर कहा अलि, स्याम अज्ञान ज्यों राहत।
झारि झूरि मन तो हरि लै गए, बहुरि पपयारहि गाहत।।
अब तौ तोहि मरुत को गहिबो कह स्रम करि तू लैहै।
सूरज कोट-मध्य तू ह्वै रह, अपनो कियो तू पैहै ।।२६१।।

शब्दार्थ—कर्‌यो=करना। सून्य=निर्जीव। दाहत=जलाता है। अजान=अज्ञान। राहत=रहता है। झारि झूरि=झाड़-फटक कर, सारा। पयारहि=धान

के सूखे डण्ठल। गाहत=गाहना, दाँय चलाना। मरुत=वायु। गहिबो=पकड़ना। कह=क्या। कोट-मध्य=किले के भीतर। पैहै=पाएगा।

भावार्थ—उद्धव द्वारा बार-बार उपदेश दिए जाने और गोपियों द्वारा ऐसी बातें न कहने का आग्रह किए जाने पर भी जब उद्धव नहीं मानते तो गोपियाँ क्षुब्ध हो उनसे भ्रमर के माध्यम से कहती हैं कि—

हे मधुकर! अब तू और क्या करना चाहता है? तेरी निर्गुण ब्रह्म को अपनाने और कृष्ण को भूल जाने सम्बन्धी बातों को सुनकर, दुःख और आश्चर्य के कारण हम सारी युवतियाँ तो चित्र में अंकित पुतलियों के समान जड़ और निर्जीव हो उठी हैं। अब तू ऐसी बातें कह-कहकर हमारे इन निर्जीव प्राणहीन शरीरों को क्यों जला रहा है, हमें और अधिक दुःख क्यों पहुँचा रहा है? भाव यह है कि उद्धव की बातें सुन गोपियाँ दुःख और आश्चर्य से स्तम्भित हो, चित्र-लिखित पुतलियों के समान जड़ और निर्जीव हो उठी हैं।

हे भ्रमर! यह बता कि हमसे तुझे ऐसी क्या शत्रुता है कि तू कृष्ण के सम्बन्ध में इतना अज्ञानी बनने का ढोंग रच रहा है? अर्थात् हमसे हमारे प्रिय कृष्ण की बातें न कर, ऐसी अनहोनी, विचित्र और दुःखदायी बातें कह-कहकर हमें कष्ट दे रहा है। कृष्ण जब यहाँ से मथुरा गए थे, तब झाड़-फटकार कर अर्थात् पूरी तरह से हमारे मन को अपने साथ ही ले गए थे। अब तू मन-हीन हमारे इन शरीरों द्वारा योग-साधना करवाने का वैसा ही निष्फल प्रयत्न कर रहा है, जैसे धान के सूखे डंठलों पर दाँय चलाकर (बैलों द्वारा खुँदवाकर) उनसे चावल के दाने प्राप्त करने का निष्फल प्रयत्न करना। अर्थात् जब मन ही हमारे पास नहीं तो हम योग-साधना कैसे कर सकेंगी, क्योंकि योग-साधना तो मन को एकाग्र करके ही की जाती है।

अब तू हमें यह उपदेश देकर वैसा ही असम्भव और निष्फल प्रयत्न कर रहा है, जैसा कि वायु को पकड़ने का प्रयत्न करना। (वायु को पकड़ना असभम्व है।) यह बता कि ऐसा निष्फल परिश्रम करने से तुझे क्या मिलेगा? परन्तु तेरा मन चाहे तो तू प्रयत्न करता रह, हमारा क्या कर लेगा! तू अपने इस योग-साधना रूपी किले के भीतर स्वयं को बन्द कर बैठा रह; अर्थात् बार-बार उपदेश देता रह। इससे हमारा कुछ भी नहीं बिगड़ने का। तू जैसा करेगा, उसका वैसा ही फल तुझे भोगना पड़ेगा।

विशेष—(१) 'बहुरि पयारहि गाहत' तथा 'मरुत को गहिबो'—दो सुन्दर लोकोक्तियाँ हैं। इनका प्रयोग अकारण किए जाने वाले निष्फल और असम्भव प्रयत्न के लिए होता है। धान के सूखे डण्ठलों में अनाज के दाने नहीं रहते, अतः उन्हें कुचल कर उनसे अनाज के दाने प्राप्त करना असम्भव और निष्फल प्रयत्न है। इसी प्रकार वायु को पकड़ने का प्रयत्न करना भी व्यर्थ का श्रम है। उद्धव का गोपियों को योग-उपदेश देना भी इसी प्रकार का निष्फल परिश्रम है।

(२) 'ये······पुतरी' में रूपक; 'मधुकर······चाहत' में अतिशयोक्ति; तथा सम्पूर्ण पद में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है।

'राग सारंग

मधुकर ! आवत यहै परेखो ।
जब बारे तब आस बड़े की, बड़े भए सो देखो ।
जोग-जज्ञ, तप-दान, नेम-ब्रत करत रहे पितु-मात ।
क्यों हूँ सूत जो बढ़्यो कुशल सों, कठिन मोह की बात ।।
करनी प्रगट प्रीति पिक-कीरति अपने काज लौं भीर ।
काज सर्‌यो दुख गयो कहाँ धौं, कहँ बायस को बीर ।।
जहँ-जहँ रहौ राज करौ तहँ-तहँ लेव कोटि सिर भार ।
यह असीस हम देति सूर सुनु, न्हात खसैं जनि बार ।।२६२।।

शब्दार्थ—परेखो=मलाल, अफसोस । बारे=बच्चे थे । प्रगट=स्पष्ट है । पिक-कीरति=कोयल की कीर्त्ति, यश । काज सर्‌यो=काम निकल जाने पर । बीर=भाई, बन्धु-बान्धव । वायस=कौआ । न्हात=स्नान करते । खसैं=टूटे, गिरे । बार=बाल ।

भावार्थ—अपने माता-पिता (नन्द यशोदा) को त्यागकर और फिर लौटकर उनकी सुधि तक न लेने की कृष्ण की निर्ममता पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ भ्रमर के माध्यम से उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! हमें तो इसी एक बात का मलाल है कि जब कृष्ण छोटे से बालक थे, तब उनके माता-पिता यशोदा और नन्द ने यह आशा की थी कि कभी हमारा यह पुत्र बड़ा होगा और जब उनकी आशा के अनुरूप कृष्ण बड़े हो गए तो उन्होंने अपने माता-पिता के साथ जैसा व्यवहार किया, वह सब हमने देख लिया है । अर्थात् बड़े होने पर कृष्ण अपने माता-पिता को त्यागकर मथुरा चले गये और फिर कभी लौटकर उनकी सुधि तक नहीं ली । और माता-पिता भी कैसे, जो अपने पुत्र की मंगल-कामना के निमित्त निरन्तर नाना प्रकार के योग-यज्ञ, तप-दान, नियम-व्रत आदि करते रहे थे । और वे यह सब केवल इसीलिए करते रहे थे कि जिससे उनका पुत्र सकुशल बढ़ कर बड़ा हो जाय । माता-पिता को यह सब केवल पुत्र-मोह के कारण ही करना पड़ता है, क्योंकि मोह का बन्धन बड़ा कठिन होता है, उससे मुक्ति नहीं पाई जा सकती ।

परन्तु पुत्र इसके प्रतिदान में माता-पिता के साथ कैसा व्यवहार करता है, इसके लिए संसार में कोयल के बच्चे का प्रेम प्रसिद्ध है । वह अपने स्वार्थ के लिए अपना पालन-पोषण होने तक, कौए के घोंसले में भीड़-भाड़ बनाए रखता है, अर्थात् वहीं रहता है । और कोयल भी उस समय तक अपने पुत्र के वियोग के दुःख को सहती रहती है । परन्तु जब कोयल का बच्चा बड़ा हो जाता है तो उड़कर अपने असली माता-पिता के पास पहुँच जाता है । अपना स्वार्थ-सिद्ध हो जाने पर, बच्चे के

पल कर बड़े हो जाने पर कोयल का पुत्र-वियोग का दुःख दूर हो जाता है। फिर न उसे उस दुःख की याद रहती है और न वह कौए को अपना भाई ही मानती है। भाव यह है कि कृष्ण और उनके असली माता-पिता वसुदेव और देवकी ने भी नन्द-यशोदा के साथ ऐसा ही व्यवहार किया है, अब उनका पुत्र बड़ा होकर उनके पास पहुँच गया है और वे लोग नन्द-यशोदा की बात तक नहीं पूछते।

खैर, उनकी करनी उनके साथ है। हमारी तो यही कामना है कि कृष्ण जहाँ-जहाँ रहें, वहाँ-वहाँ सदैव इसी प्रकार राज्य करते रहें और अपने सिर पर करोड़ों प्रकार के भार अर्थात् जिम्मेदारियाँ लेते रहें। हमें उनसे कुछ भी नहीं चाहिए। हम तो उन्हें यही आशीष देती हैं कि स्नान करते समय भी उनका एक बाल तक न टूटे। अर्थात् कभी भी उनका किसी भी प्रकार का कोई अनिष्ट न होने पाए। वे सदैव सकुशल और प्रसन्न रहें।

विशेष—(१) इस पद में वात्सल्य-भाव की छटा दर्शनीय है। गोपियाँ कृष्ण के प्रति नन्द-यशोदा के वात्सल्य-भाव और ममता को व्यक्त कर रही हैं।

(२) 'न्हात खसै जनि बार' में लोकोक्ति का प्रयोग किया गया है।

(३) सम्पूर्ण पद में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है।

मधुकर ! प्रीति किए पछितानी।
हम जानी ऐसी निबहैगी, उन कछु औरै ठानी॥
कारे तन को कौन पत्यानो ? बोलत मधुरी बानी।
हमको लिखि-लिखि जोग पठावत आपु करत रजधानी॥
सूनी सेज स्याम बिनु, मोको तलफत रैनि बिहानी।
सूर स्याम प्रभु मिलिकैं बिछुरे, तातें मति जु हिरानी॥२६३॥

शब्दार्थ—ठानी=सोच रखा है। पत्यानो=विश्वास। बिहानी=बीत जाती है। हिरानी=नष्ट हो गई है, खो गई है।

भावार्थ—कृष्ण से प्रेम कर पछताती हुई गोपियाँ अपनी असह्य विरह-व्यथा का वर्णन करती हुई मधुकर के माध्यम से उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! हम तो कृष्ण से प्रेम कर पछता रही हैं। हमने तो यह आशा लगा रखी थी कि हमारे-उनके इस प्रेम का निर्वाह अच्छी तरह से होता रहेगा परन्तु कृष्ण ने तो मन में कुछ और ही ठान रखा है। अर्थात् वह हमारे प्रेम को भुला, कुब्जा के प्रेम में डूब गए हैं और हमें स्वयं को भूल जाने और योग-साधना करने का सन्देश भेज रहे हैं। बात यह है कि इन काले शरीर वालों का क्या विश्वास किया जाय ? ये लोग मुँह से तो मीठी-मीठी बातें करते हैं और मन में कपट रखते हैं। कृष्ण हमारे लिए तो योग का सन्देश लिख-लिखकर भेजते रहते हैं और स्वयं राज-

धानी मथुरा में भोग-विलास में डूबे रहते हैं। हमें कृष्ण के बिना अपनी सूनी शय्या पर सारी रात तड़पते हुए बितानी पड़ती है। हमारी इस विषम स्थिति का कारण यह है कि कृष्ण हमसे मिलकर बिछुड़ गए हैं, इसलिए हमारी बुद्धि मारी गई है। अर्थात् हम पागल-सी हो उठी हैं। (यही कारण है कि हम रात भर जागती और तड़पती रहती हैं तथा उन्मादिनी के समान प्रलाप करती रहती हैं।)

विशेष—गोपियाँ असह्य विरह-व्यथा से व्याकुल हो कृष्ण से प्रेम करने पर पछता रही हैं। उनका यह भाव नितान्त स्वाभाविक है, मानवीय है, यद्यपि भक्ति-मार्ग की दृष्टि से इसे अनुचित माना जायगा।

राग मारू

मधुकर की संगति तें जनियत बंस अपन चितयो।
बिन समझे कह चहति सुंदरी सोइ मुख-कमल गह्यो॥
व्याधनाद कह जानै हरिनी करसायल की नारि ?
आलापहु, गावहु, क नाचहु दाँव परे लै मारि॥
जुआ कियो ब्रजमंडल यह हरि जीति अबिधि सों खेलि।
हाथ परी सो गही चपल तिय, रखी सदन में हेलि॥
ऊनो कर्म कियो मातुल बधि मदिरा-मत्त प्रमाद।
सूर स्याम एते औगुन में निर्गुन तें अति स्वाद॥२६४॥

शब्दार्थ—बंस अपन चितयो=अपना वंश ताका, अपने कुल में जा मिले। चहति=चाहती है। व्याधनाद=व्याध की वीणा का स्वर। करसायल की नारि=काले हिरन की पत्नी। आलापहु=आलाप लो, तान लो। दाँव परै=मौका मिलते ही। अबिधि=विधि-रहित, बेईमानी से। चपल तिय=चंचल नारी। सदन=घर। हेलि=खींचकर। ऊनो=ओछा, खोटा। मातुल=मामा।

भावार्थ—कृष्ण के सम्पूर्ण अवगुणों को जानते हुए भी गोपियाँ उन्हें प्यार करती हैं और नीरस निर्गुण ब्रह्म से अधिक सरस घोषित करती हुई भ्रमर के माध्यम से उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! हम जानती हैं कि कृष्ण बड़े सरल और सीधे-सादे थे। परन्तु मधुकर की संगति करने के कारण ही, उसके अपने स्वभाव के अनुरूप ही उनमें यह दोष उत्पन्न हो गया था कि अन्त में उन्होंने अपने कुल (यादव वंश) की ओर देखा और हमें त्याग उसी में जा मिले। जिस प्रकार भ्रमर सारे पुष्पों का रसपान कर अन्त में अपने बाँस के घर में जा छिपता है (भ्रमर बाँस में रहता है), उसी प्रकार कृष्ण भी हमारे साथ भोग-विलास कर अन्त में अपने कुल वालों के साथ जा मिले। उनमें विश्वासघात करने का दुर्गुण विश्वासघाती भ्रमर की संगति के कारण ही उत्पन्न हो गया था। परन्तु यह सुन्दरी गोपी उनके इस नवीन विश्वासघाती स्वभाव

को न समझकर अब भी कृष्ण के कमल के समान उसी सुन्दर सुख को प्राप्त करना चाहती है।

काले हिरन की मादा (स्त्री) हिरनी व्याध की वीणा के मोहक-मुग्धकारी स्वरों के पीछे छिपे उसके विश्वासघात को नहीं पहचान पाती। व्याध उसे मुग्ध करने के लिए उसके सामने आलाप लेता है, गाता है, नाचता है और मौका पाकर वाण मार उसका वध कर डालता है। कृष्ण ने भी हमारे सामने वंशी बजाकर, रास-लीला कर, नाच-गा कर इसी प्रकार हमें मुग्ध कर लिया था, और अवसर पा, हमें त्याग अपने विरह में तड़पता हुआ छोड़ चले गए। कृष्ण ने ब्रजमंडल के साथ अर्थात् संपूर्ण ब्रजवासियों के साथ इसी प्रकार का जुआ खेला था और अन्त में बेईमानी कर हमारे साथ विश्वासघात कर, हमारा सर्वस्व अर्थात् मन को हरण कर, जीत कर यहाँ से चले गए, मथुरा पहुँचकर उनके हाथ में जो भी चंचल स्त्री (कुब्जा) पड़ गई, उसे ही बलात् अपने घर में डाल लिया।

इसके अतिरिक्त कृष्ण ने दूसरा खोटा (बुरा) काम यह किया था कि मदिरा के नशे में प्रमत्त (मदहोश) बने हुए अपने मामा का वध कर डाला था। (होश-हवास खोए हुए शत्रु को मारना अक्षम्य अपराध और पाप माना जाता है।) परन्तु इतने अवगुणों से युक्त होते हुए भी कृष्ण हमारे लिए तुम्हारे इस नीरस निर्गुण ब्रह्म से अधिक प्रिय और रसीले हैं। अर्थात् वह हमें निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा अब भी इतने अवगुण रहते हुए भी अधिक अच्छे लगते हैं। अतः हम उन्हें त्याग, तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार नहीं कर सकतीं।

विशेष—(१) अन्तिम पंक्ति का भाव-साम्य एक अंग्रेजी के कवि की इस पंक्ति में यथावत् मिल जाता है—

'With all thy faults I love thee still.'

(२) 'मुख कमल' में रूपक; 'बंस' में श्लेष; तथा 'मधुकर····गह्यो' में अन्योक्ति अलंकार है।

(३) 'अविधि' शब्द का अर्थ कुछ टीकाकारों ने 'अवधि' माना है। परन्तु यह गलत है। 'अविधि' का अर्थ है 'अ+विधि' अर्थात् नियम से रहित, नियम के विपरीत। हमने इसी कारण इसका अर्थ 'बेईमानी' माना है।

(४) प्रथम पंक्ति में संस्कृत के इस नीति-वाक्य की छाया मिलती है—'संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति।' अर्थात् गुण और दोष संसर्ग (संगति) के कारण उत्पन्न होते हैं।

राग सोरठ

मधुकर चलु आगे तें दूर।
जोग सिखावन को हमें आयो बड़ो निपट तू क्रूर॥

जा घट रहत स्यामघन सुंदर सदा निरंतर पूर।
ताहि छाँड़ि क्यों सून्य अराधैं, खोवैं अपनो मूर ?
ब्रज में सब गोपाल-उपासी, कोउ न लगावै धूर।
अपनो नेम सदा जो निबाहै सोई कहावै सूर।।२६५।।

शब्दार्थ—निपट=नितान्त, बिल्कुल। घट=हृदय में। पूर=पूर्ण रूप से, लबालब भरे हुए। सून्य=शून्य, निर्गुण ब्रह्म। अराधै=आराधना करें। मूर=मूल-धन। उपासी=उपासक। धूर=भस्म। सूर=वीर, योद्धा।

भावार्थ—उद्धव के निर्गुण-उपदेश को सुन गोपियाँ क्रुद्ध हो भ्रमर के माध्यम से उद्धव को फटकारती हुई उनसे कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! तू हमारे सामने से दूर हो जा, भाग जा। तू अत्यन्त क्रूर है जो हमें योग सिखाने के लिए यहाँ आया है। अर्थात् युवती गोपियों को, जो कृष्ण की आराधिका हैं, योग की शिक्षा देना अत्यन्त क्रूर और अनुचित कार्य है। तू यह बता कि हमारे जिस हृदय रूपी घट (घड़े) में स्यामघन रूपी सुन्दर कृष्ण सदैव पूर्णरूप से स्थापित रहते हैं, फिर हम उन्हें त्याग तेरे शून्य (निर्गुण ब्रह्म) की आराधना क्यों करें और अपने मूलधन (कृष्ण) को क्यों खो बैठें ? भाव यह है कि घड़ा तो जल से भरने से ही पूर्ण होता है, उसके भीतर समाए शून्य में शून्य को स्थापित करने से क्या लाभ ? शून्य से तो घड़ा खाली ही बना रहेगा। इसी कारण गोपियाँ शून्य अर्थात् निर्गुण ब्रह्म की आराधना नहीं करना चाहतीं। क्योंकि ऐसा करने से उन्हें हृदय रूपी घड़े में भरे हुए (स्थित) कृष्ण रूपी शीतल जल से वंचित हो जाना पड़ेगा और शून्य-रूप निर्गुण ब्रह्म की स्थापना करने से उनका हृदय रीता बना रह जायगा।

हे मधुकर ! इस ब्रज में सब लोग गोपाल कृष्ण की ही उपासना करने वाले हैं। यहाँ तुम्हारी इस भस्म को धारण कर कोई भी योग-साधना करने को प्रस्तुत नहीं होगा। क्योंकि सच्चा वीर तो वही कहलाता है जो सदैव अपने नियम (प्रण) को निभाता रहता है। अर्थात् हम सब कृष्ण की उपासिका हैं और अपने इस नियम को भंग कर तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं कर सकतीं। कृष्ण-विरह की विषम वेदना भी हमें अपने प्रण से विचलित नहीं कर सकती।

विशेष—अन्तिम पंक्ति का भाव महाकवि भारवि की इस पंक्ति से साम्य रखता है—'व्रताभिरक्षा हि सतामलंक्रिया।'

मधुकर ! सुनहु लोचन-बात।
बहुत रोके अंग सब पै नयन उड़ि-उड़ि जात।।
ज्यों कपोत बियोग-आतुर भ्रमत है तजि धाम।
जात दृग त्यों, फिरि न आवत बिना दरसे स्याम।।

रहे मूँदि कपाट पल दोउ, भए घूँघट-ओट।
स्वास कढ़ि तौ जात तितही निकसि मन्मथ फोट।।
स्रवन सुनि जस रहत हरि को, मन रहत धरि ध्यान।
रहत रसना नाम रटि, पै इनहिं दरसन हान।।
करत देह विभाग भोगहिं, जो कछू सब लेत।
सूर दरसन ही बिना यह पलक चैन न देत।।२६६।।

शब्दार्थ—लोचन-बात=नेत्रों की बात। दरसे=देखे। पल=पलक। कढ़ि=निकल कर। मन्मथ=कामदेव। फोट=उद्गार, स्फोट। हान=हानि। विभाग=बँटवारा, या विभिन्न अंग। लेत=प्राप्त करते हैं। पलक=पल भर को भी।

भावार्थ—कृष्ण-दर्शन के लिए अत्यधिक उत्कण्ठित और व्याकुल गोपियाँ अपने सम्पूर्ण अंगों की अपेक्षा अपने नेत्रों को ही सर्वाधिक व्याकुल और आतुर बताती हुईं भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! तुम हमारे नेत्रों की बात सुनो कि कृष्ण-दर्शन बिना ये अकेले कितने अधिक व्याकुल बने रहते हैं। हमने अपने अन्य सारे अंगों को तो कृष्ण की ओर उन्मुख होने से बहुत कुछ रोक लिया है, परन्तु ये नेत्र हमारा कहना न मान बार-बार उड़-उड़कर कृष्ण की खोज में ही भटकते रहते हैं। ये कृष्ण के विरह में उसी प्रकार आतुर हो इधर-उधर भटकते रहते हैं, जिस प्रकार कबूतर अपनी कबूतरी के वियोग में आतुर हो, अपना स्थान छोड़ उसे खोजता भटकता फिरता है। हमारे नेत्र भी उसी प्रकार कृष्ण की खोज में चले जाते हैं और बिना कृष्ण के दर्शन किये फिर लौट नहीं आते। अर्थात् और कुछ भी देखना पसन्द नहीं करते। हमने इन्हें अपने दोनों पलकों-रूपी किवाड़ों तथा घूँघट की ओट में छिपाकर बन्द कर रखा है, परन्तु ये हमारी गहरी साँसों के साथ बाहर निकलकर उधर ही चल देते हैं, जिधर कृष्ण गए थे और बरबस हमारे मुख से काम-भावना से भरे उद्गार निकलने लगते हैं। अर्थात् ये नेत्र अपनी व्याकुलता द्वारा हमारे हृदय में काम-भावना जाग्रत कर देते हैं।

हमारे कान तो कृष्ण की यश-गाथा सुनकर सन्तोष धारण कर लेते हैं और मन उनका ध्यान करके सन्तुष्ट हो जाता है; जिह्वा उनका नाम रटकर आनन्द प्राप्त कर लेती है परन्तु इनको (नेत्रों को) सदैव दर्शन की हानि ही रहती है अर्थात् कभी भी कृष्ण के दर्शन नहीं हो पाते। इस प्रकार हमारे शरीर के विभिन्न अंग तो कृष्ण की स्मृति का आनन्द प्राप्त कर लेते हैं, जो कुछ आनन्द मिलता है उसे सब मिलकर, आपस में बाँटकर भोग लेते हैं। परन्तु ये नेत्र कृष्ण के दर्शन के बिना पल भर को भी हमें चैन नहीं लेने देते। सदैव व्याकुल बने रहते हैं। भाव यह है कि शरीर की अन्य इन्द्रियाँ (अंग) तो किसी-न-किसी प्रकार थोड़ा-बहुत सन्तोष प्राप्त कर लेती हैं, परन्तु इन नेत्रों को दर्शन के अभाव में तनिक भी सन्तोष नहीं मिल पाता।

विशेष—(१) सम्पूर्ण अंगों की अपेक्षा नेत्रों को ही अत्यधिक और सदैव व्याकुल-आतुर घोषित कर सूर ने इस पद में गोपी-विरह की कलात्मक व्यंजना की है। काव्यमयी भाषा ने इस पद के सौन्दर्य और प्रभाव में चार चाँद लगा दिए हैं। काव्य-कला की दृष्टि से इस पद को उत्कृष्ट माना जा सकता है।

(२) रूपक और उपमा अलङ्कार है।

राग गौरी

मधुकर ! जो हरि कही करैं।
राजकाज चित दयो साँवरे, गोकुल क्यों बिसरैं ?
जब लौं घोष रहे हम तब लौं सन्तत सेवा कीन्हीं ?
बारक कहे उलूखल बाँधे, वहै कान्ह जिय लीन्हीं ।।
जौ पै कोटि करैं ब्रजनायक बहुतै राजकुमारी।
तौ ये नंद पिता कहँ मिलिहैं अरु जसुमति महतारी ?
गोबर्द्धन कहँ गोपबृन्द सब कहँ गोरस सद पैहो ?
सूरदास अब सोई करिए बहुरि हरिहि लै ऐहो ।।२६७।।

शब्दार्थ—कही=कहना। बिसरैं=भूल गया। घोष=अहीरों का गाँव, गोकुल। सन्तत=निरन्तर। बारक=एक बार। उलूखल=ऊखल। गोरस=गाय का दूध। सद=ताजा।

भावार्थ—गोपियाँ ब्रज के सुखों का लालच देती हुई उद्धव से किसी प्रकार कृष्ण को ब्रज में पुनः ले आने का आग्रह करती हुईं भ्रमर के माध्यम से कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! यदि कृष्ण कहना मान जायँ तो उन्हें पुनः ब्रज में लिवा लाना। यह तो ठीक है कि कृष्ण वहाँ मथुरा में राज्य-कार्य में दत्तचित्त हो गए हैं, परन्तु उन्होंने गोकुल को भुला दिया। अर्थात् हम गोकुलवासियों से ऐसा कौन-सा अपराध हो गया था, जिसके कारण वे अब हमारी याद तक नहीं करते ? जब तक कृष्ण यहाँ अहीरों के इस गाँव (गोकुल) में रहे, हम निरन्तर उनकी सेवा करती रहीं। परन्तु केवल एक बार हमारे शिकायत करने पर माता यशोदा ने उन्हें ऊखल से बाँध दिया था, शायद कृष्ण अभी तक उसी बात की गाँठ बाँधे हुए बैठे हैं। अर्थात् हमारे उस अपराध के कारण ही हमसे इतने अधिक नाराज हैं कि यहाँ नहीं आते।

ब्रज के स्वामी कृष्ण अब राजा हो गए हैं और उन्हें हम गोपियों के स्थान पर अनेक राजकुमारियाँ मिल सकती हैं। परन्तु यदि कृष्ण करोड़ों उपाय करें तो भी उन्हें नन्द जैसे पिता और यशोदा जैसी माता कहाँ मिल सकेंगी ? कहाँ उन्हें यह गोवर्द्धन पर्वत और गोपों (ग्वालों) का समूह मिलेगा और कहाँ ताजा गाय का दूध नसीब हो सकेगा ? अर्थात् यह सब कुछ तो उन्हें केवल यहाँ ब्रज में ही मिल सकता है, न कि मथुरा में। इसलिए हे उद्धव ! तुम अब किसी भी तरह से कृष्ण को फिर यहीं ब्रज में ले आओ।

विशेष—यह पद बिल्कुल इसी रूप में पीछे (पद संख्या १६२) आ चुका है, जिसकी प्रथम पंक्ति है—'ऊधो ! हरि यह कहा कर्यो ।' इसके अतिरिक्त शेष सारी पंक्तियाँ इसी उपर्युक्त पद के ही अनुसार हैं। अतः इस पद को उक्त प्रथम पद की पुनरुक्ति ही माना जायगा।

राग बिलावल

मधुकर ! भल आए बलबीर।
दुर्लभ दरसन सुलभ पाए जान क्यों परपीर ?
कहत बचन, बिचारि बिनवहिं सोधियो उन पांहिं।
प्रानपति की प्रीति, ऊधो ! है कि हम सों नांहिं ?
कौन तुम सों कहै, मधुकर ! कहन जोगै नांहिं।
प्रीति की कछु रीति न्यारी जानिहौ मन मांहिं ॥
नयन नींद न परै निसिदिन बिरह बाढ़्यो देह।
कठिन निर्दय नन्द के सुत जोरि तोर्यो नेह ॥
कहा तुम सों कहैं, षटपद ! हृदय गुप्त कि बात।
सूर के प्रभु क्यों बनै जो करैं अबला घात ? ॥२६८॥

शब्दार्थ—बलबीर=बलराम के भाई कृष्ण। बीर=भाई। परपीर=पराई पीड़ा। बिनवहिं=विनय करती हैं। सोधियो=शोध करना, पता लगाना, मालूम करना। उन पांहिं=उनसे। जोगै=योग्य। न्यारी=निराली, अनोखी। षटपद=भ्रमर। क्यों बनै=कैसे निर्वाह हो सकता है। अबला घात=अबलाओं की हत्या।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण-दर्शन के निमित्त अपनी व्याकुल उत्कण्ठा प्रकट करती हुई भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! अब तो बलराम के भाई कृष्ण के आने से ही हमारा कल्याण हो सकता है। कृष्ण के दर्शन दुर्लभ माने जाते हैं। घोर तपस्या करने पर ही उनके दर्शन होते हैं। परन्तु हम गोपियों ने उनके ऐसे दुर्लभ दर्शन को सहज ही प्राप्त कर लिया था। अर्थात् उन्होंने हम पर अनायास ही प्रसन्न हो हमें दर्शन दिए थे, फिर भी न मालूम क्यों वह दूसरों की पीड़ा का अनुभव नहीं करते। अर्थात् हम उनके वियोग में इतनी व्यथित हो रही हैं, परन्तु उन्होंने हमें इस तरह भुला दिया है। हे उद्धव ! हम तुमसे खूब सोच-विचार कर एक प्रार्थना करती हैं। तुम जब उनके पास जाओ तो इस बात का पता लगाना कि हमारे प्रियतम कृष्ण हम से प्रेम करते हैं या नहीं। हे मधुकर ! तुमसे प्रेम की बात कौन कहे, क्योंकि प्रेम की बात कहने योग्य नहीं होती, उसे कहा नहीं जा सकता। प्रेम की रीति तो कुछ ऐसी निराली होती है कि उसे मन में ही अनुभव किया जा सकता है। अर्थात् प्रेम अनुभव-गम्य ही होता है, कहकर उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। प्रेम में ऐसी हालत हो जाती है कि रात-दिन

व्यक्ति जागता रहता है, उसे नींद नहीं आती और शरीर सदैव विरह के बढ़ते रहने से छटपटाता रहता है। नन्दकुमार कृष्ण ऐसे कठोर और निर्दयी हैं कि उन्होंने पहले तो हमसे स्नेह का सम्बन्ध जोड़ा, हमसे प्रेम किया और फिर एकाएक उस स्नेह-सम्बन्ध को तोड़ डाला, हमें बिलखता छोड़ यहाँ से चले गए।

हे षट्पद भ्रमर ! तुमसे अपने हृदय की गुप्त बात क्या कहें, क्योंकि तुम प्रेम के इस रहस्य को, विरह की विषम पीड़ा को नहीं समझ सकते। इसे तो भुक्तभोगी ही जान और समझ सकता है। यह बताओ कि यदि कृष्ण हम जैसी अबलाओं की हत्या करने पर तुल जायँ तो फिर हमारा निर्वाह कैसे हो सकता है ? अर्थात् कृष्ण जब हमें त्यागकर अपने विरह में हमारे प्राण लिए ले रहे हैं तो हम कैसे और कब तक जीवित रह सकेंगी ?

विशेष—गोपियों की प्रेम-विवशता और उसके कारण उत्पन्न विरह-व्यथा द्रष्टव्य है।

मधुकर ! यह कारे की रीति।
मन दै हरत परायो सर्बस, करै कपट की प्रीति ॥
ज्यों षटपद अंबुज के दल में, बसत निसा रति मानि।
दिनकर उए अनत उड़ि बैठे, फिर न करत पहिचानि ॥
भवन भुजंग पिटारे पाल्यो, ज्यों जननी जनि तात।
कुल-करतूति जाति नहिं कबहूँ, सहज सो डसि भजि जात ॥
कोकिल काग कुरंग स्याम की, छन-छन सुरति करावत।
सूरदास प्रभु को मुख देख्यो, निसदिन ही मोहिं भावत ॥२६९॥

शब्दार्थ—रीति=पद्धति, कार्य-प्रणाली। अंबुज=कमल। रति=प्रेम। उए =उदय होने पर। जनि=पैदा कर। तात=पुत्र। भजि जात=भाग जाता है। कुरंग=हिरण। सुरति=स्मृति। भावत=अच्छा लगता है।

भावार्थ—गोपियाँ काले रंग वालों को स्वभाव से ही विश्वासघाती घोषित करती हुई भी, अन्ततः कृष्ण के प्रति अपने अनन्य अनुराग और आकर्षण की घोषणा कर रही हैं। वे भ्रमर के माध्यम से उद्धव से कहती हैं कि—

हे मधुकर ! काले रंग वालों की तो यह कार्य-पद्धति ही होती है कि पहले वे किसी को अपना मन देकर उसे अपने प्रति आकर्षित कर लेते हैं और फिर उसका सर्वस्व हरण कर लेते हैं। इस प्रकार वे सच्चा प्रेम न कर, कपट भरा हुआ प्रेम करते हैं। अर्थात् कृष्ण ने पहले हमारे प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित कर हमें अपने प्रेम-पाश में बाँध लिया और फिर हमारा सर्वस्व—मन हरण कर अपने साथ ले गए और हमें त्याग दिया। इसलिए इसमें उनका कोई दोष नहीं है। यह तो उनके काले रंग का ही प्रभाव है। उन्होंने अपने स्वभाव से मजबूर होकर ही हमारे साथ ऐसा कपट-व्यवहार

किया है। उनका यह व्यवहार उस काले रंग वाले भ्रमर के ही समान है, जो रात होने पर कमल के प्रति अपने प्रेम का प्रदर्शन कर उसकी पंखुड़ियों के भीतर बन्द हो रात भर वहीं विश्राम करता है और प्रातःकाल सूर्योदय होते ही (जब कमल खिल जाता है) वहाँ से उड़कर दूसरी जगह जा बैठता है और फिर उस कमल से कोई जान-पहिचान तक नहीं रखता, अर्थात् उसके पास नहीं आता।

जिस प्रकार सँपेरा काले नाग को पिटारी में रखकर उसका उसी प्रकार पालन-पोषण करता है, जैसे माता पुत्र को जन्म देकर उसे पालती-पोसती है। परन्तु वह काला-नाग अपने वंश के स्वभाव को कभी भी नहीं छोड़ पाता; इसलिए अवसर मिलते ही अपने पालने-पोसने वाले उस सँपेरे को डस कर भाग जाता है। भाव यह है कि कृष्ण, भ्रमर, नाग—सभी काले रंग वाले हैं, इसलिए विश्वासघात करना उनका स्वभाव बन गया है। कोयल, कौआ, काला हिरण—ये सब काले रंग वाले हमें प्रति क्षण कृष्ण की याद दिलाते रहते हैं, क्योंकि इन्हें देख-देखकर हमें कृष्ण की याद आती रहती है। हमें तो रात-दिन कृष्ण के उस सुन्दर मुख को देखते रहना ही अच्छा लगता है। भाव यह है कि यद्यपि हम जानती हैं कि कृष्ण ने हमारे प्रेम के साथ विश्वासघात किया है परन्तु फिर भी हम रात-दिन उन्हीं के ध्यान में डूबी रहती हैं। हमारे लिए कृष्ण को भूल जाना असम्भव है।

विशेष—(१) गोपियाँ काले रंग वालों को एक स्वर से विश्वासघाती घोषित करती हुई भी अन्त में काले कृष्ण के प्रति अपने प्रबल आकर्षण और अनन्य प्रेम की उद्घोषणा कर अपनी एकान्त प्रेम-निष्ठा का परिचय दे रही हैं।

(२) 'ज्यों·········मानि' में उपमा; 'कोकिल काक कुरंग' में अनुप्रास; 'कोकिल····करावत' में स्मरण अलंकार है।

(३) सम्पूर्ण पद में काले रंग वालों पर तीखा व्यंग्य द्रष्टव्य है।

राग सोरठ

मधुप ! तुम कहा यहै गुन गावहु।
यह प्रिय कथा नगर-नारिन सों कहौ जहाँ कछु पावहु ॥
जानत मरम नन्दनन्दन को, और प्रसंग चलावहु।
हम नाहीं कमलिनि-सी भोरी करि चतुरई मनावहु ॥
जनि परसौ अलि ! चरन हमारे बिरह-ताप उपजावहु।
हम नाहीं कुबिजा सी भोरी, करि चातुरी दिखावहु ॥
अति बिचित्र लरिका की नाईं गुर दिखाय बहरावहु।
सूरदास प्रभु नागरमनि सों कोउ विधि आनि मिलावहु ॥२७०॥

शब्दार्थ—मरम=मर्म, रहस्य। और प्रसंग=कोई अन्य बात। भोरी=भोली। मनावहु=मना लेते हो। जनि परसौ=स्पर्श मत करो। लरिका=लड़का,

बच्चा । नाईं=तरह । गुर=गुड़ । बहरावहु=बहला रहे हो । नागरमनि=सर्वश्रेष्ठ नागरिक अर्थात् कृष्ण ।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव के ज्ञानोपदेश की अवहेलना करती हुईं भ्रमर के माध्यम से कह रही हैं कि—

हे मधुप ! तुम यहाँ हमारे सामने अपने निर्गुण ब्रह्म के गुणों का बार-बार बखान क्यों कर रहे हो ? तुम अपनी ब्रह्म-सम्बन्धी इस प्रिय-कथा को नगर की नारियों अर्थात् कुब्जा को जाकर सुनाओ तो उनसे तुम्हें कुछ लाभ अर्थात् इनाम भी मिल जायगा । क्योंकि यह निर्गुण-कथा भोग-विलास में डूबी हुई उन नागरिकाओं का ही कल्याण कर सकती है, हम जैसी विरहणियों का नहीं । तुम तो नन्दनन्दन कृष्ण का रहस्य जानते ही हो कि वे हमसे प्रेम करते हैं । इसलिए तुम इन व्यर्थ की बातों को छोड़कर कोई और बात हमें सुनाओ । अर्थात् हमें कृष्ण की बातें बताओ, निर्गुण-ब्रह्म की नहीं । हम तुम्हारी इन बातों से भुलावे में नहीं आ सकतीं । हम तुम्हारी उन कमलनियों के समान भोली-भाली नहीं हैं, जिन्हें तुम अपना गाना सुनाकर (गुंजार करते हुए फूल के ऊपर मँडराना) मना लेते हो, खिला लेते हो । अर्थात् तुम निर्गुण-ब्रह्म की ये बातें सुना हमें कृष्ण से विरक्त कर निर्गुण-ब्रह्म की उपासना करने को बाध्य नहीं कर सकते ।

हे भ्रमर ! तुम हमारे चरणों का स्पर्श मत करो । क्योंकि ऐसा करके तुम हमारे हृदय में विरह की ज्वाला उत्पन्न कर रहे हो । हम उस कुब्जा के समान भोली नहीं हैं, जिसे तुम अपनी चतुराई भरी चिकनी-चुपड़ी बातों द्वारा बहका लिया करते थे । यहाँ यह भाव है कि जिस प्रकार कृष्ण ने चतुराई भरी बातें कर कुब्जा को अपने जाल में फँसा लिया था, उस तरह तुम हमें निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी मीठी-मीठी बातें कर नहीं बहका सकते । हमारे साथ तुम्हारा यह व्यवहार बड़ा विचित्र है कि तुम अपनी बातों द्वारा हमें उसी प्रकार बहलाने का प्रयत्न कर रहे हो, जैसे बच्चे को गुड़ का लालच दिखाकर अपने वश में कर लिया जाता है । हम इतनी भोली और नासमझ नहीं हैं कि तुम्हारी बातों में आकर तुम्हारी बात मान लें । हमारी तो तुमसे केवल एक ही विनय है कि किसी प्रकार चतुरों में सर्वश्रेष्ठ कृष्ण को यहाँ लाकर उन्हें हमसे मिला दो । इसलिए तुम व्यर्थ की बातें करना छोड़, उस युक्ति के सम्बन्ध में सोचो, जिससे कृष्ण यहाँ चले आयें ।

विशेष—इस पद में मालोपमा अलंकार माना गया है ।

मधुकर ! पीत बदन किहि हेत ?
जनु अंतरमुख पांडु रोग भयो जुवतिन जो दुख देत ।।
रसमय तन-मन स्याम-धाम सो ज्यों उजरो संकेत ।
कमलनयन के बचन सुधा से करट घूँट भरि लेत ।।

कुत्सित कटु बायस सायक सो अब बोलत रसखेत ?
इन चतुरी ते लोग बापुरे कहत धर्म को सेत ।।
माथे परौ जोगपथ तिनके वक्ता छपद समेत ।
लोचन ललित कटाच्छ मोच्छ बिनु महि में जिएँ निचेत ।।
मनसा बाचा और कर्मना स्यामसुन्दर सों हेत ।
सूरदास मन की सब जानत, हमरे मर्ताहि जितेत ।।२७१।।

शब्दार्थ—पीत बदन=पीला मुख । किहि हेत=किस कारण से । पाण्डु रोग=पीलिया की बीमारी, जिसमें सारा शरीर पीला पड़ जाता है । उजरो=उजाड़ । संकेत=संकेत-स्थल, मिलन का स्थान । करट=कौआ । बायस=कौआ । सायक=वाण । रसखेत=प्रेम का क्षेत्र अर्थात् ब्रज । सेत=पुल । चतुरी=चतुरता । माथे परौ=भाग्य में लिखा है । जोगपथ=योग-मार्ग । छपद=षट्पद, भौंरा । मोच्छ=मुक्ति, छुटकारा । महि में=पृथ्वी पर । निचेत=अचेत । हेत=प्रेम । जितत=जितना, जो कुछ ।

भावार्थ—गोपियों को यह सन्देह है कि उद्धव कृष्ण का असली सन्देश न कह झूठी-सच्ची बातें बना उन्हें बहलाने का प्रयत्न कर रहे हैं । इसलिए गोपियाँ उद्धव और भ्रमर के रूप-रंग के साम्य के आधार पर भ्रमर के माध्यम से उनकी भर्त्सना करती हुई कह रही हैं कि—

हे भ्रमर ! तुम्हारा यह मुख किस कारणवश पीला हो गया है ? (भ्रमर के मस्तक पर एक पीला टीका-सा होता है और उद्धव भी पीताम्बर धारण किए रहते हैं ।) हमें तो ऐसा लगता है—मानो तुम्हारे हृदय में पीलिया रोग हो गया हो । और यह रोग इस कारण हुआ है, क्योंकि तुम युवतियों को दुःख देते फिरते हो । अर्थात् युवतियों को योगमार्ग की शिक्षा दे, उन्हें अपने प्रियतम से विरक्त कर, सदैव दुःख पहुँचाने के प्रयत्न में लगे रहते हो । तुम्हारा शरीर प्रेम का लोभी है अर्थात् तुम रसिक स्वभाव वाले हो । इसी कारण तुम्हारा मन कृष्ण के स्थान इस ब्रज में लगा रहता है । अर्थात् इस प्रेम-भूमि (ब्रज) में तुम अपनी उसी रसिकता को तृप्त करने के लालच से आए हो । परन्तु प्रेम-मूर्त्ति कृष्ण के बिना यह प्रेम-भूमि ब्रज अब वैसी ही उजाड़ और नीरस हो उठी है, जैसे प्रेमी के न रहने पर प्रेमी-प्रेमिका का मिलन-स्थल उजाड़ और नीरस हो जाता है । जब कृष्ण यहाँ थे, उस समय हमें कौए की बोली बड़ी मधुर लगती थी । उसे सुनकर ऐसा जान पड़ता था, मानो उसने कमलनयन कृष्ण के अमृत रूपी वचनों के सरोवर में से एक घूँट अमृत का पान कर लिया हो । भाव यह है कि कौए का बोलना शुभ अर्थात् किसी के आगमन का सूचक माना जाता है । उस समय जब कौआ बोलता था तो संकेत-स्थल पर कृष्ण की प्रतीक्षा में बैठी हुई गोपियों को यह सूचना दे देता था कि कृष्ण आ रहे हैं । इसलिए उस समय गोपियों को कौए की बोली अमृत के समान मीठी और प्यारी लगती थी । परन्तु अब वही कौआ जब इस

प्रेम-क्षेत्र में ब्रज में बोलता है तो उसकी घिनौनी, कर्कश काँव-काँव गोपियों के हृदय में वाण के समान आघात पहुँचाती है। अर्थात् उन्हें पुरानी कृष्ण-मिलन की सुखद स्मृतियों की याद दिला बहुत पीड़ा पहुँचाती है। इसलिए हे उद्धव! ऐसे असमय में तुम्हारी ये योग की बातें हमें वैसी ही पीड़ा पहुँचा रही हैं। हमें आश्चर्य तो इस बात का है कि तुम्हारी ऐसी मूर्खतापूर्ण बातों को ज्ञान की बातें समझकर बेचारे लोग तुम्हें धर्म का सेतु अर्थात् धर्म का ज्ञान कराने वाला समझ बैठे हैं। अर्थात् तुम इसी तरह की चतुराई भरी (छलभरी) बातें कह-कहकर लोगों की नजर में धर्म-मूर्त्ति बने फिरते हो।

समय की बलिहारी है कि हमारे सिर पर अब यह योगमत थोपा जा रहा है और उस योगमत का उपदेश दे रहा है यह छः पैरों वाला जीव भौंरा। भाव यह है कि यह समय के फेर का ही प्रभाव है कि हमें कृष्ण के प्रेम से वंचित होकर इस कपटी मूर्ख जीव भ्रमर द्वारा योग का उपदेश सुनना पड़ रहा है। परन्तु जब तक कृष्ण के सुन्दर नेत्रों के कटाक्षों से हमारी मुक्ति नहीं हो जाती, अर्थात् हम कृष्ण के उन कटाक्षों को नहीं भूल पातीं, तब तक इस पृथ्वी पर कृष्ण-विरह में अचेत बनी पड़ी रहेंगी। भाव यह है कि कृष्ण की स्मृति में ही सदैव भूली रहेंगी। हम तो मन, वचन और कर्म से एकमात्र कृष्ण से ही प्रेम करती हैं। और हमारे मन में कृष्ण के प्रति जो और जितनी भी गहरे प्रेम की भावना है, उसे कृष्ण खूब अच्छी तरह से जानते हैं। उनसे हमारे मन की कोई भी बात या भावना छिपी नहीं है। इसलिए तुम इस तरह की व्यर्थ की बातें कर हमें बहकाने की कोशिश मत करो।

विशेष—(१) गोपियों का कृष्ण पर अनन्य प्रेम और विश्वास है। इस पद में वे अपनी इसी आस्था को प्रकट कर रही हैं। प्रेमी-प्रेमिका आपस में एक-दूसरे के मन की बात को अच्छी तरह से जानते और समझते हैं।

(२) 'जनु अन्तरमुख····दुख देत' में उत्प्रेक्षा; 'कमल नयन····लेत' में उपमा; 'लोचन····मोच्छ' में अनुप्रास; 'कमलनयन····रसखेत' में रूपक; तथा 'ज्यों उजरो संकेत' में उदाहरण अलंकार है।

मधुकर ! मधु-मदमाती डोलत।
जिय उपजत सोइ कहत न लाजत सूधे बोल न बोलत ॥
बकत फिरत मदिरा के लीन्हे बारबार तन घूमत।
ब्रीडारहित सबन अवलोकत लता कली मुख चूमत ॥
अपनेहूँ मन की सुधि नाहीं पर्‌यो आन ही कोठो।
सावधान करि लेहि अपनपौ तब हम सों करु गोठो ॥
मुख लागी है पराग पीक की, डारत नाहिंन धोई।
तासों कह कहिए सुनु, सूरज, लाज डारि सब खोई ॥२७२॥

शब्दार्थ—मधुमदमाती=शराब के नशे में मस्त। डोलतां=घूमता है। घूमत=चक्कर खाता है। व्रीड़ारहित=लज्जा से रहित। अवलोकत=देखता है। कोठो=कोठा, घर। अपनपौ=अपनी चेतना, होश-हवास। गोठो=गोष्ठी, सलाह। कह=क्या।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव के ज्ञानोपदेश को अनर्गल, कुत्सित सिद्ध करती हुईं भ्रमर के माध्यम से उद्धव की भर्त्सना कर रही हैं कि—

हे मधुकर ! तू शराब के नशे (फूलों के पराग रूपी मदिरा का पान कर) में मदमत्त बन इधर-उधर घूमता फिरता है। तेरे मन में जो कुछ आता है वही बकता रहता है। ऐसा करते हुए तनिक भी लज्जित नहीं होता, सीधी तरह से ढंग की बातें नहीं करता। भाव यह है कि उद्धव ज्ञान के गर्व में भर युवतियों को योग का उपदेश देने जैसा विवेकहीन अनुचित कार्य करने में लज्जा का अनुभव नहीं करते और गोपियों को सीधे बोल अर्थात् कृष्ण-सम्बन्धी बातें न बता अनर्गल बके जा रहे हैं। मदिरा के नशे में मस्त बन तू बकता फिर रहा है और तेरा शरीर बार-बार चक्कर खा रहा है, लड़खड़ा रहा है। (यहाँ भ्रमर द्वारा फूलों पर गुंजार करते हुए बार-बार मँडराने से अभिप्राय है।) तू नितान्त निर्लज्ज बन, सबको घूर-घूरकर देखता है और लताओं के कली रूपी मुख को चूमता फिरता है।

तू इतना मतवाला बन गया है कि तुझे अपने मन की भी सुधि नहीं रही है। तेरा मन अपने स्थान से विचलित हो भटकता फिर रहा है, अर्थात् तू भ्रान्त (उन्मत्त पागल) बन अनर्गल बातें बकता घूमता फिर रहा है। पहले तू अपनी चेतना को सम्हाल, होश में आ, तब हमारे साथ बैठना और विचार-विमर्श करना। तेरे मुख पर पराग की पीक लगी हुई है, उसे तू धो क्यों नहीं डालता ? (फूलों का पराग पीला होता है, भ्रमर के मुख पर पीला धब्बा रहता है। यहाँ गोपियाँ उसी पीले धब्बे को संकेत करती हुईं, उसे पराग की पीक बता रही हैं। अर्थात् भ्रमर पराग रूपी मदिरा पीकर आया है।) अब उस व्यक्ति से कहा जाय, जिसने अपनी सारी लज्जा खो डाली हो ? अर्थात् जो पूरी तरह से निर्लज्ज बन गया हो।

विशेष—(१) इस पद में गोपियाँ उद्धव के ज्ञानोपदेश को पागल का-सा निर्लज्ज प्रलाप सिद्ध करती हुईं, उन्हें भ्रान्त और विवेकहीन घोषित कर रही हैं। अहंकार में डूबा हुआ व्यक्ति अपना विवेक खो बैठता है और अनर्गल बातें करने लगता है। उद्धव की भी यही दशा है।

(२) 'लाज डारि सँव खोई' में लोकोक्ति; तथा 'लता-कली-मुख' में रूपक अलंकार है।

मधुकर ! ये सुनु तन-मन कारे।
कहूँ न सेत सिद्धताई तन परसे हैं अँग कारे॥
कीन्हो कपट कुंभ विषपूरन पयमुख प्रगट उघारे।
बाहिर बेष मनोहर दरसत, अंतरगत जु ठगारे॥

अब तुम चले ज्ञान-बिष ब्रज दै, हरन जू प्रान हमारे।
ते क्यों भले होंहि सूरज प्रभु रूप, बचन, कृत कारे ।।२७३।।

शब्दार्थ—सेत=श्वेत, सफेद। सिद्धताई=सिद्धि, प्राप्ति। कुम्भ=घड़ा। विषपूरन=विष से परिपूर्ण। पयमुख=दूध के मुख वाला। ठगारे=ठग। कृत=कर्म।

भावार्थ—काले रंग पर व्यंग्य करती हुईं गोपियाँ कालों को कपटी सिद्ध कर रही हैं और इसी बात को स्पष्ट करती हुईं भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! सुन, ये काले रंग वाले (कृष्ण, अक्रूर, उद्धव) शरीर और मन—दोनों से ही काले होते हैं। इनमें श्वेत रंग की प्राप्ति कहीं भी रंचमात्र भी नहीं होती। अर्थात् इनमें श्वेत अर्थात् अच्छा गुण एक भी नहीं होता। इनके शरीर का एक-एक अङ्ग काले रंग का स्पर्श पाकर काला बन गया है। भाव यह है कि काले रंग वालों में एक भी अच्छा गुण न होकर दुर्गुण ही भरे रहते हैं। उद्धव काले होने के कारण ही ज्ञानोपदेश की ऐसी अनर्गल और घातक बातें कर रहे हैं। उन्होंने अपना कपट-वेश वैसा ही बना रखा है, जैसे विष से भरे हुए घड़े के मुख में ऊपर से थोड़ा-सा दूध भर दिया जाय। ऊपर भरे उस दूध को देख कोई यह नहीं जान पाता कि इसके नीचे विष भरा हुआ है। उसी विषभरे घड़े के समान ऊपर से देखने पर इनका वेश बड़ा मनोहर दिखाई पड़ता है, परन्तु भीतर से अर्थात् हृदय से ये काले रंग वाले कपटी और ठग होते हैं। अर्थात् अपने ऊपरी सुन्दर वेश और मीठी बोली द्वारा ये अपने मन के रहस्य को प्रकट नहीं होने देते और सबको ठगते फिरते हैं। कृष्ण, अक्रूर ने हमें इसी तरह ठगा था और अब ये उद्धव हमें ठगने आए हैं।

हे उद्धव ! अब तुम यहाँ ब्रज में अपने ज्ञान रूपी विष के बीज बोकर हमारे प्राणों को लेने यहाँ आये हो। अर्थात् हमसे ज्ञान और निर्गुणोपासना की कपट भरी बातें कर कृष्ण को हमेशा के लिए छीन लेना चाहते हो, जबकि कृष्ण हमारे प्राण हैं। तुमसे इसके अतिरिक्त और क्या आशा ही क्या की जा सकती है, क्योंकि जो रूप, वचन और कर्म से काले अर्थात् कपटी होते हैं, वे कहीं भले आदमी हो सकते हैं ?

विशेष—(१) रूपक अलंकार है।
(२) काले रंग वालों पर गहरा व्यंग्य किया गया है।

राग सारंग

मधुकर ! तुम रसलंपट लोग।
कमलकोस में रहत निरंतर हमहिं सिखावत जोग ।।
अपने काज फिरत ब्रज-अंतर निमिष नहीं अकुलात।
पुहुप गए बहुरै बेलिन के नैंकु न नेरे जात ।।

तुम चंचल हौ, चोर सकल अँग बातन क्यों पतियात ?
सूर बिधाता धन्य रच्यो जो मधुप स्याम इकगात ।।२७४।।

शब्दार्थ—रसलंपट=रस के लोभी। कमलकोस=कमल-कोश। ब्रज-अन्तर= ब्रज के भीतर। निमिष=क्षण भर को भी। बहुरै=फिर। नेरे=पास। पतियात= विश्वास करना। इकगात=एक से शरीर।

भावार्थ—भ्रमर और कृष्ण को एक समान मान, गोपियाँ उनकी कथनी-करनी में अन्तर दिखा, उन्हें स्वार्थी और रस-लम्पट घोषित करती हुई भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुकर! तुम लोग केवल रस के ही लोभी होते हो। अर्थात् सच्चा प्रेम करना नहीं जानते। तुम्हारी कथनी और करनी में इतना अन्तर रहता है कि तुम स्वयं तो कमल-कोश के भीतर बराबर बन्द रह, उसके मधु का पान करते रहते हो और हमें योग की शिक्षा दे रहे हो। अर्थात् स्वयं तो भोग-विलास में मस्त बने रहते हो और हमें निवृत्तिमूलक योग-साधना करने का उपदेश दे रहे हो। यह तुम्हारा कैसा न्याय है ? तुम अपने कार्य की सिद्धि अर्थात हमें ज्ञानोपदेश देने के लिए ब्रज में चारों ओर घूमते रहते हो और क्षण भर के लिए भी थक कर व्याकुल नहीं होते। अर्थात् निरन्तर उपदेश दिए चले जा रहे हो और तनिक भी क्लान्ति का अनुभव नहीं करते। इसका कारण यह है कि तुम स्वभाव से ही स्वार्थी और लोभी हो। जब लताओं पर पुष्प नहीं रहते, तब तुम फिर भूलकर भी उनके पास तक नहीं फटकते, क्योंकि तुम्हें पुष्पों का रस-भोग करने की आशा नहीं रहती। कृष्ण ने भी हमारे साथ ऐसा ही व्यवहार किया था। हमारे साथ खूब रंग-भोग करने के उपरान्त जब उन्होंने हमें नीरस होता हुआ देखा तो हमें छोड़कर मथुरा चले गए और फिर कभी लौटकर नहीं आए।

हे मधुकर! तुम स्वभाव से ही चंचल और अपने सभी अंगों से अर्थात् सब तरह से पक्के चोर हो, फिर तुम्हारी बातों का विश्वास कैसे किया जाय ? अर्थात् उद्धव की इस बात पर कैसे विश्वास किया जाय कि कृष्ण को भूल निर्गुण की आराधना करने पर गोपियों को सुख मिलेगा ? उस विधाता को धन्य है जिसने भ्रमर और श्याम (कृष्ण) को एक-सा शरीर प्रदान किया है। अर्थात् दोनों ही शरीर और स्वभाव से एक समान काले अर्थात् कपटी और स्वार्थी हैं।

विशेष—इस पद में अतिशयोक्ति अलंकार है।

मधुकर ! कासों कहि समझाऊँ ?
अंग-अंग गुन गहे स्याम के, निर्गुन काहि गहाऊँ ?
कुटिल कटाक्ष बिकट सायक सम, लागत परम न जाने।
मरम गए उर फोरि पिछौंहैं पाछे पै अहटाने ।।

घूमत रहत सँभारत नाहिन, फेरि-फेरि समुहाने।
टूक-टूक ह्वै रहे ढोर गहि पाछे पग न पराने॥
उठत कबंध जुद्ध जोधा ज्यों बाढ़त संमुख हेत।
सूर स्याम अब अमृत बृष्टि करि, सींचि प्रान किन देत ? ॥२७५॥

शब्दार्थ—काहि गहाऊँ=किसे पकड़ाऊँ। बिकट सायक=भयंकर तीखे वाण। मरम=हृदय। फोरि=फोड़ कर, भेद कर। पिछौहैं=पीछे की ओर। पाछै=पीछे से, बाद में। अहटाने=आहट मिली। समुहाने=सम्मुख जाते हैं। ढोर गहि रहे=संग लगे रहे। पराने=भागे। कबंध=युद्धक्षेत्र में योद्धा का सिर कटा हुआ धड़। जोधा=योद्धा। किन=क्यों नहीं।

भावार्थ—गोपियाँ अपना सम्पूर्ण आक्रोश भूल, अत्यन्त दीन बन, अपनी विरह-व्यथा का वर्णन करती हुईं, उद्धव से भ्रमर के माध्यम से प्रार्थना कर रही हैं कि—

हे मधुकर ! हम अपनी विरह-व्यथा को किससे कहकर समझाएँ ? हमारा तो एक-एक अंग स्याम के रंग में, उनके प्रेम में रँगा हुआ है, इसलिए तुम्हारे इस निर्गुण को हम अपने किस अंग को सौंप दें ? अर्थात् कृष्ण की आराधना के अतिरिक्त हम किसी अन्य की आराधना करने में नितान्त असमर्थ हैं। जब कृष्ण के कुटिल कटाक्ष भयानक तीखे वाणों के समान हमारे हृदय में लगे थे, उस समय हमें पीड़ा नहीं हुई थी और हम यह नहीं जान पाई थीं कि हमें इनके कारण इतनी यातना सहनी पड़ेगी। जब कटाक्ष रूपी वे वाण हमारे हृदय को वेध कर पीछे पीठ की ओर जा निकले, तब हमें उनकी आहट मिली। अर्थात् हमें ज्ञात हुआ कि हम घायल हो गई हैं। भाव यह है कि जब तक कृष्ण हमारे सामने रहे, तब तक इस विरह-व्यथा की यातना से पूर्णतः अपरिचित रहीं और अब जब कृष्ण हमारी आँखों से ओझल हो गए हैं, मथुरा चले गए हैं, तब हम इस बात से परिचित हो पाई हैं कि उनका वियोग कितना दुःखदायी होता है। (कटाक्ष रूपी वाणों का हृदय बेधकर पीछे जा निकलने से अभिप्राय कृष्ण के आँखों के सामने से हट जाने से है, क्योंकि पीठ की ओर देखा नहीं जा सकता।)

हम उन कटाक्ष रूपी वाणों को देखने के लिए अपना होश-हवास खो बराबर पीछे की ओर घूमती रहती हैं, जिससे वे वाण हमारी आँखों के सामने आ जायँ। अर्थात् हम निरन्तर कृष्ण के उन्हीं कटीले कटाक्षों को देखने; अर्थात् कृष्ण के दर्शन पाने का प्रयत्न करती रहती हैं, परन्तु सफल नहीं हो पातीं। उन वाणों के प्रहार से हम जर्जर हो उठी हैं परन्तु सदैव उन्हीं के पीछे लगी रहती हैं, उन्हें ही देखने का प्रयत्न करती रहती हैं और पीछे पग हटाकर भागने का प्रयत्न नहीं करतीं। अर्थात् इतनी भयंकर विरह-व्यथा सहने पर भी उन कटाक्षों को पुनः देखने का मोह नहीं त्याग पातीं। जिस प्रकार रणक्षेत्र में योद्धा मस्तक कट जाने के बाद कवन्ध का रूप

धारण कर, पीछे पग न हटा बराबर युद्ध करता रहता है, बिल्कुल वैसी ही स्थिति हमारी हो उठी है। हम प्रेम-क्षेत्र में मर्मान्तिक रूप से घायल होकर भी अपनी पराजय स्वीकार न कर कवन्ध के से उत्साह के साथ निरन्तर जूझ रही हैं। हमारी ऐसी विषम स्थिति को देखकर भी प्रियतम कृष्ण अपने दर्शन रूपी अमृत की वर्षा कर हमें नवजीवन प्रदान क्यों नहीं करते ? उन्हें हम पर रहम क्यों नहीं आता ?

विशेष—(१) विरह की मार्मिक वेदना और तीव्रता की दृष्टि से यह पद अत्यन्त कलापूर्ण और प्रभावशाली बन पड़ा है। सूर की काव्य-कला विरह के चित्रण में ही अपने चरम शिखर पर आसीन दिखाई पड़ती है। कवन्ध का रूपक गोपियों की एकनिष्ठा को बड़े मार्मिक रूप से व्यक्त कर रहा है।

(२) सम्पूर्ण पद में सांगरूपक है। 'कुटिल····न जाने' में उपमा; 'टूक-टूक' में पुनरुक्ति प्रकाश तथा कई पंक्तियों में अनुप्रास अलंकार की छटा दर्शनीय है।

मधुप तुम देखियत हौ चित कारे।
कालिंदी तट-पार बसत हौ, सुनियत स्याम-सखा रे !
मधुकर, चिहुर, भुजंग, कोकिला अवधिन ही दिन टारे।
वै अपने सुख ही के राजा तजियत यह अनुहारे ॥
कपटी कुटिल निठुर हरि मोहीं दुख दै दूरि सिधारे।
बारक बहुरि कबै आवैंगे नयनन साध निवारे ॥
उनकी सुन सो आप बिगोवै चित चोरत बटमारे।
सूरदास प्रभु क्यों मन मानै सेवक करत निनारे ॥२७६॥

शब्दार्थ—देखियत=दिखाई पड़ते हो। चिहुर=चिकुर, बाल। दिन टारे=दिन व्यतीत करते हो। तजियत=छोड़ देते हैं। अनुहारे=समान। बहुरि=फिर लौटकर' निवारे=पूरी करेंगे। साध=इच्छा, अभिलाषा। बिगोवै=बुरा करे, अनिष्ट करे। बटमारे=लुटेरे। निनारे=अलग, पृथक्।

भावार्थ—कृष्ण की कठोरता और निष्ठुरता पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ भ्रमर के माध्यम से उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुप ! तुम हृदय के काले दिखाई देते हो। हमने सुना है कि तुम यमुना के उस पार बसते हो, श्याम के सखा हो। अर्थात् काले रंग वाली यमुना के तट पर रहते हो और काले कृष्ण के सखा हो, इसलिए शरीर के साथ-साथ मन के भी काले हो। भौंरा, बाल, काला नाग और कोयल—ये सब काले रंग वाले अपने ही सुख के राजा होते हैं और कुछ दिन की अवधि तक साथ दे, अपना स्वार्थ-साधन कर, कृष्ण के ही समान छोड़कर चले जाते हैं। भ्रमर पुष्प खिलने पर उसका रस-पान करने तक ही पुष्प का साथ देता है, केश यौवन काल तक ही काले रहते हैं, फिर सफेद हो

जाते हैं, भुजंग कुछ समय तक केंचुली में लिपटा पड़ा रहता है, फिर उसे त्याग चला जाता है, कोयल का बच्चा जब तक बड़ा नहीं हो जाता, कौए के यहाँ रहता है, फिर उड़कर अपने कुल में जा मिलता है। कृष्ण भी इसी प्रकार हमारे साथ रहकर कुछ दिनों तक रसभोग करते रहे और फिर हमें त्याग कर चले गए। अर्थात् सब काले रंग वाले अपने स्वार्थ के लिए थोड़े समय तक ही साथ देते हैं और फिर छोड़कर चले जाते हैं।

कपटी, कुटिल और निष्ठुर कृष्ण हमें अपने वियोग का दुःख देकर स्वयं दूर चले गए हैं। हे उद्धव यह बताओ कि क्या वह कभी एक बार यहाँ आकर हमारे नेत्रों की इच्छा को पूरा कर उनका दुःख दूर करेंगे ? अर्थात् कभी हमें आकर दर्शन देंगे ? जो उनकी बात सुनकर अर्थात् उनके द्वारा भेजा हुआ योग-सन्देश सुनकर उसे स्वीकार करेगा वह अपना अनिष्ट स्वयं अपने आप करेगा। क्योंकि वह कृष्ण तो दूसरों के मन को चुराने वाले उठाईगीरे हैं। परन्तु फिर भी हमारा मन इस बात को कैसे स्वीकार कर ले कि स्वामी कृष्ण अपने सेवकों को अपने से दूर कर देते हैं। अर्थात् वह कभी भी अपने सेवकों को अपने से दूर नहीं कर सकते, इसका हमें पूरा विश्वास है।

विशेष—(१) इस पद में यह तथ्य द्रष्टव्य है कि गोपियाँ पहले तो कृष्ण को स्वार्थी, रसलोभी और चोर सिद्ध करती हैं, परन्तु अन्तिम पंक्ति में अपने प्रति उनके गहरे प्रेम में आस्था प्रकट कर रही हैं। वे जानती हैं कि कृष्ण भी उन्हें उतना ही प्रेम करते हैं, जितना कि वे उन्हें करती हैं। भक्त का यही विश्वास उसे सदैव भगवान का अनन्य सेवक बनाये रखता है।

(२) उपमा अलंकार है।

मधुकर ! को मधुबनहिं गयो ?
काके कहे सँदेस लै आए, किन लिखि लेखु दयो ?
को बसुदेव-देवकीनंदन, को जदुकुलहि उजागर ?
तिनसों नहिं पहिचान हमारी, फिरि लै दीजो कागर ।।
गोपीनाथ, राधिकाबल्लभ, जसुमति-नंद-कन्हाई ।
दिन प्रति दान लेत गोकुल में, नूतन रीति चलाई ।।
तुम तौ परम सयाने ऊधो ! कहत और की औरै ।
सूरदास पंथ के बहँके, बोलह हौ ज्यों बौरे ।।२७७।।

शब्दार्थ—मधुबनहिं=मथुरा का। काके कहे=किसके कहने से। लेखु=पत्र। उजगार=प्रसिद्ध। कागर=कागज, दान=रतिदान। बहँके=भ्रान्त। बौरे=पागल।

भावार्थ—गोपियाँ मथुरावासी कृष्ण को नहीं पहचानतीं। वे तो अपने गोकुल-

वासी कृष्ण की ही अनन्य आराधिका हैं। इसी बात को स्पष्ट करती हुईं वे भ्रमर के माध्यम से उद्धव से कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! यहाँ से मथुरा कौन गया है ? तुम किसके कहने से योग का यह सन्देश यहाँ लाए हो ? किसने यह चिट्ठी लिखकर तुम्हें दी है ? वसुदेव और देवकी का पुत्र कौन है ? किसने यदुवंश को प्रसिद्धि प्रदान की है अथवा कौन यदुवंश में इतना प्रसिद्ध है ? तुम्हारे ऐसे कृष्ण से हमारा कोई परिचय नहीं है, हम उन्हें नहीं जानतीं। इसलिए तुम उनकी यह चिट्ठी ले जाकर उन्हें ही लौटा देना। हमारे प्रियतम तो गोपीनाथ, राधिकावल्लभ और यशोदा-नन्द के दुलारे कृष्ण-कन्हैया हैं। उन्होंने यहाँ गोकुल में एक नई रीति चलाई थी कि प्रतिदिन वह हम से प्रेम का दान लिया करते थे। अर्थात् हम प्रतिदिन उनसे प्रेम और रति-क्रीड़ा किया करती थीं। परन्तु हे उद्धव ! तुम तो परम चतुर हो जो यहाँ आकर हमसे हमारे उन प्रियतम कृष्ण-कन्हैया की बातें न कर और ही बातें अर्थात् निर्गुण-ब्रह्म की बातें कर रहे हो। तुम्हारी ये बातें सुनकर हमें विश्वास हो गया है कि तुम रास्ता भूल कर भटकते हुए इधर हमारे यहाँ आ निकले और पागलों की-सी बातें बक रहे हो।

विशेष—गोपियों को कृष्ण का गोकुलवासी निश्छल, निर्मल रूप ही प्रिय है। वे मथुरावासी राजनीतिज्ञ कृष्ण को पसन्द नहीं करतीं, रीतिकालीन कवि पद्माकर की गोपियाँ भी यही बात कहती हैं—

> "ऊधौ वे गोविन्द कोइ और मथुरा में वहाँ।
> मेरो तो गोविन्द मोहि में रहत है॥"

राग सारंग

देखियत कालिंदी अति कारी।
कहियो, पथिक ! जाय हरि सों ज्यों भई बिरह-जुर-जारी॥
मनो पलिका पै परी धरनि धँसि तरँग तलफ तनु भारी।
तटबारू उपचार-चूर मनो, स्वेद-प्रवाह पनारी॥
बिगलित कच कुस कास पुलिन मनो, पंकजु कज्जल सारी।
भ्रमर मनो मति भ्रमत चहूँ दिसि, फिरति है अंग दुखारी॥
निसिदिन चकई-ब्याज बकत मुख, किन मानहुँ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना-गति, सो गति भई हमारी॥२७८॥

शब्दार्थ—कालिंदी=यमुना। बिरह-जुर-जारी=विरह रूपी ज्वर के ताप से दग्ध होकर। पलिका=पलंग। धरनि=पृथ्वी। तलफ=तड़फड़ाना। भारी=अत्यधिक। तटबारू=तट की बालू। उपचार-चूर=औषधि का चूर्ण। मनो=मानो। स्वेद-प्रवाह=पसीने का बहना। पनारी=धारा, बहाव। बिगलित=गले हुए। कच=बाल। कुसकास=घास-पात। पुलिन=तट, किनारा। पंक=कीचड़। कज्जल

सारी=काली साड़ी। भ्रमत=घूमती है। दुखारी=दुःखी। चकई-ब्याज=चकवी के बहाने, रूप में। अनुसारी=समता।

भावार्थ—कृष्ण के विरह में अकेली गोपियाँ ही व्याकुल नहीं हैं, अपितु यमुना भी तड़पती रहती है। यहाँ गोपियाँ यमुना की विरह-व्यथित दशा का वर्णन करती हुईं प्रकारान्तर से अपनी ही विरह-व्यथा का चित्रण कर रही हैं। गोपियाँ किसी पथिक को अथवा उद्धव को ही पथिक मान उसके द्वारा कृष्ण को यह सन्देश भेज रही हैं कि—

हे पथिक ! यह यमुना काली दिखाई पड़ती है। तुम जाकर कृष्ण से यह कहना कि मानो यह भी तुम्हारे विरह-रूपी-ज्वर के ताप से दग्ध होकर काली पड़ गई है। इसकी दशा विरह-ताप से दग्ध विरहिणी के समान दिखाई देती है। वह ऐसी प्रतीत होती है मानो पीड़ा से अत्यधिक व्याकुल हो पलंग से गिरकर धरती पर आ पड़ी हो और तरंगों के रूप में भयानक विरह-व्यथा के कारण उसका शरीर छटपटा रहा हो। (यहाँ ग्रीष्मकालीन कम जल वाली यमुना का चित्रण है। इसीलिए उसे धरती में धँसा हुआ और उसकी तरंग को उसकी छटपटाहट बताया गया है। विरहिणी भी इसी प्रकार धरती पर गिर छटपटाती रहती है।) मानो उसके तट पर पड़ी हुई बालू ही उसे दिया गया औषधि का चूर्ण है और उसकी धारा ही रोगिणी के शरीर से बहती हुई पसीने की धारा है।

मानो यमुना के तट पर सड़े-गले हुए कुश-कास (घास-पात) ही विरहिणी के उलझे हुए, मैले-कुचैले केश हैं और जमी हुई कीचड़ ही मानो विरहिणी की मैली-काली साड़ी है। मानो अपने ऊपर चक्कर काटते हुए भौंरों के रूप में वह विरहिणी के समान दिग्भ्रमित हो पागल बन चारों दिशाओं में अपने अंग-प्रत्यंग में उठने वाली भयानक पीड़ा से व्यथित भटकती फिर रही हो। जिस प्रकार तेज ज्वर हो जाने पर रोगी सन्निपात-ग्रस्त हो बकने लगता है, उसी प्रकार यह यमुना भी चकवी के बहाने रात-दिन प्रलाप करती रहती है। हे उद्धव ! तुम इस यमुना की दशा को विरहिणी की दशा के समान क्यों नहीं मान लेते ? अर्थात् यह यमुना भी कृष्ण के विरह में विरहिणी के ही समान व्यथित दिखाई देती है। तुम स्वामी कृष्ण से जाकर यह कह देना कि तुम्हारे विरह में जो दशा इस यमुना की हो गई है, वही दशा हम गोपियों की भी हो गई है।

विशेष—(१) इस पद में प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण करते हुए उस पर मानव-भावनाओं का आरोप कर एक प्रकार से प्रकृति का मानवीकरण किया गया है। गोपियाँ ग्रीष्मकालीन क्षीणधारा यमुना के माध्यम से अपनी विरह-व्यथित मलिन-भ्रान्त दशा का वर्णन कर रही हैं। एक ज्वर-पीड़ित, सन्निपातग्रस्त रोगिणी के रूपक द्वारा उन्होंने अपनी विरह-दशा का चित्रण किया है। इसलिए यहाँ सांगरूपक माना जाना चाहिए।

(२) विरह की अभिलाषा, उद्वेग, प्रलाप आदि विभिन्न दशाओं के साथ-साथ

व्याधि, चिन्ता, औत्सुक्य, ग्लानि और स्मृति आदि संचारी भावों का सुन्दर चित्रण हुआ है।

(२) 'मनो……भारी' में हेतूत्प्रेक्षा; 'विगलित……दुखारी' में उत्प्रेक्षा; 'निसिदिन……अनुहारी' में कैतवापह्नुति अलंकार है।

सुनियत मुरली देखि लजात।
दूरहि तें सिंहासन बैठे, सीस नाय मुसकात॥
सुरभी लिखी चित्र भीतिन पर, तिनहिं देखि सकुचात।
मोरपंख को बिजन बिलोकत, बहरावत कहि बात।
हमरी चरचा जो कोउ चालत, चालत ही चपि जात।
सूरदास ब्रज भले बिसर्‌यो, दूध दही क्यों खात॥२७६॥

शब्दार्थ--सुनियत=सुनते हैं। नाय=नवा, झुकाकर। सुरभी=गाय। भीतिन=दीवारों पर। बिजन=पंखा। चपि जात=संकुचित हो उठते हैं। भले=भले ही। बिसर्‌यो=भुला दिया।

भावार्थ—गोपियाँ मथुरावासी कृष्ण के नये रूप और स्वभाव पर व्यंग्य करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव! हमने सुना है कि अब कृष्ण मुरली को देखकर लज्जित हो उठते हैं। यदि उन्हें कोई मुरली दिखा दे तो वह दूर सिंहासन पर बैठे हुए अपनी गर्दन नीची कर मुस्कराने लगते हैं। अपने महल की दीवारों पर बने हुए गाय के चित्र को देख वह संकोच से भर जाते हैं। और मयूर-पंखों से बने पंखे को देखते ही इधर-उधर की बातें कर अपने मन को बहलाने का प्रयत्न करने लगते हैं। यदि उनके सामने कोई हमारी बात छेड़ देता है तो उस बात के छिड़ते ही वह संकोच के मारे जमीन में घँस जाते हैं। अर्थात् अत्यधिक लज्जित हो उठते हैं। परन्तु हम उनसे एक बात पूछती हैं कि ब्रज को तो भले ही भुला दिया हो, परन्तु फिर वह दूध-दही क्यों खाते हैं? भाव यह है कि ब्रज से सम्बन्धित मुरली, गाय, मयूर-पंखों पंखा और हम गोपियों को देख या सुनकर तो वह लज्जित हो उठते हैं, क्योंकि जब वह ब्रज में रहते थे तब उन्हें ये चीजें अत्यन्त प्रिय थी। परन्तु अब वह मथुरा के राजा बन गये हैं, इसलिए इन चीजों को देख संकुचित हो उठते हैं। जब उन्हें ब्रज की चीजों से इतनी ही विरक्ति हो गई है तो फिर वह ब्रज की ही प्रिय वस्तु—दूध-दही क्यों खाते हैं? उन्हें इन्हें खाना भी छोड़ देना चाहिए।

विशेष—गोपियाँ कृष्ण के नये राजा-रूप पर गहरा-मार्मिक व्यंग्य कर रही हैं।

रागमलार

किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि ?
किधौं वहि इन्द्र हठिहि हरि बरज्यौ, दादुर खाए सेसनि ।।
किधौं वहि देस बकन मग छाँड्यो, धर बूड़ति न प्रबेसनि ।
किधौं वहि देस मोर, चातक, पिक बधिकन बधे बिसेषनि ।।
किधौं वहि देस बाल नहिं झूलति गावत गीत सहेसनि ।
पथिक न चलत सूर के प्रभु, पै जासों कहौं सँदेसनि ।।२८०।।

शब्दार्थ—बरज्यौ=रोक दिया है, मना कर दिया है। सेसनि=साँपों ने। बकन=बगुलों ने। धर=धरा, पृथ्वी। विसेषनि=विशेष रूप से। बाल=बालाएँ, लड़कियाँ। सहेसनि=सहर्ष।

भावार्थ—वर्षा ऋतु के आगमन से गोपियों का विरह और अधिक उद्दीप्त हो उठा है। वे कृष्ण से मिलने को छटपटा उठी हैं। वे सोचती है कि इस वर्षा ऋतु के आगमन से कृष्ण गोपियों के विरह में व्याकुल हो उनके पास क्यों नहीं आते। उनका अनुमान है कि शायद मथुरा में वर्षा ऋतु ही नहीं आई है और उसके न आने के कारणों की कल्पना करती हुई वे उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! मथुरा में वर्षा ऋतु के न आने का कारण सम्भवतः यह है कि या तो वहाँ उस देश में बादल ही नहीं गरजते, या वहाँ कृष्ण ने हठ करके इन्द्र को वहाँ वर्षा करने से मना कर दिया है, जैसे यहाँ रोक दिया था। या साँपों ने वहाँ के सारे मेंढकों को खा डाला है जिससे उनकी टर्र-टर्र करने की आवाज वर्षा के आगमन की सूचना नहीं देती। या बगुलों ने उस देश के ऊपर होकर उड़ना बन्द कर दिया है, या वहाँ मूसलाधार वर्षा में पृथ्वी जल में डूबकर बिलीन नहीं हो पाती। या वहाँ वधिकों (बहेलियों) ने मोर, चातक और कोयल को विशेष रूप से मार डाला है जिससे उनके स्वर वर्षा के आगमन की सूचना नहीं दे पाते। या उस देश में लड़कियाँ हर्ष से उमंगित हो गीत गाती हुई झूला नहीं झूलतीं। इसके विपरीत, यहाँ ब्रज में तो वर्षा के कारण यह हालत हो गई है कि जल भर जाने के कारण सारे मार्ग बन्द हो गए हैं, इसलिए पथिकों ने रास्ता चलना बन्द कर दिया है। जब पथिक रास्ता ही नहीं चलते तो हम स्वामी कृष्ण के पास अपना सन्देश कैसे भेजें ? ऐसी स्थिति में हम करें तो क्या करें।

विशेष—(१) इस पद में प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण हुआ है।

(२) सम्पूर्ण पद में सन्देह अलंकार है।

(३) आलम कवि का भी इसी पद से भाव और वर्णन-साम्य दर्शाने वाला एक पद दृष्टव्य है—

"कैधों मोर सोर तजि गए री अनत भजि,
कैधों उत दादुर न बोलत हैं, ए दई ?
कैधों पिक चातक महीप काहु मारि डारे,
कैधों बगपाँति उत अन्त गति ह्वै गई ?
आलम कहै हो आली अजहूँ न आए प्यारे,
कैधों उत रीत विपरीत विधि ने ठई ?
मदन महीप की दुहाई फिरिने ते रही,
जूझि गए मेघ, कैधों बीजुरी सती भई ?"

कोउ सखि नई चाह सुनि आइ।
यह ब्रजभूमि सकल सुरपति पै, मदन मिलिक पाई॥
घन धावत, बगपाँति पटो सिर, बैरख तड़ित सुहाई।
बोलत पिक चातक ऊँचे सुर, मनो मिलि देत दुहाई॥
दादुर मोर चकोर बदत सुक, सुमन समीर सुहाई।
चाहत कियो बास वृन्दावन, बिधि सों कहा बसाई ?
सीवँ न चापि सक्यो तब कोऊ, हुते बल कुँवर कन्हाई।
अब सुनि सूर स्याम-केहरि बिनु ये करिहैं ठकुराई॥२८१॥

शब्दार्थ—चाह=खबर। पै=से। मिलिक=मिल्कीयत, जागीर। धावत=दूत। पटो=पट, पगड़ी। बैरख=पताका, झंडा। तड़ित=बिजली। बदत=यशगान करते हैं। सुमन=मन को। चाहत=चाहता है। बसाई=वश है, जोर है। सीवँ=सीमा। चापि=दबा। हुते=रहते थे।

भावार्थ—वर्षा ऋतु को आया देख गोपियाँ कामोद्दीपन होने के कारण विरह-व्यथा से अत्यधिक त्रस्त हो यह कल्पना कर रही हैं कि अब ब्रज में कामदेव का शासन स्थापित हो गया है। वे अपने इसी भाव को व्यक्त करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! कोई सखी यह नई खबर सुन आई है कि कामदेव ने इन्द्र से इस सम्पूर्ण ब्रजभूमि को जागीर के रूप में प्राप्त कर लिया है। अर्थात् अब यहाँ कामदेव का राज्य स्थापित हो गया है। अब कामदेव का आगमन होने वाला है। आकाश में उमड़ते हुए बादल उसके आगमन की अग्रिम सूचना देने वाले उसके दूत हैं, बगुलों की उमड़ती हुई पंक्तियाँ उन दूतों की सफ़ेद पगड़ियाँ हैं और चमकती हुई बिजली उसकी पताका के समान शोभा दे रही है। कोयल और चातक ऊँचे स्वर में मानो एक साथ मिलकर अपने राजा कामदेव की चारों ओर दुहाई फेर रहे हों; अर्थात् उस का शासन स्थापित होने की घोषणा कर रहे हों।

मेंढ़क, मोर, चकोर और तोते मानो अपने नए राजा का यशगान कर रहे

हैं और मन को सुख देने वाला शीतल-मन्द समीर प्रवाहित हो रहा है। इस प्रकार यह नया राजा कामदेव अपने सभी सेवकों के साथ यहाँ ब्रज में निवास करना चाहता है। (हम जानती हैं कि वह यहाँ आकर हमें रात-दिन दुःख देता रहेगा; अर्थात् वर्षा-काल में कामोद्दीपन होने के कारण हम रात-दिन कष्ट पाती रहेंगी।) परन्तु विधाता पर हमारा क्या वश चल सकता है ? अर्थात् जब विधाता ने ही हमारे भाग्य में यह दुःख झेलना लिख दिया है तो हम कर ही क्या सकती हैं ? वह तो सहना ही पड़ेगा। जब बलराम और कृष्ण—दोनों यहाँ रहते थे, तब यह कामदेव इस ब्रज की सीमा का स्पर्श तक नहीं कर पाता था, यहाँ आ जमना तो बहुत दूर की बात है। हे उद्धव ! अब क्यों यहाँ कृष्ण रूपी सिंह नहीं रहते, इसलिए यह कामदेव-रूपी मतवाला हाथी यहाँ शासन कर रात-दिन उत्पात मचाता रहेगा, और इसे कोई रोक नहीं सकेगा। भाव यह है कि जब कृष्ण यहाँ थे, तब वे हमारी काम-भावना को शान्त कर देते थे, मगर अब तो हमें काम-वासना के उद्दीपन का दुःख सहना ही पड़ेगा।

विशेष—(१) इस पद में वर्षा ऋतु आने पर तीव्र कामोद्दीपन की आशंका द्वारा गोपियों की विषम विरह-व्यथा का अलंकृत भाषा में सजीव चित्रण किया गया है। कामदेव की नये राजा के रूप में कल्पना सुन्दर और सार्थक है।

(२) सम्पूर्ण पद में सांगरूपक अलंकार है।

(३) 'बोलत····दुहाई' में उत्प्रेक्षा; 'स्याम-केहरि' में रूपक अलंकार है; तथा 'यह ब्रज नहीं, कामदेव की जागीर है'—इस भाव के कारण अपह्नुति अलंकार भी माना जा सकता है।

(४) यह पद तुलसी रचित 'कृष्ण-गीतावली' में भी मिलता है।

बरु ये बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि, नंदनंदन ! गरजि गगन घन छाए।।
सुनियत है सुरलोक बसत सखि, सेवक सदा पराए।
चातक-कुल की पीर जानि कै, तेउ तहाँ तें धाए।।
द्रुम किए हरित, हरषि बेली मिलि, दादुर मृतक जिवाए।
छाए निबिड़ नीर तृन तहँ-तहँ, पंछिन हूँ प्रति भाए।।
समझति नहिं सखि ! चूक आपनी, बहुत दिन हरि लाए।
सूरदास स्वामी करुनामय, मधुबन बसि बिसराए।।२८२।।

शब्दार्थ—बदराऊ=बादल भी। पराए=दूसरों के, अर्थात् इन्द्र के। धाए=दौड़ आए हैं। निबिड़=सघन। चूक=गलती, अपराध। लाए=लगाए। मधुबन=मथुरा।

भावार्थ—गोपियों को दुःख है कि अपना समय आने पर वर्षा-ऋतु तो आ

गई, परन्तु कृष्ण अवधि बीत जाने पर भी नहीं आये। वे बादलों की प्रशंसा करती हुई कृष्ण को सम्बोधित कर कह रही हैं कि—

हे नन्दनन्दन ! देखो, अपनी अवधि को अर्थात् वर्षा-ऋतु के आगमन का ठीक समय जान ये बादल भी यहाँ बरसने के लिये आ पहुँचे हैं और गरजते हुए आकाश में छा गए हैं। भाव यह है कि अपने समय पर ये बादल तो आ गए, मगर कृष्ण अपने आने की अवधि बीत जाने पर भी अभी तक नहीं आए। हे सखि ! इन बादलों के सम्बन्ध में यह सुना जाता है कि ये देवताओं के लोक अर्थात् स्वर्ग में रहते हैं और सदैव दूसरे की अर्थात् इन्द्र की सेवा में रहते हैं, अर्थात् परवश हैं। परन्तु फिर भी ये इतने सहृदय हैं कि चातकों की पीड़ा को जानकर (चातक दिन-रात 'पिउ-पिउ' की रट लगाता हुआ बादलों को पुकारता रहता है) इतनी दूर से, यहाँ दौड़े चले आए हैं। भाव यह है कि बादल तो अपने प्रेमियों की पीड़ा का अनुभव कर इतनी दूर (स्वर्ग) से यहाँ भागे चले आए हैं, परन्तु कृष्ण इतने पास (मथुरा) में रहते हुए भी गोपियों की विरह-व्यथा का अनुभव कर यहाँ नहीं आते।

इन बादलों ने आकर वृक्षों को हरा-भरा बना दिया है, लताएँ उनसे मिलकर हर्षित हो उठी हैं, खिल उठी हैं और मरे हुए मेंढ़क पुनः जीवित हो गए हैं। (कहा जाता है कि गर्मियों में मेंढ़क जल सूख जाने के कारण मर जाते हैं और वर्षा होते ही फिर जीवित हो उठते हैं।) पृथ्वी पर जहाँ-तहाँ अर्थात् चारों ओर सघन जल और पत्तों की हरियाली छा गई है। पक्षी भी इन बादलों को देख प्रसन्न हो उठे हैं। परन्तु हे सखि ! हमारी समझ में यह नहीं आता कि हमसे ऐसा कौन-सा अपराध हो गया था जिसके कारण रूठकर कृष्ण अभी तक नहीं आए। उन्होंने तो वहाँ मथुरा में बहुत दिन लगा दिए। हमें तो ऐसा लगता है कि हमारे करुणामय स्वामी मथुरा में बसकर हमें भूल गए हैं। भाव यह है कि वर्षा के आने से सारी प्रकृति प्रसन्नता से खिल उठी है। परन्तु कृष्ण ऐसे निष्ठुर हैं कि हमारी दीन-दशा पर तरस खाकर यहाँ नहीं आते, यद्यपि कहलाते करुणामय हैं। (यहाँ 'करुणामय' शब्द में प्रच्छन्न व्यंग्य है।)

विशेष—(१) वर्षाऋतु के बादलों को देख कामोद्दीपन होना स्वाभाविक है। इस ऋतु में प्रिय का विरह बहुत अधिक सताता है। सूर ने इसी कारण गोपियों के विरह और उससे उत्पन्न उनकी व्यथा और कातरता का सजीव चित्रण किया है।

(२) प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण हुआ है।

(३) सम्पूर्ण पद में हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है।

परम बियोगिनि गोविंद बिनु, कैसे बितवैं दिन सावन के ?
हरित भूमि, भरे सलिलन सरोवर, मिटै मग मोहन आवन के ॥
पहिरे सुहाए सुबास सुहागिनि, झुंडन झूलन गावन के।
गरजत घुमरि घमंड दामिनी, मदन धनष धरि धावन के ॥

दादुर मोर सोर सारँग पिक, सोहैं निसा सूरमा बन के।
सूरदास निसि कैसे निघटत, त्रिगुन किए सिर रावन के ॥२८३॥

शब्दार्थ—बितवैं=व्यतीत करें, बिताएँ। हरित=हरी-भरी। मग=मार्ग, रास्ता। घुमरि=घुमड़-घुमड़कर। मदन=कामदेव। धावन=झपट रहा है। सूरमा=वीर। निघटत=समाप्त हो। त्रिगुन=तीन गुने।

भावार्थ—सावन मास की रात्रि गोपियों के विरह को उद्दीप्त कर उन्हें बहुत दुःख दे रही है, काटे से नहीं कटती। अपनी इसी व्यथा को व्यक्त करती हुई गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! यह बताओ कि कृष्ण की परम वियोगिनी ये गोपियाँ कृष्ण के बिना सावन के इन दुःखदायी दिनों को कैसे व्यतीत करें ? वर्षा के कारण सारी पृथ्वी हरी-भरी हो उठी है, सरोवर जल से भर गए हैं और मार्गों में जल भर जाने से कृष्ण के यहाँ आने के सारे मार्ग बन्द हो गए हैं। ऐसी स्थिति में कृष्ण यहाँ कैसे आ सकेंगे ? इधर सुहागिन नारियों ने सुन्दर सुगन्धित वस्त्र धारण कर रखे हैं और झुण्ड कीं झुण्ड गीत गाती हुईं झूला झूलती रहती हैं। आकाश में घुमड़-घुमड़कर बादल गरजते हैं और बिजली चमकती है। उन्हें देखकर ऐसा लगता है—मानो बादल रूपी कामदेव बिजली रूपी धनुष धारण कर हमें मारने के लिए हम पर झपट रहा हो।

रात को जब बादल गरजते हैं तो मेंढ़क और मोर शोर मचाने लगते हैं। उन्हें शोर मचाते सुन, चातक और कोयल भी मानो रात के वीर बन उनके साथ शोर मचाते हुए शोभा पाते हैं। भाव यह है कि साधारणतः चातक और कोयल रात को नहीं बोलते, परन्तु मेंढ़कों और मोरों को शोर मचाते सुन, वे भी उस समय कूकने लगते हैं। इसीलिए उन्हें रात का शूरमा (वीर) कहा गया है। इनकी कूक काम को उद्दीप्त करने वाली होती है, इसलिए गोपियों का रात काटना भारी पड़ जाता है। गोपियाँ कहती हैं कि ऐसी विषम स्थिति में यह रात किसी भी प्रकार समाप्त नहीं होती, काटे से नहीं कटती। जब एक रात का काटना इतना कठिन है तो रावण के दस सिरों की तीन गुनी अर्थात् तीस रातें (महीने में तीस रातें होती हैं और गोपियों को सावन का पूरा महीना काटना है) कैसे कट सकेंगी ?

इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जब गोपियों को रात का एक-एक पल काटना भारी पड़ रहा है तो फिर सारी रात; अर्थात् तीस घड़ियों जितनी लम्बी रात कैसे कट सकेगी ? (एक रात में तीस घड़ियाँ मानी गयी हैं।)

विशेष—(१) 'गरजत·······धावन के' में रूपक; तथा सम्पूर्ण पद में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

हमारे माई ! मोरउ बैर परे।
घन गरजे बरजे नहिं मानत, त्यों-त्यों रटत खरे ॥
करि एक ठौर बीनि इनके पँख मोहन सीस धरे।
याही तें हम ही को मारत, हरि ही ढीठ करे ॥

कह जानिए कौन गुन, सखि री ! हम सों रहत अरे।
सूरदास परदेस बसत हरि, ये वन तें न टरे।।२८४।।

शब्दार्थ—माई=सखी। मोरउ=मोर भी। बरजे=मना करने पर भी। ठौर=स्थान। बीनि=बीनकर। कह=क्या। अरे=अड़े, भिड़े। टरे=दूर जाना, हट जाना।

भावार्थ—वर्षा ऋतु में मयूरों की कूक गोपियों में काम का संचार कर उनके विरह को और भी अधिक उद्दीप्त कर देती है। इसलिए वे मयूर को अपना शत्रु घोषित करती हुई परस्पर कह रही हैं कि—

हे सखि ! ये मोर भी हमारे वैर पड़ गए हैं; अर्थात् हमारे दुश्मन बन गए हैं। जब बादल गरजते हैं तो ये जोर-जोर से कूकने लगते हैं। हम जैसे-जैसे इन्हें कूकने से मना करती हैं, ये वैसे-वैसे और जोर-जोर से कूकने लगते हैं। इनकी इस धृष्टता का कारण यह है कि कृष्ण ने इनके पंखों को बीन-बीन एक स्थान पर एकत्र कर अपने सिर पर धारण कर लिया था। अब क्योंकि कृष्ण हमसे रूठ गए हैं, इसलिए ये मोर भी उन्हीं का पक्ष लेकर हमें ही मारते हैं। कृष्ण ने ही इन्हें इतना ढीठ (धृष्ट) बना दिया है। हे सखि ! न मालूम अपने किस गुण अर्थात् स्वभाव से प्रेरित हो ये सदैव हमसे ही अड़े रहते हैं, अर्थात् हमें ही सताते रहते हैं। अब कृष्ण तो जाकर परदेश में बस गए हैं—मथुरा में रहने लगे हैं, परन्तु ये दुष्ट इस वन से कहीं नहीं टलते, इसे छोड़ कहीं भी नहीं जाते। न्याय की बात तो यह थी कि कृष्ण जाते समय अपने इन ढीठ साथियों (मोरों) को भी अपने साथ ही ले जाते, जिससे ये हमें सता नहीं पाते।

विशेष—(१) 'करि····करे' में प्रत्यनीक अलंकार है।

(२) इस पद में व्याज-रूप में मोरों की प्रशंसा की गई है क्योंकि कृष्ण मयूर-मुकुटधारी हैं, इसलिए मोर गोपियों को अत्यन्त प्रिय है। इस पद का मूल-भाव यही है। कृष्ण से मोरों के घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण उनकी कूक कृष्ण की स्मृति को और अधिक तीव्र कर देती है।

सखी री ! हरिहि दोष जनि देहु।
जातें इते मान दुख पैयत, हमरेहि कपट सनेहु।।
विद्यमान अपने इन नैनन्ह, सूनो देखति गेहु।
तदपि सूल-ब्रजनाथ-बिरह तें, भिदि न होत बड़ बेहु।।
कहि-कहि कथा पुरातन ऊधो ! अब तुम अंत न लेहु।
सूरदास तन तो यों ह्वै है, ज्यों फिरि फागुन-मेहु।।२८५।।

शब्दार्थ—हरिहि=कृष्ण को। जनि=मत। इते=इतना। पैयत=पाती हैं।

गेहु=घर। बेहु=छेद। भिदि=बिंध कर। अन्त न लेहु=प्राण मत लो। फागुन-मेहु=जल रहित, जीवन रहित।

भावार्थ—किसी गोपी को कृष्ण पर कटाक्ष करते सुन कोई गोपी, कृष्ण के इस निर्मम व्यवहार के मूल में अपने प्रेम की न्यूनता का अनुमान कर, उसे रोकती हुई कहती है कि—

हे सखि ! तू कृष्ण को दोष मत दे, उन पर लांछन न लगा। उन्होंने हमारे साथ जो यह व्यवहार किया है—हमें त्याग दिया है, उसका कारण यह है कि उनके प्रति हमारा प्रेम सच्चा न होकर कपट से भरा हुआ था। उन्होंने यही सोचकर हमें त्याग दिया है और हम इसी कारण उनके विरह में इतना दुःख भोग रही हैं। (यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब हमारे ही किसी अपराध के कारण हमारा प्रिय हमसे रूठ जाता है तो उसका विरह हमें अत्यधिक सताता है, क्योंकि उसके मूल में हमारी पश्चात्ताप की भावना भरी रहती है।) गोपी आगे कहती है कि उनके प्रति हमारे कपटपूर्ण स्नेह का यह प्रमाण है कि अपने इन नेत्रों के रहते हुए जब हम इस घर को सूना देखती हैं तो कृष्ण-विरह के शूल (आघात) द्वारा हमारा यह हृदय विदीर्ण हो, इसमें बड़ा-सा छेद क्यों नहीं हो जाता ? अर्थात् हमारा हृदय फटकर टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं हो जाता ? यदि हमारा प्रेम सच्चा होता तो हम कृष्ण के बिना जीवित नहीं रहतीं।

इसके उपरान्त वह गोपी उद्धव से कहती है कि हे उद्धव ! तुम हमसे पुरातन कथा अर्थात् निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी कथा सुना-सुनाकर अब हमारे प्राण लेने का प्रयत्न मत करो। अर्थात् कृष्ण को त्याग. निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लेने की तुम्हारी बात सुन-सुनकर हमारे प्राण निकले जा रहे हैं। यदि हम तुम्हारी बात स्वीकार कर लेंगी तो फिर हमारा यह शरीर उसी प्रकार जीवन रहित हो जायगा, जैसे कि फागुन का महीना जल-रहित होता है। (फागुन में वर्षा नहीं होती।) अर्थात् कृष्ण को त्याग कर हम जीवित नहीं रहेंगी।

विशेष—इस पद में रूपक अलंकार है।

उघरि आयो परदेसी को नेहु।
तब तुम 'कान्ह-कान्ह' कहि टेरति, फूलति ही अब लेहु॥
काहे को तुम सर्बस अपनो, हाथ पराए देहु।
उन जो महा ठग मथुरा छाँड़ी, सिंधुतीर कियो गेहु॥
अब तौ तपन महा तन उपजी, बाढ्यो मन सँदेहु।
सूरदास बिह्वल भइँ गोपी, नयनन्ह बरस्यो मेहु॥२८५॥

शब्दार्थ—उघरि आयो=प्रकट हो गया, स्पष्ट हो गया। नेहु=स्नेह, प्रेम। फूलति ही=मन में फूलती, प्रसन्न होती थीं। अब लेहु=अब लो, अब नतीजा भुगतो। सिंधुतीर=सागर के तट पर द्वारिका में। तपन=जलन।

भावार्थ—कृष्ण मथुरा को भी त्याग द्वारिका चले गए हैं। अब गोपियों को उनके आने की कोई आशा नहीं रही। यह स्थिति देख गोपियाँ आपस में उलाहना दे रही हैं कि परदेशी से प्रेम करने का यही परिणाम भुगतना पड़ता है। कोई गोपी किसी दूसरी गोपी से कहती है कि—

हे सखी ! परदेशी का प्रेम कैसा कपट-भरा होता है, यह अब स्पष्ट हो गया है। तब तो तुम रात-दिन 'कृष्ण-कृष्ण' की ही पुकार मचाए रहती थीं और यह सोच-सोच मन में फूली नहीं समाती थीं कि कृष्ण तुमसे प्रेम करते हैं। अब उसका परिणाम भुगतो। पहले तुमने अपना सर्वस्व अर्थात् मन पराये हाथ अर्थात् कृष्ण को सौंप दिया था ? वह कृष्ण तो बहुत पक्के ठग निकले। उन्होंने अब मथुरा को भी वैसे ही त्याग दिया है, जैसे व्रज को त्याग दिया था, और अब सागर तट पर द्वारिका में जाकर अपना घर बना लिया है। अब तो हमारे शरीर में विरह की भयंकर ज्वाला उत्पन्न हो उठी है और मन में सन्देह बढ़ गया है कि अब कृष्ण कभी भी लौटकर यहाँ नहीं आयेंगे।

यह कहती हुई सारी गोपियाँ अत्यन्त व्याकुल हो उठीं और उनके नेत्रों से आँसुओं की वर्षा होने लगी।

विशेष—अन्तिम पंक्ति में अतिशयोक्ति और रूपक अलंकार माने जा सकते हैं। प्रथम पंक्ति में 'काकुवक्रोक्ति' भी मानी जा सकती है।

हरि न मिले, री माई ! जन्म ऐसे ही लाग्यो जान।
जोवत मग द्यौस-द्यौस, बीतत जुग समान।।
चातक-पिक-बयन, सखी ! सुनि न परैं कान।
चंदन अरु चंदकिरन, कोटि मनो भानु।।
जुवती सजे भूषन रन—आतुर मनो त्रान।
भीषम लौं डासि—मदन अर्जुन के बान।।
सोवत सर-सेज सूर, चल न चपल प्रान।
दच्छिन - रबि - अवधि, अटक इतनीऐ जान।।२८७।।

शब्दार्थ—माइ=सखी। जान=जान पड़ता है। जोवत=देखते। द्यौस=दिवस। जुग=युग। रन-आतुर=युद्ध के लिए सन्नद्ध। त्रान=अंगत्राण, कवच। भीषम लौं=भीष्म पितामह के समान। मदन=कामदेव। डासि=बिछाकर। सर-सेज=वाणों की शैया। इतनीऐ=इतने से ही।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण के विरह में मरणासन्न हो रही हैं, परन्तु कृष्ण के आने की अवधि की आशा के ही कारण उनके प्राण शरीर में अटके हुए हैं। इसी भाव को व्यक्त करती हुई कोई गोपी अपनी सखी से कह रही है कि—

हे सखि ! कृष्ण नहीं मिले। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि हमारा यह

जन्म उनके विरह में इसी तरह तड़पते हुए ही बीत जायगा। उनके आने की राह देखते-देखते एक-एक दिन एक-एक युग के समान लम्बा और भारी मालूम होता है। हे सखि ! अब चातक और कोयल की कूक कानों में सुनाई नहीं पड़ती। चन्दन और चन्द्रमा की किरणें अब करोड़ों सूर्य के समान दग्ध करने वाली बन गई हैं। युवतियाँ अपने कृष्ण के साथ रति-युद्ध करने के लिए आतुर हो, आभूषणों को कवच के समान अपने हृदय पर धारण करती हैं। अर्थात् आभूषणों से सज-धज कर कृष्ण से मिलने को व्याकुल हो रही हैं। परन्तु कृष्ण के न आने पर कामदेव उन पर अपने बाणों द्वारा भयंकर आघात कर उन्हें उसी प्रकार बाणों की शैया पर लिटा दुःख देता रहता है, जिस प्रकार भीष्म अर्जुन द्वारा मारे गए बाणों द्वारा घायल हो उन बाणों की शैया पर सो गए।

ये गोपियाँ भीष्म पितामह के ही समान कामदेव द्वारा छोड़े गए बाणों की शैया पर वीर के समान लेटी हुई हैं। अर्थात् कामदेव इनकी वासना को उद्दीप्त कर इन्हें निरन्तर भयानक कष्ट दे रहा है। परन्तु फिर भी इनके चंचल प्राण शरीर छोड़कर नहीं जाते, इनका प्राणान्त नहीं होता। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार भीष्म जब शर-शैया पर लेटे थे, तब सूर्य उत्तरायण अर्थात् उत्तर दिशा में थे। भीष्म प्राण उस समय छोड़ना चाहते थे, जब सूर्य दक्षिणायण अर्थात् दक्षिण दिशा में आ जाते। और उन्होंने तभी अपने प्राण छोड़े थे। गोपियों के प्राण भी केवल कृष्ण के आने की अवधि की आशा में ही अटके हुए हैं। यदि उन्हें यह आशा न होती तो कब का उनका प्राणान्त हो गया होता।

विशेष—(१) इस पद में वियोग की अन्तिम दशा 'मरण' अर्थात् मरणमन्न स्थिति का अंकन किया गया है।

(२) भीष्म पितामह की शर-शैया से गोपियों की मरणासन्न दशा की उपमा दी गई है।

(३) 'जोवत·······समान' में उपमा; 'चन्दन·······भानु' में उत्प्रेक्षा; तथा 'जुवती····जान' में सांगरूपक अलंकार है।

राग नट

तुम्हरे बिरह, ब्रजनाथ, अहो प्रिय ! नयनन नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष-कूल दोउ, एते मान चढ़ी॥
गोलक-नव-नौका न सकत चलि, स्यो सरकनि बढ़ि बोरति।
ऊरध श्वास-समीर तरंगन, तेज तिलक-तरु तोरति॥
कज्जल कीच कुचील किए, तट अंतर अधर कपोल।
रह पथिक जो जहाँ सो तहाँ, थकि हस्त चरन मुख-बोल॥
नाहिंन और उपाय रमापति, बिन दरसन छन जीजै।
अस्रु-सलिल बूड़त सब गोकुल, सूर सुकर गहि लीजै॥२८८॥

शब्दार्थ—अहो=हे। लीने जात=लिए जाता। निमेष-कूल=पलक रूपी किनारे। गोलक-नव-नौका=पुतली रूपी नई नाव। स्यो=सहित। सरकनि=प्रवाह में। बोरति=डुबो देती है। तिलक-तरु=तिलक रूपी वृक्ष। तोरति=तोड़ डालती। कुचील=गन्दा, मलिन। अधर=होंठ। हस्त चरन=हाथ-पैर मानो पथिक हैं। रमापति=कृष्ण। जीजै=जीवित हो जाना। सुकर=सुन्दर हाथ। गहि लीजै=पकड़ लीजिए।

भावार्थ—विरह-व्यथा से अत्यधिक सन्तप्त हो, गोपियाँ अपने आँसुओं को नदी का रूपक प्रदान करतीं प्रियतम कृष्ण को पुकारती हुईं कह रही हैं कि—

हे प्रियतम ! हे ब्रजनाथ ! तुम्हारे विरह में हमारे इन नयनों से आँसुओं की नदी-सी उमड़ कर बहने लगी है। यह आँसुओं रूपी नदी इतनी अधिक बढ़ गई है, उफन रही है कि दोनों पलकों रूपी अपने दोनों किनारों को बहाये लिये जाती है। अर्थात् आँखों से इतने अधिक आँसू बह रहे हैं कि दोनों पलकें उनमें डूबी जा रही हैं। इस नदी में पुतली रूपी नई नाव भी नहीं चल सकती। वह अपने प्रवाह सहित आगे बढ़ उसे भी डुबा देती है। अर्थात् पुतलियाँ टकटकी बाँध कृष्ण का रास्ता देखती रहने के कारण अचल हो गई हैं और आँसुओं में डूबी रहती हैं। हमारी ऊँची साँसों द्वारा तेज वायु के कारण इन आँसुओं रूपी नदी में व्यथा की ऊँची-ऊँची लहरें तीव्र गति से उठ रही हैं और माथे पर लगे हुए तिलक रूपी वृक्ष को तोड़े डाल रही हैं। अर्थात् आँसुओं से भीगकर तिलक नष्ट हुआ जा रहा है। (तिलक—एक वृक्ष का भी नाम होता है।)

इन आँसुओं ने काजल रूपी कीचड़ को बहाकर किनारे पर स्थित अधर और कपोलों को मलिन कर दिया है। अर्थात् काजल बह जाने से अधर और कपोल काले हो गए हैं। यह नदी इतने जोर से उमड़ रही है कि हाथ, चरण और मुख के शब्द-रूपी पथिक थककर जहाँ के तहाँ खड़े हो गये हैं। इस नदी को पार नहीं कर पाते। अर्थात् विरह-व्यथा के आधिक्य के कारण हाथ-पैर शिथिल हो गए हैं और मुख से वचन नहीं निकलते; कुछ बोला ही नहीं जाता। सारा शरीर शिथिल हो उठा है। हे रमापति ! अब हमारे बचने का कोइ भी उपाय नहीं रहा है। तुम्हारे दर्शनों के बिना हमें क्षण भर के लिए भी जीवित रहना असह्य और असम्भव हो उठा है। अथवा रमापति के बिना अब बचने का कोई सहारा या उपाय नहीं रहा है। यदि वह हमें दर्शन दे दें तो हम क्षण भर में ही जीवित हो उठेंगी। सारा गोकुल आँसुओं रूपी जल की बाढ़ में डूबा जा रहा है। हे प्रियतम ! तुम आकर अपने सुन्दर हाथ से हमारा हाथ पकड़ कर हमें डूबने से बचा लो।

विशेष—(१) इस पद में भावोद्वेलन के स्थान पर सूर की काव्य-कला का चमत्कार ही अधिक प्रभावशाली बन पड़ा है। आँसुओं रूपी नदी का सुन्दर रूपक बाँधा गया है। यहाँ सूर भक्त न होकर, एक कुशल कवि ही अधिक प्रतीत होते हैं।

(२) सम्पूर्ण पद में सांगरूपक अलंकार है। साथ-साथ अनुप्रास और उपमा-लंकारों का भी प्रयोग हुआ है।

राग कान्हरो

अँखियाँ अजान भईं !
एक अंग अवलोकत हरि को, और हुती सो गई ।।
यों भूली ज्यों चोर भरे घर, चोरी निधि न लई।
बदलत भोर भयो पछितानी, कर तें छाँड़ि दई ।।
ज्यों सुख परिपूरन हो त्यों ही, पहिलेइ क्यों न रई।
सूर सकति अति लोभ बढ्यो है उपजति पीर नई ।।२८६।।

शब्दार्थ—अजान=अज्ञानी। हुती=थी। अवलोकत=देखते। भरे घर=कीमती सामान से भरा घर। निधि=सम्पत्ति। बदलत=क्या ले, क्या न ले—यह विचार बदलते हुए। भोर=प्रभात, सुबह। रई=रंग गईं। सकति=शक्ति। पीर=पीड़ा।

भावार्थ—कृष्ण के दर्शन से वंचित गोपियाँ अपनी आँखों की लोभी प्रवृत्ति के लिए उनकी भर्त्सना करती हुईं कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! आज हमारी ये आँखें कृष्ण के दर्शनों के लिए तरस रहीं हैं। परन्तु जब कृष्ण यहाँ थे तो ये आँखें इतनी अज्ञ (अज्ञानी) बन गईं थीं कि कृष्ण को देखते ही उनके एक ही अंग को टकटकी बाँध निरन्तर देखती रह गई थीं और अपना आपा (चेतना) खो बैठी थीं। इससे इनमें जो रही-सही बुद्धि थी, वह भी जाती रही थी, नष्ट हो गई थी। भाव यह है कि कृष्ण के दर्शन करते ही ये आँखें अपनी सम्पूर्ण चेतना का विस्मरण कर अचेत हो गई थीं। उनके रूप-सौन्दर्य का पूर्णतः उपभोग नहीं कर पाई थी। ये उनके रूप को देखते ही उस चोर की तरह दुविधा से फँस गई थीं जो किसी कीमती सामान से भरे घर में चोरी करने के लिए घुसता है और वहाँ तरह-तरह के सामान देख यह निश्चय नहीं कर पाता कि क्या चुराए और क्या छोड़ दे। इसी दुविधा में वह एक भी चीज नहीं चुरा पाता। रात-भर यही अदला-बदली करता रहता है कि इसे ले या उसे। और ऐसा करते-करते रात बीत जाती है। फिर वह पकड़े जाने के भय से हाथ में पकड़ी हुई चीज को भी वहीं छोड़, मन में पछताता हुआ वहाँ से भाग खड़ा होता है। यही स्थिति हमारी इन आँखों की रही थी। ये भयंकर लालची के समान कृष्ण के एक-एक अंग के सौन्दर्य को आत्मसात् कर लेना चाहती थीं, परन्तु इसी प्रयत्न और दुविधा में समय बीत गया और कृष्ण हमें छोड़ यहाँ से चले गए। और ये आँखें अपनी उस लालची प्रवृत्ति के कारण उनके दर्शनों से वंचित हो पछताती रह गईं।

मगर अब पछताने से क्या होता है ? ये पहले ही उनके रूप-प्रदर्शन में इतनी अनुरक्त क्यों न हो गईं, जिससे रूप-प्रदर्शन की इनकी पिपासा तृप्त हो जाती। अब

उनके रूप-दर्शन का इनका लोभ पूरी शक्ति के साथ बढ़ा हुआ है और दर्शन न हो पाने के कारण इनमें एक नई पीड़ा अर्थात् विरह की पीड़ा उत्पन्न हो गई है। अर्थात् अब ये रात-दिन कृष्ण के विरह में व्यथित बनी रहती हैं। यदि कृष्ण का सम्पूर्ण सौन्दर्य मुख में ही केन्द्रित था तो इन्हें उसे ही सम्पूर्णतः आत्मसात् कर लेना चाहिए था।

विशेष—(१) 'एक अंग अवलोकत' में कवि ने कृष्ण के प्रत्येक अंग के अनिन्द्य सौन्दर्य की ओर संकेत किया है। आँखें एक ही अंग—मुख पर केन्द्रित होकर रह गईं और अन्य अंगों को नहीं देख पाईं। संस्कृत में एक श्लोक इसी भाव को व्यक्त करने वाला इस प्रकार है—

"तस्या अंगे प्रथम यत्रैव हि यस्य निपतिता दृष्टिः
तत्रैव तस्य मग्ना सर्वांग किल न केनचिद् दृष्टम्।"

अर्थात् नायिका के अंगों में से जिसकी दृष्टि पहले जिस अंग पर पड़ी, वहीं मग्न हो गई। दूसरे अंगों की ओर उसने दृष्टि उठाकर देखा तक नहीं। इस प्रकार कोई भी उस नायिका के सम्पूर्ण शरीर की शोभा को न देख सका।

यही स्थिति उपर्युक्त पद में गोपियों की है। उसकी दृष्टि केवल कृष्ण के मुख पर ही केन्द्रित होकर रह गई थी।

(२) 'यों भूली....दई' में दृष्टान्त अलंकार है।

राग केदारो

दधिसुत जात हौ वहि देस।
द्वारिका हैं स्यामसुन्दर सकल भुवन-नरेस॥
परम सीतल अमिय-तनु तुम कहियो यह उपदेस।
काज अपनो सारि, हमकों छाँड़ि रहे विदेस॥
नन्दनन्दन जगतबन्दन धरहु नटवर-भेस।
नाथ! कैसे अनाथ छाँड्यो कहियो सूर सँदेस॥२९०॥

शब्दार्थ—दधिसुत=चन्द्रमा, उदधि सुत। वहि=उसी। अमिय-तनु=अमृत से भरा शरीर। सारि=बनाकर, पूराकर।

भावार्थ—विरह से संतप्त गोपियाँ अपने विरहोन्माद में संसार में समान रूप से भ्रमण करने वाले चन्द्रमा द्वारा सुदूर द्वारिका-प्रवासी प्रियतम कृष्ण को सन्देश भेज रही हैं—

हे उदधि-सुत चन्द्रमा! तुम तो उस देश में जाते ही रहते हो। वहाँ द्वारिका नामक नगरी में सम्पूर्ण भुवनों के राजा (स्वामी) श्यामसुन्दर रहते हैं। तुम परम शीतल हो, तुम्हारा शरीर अमृतमय है। अतः तुम अपनी शीतल अमृतमयी वाणी

द्वारा कृष्ण को यह समझाना कि (उनका यह कार्य बड़ा अनुचित है कि) वे अपना काम निकाल कर अर्थात् हमारे साथ मन भर भोग-विलास कर हमको त्याग अब पर-देश में रहने लगे हैं। उनसे हमारा यह सन्देश भी कह देना कि हे नन्दनन्दन ! हे संसार द्वारा वन्दित ! तुम पुनः नटवर का वेश धारण करो। अर्थात् ब्रज लौटकर नटवर का वेश धारण कर पुनः हमारे साथ रासलीला रचाओ ! हे नाथ ! तुमने हमें अनाथ बनाकर ऐसे क्यों छोड़ रखा है? हे चन्द्रमा ! तुम हमारा यह सन्देश उनसे कह देना।

विशेष—'नाथ' शब्द साभिप्राय विशेष्य है, इसलिए यहाँ परिकरांकुर अलंकार है।

हमको सपनेहू में सोच।
जा दिन तें बिछुरे नन्दनन्दन, ता दिन तें यह पोच ॥
मनो गोपाल आए मेरे घर, हँसि करि भुजा गही।
कहा करौं बैरिनि भइ निंदिया, निमिष न और रही ॥
ज्यों चकई प्रतिबिम्ब देखिकै, आनन्दी पिय जानि।
सूर, पवन मिस निठुर बिधाता चपल कर्‌यो जल आनि ॥२९१॥

शब्दार्थ—सोच=चिन्ता। पोच=कायर, दुर्बल, भयभीत। निमिष=पल, क्षण। आनन्दी=आनन्दित होती है। मिस=बहाने से।

भावार्थ—गोपियाँ दिन-रात प्रियतम कृष्ण की ही चिन्ता में डूबी रहती हैं। उन्हें स्वप्न में भी क्षण भर के लिए कृष्ण के ही दर्शन होते हैं। अपनी इसी मानसिक अवस्था का वर्णन करती हुई वे कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! हमें तो स्वप्न में भी सदैव चिन्ता ही सताती रहती है। जिस दिन से नन्दनन्दन हमसे बिछुड़े हैं, उस दिन से हमारा यह मन बड़ा दुर्बल और भयभीत बना रहता है। जब रात को कृष्ण की याद करते-करते क्षण भर के लिए हमारी आँख लग जाती हैं तो हम यह स्वप्न देखने लगती हैं मानो गोपाल हमारे घर आए हैं और उन्होंने हँस कर हमारी भुजा पकड़ ली है। मगर हम क्या करें, वह सुख भी क्षणिक ही रहता है क्योंकि यह नींद हमारी बैरिन (दुश्मन) बन गई है। क्षणभर के लिए और हमें सोने नहीं देती। स्वप्न आरम्भ होते ही हमारी नींद टूट जाती है और वह सुखद स्वप्न भंग हो जाता है।

उस सुखद स्वप्न को देख क्षण भर के लिए हमें वैसा ही आनन्द प्राप्त होता है जैसे प्रिय-वियोग में कातर-व्यथित चकवी जल में पड़ते हुए अपने ही प्रतिबिम्ब को देख उसे अपना प्रियतम चकवा समझ क्षणभर के लिए आनन्दित हो उठती है। परन्तु निष्ठुर विधाता उसके क्षणिक सुख को भी सहन नहीं कर पाता और पवन के बहाने आकर जल में चंचल लहरें उत्पन्न कर चकवी के उस प्रतिबिम्ब को नष्ट कर देता है। इसी प्रकार हमारी बैरिन यह नींद तुरन्त खुलकर हमारे प्रियतम के साथ

उस क्षणिक मिलन के सुख को नष्ट कर देती है। और हम कृष्ण के विरह में और अधिक दुखी हो उठती हैं। इसी कारण स्वप्न में प्रियतम से मिलते समय यही चिन्ता सताती रहती है कि कहीं यह नींद टूटकर हमारे उस सुख को समाप्त न कर दे।

विशेष—(१) इसमें स्मृति संचारी भाव है। भावों के साथ अलंकारों का चमत्कार दृष्टव्य है।

(२) गोपियों की उस विरह-व्याकुल, विषम-अस्थिर मानसिक स्थिति का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है, जिसके कारण उन्हें गहरी नींद नहीं आ आती। जरा-सी झपकी लगती है, स्वप्न देखना प्रारम्भ करती हैं कि तुरन्त आँख खुल जाती हैं।

(३) चकवी के उदाहरण द्वारा स्वप्न भंग होने पर गोपियों को जो अमित मार्मिक व्यथा होती है, उसका कवि ने अत्यन्त हृदय-द्रावक चित्र अंकित किया है।

(४) 'ज्यों ......जानि' में दृष्टान्त; 'सूर ......आनि' में कैतवापह्नुति; तथा 'मनो...गही' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

राग मलार

जाहि री सखी ! सीख सुनि मेरी।
जहाँ बसत जदुनाथ जगतमनि बारक तहाँ आउ दै फेरी॥
तू कोकिला कुलीन कुसलमति, जानति बिथा बिरहिनी केरी।
उपबन बैठि बोलि मृदुबानी, बचन बिसाहि मोहिं करु चेरी॥
प्रानन के पलटे पाइय जस, सेंति बिसाहु सुजस की ढेरी।
नाहिंन कोउ और उपकारी, सब बिधि बसुधा हेरी॥
करियो प्रगट पुकार द्वार है, अबलन्ह आनि अनँग अरि घेरी।
ब्रज लै आउ सूर के प्रभु को, गावहिं कोकिल ! कीरति तेरी॥२६२॥

शब्दार्थ—जाहि=जाओ। फेरी=फेरा। केरी=की। बारक=एक बार। बिसाहि=मोल लेकर। चेरी=दासी। पलटै=बदले में, प्रतिदान में। सेंति=बिना मूल्य के। हेरी=देख लो। अबलन्ह=अबलाओं को। अनंग अरि=कामदेव रूपी शत्रु।

भावार्थ—गोपियाँ अपने विरहोन्माद में कोयल द्वारा कृष्ण के पास अपना सन्देश भेजती हुई उससे कह रही हैं कि—

हे सखि कोकिल ! तुम मेरी एक शिक्षा (यहाँ बात से अभिप्राय है) सुनकर उस देश को चली जाओ, जहाँ जगत में सर्वश्रेष्ठ यदुवंश के स्वामी कृष्ण रहते हैं। तुम वहाँ एक बार चक्कर लगा आओ। हे कोकिल ! तुम कुलीन और चतुर हो। तुम विरहिनी की व्यथा को जानती-समझती हो। तुम कृष्ण के देश पहुँच वहाँ उपवन में बैठकर मधुर स्वर के साथ कूकना। और इस प्रकार केवल अपने मीठे वचनों द्वारा ही मुझे मोल लेकर अपनी दासी बना लेना। अर्थात् तुम्हारा यह उपकार मान, मैं

जीवन भर तुम्हारी दासी बनी रहूँगी। साधारणतः इस संसार में प्राणों के बदले अर्थात् प्राण देने पर ही यश मिलता है, परन्तु तुम सेंत-मेंत (बिना कीमत दिए) में ही सुयश की ढेरी अर्थात् अमित यश खरीद लो। भाव यह है कि तुम्हारे मुख से हमारी विरह-वेदना का सन्देश सुन, कृष्ण द्रवित हो यहाँ लौट आयेंगे और इस प्रकार तुम्हें बिछुड़े हुओं को मिलाने का अक्षय यश मिलेगा। हमने सब तरह से इस सम्पूर्ण धरती पर ढूँढ़-खोज कर ली है; परन्तु तुम्हारे समान हमारे ऊपर ऐसा उपकार करने वाला दूसरा कोई भी नहीं मिल सका है। इसीलिए हम तुमसे प्रार्थना कर रही हैं।

तुम वहाँ कृष्ण के द्वार पर ऊँचे स्वर में यह दुहाई देना कि ब्रज में कामदेव-रूपी शत्रु ने अबलाओं को आकर घेर लिया है, उन्हें सता रहा है। हे कोकिल ! यदि तुम यह कहकर किसी तरह कृष्ण को यहा ब्रज में ले आओ तो हम सदैव तुम्हारा यशगान करती रहेंगी। हमें विश्वास है कि हमारे इस संकट का समाचार सुन हमारी रक्षा करने के लिए कृष्ण तुरन्त यहाँ दौड़े चले आयेंगे, क्योंकि वह भूतकाल में ऐसे संकटों से सदैव हमारी रक्षा करते रहे हैं।

विशेष—यहाँ गोपियाँ जायसी की नागमती के समान पक्षी द्वारा अपने प्रियतम तक अपनी विरह-व्यथा का सन्देश पहुँचाना चाह रही हैं। प्रियतम के पास अपनी विरह-व्यथा का सन्देश पहुँचाने की यह मार्मिक पद्धति हिन्दी के सम्पूर्ण-काव्य में कवियों द्वारा प्रायः अपनायी जाती रही है।

कोऊ, माई बरजै या चंदहि।
करत है कोप बहुत हम्ह ऊपर, कुमुदिनि करत अनंदहि।।
कहाँ कुहू, कहँ रवि अरु तमचुर, कहाँ बलाहक कारे ?
चलत न चपल, रहत रथ थकि करि, बिरहिनि के तन जारे।।
निंदित सैल, उदधि, पन्नग को, सापति कमठ कठोरहि।
देति असीस जरा देबी को, राहु केतु किन जोरहि ?
ज्यों जलहीन मीन-तन तफलत, त्योंहि तपत ब्रजबालहि।
सूरदास प्रभु बेगि मिलाबहु, मोहन मदन-गोपालहि।।२९३।।

शब्दार्थ—बरजै=रोके, मना करे। अनंदहि=आनन्दित, प्रसन्न। कुहू=अमावस्या की रात्रि। तमचुर=मुर्गा, ताम्रचूड़। बहालक=बादल। निंदति=निन्दा करती है। पन्नग=शेषनाग। सापति=शाप देती है। कमठ=कच्छप। जरा=एक राक्षसी, जिसने जरासन्ध के शरीर के दोनों खण्डों को जोड़ दिया था। जोरहि=जोड़ देती है।

भावार्थ—चाँदनी रात विरह को उद्दीप्त करने वाली होती है। इसीलिए राधा या कोई गोपी चन्द्रमा को कोसती हुई अपनी सखी से कह रही है कि—

हे सखि ! कोई इस चन्द्रमा को मना कर दे कि यह इस प्रकार हमें न सताए। यह हमारे ऊपर तो अत्यन्त कोप करता है और अपनी प्रियतमा कुमुदिनी को आनन्दित

करता है। (कुमुदिनी चन्द्रमा को देख खिल उठती है, इसलिए उसे चन्द्रमा की प्रेमिका माना गया है।) न जाने इस चन्द्रमा का सम्पूर्ण विनाश कर देने वाली अमावस्या की रात कहाँ है ? (अमावस्या की रात को चन्द्रोदय नहीं होता।) वे सूर्य और मुर्गा कहाँ हैं जो उदय होकर तथा बाँग देकर प्रभात को जन्म दे, इस चन्द्रमा को निष्प्रभ बना देते हैं ? वे काले बादल कहाँ हैं, जो इसे अपने भीतर छिपा लेते हैं। भाव यह है कि इन सबके आने से चन्द्रमा या तो छिप जाता है या निष्प्रभ (ज्योतिहीन) हो जाता है। इन सबके न रहने से यह चन्द्रमा ढीठ बन आगे नहीं बढ़ता और अपने रथ को रोककर थका हुआ-सा एक ही स्थान पर जमकर खड़ा हो जाता है। यह इस प्रकार हम विरहिनियों के शरीर को अपनी किरणों द्वारा जलाता रहता है। (विरहिनी को चाँदनी रात काटना भारी पड़ जाता है, इसलिए वह कल्पना करती है कि यह चन्द्रमा जान-बूझकर उन्हें जलाने के लिए जमकर खड़ा हो जाता है, आगे नहीं बढ़ता, इसलिए रात बीतने का नाम नहीं लेती।)

हम उस मन्दराचल पर्वत, समुद्र और शेषनाग की निन्दा करती हैं और उस कच्छप की उस कठोर पीठ को शाप देती हैं, क्योंकि देवताओं और असुरों ने इन्हीं सबकी सहायता से (शेषनाग की रस्सी से कच्छप की कठोर पीठ पर मन्दराचल की रई को रख समुद्र-मंथन कर) इस दुष्ट चन्द्रमा को जन्म दिया था। (चन्द्रमा समुद्र-मंथन के समय समुद्र में से निकला था।) इसके विपरीत, हम जरासन्ध के शरीर के दो टुकड़ों को जोड़ देने वाली उस जरा देवी को आशीष देती हैं। वह आकर राहु और केतु को पुनः जोड़ क्यों नहीं देती, जिससे वह आकर इस चन्द्रमा को खाकर समाप्त कर देता। जिस प्रकार मछली जल से बिछुड़कर छटपटाती रहती है, वैसे ही ये सम्पूर्ण ब्रजबालाएँ कृष्ण से बिछुड़कर उनके वियोग में तड़फड़ा रही हैं। इसलिए इनकी इस वेदना का शमन करने के लिए शीघ्र ही स्वामी मदन मोहन गोपाल कृष्ण को इनसे मिला दो।

विशेष—(१) 'राहु केतु किन जोरहिं'—देवताओं द्वारा समुद्र-मंथन से निकले अमृत का पान करते समय एक असुर भी चुपचाप देवताओं की पंक्ति में आ बैठा था। उसने अमृत का पहला घूँट भरा ही था कि चन्द्रमा ने उसे पहचान कर विष्णु को संकेत कर दिया था। विष्णु ने तुरन्त सुदर्शन-चक्र द्वारा उस असुर की गर्दन काटकर उसके दो टुकड़े कर दिए। वे ही दो टुकड़े राहु और केतु बने और चन्द्रमा से बदला लेने के लिए उसे प्रायः ग्रसते रहते हैं। परन्तु मुख और धड़ अलग-अलग होने के कारण उसे पचा नहीं पाते, इसलिए राहु उसे पुनः उगल देता है। गोपियाँ जरा देवी से, जो वस्तुतः एक राक्षसी है, यह प्रार्थना कर रही हैं कि वह राहु और केतु को जोड़ दे, जिससे वे इस चन्द्रमा को खा-पचा कर समाप्त कर दें। फिर यह गोपियों को दुःख नहीं दे सकेगा।

(२) इस पद में पौराणिक समुद्र-मंथन की घटना का वर्णन किया गया है।

(३) अतिशयोक्ति और उपमा अलंकारों का प्रयोग है।

राग केदारो

जो पै कोउ मधुबन लै जाय।
पतिया लिखी स्यामसुन्दर को, कर कंकन देउँ ताय।।
अब वह प्रीति कहाँ गई, माधव ! मिलते बेनु बजाय।
नयन-नीर सारंग-रिपु भींजै, दुख सों रैनि बिहाय।।
सून्य भवन मोंहि खरो डरावै, यह ऋतु मन न सुहाय।
सूरदास यह समौ गए तें, पुनि कह लैहैं आय ? ।।२९४।।

शब्दार्थ—पतिया=पत्र, चिट्ठी। ताय=ताहि, उसको। सारंग-रिपु=कमल का शत्रु चन्द्रमुख। बिहाय=बिताती है। खरो=बहुत। समौ=समय।

भावार्थ—विरह-व्यथित गोपियों को कोई ऐसा सन्देश-वाहक नहीं मिलता, जिसके द्वारा वे अपने पत्र को कृष्ण के पास पहुँचा सकें। पुरानी प्रीति का स्मरण कराती हुईं गोपियाँ अपनी इस विवशता का दुखड़ा रोती हुईं कह रही हैं कि—

यदि कोई कृष्ण के लिए लिखी हुई हमारी इस चिट्ठी को लेकर मथुरा चला जाय तो हम उसे अपने हाथ का कंगन दे देंगी। फिर गोपियाँ कृष्ण को सम्बोधन-सा कर कहती हैं कि हे माधव ! अब तुम्हारा हमारे प्रति वह प्रेम कहाँ विलीन हो गया, जब तुम मुरली बजाते हुए हमसे मिला करते थे। तुम्हारी याद में हमारे नेत्रों से सदैव आँसू बहते रहते हैं और नेत्रों के इस जल से कमल का शत्रु अर्थात् चन्द्रमा के समान सुन्दर हमारा यह चन्द्रमुख सदैव भीगता रहता है और अत्यन्त दुःख भोगते हुए हमारी रात बीतती है। तुम्हारे बिना यह भवन सूना लगता है और इसे देख-देख कर हम अत्यन्त भयभीत हो उठती हैं और यह ऋतु हमारे मन को अच्छी नहीं लगती। यदि यह समय हाथ से निकल गया, बीत गया तो तुम फिर यहाँ आकर क्या पा सकोगे ? अर्थात् तब तक हम तुम्हारी वियोग की वेदना न सहकर मर जायेंगी। उस समय यदि तुम यहाँ आए तो तुम्हें यहाँ क्या मिलेगा ?

विशेष—(१) 'यह ऋतु मन न सुहाय' में किसी ऋतु-विशेष के प्रति संकेत नहीं है। विरहिनी को सम्पूर्ण ऋतुएँ दुःखदायी होती हैं, इसी कारण प्राचीन कवियों ने विरहिनी के विरह-वर्णन का वर्णन 'बारहमासा' के रूप में किया है, जिसमें वर्ष के बारह महीने एक-एक कर विरहिनी को सताते रहते हैं। इसलिए यहाँ यह भाव ग्रहण किया जा सकता है कि प्रत्येक ऋतु गोपियों के लिए त्रास-दायक बन गई है।

(२) रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

राग मलार

हरि परदेस बहुत दिन लाए।
कारी घटा देखि बादर की, नैन नीर भरि आए।।

पा लागौं तुम्ह, बीर बटाऊ ! कौन देस तें धाए।
इतनी पतिया मेरी दीजौ, जहाँ स्यामघन छाए।।
दादुर मोर पपीहा बोलत, सोवत मदन जगाए।
सूरदास स्वामी जो बिछुरे, प्रीतम भए पराए।।२६५।।

शब्दार्थ—लाए=लगा दिए। बीर=भाई। धाए=आए हो। मदन=कामदेव।

भावार्थ—विरहोन्माद से ग्रसित गोपियाँ किसी पथिक द्वारा कृष्ण के पास अपना पत्र भेजने का प्रयत्न करती हुईं कह रहीं हैं कि—

कृष्ण ने परदेश में बहुत दिन लगा दिये, तभी तक लौटकर नहीं आए। आकाश में बादलों की काली घटा को घिरा हुआ देख हमारे नयनों में जल भर आया है, क्योंकि घनश्याम को देखकर हमें घनश्याम की याद सताने लगी है। फिर गोपियाँ किसी पथिक को सम्बोधित कर कहती हैं कि हे भइया पथिक ! तुम किस देश से आए हो ? हम तुम्हारे चरण छूती हैं। तुम हम पर इतनी कृपा करना कि हमारी इस चिट्ठी को जहाँ काले बादलों के समान रूप वाले कृष्ण रहते हैं, वहाँ ले जाकर उन्हें दे देना। उनसे हमारा यह सन्देश भी कह देना कि यहाँ व्रज में मेंढ़क, मोर और पपीहा शोर मचा-मचाकर सोते हुए कामदेव को जगा देते हैं। अर्थात् इनके स्वर सुन कर गोपियों को कामोद्दीपन होने लगता है। हमारे प्रियतम स्वामी कृष्ण एक बार हमसे क्या बिछुड़े कि हमेशा के लिए पराए बन गए। उन्होंने हमें पूरी तरह से भुलाकर हमसे सारे सम्बन्ध तोड़ दिए।

विशेष—(१) स्मृति संचारी भाव है।
(२) अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग किया गया है।

आजु घनस्याम की अनुहारि।
उनै आए साँवरे, ते सजनी ! देखि रूप की आरि।।
इंद्रधनुष मनो नवल बसन छबि, दामिनि दसन बिचारि।
जनु बगपाँति माल मोतिन की, चितवत हितहि निहार।।
गरजत गगन, गिरा, गोविंद की सुनत नयन भरे बारि।
सूरदास गुन सुमिरि स्याम के बिकल भई ब्रजनारि।।२६६।।

शब्दार्थ—अनुहारि=समान। उनै आए=उमड़ आए। आरि=अड़, मुद्रा। बसन=वस्त्र। दसन=दंतपंक्ति। बिचारि=समझ। बगपाँति=बगुलों की पंक्ति। गिरा=वाणी। वारि=जल।

भावार्थ—वर्षा ऋतु के उमड़ते हुए बादलों में विरह-व्यथित गोपियों को कृष्ण के रूप का सादृश्य दिखाई देता है। एक गोपी अपनी सखी से इसी सादृश्य का वर्णन करती हुई कह रही है कि—

हे सखि ! देखो, आज ये काले-काले बादल मानो साँवरिया कृष्ण का ही रूप धारण कर उमड़ते हुए चले आ रहे हैं। इनका रूप कृष्ण के रूप के ही समान है। इस रूप की इस छवि का दर्शन कर लो। बादलों पर खिला हुआ इन्द्रधनुष ही मानो कृष्ण के नये सुन्दर वस्त्र की छवि दे रहा है ओर बादलों के बीच चमकती हुई बिजली ही मानो कृष्ण की उज्ज्वल, सुन्दर दन्त-पंक्ति है। बादलों के ऊपर उमड़ती हुई सफेद बगुलों की पंक्ति ही मानो कृष्ण की ग्रीवा में पड़ी हुई मोतियों की माला है। और ये बादल हमें अपने ही रूप वाले कृष्ण की प्रियतमाएँ जान, हमारी ओर प्रेम भरी दृष्टि से देख रहे हैं। बादलों का गरजना ही मानो कृष्ण की मन्द-मधुर वाणी है जिसे सुनते ही हमारे नयनों में जल भर आता है।

सूरदास कहते हैं कि इस प्रकार बादलों के रूप में कृष्ण के रूप-सादृश्य का अनुमान कर सम्पूर्ण ब्रज-बालाएँ कृष्ण के गुणों का स्मरण कर व्याकुल हो उठीं।

विशेष—(१) प्रकृति के साथ सफल तादात्म्य की भावना है।

(२) सम्पूर्ण पद में स्मरण अलंकार तथा घनश्याम से रूपक बाँधने के कारण रूपक अलंकार है।

'इन्द्र धनुष.......विचारि' में उत्प्रेक्षा; तथा 'जनु ......बारि' में रूपक और 'गरजत.......बारि' में वृत्त्यानुप्रास अलंकार है।

राग केदारो

हर को तिलक, हरि ! चित को दहत।
कहियत है उडुराज अमृतमय, तजि सुभाव मोकों बह्नि बहत ॥
जपा न छीन होय, मेरी सजनी ! भूमि-डसन-रिपु काधौं बसत।
ससि नहिं गमन करै पच्छिम दिसि, राहु ग्रसत गहि मोकों न गहत ॥
ऐसोइ ध्यान धरत तुम, दधिसुत ! मुनि महेस जैसी रहनि रहत।
सूरदास प्रभु मोहन मूरति चितै जाति पै चित न सहत ॥२६७॥

शब्दार्थ—हर=महादेव। तिलक=शिरोभूषण चन्द्रमा। दहत=दग्ध करता है। उडुरोज=तारागणों का राजा। बह्नि=अग्नि। बहत=धारण करता है। छपा=रात। छीन=क्षीण, समाप्त। भूमि-डसन-रिसु=पृथ्वी पर सोने वालों का शत्रु साँप। मोकों=मुझे। गहत=ग्रसता, कष्ट देता।

भावार्थ—विरहिनी गोपियों को चन्द्रमा बहुत संतप्त करता रहता है। अमृतमय चन्द्रमा के इस विपरीत आचरण पर आक्षेप करती हुईं गोपियाँ कृष्ण से उसकी शिकायत कर रही हैं कि—

'हे हरि ! यह शिवजी का तिलक अर्थात् चन्द्रमा हमारे हृदय को दग्ध करता रहता है। इसके सम्बन्ध में कहा तो यह जाता है कि यह तारागणों का राजा और अमृत से परिपूर्ण होने के कारण सबको नवजीवन और शीतलता प्रदान करने वाला है, परन्तु हमारे लिए यह अपने उस स्वभाव को त्याग, अग्नि धारण करने वाला बन

गया है। अर्थात् चन्द्र-किरणें विरहिनी गोपियों को अग्नि के समान दग्ध करने वाली बन गई हैं। इसके उपरान्त गोपी अपनी सखी को सम्बोधित कर कहती है कि हे सखि ! यह रात समाप्त नहीं होती। अर्थात् वियोग में यह रात युगों के समान लम्बी हो गई है और वेदना से मेरे प्राण छटपटा रहे हैं। जमीन पर शयन करने वालों का शत्रु सर्प भी न जाने कहाँ रहता है। वह आकर मुझे डस लेता तो मुझे इस यन्त्रणा से मुक्ति मिल जाती। यह चन्द्रमा ऐसा दुष्ट और निर्दयी है कि पश्चिम दिशा की ओर बढ़ता ही नहीं; अर्थात् चन्द्रास्त नहीं होता। अच्छा होता कि राहु आकर इसे ग्रस लेता, जिससे यह फिर मुझे न ग्रस पाता, अर्थात् मुझे कष्ट न दे पाता।

इसके उपरान्त गोपी चन्द्रमा को सम्बोधित कर कहती है कि हे उदधिसुत चन्द्रमा ! तुमने तो इस समय निश्चल होकर ऐसी समाधि-सी लगा रखी है, जैसी मुनिगण और शिवजी लगाया करते हैं। भाव यह है कि चन्द्रमा अस्ताचल की ओर न बढ़ समाधिस्थ के समान एक ही स्थान पर अचल खड़ा हो, गोपियों को अपनी किरणों से दग्ध कर रहा है। हे चन्द्र ! तुम्हारी मूर्त्ति हमारे मोहन कृष्ण की मूर्त्ति जैसी ही मोहिनी है, इस कारण तुम्हारी ओर देखने की तो तबीयत होती है, परन्तु हमारा हृदय तुम्हारी ओर देखना सहन नहीं कर पाता। भाव यह है कि कृष्ण के हमारा हृदय तुम्हारी ओर देखना सहन नहीं कर पाता। भाव यह है कि कृष्ण के मुख की उपमा चन्द्रमा से दी जाती है, इसलिए गोपियाँ उसकी ओर देखना तो चाहती हैं, परन्तु उसे देख उन्हें कामोद्दीपन होने लगता है (चन्द्रमा कामोद्दीपक माना गया है), इसलिए विरहिनी गोपियाँ और अधिक व्याकुल हो उठती हैं। क्योंकि चन्द्रमा उनके हृदय में कृष्ण की स्मृति को अधिक तीव्र कर देता है, अतः गोपियाँ उसकी ओर देखना नहीं चाहतीं।

विशेष—(१) 'हर को तिलक' में रूपकातिशयोक्ति; 'कहियत·······अमृतमय' में विशेषोक्ति; 'ऐसोइ·······रहत' में परिकरांकुर; 'चितै·······न सहत' में विरोधाभास; 'मुनि·······रहत' में उपमा अलंकार है।

(२) 'हर को तिलक' तथा 'भूमि-डसन-रिपु' में दृष्टकूट शैली का प्रयोग किया गया है।

(३) सूर के ऐसे पदों में काव्य-चमत्कार तो मिलता है, परन्तु भाव-विभोर कर लेने की उदात्तता का अभाव रहता है।

(४) दृष्टकूट शैली के प्रयोग के कारण इस पद में क्लिष्टत्व दोष आ गया है।

ए सखि ! आजु की रैनि को दुख कह्यो न कछु मोपै परै।
मन राखन को बेनु, लियो कर, मृग थाके उडुपति न चरै॥
वाही प्राननाथ प्यारे बिनु, सिव-रिपु-बान नूतन जो जरै।
अति अकुलाय बिरहिनी ब्याकुल, भूमि-डसन-रिपु भख न करै॥
अति आतुर ह्वै सिंह लिख्यो कर जेहि भामिनि को करुन टरै।
सूरदास ससि को रथ चलि गयो, पाछे तें रबि उदय करै॥२६८॥

शब्दार्थ—मोपैं=मुझसे। मन राखन को=मन बहलाने को। बेनु=वीणा। उडुपति=चन्द्रमा। चरै=चलता है। वाही=उन्हीं। सिब-रिपु-बान=शिव के शत्रु कामदेव के वाण। जरै=जलाया, दग्ध किया। भूमि-डसन-रिपु=सर्प। लिख्यो=चित्र बनाया। भामिनि=यहाँ राधा से अभिप्राय है। करुन=दु:ख।

भावार्थ—राधा कृष्ण-विरह में बहुत व्यथित हो रही है। चाँदनी रात उसकी वेदना को और अधिक बढ़ा रही है। सखियों ने उसके दु:ख को दूर करने के अनेक प्रयत्न किए। इस पद में एक सखी अपनी दूसरी सखी से राधा की इसी विषम दशा का वर्णन करती हुई कह रही है कि—

हे सखि! आज रात को स्वामिनी राधा को जो कष्ट झेलना पड़ा, उसका मुझसे वर्णन नहीं किया जाता। हुआ यह कि राधा ने अपना मन बहलाने के लिए हाथ में वीणा धारण कर बजाना प्रारम्भ कर दिया। वीणा की उस मधुर झंकार को सुन चन्द्रमा के रथ में जुते हुए हिरन मोहित हो थके से एक ही स्थान पर अचल खड़े रह गए और चन्द्रमा का आगे बढ़ना अर्थात् ढलना रुक गया। यह देख उन प्राणनाथ प्रियतम कृष्ण के बिना शिव का शत्रु कामदेव नये-नये वाण मारकर राधा को और अधिक व्यथित करने लगा। अर्थात् चन्द्रमा को देख विरहिनी राधा कामोद्दीपन से व्याकुल हो और अधिक दु:खी होने लगी। वह विरहिनी अत्यन्त व्याकुल हो धरती पर लेट, छटपटाने लगी। उसे धरती पर पड़ा देखकर भी धरती पर सोने वालों का शत्रु (सर्प) वहाँ नहीं आया और उसे डसकर उसकी वेदना को दूर नहीं किया। अर्थात् यदि सर्प डसकर उसका प्राणान्त कर देता तो उसे इस भयंकर, असह्य, प्राणान्तक वेदना से मुक्ति मिल जाती। परन्तु सर्प भी उसे डसने नहीं आया और वह उसी तरह छटपटाती रही।

राधा की इस विषम दशा को देख मैंने अत्यन्त आतुर होकर तुरन्त सिंह का एक चित्र बनाया जिससे मेरी स्वामिनी का दु:ख दूर हो जाय। अर्थात् सिंह के चित्र को देख चन्द्रमा के रथ में जुते हिरन भयभीत हो भाग खड़े होते और चन्द्रमा अस्त हो जाता। और हुआ भी ऐसा ही। सिंह के उस चित्र को देखते ही चन्द्रमा का रथ आगे बढ़ गया और पीछे से सूर्य उदय हुआ। अर्थात् रात समाप्त हो गई।

विशेष—(१) इस पद में ऊहात्मक-पद्धति द्वारा राधा के विरह का चित्रण किया गया है। फिर भी इसकी भाव-व्यंजना बहुत ही सुन्दर है। जायसी ने भी 'पदमावत' में नागमती के विरह का वर्णन करते हुए बिल्कुल यही भाव और पद्धति अपनायी है। सम्भवत: यह पद्धति काव्य-परम्परा में बहुत प्राचीन काल से व्यवहृत होती चली आ रही थी। दोनों महाकवियों के वर्णन में इसी कारण इतनी अद्भुत समानता मिलती है। जायसी की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"गहै बीन मकु रैन बिहाई। ससि बाहन तहँ रहे ओनाई।
पुनि धनि सिंह डरैहै लागी। ऐसेहि बिथा रैन सब जागी।।"

(२) विषादन और सूक्ष्म अलंकारों का प्रयोग किया गया है। 'मन राखन···· चरै' में विषादन; तथा 'अति····करै' में सूक्ष्म अलंकार है।

राग मलार

देखौ माई ! नयनन्ह सों घन हारे ।
बिन ही ऋतु बरसत निसिबासर सवा सजल दोउ तारे ।।
ऊरध स्वास समीर तेज अति सुख अनेक द्रुम डारे ।
बदन सदन करि बसे बचन-खग ऋतु पावस के मारे ।।
ढरि-ढरि बूँद परत कंचुकि पर मिलि अंजन सों कारे ।
मानहुँ सिव की पर्नकुटी बिच धारा स्याम निनारे ।।
सुमिरि-सुमिरि गरजल निसिबासर अस्रु-सलिल के धारे ।
बूड़त ब्रजहि सूर को राखै, बिनु गिरिवरधर प्यारे ।।२६६।।

शब्दार्थ—निसिबासर=रात-दिन । सजल=जल से भरे । तारे=पुतलियाँ । ऊरध=ऊर्ध्व, ऊँची । डारे=गिरा दिए । बदन=मुख । सदन=घर । बचन-खग= बचन रूप पक्षी । कंचुकि=चोली । पुर्नकुटी=पत्तों की बनी कुटिया, पर्णकुटी । निनारे=न्यारे, अलग-अलग । धारे=धाराएँ । बूड़त=डूबते हुए । राखै=बचाए ।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण-विरह में रात-दिन आँसू बहाती रहती हैं । बादल तो केवल वर्षा ऋतु में ही जल बरसाते रहते हैं, परन्तु गोपियों की आँखें बारह महीने रोती रहती हैं । इसलिए कोई गोपी अपनी अश्रु-वर्षा की बादलों की वर्षा से तुलना करती हुई अपनी सखी से कह रही है कि—

हे सखि ! देखो, हमारे इन नयनों से बादल भी हार मान गए हैं । क्योंकि बादल तो केवल वर्षा ऋतु में ही जल बरसाते हैं, परन्तु हमारे ये नयन तो बिना ही ऋतु के अर्थात् हमेशा दिन-रात आँसुओं रूपी जल बरसाते रहते हैं और उनकी दोनों पुतलियाँ सदैव जल में डूबी रहती हैं । हमारी ऊँची-ऊँची चलने वाली साँसें ही मानो वर्षा ऋतु में चलने वाला तूफान है, जिसने हमारे सुख-रूपी अनेक वृक्षों को जड़ से उखाड़ नष्ट कर डाला है । अर्थात् हमारा सारा सुख नष्ट हो गया है । हमारे नयनों से होने वाली इस वर्षा के भय के कारण हमारे वचन रूपी पक्षी हमारे मुख को अपना घर बना उसी में छिपे बैठे रहते हैं, बाहर नहीं निकलते । अर्थात् विरह के आधिक्य के कारण हम मौन बनी बैठी रहती हैं, मुँह से कुछ कहा नहीं जाता ।

हमारे नयनों में लगा हुआ काजल आँसुओं के साथ बह-बहकर हमारी चोली को काला कर देता है । काजल मिला यह काला जल ही मानो वर्षा ऋतु में चारों ओर छाई-कीचड़ के समान है । हमारे नयनों से झरते हुए आँसू हमारे उन्नत-पुष्ट दोनों उरोजों पर इस प्रकार गिर रहे हैं मानो किसी पर्णकुटी के बीच में स्थापित दो शिव-लिंगों पर वर्षा-जल की दो धाराएँ अलग-अलग होकर गिर रही हों । बार-बार कृष्ण की याद कर आँसुओं की धारा रात-दिन उसी प्रकार प्रवाहित होती रहती है, मानो बादल बारम्बार गरजते हुए मूसलाधार वर्षा कर रहे हों । भाव यह है कि कृष्ण को

याद कर-कर गोपियों का हृदय और अधिक उद्वेलित हो उठता है, जिससे आँसुओं का प्रवाह और अधिक सघन और तीव्र हो जाता है। गोपियाँ कहती हैं कि हमारे इन आसुओं की बाढ़ में डूबते हुए व्रज को गोवर्द्धन को धारण करने वाले प्यारे कृष्ण के बिना और कौन बचा सकता है ? अर्थात् जिस प्रकार इन्द्र के कोप से गोवर्द्धन को अपना छोटी उँगली पर धारण कर कृष्ण ने उस समय व्रज की रक्षा की थी, वही कृष्ण इस बाढ़ से भी व्रज को डूबने से बचा सकते हैं। भाव यह है कि यदि कृष्ण व्रज में लौट आयेंगे तो गोपियों का विरह शान्त हो जायगा। और विरह शान्त हो जाने पर आँसुओं की यह वर्षा भी बन्द हो जायगी। इस प्रकार व्रज डूबने से बच जायगा।

विशेष—(१) इस पद में गोपियों की अश्रु-वर्षा के साथ वर्षा-ऋतु का रूपक बाँधा गया है। यह रूपक हिन्दी के उत्कृष्ट रूपकों में माना जाता है।

(२) अन्तिम पंक्ति में 'गिरिवरधर' शब्द का अत्यन्त सार्थक प्रयोग कर व्रज पर इन्द्र के कोप और उस कोप से कृष्ण द्वारा व्रज की रक्षा किये जाने वाले प्रसंग की ओर संकेत किया गया है।

(३) 'नयनन्ह····हारे' में रूपक; 'बिन ही····तारे' में व्यतिरेक; 'उद्धव···· निनारे' में श्लेष से पुष्ट सांगरूपक; 'मानहु····निनारे' में उत्प्रेक्षा; 'ढुरि-ढुरि' में पुनरुक्तिप्रकाश तथा 'गिरिवरधर' में परिकरांकुर अलंकार है।

(४) भाव-सौन्दर्य और कला-सौन्दर्य—दोनों ही दृष्टियों से यह पद अत्यन्त प्रभावपूर्ण बन पड़ा है।

जौ तू नेक हू उड़ि जाहि।
बिबिध बचन सुनाय बानी, यहाँ रिझबत काहि॥
पतित मुख पिक परुष पसु लौं, कहा इतो रिसाहि।
नाहिंनै कोउ सुनत समुझत, बिकल बिरहिनि थाहि॥
राखि लेबी अवधि लौं तनु, मदन ! मुख जनि खाहि।
तहूँ तौ तन-दगध देख्यो, बहुरि का समुझाहि॥
नंदनंदन को बिरह अति, कहत बनत न ताहि।
सूर प्रभु ब्रजनाथ बिनु लै, मौन मोहि बिसाहि॥३००॥

शब्दार्थ—नेक हू=तनिक भी। रिझवत=रिझाती है। काहि=किसे। पतित मुख=नीचा मुख किए। परुष=कठोर, मरखना। लौं=समान। इतो रिसाहि=इतना क्रोध करती है। थाहि=थाह लेना। राखि लेबी=रख लेने दे। लौं=तक। जनि=मत। तहूँ=तूने भी। बहुरि=दुबारा, फिर। बिसाहि= खरीद ले।

भावार्थ—विरहोन्मादित गोपियाँ कोकिल और कामदेव से उन्हें न सताने की प्रार्थना करती हुई कह रही हैं कि—

हे कोकिल ! यदि तू थोड़ी-सी देर के लिए यहाँ से उड़कर कहीं दूसरी जगह चली जाय तो हम तेरा बहुत उपकार मानेंगी। तू तरह-तरह के गीत सुनाकर यहाँ किसे रिझाने का प्रयत्न कर रही है ? अर्थात् हम विरहिनियों को तेरी यह बोली अच्छी नहीं लगती क्योंकि इससे हमारी विरह-वेदना और अधिक तीव्र हो जाती है। (कोकिल की कूक काम को उद्दीप्त करने वाली मानी जाती है।) तू मरखने क्रूर पशु के समान नीचा मुख किए हम पर इतना क्रोध क्यों कर रही है ? (मरखना पशु आक्रमण करते समय मुख नीचा कर लेता है।) हम विरहनियों की व्याकुलता की थाह पाना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है। हमारी इस व्याकुलता को कोई भी न तो सुनता ही है, और न समझ ही सकता है। अर्थात् हमारी इस वेदना-जनित व्याकुलता को वही समझ सकता है, जिसने स्वयं इस विरह-वेदना का अनुभव किया हो। तुझ जैसा मूर्ख और कठोर स्वभाव वाला पशु इसे नहीं समझ सकता।

इसके उपरान्त गोपियाँ उन्हें सदैव त्रास देते रहने वाले कामदेव को सम्बोधन कर उससे कहती हैं कि हे कामदेव ! तू कृष्ण के आने की अवधि तक हमें अपने इस शरीर की रक्षा कर लेने दे। अपने मुख से हमारा भक्षण मत कर। अर्थात् हमारे शरीर में कामोद्दीपन कर उसे अभी नष्ट मत कर। एक बार अवधि समाप्त हो जाने पर कृष्ण से मिल लेने दे। शरीर के दग्ध होने पर कितना भयानक कष्ट होता है, इसे तूने स्वयं दग्ध होकर देख लिया है, फिर तुझे दुबारा क्या समझाएँ ? (यहाँ गोपियाँ कामोद्दीपन से होने वाले शारीरिक कष्ट के प्रति संकेत करती हुई कामदेव को शिव द्वारा जलाये जाने वाले प्रसंग की याद दिला रही हैं।)

नन्दनन्दन कृष्ण का विरह इतना संतप्तकारी और भयानक है कि हमसे उसकी व्यथा का वर्णन करते नहीं बनता अर्थात् वह अवर्णनीय है। इस समय कृष्ण यहाँ नहीं हैं, इसलिए हे कोकिल ! तू मौन रहकर हमें खरीद ले। अर्थात् यदि तू मौन रहेगी तो हम तेरा उपकार मान तेरी बिना मोल की दासी बन जायेंगी। यहाँ गोपियाँ पुनः कोकिल को सम्बोधन कर उससे मौन हो जाने की प्रार्थना कर रही हैं, क्योंकि उसकी कूक उनके शरीर में काम का संचार करती है और कामदेव उन्हें प्राणान्तक कष्ट दे रहा है। इसलिए कोकिल ही मौन रहकर उनकी रक्षा कर सकती है।

विशेष—(१) कोकिल और कामदेव के माध्यम से॰ गोपियाँ अपनी असीम विरह-वेदना की सून्दर, मार्मिक और प्रभावशाली व्यंजना कर रही हैं।

(२) 'तहूँ तो तन-दगध देख्यो' में उस पौराणिक कथा की ओर संकेत किया गया है जिसके अनुसार सती की मृत्यु के उपरान्त उनके विरह में समाधिस्थ शिव की तपस्या भंग करने के लिए कामदेव उनके पास गया था। उसके प्रभाव से शिव की समाधि खंडित हो गई थी और उन्होंने क्रोध में भर सामने खड़े कामदेव को अपना तीसरा नेत्र खोल भस्म कर डाला था। बाद में कामदेव की पत्नी रति द्वारा विलाप और प्रार्थना किए जाने पर द्रवित हो, उसे पुनः जीवित तो कर दिया था परन्तु अनंग

(शरीर-हीन) रूप में ही उसे जीवित रहने का वरदान दिया था। तभी से कामदेव अनंग कहलाने लगा।

(३) सम्पूर्ण पद में अतिशयोक्ति अलंकार है।

राग सारंग

मधुकर ! जोग न होत सँदेसन।
नाहिन कोउ ब्रज में या सुनिहै, कोटि जतन उपदेसन।।
रबि के उदय मिलन चकई को, संध्या-समय अँदेस न।
क्यों बन बसैं बापुरे चातक, बधिकन्ह काज बधे सन।।
नगर एक नायक बिनु सूनो, नाहिंन काज सबै सन।
सूर सुभाय मिटत क्यों कारे, जिहि कुल रीति डसै सन।।३०१।।

शब्दार्थ—उपदेसन=उपदेश देने से। अंदेस=सन्देह, अन्देशा। बापुरे=बेचारे। बधे सन=वध करने से ही। सबै सन=सबसे। डसै सन=डसने से ही।

भावार्थ—गोपियों को पूरी आशा है कि कृष्ण का उनसे मिलन अवश्य होगा। इसीलिए ये उद्धव के योग-उपदेश की अवहेलना करती हुई भ्रमर के माध्यम द्वारा उनसे कह रही हैं कि—

हे मधुकर ! केवल सन्देशों द्वारा योग-साधना नहीं सिखायी जा सकती। चाहे तुम करोड़ों प्रकार के प्रयत्न कर अपने योग का उपदेश दो, परन्तु यहाँ ब्रज में तुम्हारे इन उपदेशों को कोई भी नहीं सुनेगा। कारण यह है कि तुम हमें कृष्ण को भुला निर्गुण ब्रह्म की साधना करने का उपदेश दे रहे हो, परन्तु हम उन्हें कैसे भूल जायें ? क्योंकि हमें उनके यहाँ लौट आने का पूरा विश्वास है। सन्ध्या समय जब चकवी अपने चकवा से बिछुड़ जाती है, तो उस समय उसे इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि सूर्योदय होने पर चकवा से उसका पुनः मिलन होगा। उन दोनों का मिलन अवश्यम्भावी होता है। इसी प्रकार हमें कृष्ण से पुनर्मिलन की पूरी आशा है। बेचारे चातक वन में बस आर्त्त-स्वर में दिन-रात अपने प्रियतम बादल को पुकारते रहते हैं, परन्तु बहेलिए उनकी इस वेदना को अनुभव न कर उन्हें मार डालते हैं। बहेलिए का उद्देश्य केवल उनका वध करना ही रहता है। इसी प्रकार हे उद्धव ! तुम भी हमारी विरह-वेदना का अनुभव न कर हमें बराबर योग का उपदेश दे, हमारा वध करने का उपक्रम कर रहे हो। तुम्हारा उद्देश्य यही है कि किसी प्रकार हम तुम्हारी बात स्वीकार कर लें। उसे स्वीकार कर लेने से हम जीवित रहेंगी या मर जायेंगी, इससे तुम्हें कोई मतलब ही नहीं।

एक नायक कृष्ण के बिना यह ब्रज रूपी सारा नगर सूना हो गया है। हमें तो केवल अपने नायक कृष्ण से ही मतलब है। यहाँ रहने वाले अन्य लोगों से हमें कोई काम नहीं है, उनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु यह जानते हुए भी तुम

अपनी बातों द्वारा हमें बराबर कष्ट पहुँचाए चले जा रहे हो। वस्तुतः इसमें दोष तुम्हारा नहीं है। जिसका जैसा स्वभाव बन जाता है, वह सदैव वैसा ही आचरण करता है। स्वभाव को बदला नहीं जा सकता। जिस प्रकार काले नाग का स्वभाव सदैव दूसरों को डसना ही है, इसलिए वह अवसर मिलते ही डस लेता है। तुम भी काले हो, इसलिए काले रंग वालों के स्वभाव के अनुसार ही हमें प्रणान्तक पीड़ा दे रहे हो।

विशेष—अन्योक्ति अलंकार है।

यहि डर बहुरि न गोकुल आए।
सुनि री सखी ! हमारी करनी, समुझि मधुपुरी छाए।।
अधरातिक तें उठि बालक, सब मोहिं जगैहैं आय।
बिनु पदत्रान बहुरि पठवैंगी, बनहिं चरावन गाय।।
सूनो भवन आनि रोकैंगी, चोरत दधि नवनीत।
पकरि जसोदा पै लै जैहैं, नाचति गावति गीत।।
ग्वालिनि मोहि बहुरि बाँधैंगीं, केते बचन लगाय।
एते दुःखन सुमिरि सूर मन, बहुरि सहै को जाय।।३०२।।

शब्दार्थ—मधुपुरी=मथुरा। छाए=बस गए हैं। अधरातिक=आधी रात। पदत्रान=जूता। नवनीत=मक्खन। केते=कितने ही, तरह-तरह के। एते=इतने। बहुरि=फिर। जाय=जाकर।

भावार्थ—गोपियों को यह सन्देह है कि जब कृष्ण यहाँ रहते थे, तब गोपियों ने उन्हें बहुत कष्ट दिए थे, इसी भय के कारण अब कृष्ण यहाँ नहीं आना चाहते। एक गोपी अपने इसी सन्देह को व्यक्त करती हुई दूसरी गोपी से कह रही है कि—

हे सखि ! सुन, प्रियतम कृष्ण इसी भय के कारण फिर लौटकर गोकुल नहीं आए और हमारी उन करतूतों को समझकर ही मथुरा में बस गए हैं। उन्हें यह भय है कि आधी रात को ही दूसरे बालक (ग्वाल-बाल) इकट्ठे होकर आ जाया करेंगे और मुझे जगा दिया करेंगे। और फिर सारी गोपियाँ मुझे बिना जूता पहने नंगे पैर ही वन में गायें चराने के लिए भेज दिया करेंगी। और जब मैं किसी के सूने घर में घुसकर दही-मक्खन चुराऊँगा, तो वे मुझे ऐसा करने से रोक देंगी, दही-मक्खन नहीं चुराने देंगी। और फिर मुझे पकड़ प्रसन्नता से नाचती और गाती हुई यशोदा मैया के पास ले जायेंगी। वहाँ जाकर मैया से तरह-तरह की झूठी बातें बना मेरी शिकायत करेंगी और फिर रस्सी से बँधवा देंगी। कृष्ण इन्हीं दुःखों का मन-ही-मन स्मरण कर यह सोचते हैं कि फिर गोकुल जाकर इन दुःखों को कौन सहे ! इसलिए वहाँ न जाना ही अच्छा है।

विशेष—इस पद में गोपियों की पूर्व घटनाओं की स्मृति द्वारा पश्चात्ताप और

अप्रत्यक्ष व्यंग्य का कलात्मक चित्रण किया गया है। अपनी सहज-सरल अभिव्यक्ति के कारण इस पद का प्रभाव मार्मिक और सघन हो उठा है। सूर ऐसे सरल पदों में गहन भावों की व्यंजना करने में अत्यन्त कुशल हैं। इनकी सरलता और सहज-अभिव्यक्ति ही इनका प्रधान गुण और आकर्षण है।

अब या तनहि राखि का कीजै ?
सुनि री सखी ! स्यामसुंदर बिन, बाटि बिषम विष पीजै ॥
कै गिरिए गिर चढिकै सजनी, कै स्वकर सीस सिव दीजै ।
कै दहिए दारुन दावानल, कै तो जाय जमुन धँसि लीजै ॥
दुसह वियोग विरह माधव के, कौन दिनहिं दिन छीजै ?
सूरदास प्रीतम बिन राधे, सोचि-सोचि मन-ही-मन खीजै ॥३०३॥

शब्दार्थ—राखि=रख कर। बाटि=पीस कर, घिस कर। विषम=भयंकर। गिर=पर्वत। स्वकर=अपने हाथ से। छीजै=क्षीण होता रहे।

भावार्थ—राधा को कृष्ण का विरह असह्य हो उठा है। इसीलिए वह आत्मघात कर इस कष्ट से मुक्ति पाने की विभिन्न तरकीबें सोचती हुई अपनी सखी से कह रही है कि—

हे सखि ! अब मैं अपने शरीर की रक्षा क्यों और किसलिए करूँ ? श्यामसुन्दर कृष्ण से बिछुड़ कर अब तो यह मन करता है कि भयंकर विष को पीसकर पी लूँ। या हे सखि ! किसी पर्वत की चोटी पर चढ़ वहाँ से नीचे कूद पड़ूँ या अपने हाथ से अपना सिर काट शिवजी पर चढ़ा दूँ। (रावण ने शिव पर अपने शीश चढ़ा उसने वरदान प्राप्त किया था, सम्भव है राधा द्वारा ऐसा करने पर शिव उसे भी कृष्ण-मिलन का वरदान दे दें।) या भयंकर दावाग्नि में चलकर अपने शरीर को नष्ट कर दूँ, या जमुना में डूबकर मर जाऊँ।

मुझसे अब कृष्ण का या विरह और अधिक नहीं सहा जाता। जब कृष्ण का यहाँ लौटकर आने का इरादा ही नहीं है तो फिर उनकी इस असह्य विरह-वेदना को सह, कौन अपने शरीर को दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक क्षीण बनाता रहे। इससे तो यही अच्छा है कि एक बार ही इस शरीर का नाश कर, असह्य वेदना से मुक्ति पा ली जाय। कौन तिल-तिलकर इसमें जलता रहे। सूरदास कहते हैं कि अपने प्रियतम कृष्ण के विना राधा मन-ही-मन इन बातों को सोचती हुई खीझती रहती है।

विशेष—राधा की विरह-दग्ध आकुल मानसिक दशा का मार्मिक चित्रण हुआ है।

राग धनाश्री

मेरो मन मथुराइ रह्यो ।
गयो जो तन तें बहुरि न आयो, लै गोपाल गह्यो ॥

इन नयनन को भेद न पायो, केइ भेदिया कह्यो।
राख्यो रूप चोरि चित-अंतर, सोइ हरि सोध लह्यो ।।
आए बोलत ता बिन ऊधो 'मनि दै लेहु मह्यो'।
निर्गुन साँटि गोबिंदहि माँगत, क्यों दुख जात सह्यो ।।
जेहि आधार आजु लौं यह तन, ऐसे ही निबह्यो'।
सोइ छिड़ाय लेत सुनु सूरज, चाहत हृदय दह्यो ।।३०४।।

शब्दार्थ—मथुराइ=मथुरा में ही। केइ भेदिया=किसी भेदिये ने। अंतर=भीतर। सोध=पता लगा लिया। मह्यो=मट्ठा, छाछ। साँटि=बदले में। छिड़ाय=छीनना।

भावार्थ—गोपियों का मन कृष्ण में अनुरक्त हो मथुरा में उनके पास ही रहता है। क्यों रहता है, इसका स्पष्टीकरण करती हुई वे कह रही हैं कि—

हमारा मन तो मथुरा में ही अर्थात् वहीं कृष्ण के पास रहता है। वह एक बार जो हमारे शरीर से निकल कृष्ण के साथ मथुरा चला गया तो फिर लौट कर नहीं आया, क्योंकि कृष्ण ने उसे पकड़कर अपने पास रख छोड़ा है। कृष्ण हमारे इन नयनों का भेद नहीं पा सके, परन्तु हमें ऐसा लगता है किसी भेदिए ने कृष्ण के पास जा यह भेद प्रकट कर दिया है कि हमारे इन नयनों ने उनके रूप को चुरा अपने हृदय के भीतर छिपा कर रख लिया है। कृष्ण को इसी भेद का पता लग गया है, इसी कारण उन्होंने अपने रूप के बदले में हमारे मन को वहीं बाँध बन्धक के रूप में अपने पास रख लिया है। भाव यह है कि गोपियाँ अपने हृदय में निरन्तर कृष्ण के रूप का ध्यान करती रहती हैं और उनका मन सदैव कृष्ण के ध्यान में ही लीन रहता है।

और यह उद्धव हमारे उस मन को अपने साथ लाये बिना ही यहाँ यह कहते हुए आ धमके हैं कि 'मणि के बदले में छाछ ले लो।' अर्थात् मणि के समान अमूल्य कृष्ण को देकर बदले में छाछ के समान निस्सार, तत्त्वहीन निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लो। यह अपने निर्गुण के बदले में हमसे हमारे कृष्ण को माँगते हैं। इनकी इन कठोर बातों से उत्पन्न दुःख को कैसे सहन किया जाय ? अर्थात् यह सर्वथा असम्भव है कि हम इनकी इन बातों को स्वीकार कर लें, जिसके; अर्थात् कृष्ण के सहारे (उनके आने की आशा के सहारे) हम अब तक अपने इस शरीर का निर्वाह करती आई हैं, इसे जीवित रखे रही हैं, अब यह उद्धव हमारे उसी सहारे को हमसे छीन ले रहे हैं और ऐसी बातें कह-कहकर हमारे हृदय को जला रहे हैं।

विशेष—'आए……सह्यो' में विनिमय; 'मनि' में रूपकातिशयोक्ति; तथा 'सोई…दह्यो' में अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

राग सारंग

लोग सब देत सुहाई बातें।
कहतहि सुगम करत नहिं आवै, बोलि न आवत तातैं।।
पहिले आगि सुनत चंदन सो, सती बहुत उमहै।
समाचार ताते अरु सीरे, पीछे कौन कहै।।
कहत सब संग्राम सुगम अति कुसुमलता करवार।
सूरदास सिर दिए सूरमा, पाछे कौन विचार? ।।३०५।।

शब्दार्थ--सुहाई=अच्छी लगने वाली, सुहावनी। उमहै=उमंगति होती है। ताते=गर्म। सीरे=ठंडे। करवार=तलवार। सूरमा=योद्धा।

भावार्थ—उद्धव द्वारा योग-साधना का उपदेश सुन, गोपियाँ कहती हैं कि किसी बात को कहने और करने में बहुत बड़ा अन्तर होता है। कहने में सुगम लगते वाली बात करने में भी सुगम ही होगी, इसका क्या विश्वास! इसी को स्पष्ट करती हुई गोपियाँ कह रही हैं कि—

लोग सब मन को प्रिय लगने वाली चिकनी-चुपड़ी बातें करते हैं। ऐसा करने में उन्हें कोई भी कष्ट नहीं होता। कोई भी बात कहने में तो सरल और आसान होती है परन्तु जब उस पर अमल किया जाता है तो इतना कष्ट होता है कि मुँह से आवाज तक नहीं निकलती। अपनी इस बात को सती के उदाहरण द्वारा स्पष्ट करती हुई गोपियाँ आगे कहती हैं कि सती पहले यह सुनकर कि सती के लिए अग्नि चन्दन के समान शीतल बन जाती है, सती होने के लिए उमंगित हो उठती है। परन्तु जब वह चिता की अग्नि में जलकर भस्म हो जाती है तो यह समाचार कौन सुनाये कि अग्नि उसे शीतल लगी थी या पीड़ा पहुँचाने वाली दाहक प्रतीत हुई थी? क्योंकि मर जाने के बाद वह सती तो अपने अनुभव को सुनाने से रही! इस प्रकार सब लोग यह कहते हैं कि युद्ध करना बड़ा आसान है; युद्ध में तलवार फूलों की लता के समान कोमल और सुखद प्रतीत होती है। परन्तु युद्ध में जब योद्धा का सिर कट जाता है, वह मारा जाता है तो फिर बाद में इस बात का निर्णय कौन करे कि तलवार पुष्प-लता के समान सुखद और कोमल लगी थी या मृत्यु की भयंकर यंत्रणा देने वाली?

भाव यह है कि उद्धव की यह योग-साधना भी कहने-सुनने में बड़ी सरल और सुखद प्रतीत होती है, परन्तु करने में भी ऐसी ही होगी, इसका विश्वास कौन कराये? जब कृष्ण को भूल निर्गुण-ब्रह्म की प्राप्ति के लिए योग-साधना करते-करते गोपियों का प्राणान्त हो जायगा तो फिर उन्हें यह कैसे मालूम होगा कि यह अच्छी थी या बुरी। इसीलिए गोपियाँ उद्धव की बात को स्वीकार कर योग-साधना नहीं करना चाहतीं।

विशेष—(१) अन्योक्ति अलङ्कार है।

(२) किसी कवि ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा है कि—

"गई पूतरी नोन की, थाह सिंधू की लैन।
पैठत ही घूलि मिल गई, पलट कहै को बैन॥"

(३) सती और सूरमा का द्रष्टान्त देकर गोपियाँ इस प्राचीन परम्परागत मान्यता का खंडन कर रही हैं कि सती को चिता की अग्नि शीतल लगती है और योद्धा को युद्ध में प्राण देने पर आसानी से स्वर्ग मिल जाता है।

राग गौरी

बिछुरत श्री ब्रजराज आज सखि! नैननि की परतीति गई।
उड़ि न मिले हरि संग बिहंगम, ह्वै न गए घनस्याम-मई॥
यातें क्रूर कुटिल सह मेचक, बृथा मीन छबि छीनि लई।
रूप-रसिक लालची कहावत, सो करनी कछु तौं न भई॥
अब काहे सोचत जल मोचत, समय गए नित सूल नई।
सूरदास याही तें जड़ भए, जब तें पलकन दगा दई॥३०६॥

शब्दार्थ—परतीति=प्रतीति, विश्वास। बिहंगम=पक्षी, खंजन। मेचक=कालापन लिए। सह=सहित। भई=हुआ। काह=किसलिए। मोचत=गिरते हैं। सूल=पीडा, दुःख।

भावार्थ—गोपियों के नेत्रों ने ही कृष्ण-रूप के दर्शन करा, गोपियों को उनके प्रेम-जाल में उलझा दिया था। गोपियों को इस कारण इन पर बहुत विश्वास था। परन्तु अब कृष्ण से बिछुड़कर भी वे नेत्र अपने ही स्थान पर स्थित हैं। इसलिए गोपियों को इनकी दृढ़ता और एकनिष्ठता पर अब विश्वास नहीं रहा है। वे इसी बात को स्पष्ट करती हुई आपस में कह रही हैं कि—

हमें अपने इन नेत्रों पर अगाध विश्वास था कि ये कृष्ण से सच्चा प्रेम करते हैं, परन्तु ब्रजराज कृष्ण के बिछुड़ते ही अब हमें इनका विश्वास नहीं रहा है। लोग व्यर्थ ही उनकी उपमा खंजन पक्षी से देते हैं, क्योंकि यदि ये खंजन होते तो कृष्ण के यहाँ से चलते समय उड़ कर उनके साथ क्यों नहीं जा मिले और उनके साथ मिल कर घनश्याममय (कृष्णमय) क्यों न हो गए? इसलिए ये अत्यन्त क्रूर, कुटिल और साथ ही मन के काले अर्थात् विश्वासघाती हैं। इन्होंने मीन (मछली) की छवि को वृथा ही छीन लिया है; अर्थात् लोग व्यर्थ ही इन्हें मछली के समान सुन्दर कहते हैं। परन्तु मछली की-सी दृढ़ एकान्त प्रेमनिष्ठा का इनमें नाम-निशान तक नहीं है। मछली अपने प्रियतम जल से विमुक्त हो जाने पर उसके विरह में तड़प-तड़प कर अपने प्राण दे देती है, परन्तु ये तो जैसे के तैसे विद्यमान हैं। इसके साथ ही इन्हें रूप का रसिक और लालची भी कहा जाता है, परन्तु इन्होंने अपने एक भी कार्य द्वारा अपने इन गुणों में से एक को भी सत्य प्रमाणित नहीं किया है। यदि ये रूप-रसिक और लालची होते तो रूप-निधि कृष्ण के पीछे भागे चले जाते, परन्तु नहीं गए। इसलिए इनकी यह उपमा भी व्यर्थ है।

अब ये किसलिए इतना सोच करते हैं और दिनरात आँसू बहाते रहते हैं ? ये समय पर क्यों नहीं चेते, अर्थात् उसी समय कृष्ण के साथ क्यों नहीं चले गये या मछली के समान क्यों प्राण नहीं त्याग दिए ? अब तो समय हाथ से निकल चुका है, इसलिए हर समय नई-नई यातनाएँ सहन करनी पड़ेंगी। इनके इन विश्वाघाती रूप को देख, पलक भी इनका साथ छोड़ गए हैं, इसलिए ये तब से ही जड़ हो गए हैं। भाव यह है कि नेत्र कृष्ण की प्रतीक्षा में बिना पलक झपकाए टकटकी बाँधे, स्थिर बने रहते हैं।

विशेष—(१) इस पद में सूर ने अत्यन्त कला-नैपुण्य के साथ गोपियों के कृष्ण की प्रतीक्षा में टकटकी बाँधे स्थिर नेत्रों का बड़ा हृदयग्राही चित्र प्रस्तुत किया है। और इस चित्र द्वारा गोपियों की अतिशय विरह-व्यथा का साकार रूप-सा उपस्थित कर दिया है। गोपियों के नेत्र अपना स्वभाव—चंचलता त्याग जड़ बन गए हैं।

(२) सम्पूर्ण पद में सांगरूपक अलंकार है। कुछ आलोचक हीनांग रूपक भी मानते हैं।

(३) इसी पद से मिलता-जुलता भाव सूर के एक अन्य पद में भी मिलता है, जिसकी पहली पंक्ति इस प्रकार है—"उपमा नैन न एक गही।"

राग धनाश्री

को कहै हरि सों बात हमारी ?
हम तौ यह तब तें जिय जान्यौ, जबै भए मधुकर अधिकारी ।।
एक प्रकृति, एकै कैतव-गति, तेहि गुन अस जिय भावै।
प्रगटत है नव कंज मनोहर, ब्रज किंसुक कारन कत आवै ।।
कंजतीर चंपक - रस - चंचल, गति सब ही तें न्यारी।
ता अलि की संगति बसि मधुपुरि, सूरदास प्रभु सुरति बिसारी ।।३०७।।

शब्दार्थ—प्रकृति=स्वभाव। कैतव-गति=धोखा या छलभरी चाल। कंज =कमल। किंसुक=टेसू का फूल। प्रगटत है=आता है। कंजतीर=कमल के पास। चंपक-रस-चंचल=चम्पा के रस के लिए व्याकुल। सुरति=स्मृति, याद। बिसारी=भुला दी।

भावार्थ—गोपियों का कृष्ण पर अमित विश्वास है। परन्तु उन्हें सन्देह है कि भ्रमर और उद्धव जैसों की संगति में रहने के कारण ही कृष्ण उन्हें भूल गए हैं। अपने इसी दुःख और विवशता का वे वर्णन कर रही हैं कि—

"अब कृष्ण के पास जाकर कौन उनसे हमारी बात कहे, कौन उन्हें हमारी दीन दशा को बताए ? हमें तो तभी से हृदय में यह आशंका होने लगी थी, जब से भ्रमर जैसे चंचल और विश्वासघाती कृष्ण का सन्देश लेकर आने के अधिकारी बन गए थे, कि कृष्ण हमें भूल गए हैं। भ्रमर और उद्धव जैसों की संगति में रहने के

कारण उन्हें हमें भुला देना असम्भव नहीं था। इन भ्रमर और उद्धव तथा कृष्ण—सबका एक-सा ही स्वभाव और एक-सी ही छलभरी टेढ़ी चाल है। इनके इन्हीं गुणों को देखकर हमारे मन में यह भाव उत्पन्न होता है कि इन्हीं की संगति के प्रभाव से कृष्ण ने हमें भुला दिया है। जब यह भ्रमर हमारे पास आया था, तभी हमें यह सन्देह हो गया था कि यह तो सदैव नये खिले हुए कमलों के पास ही जाता है, फिर यह यहाँ ब्रज में खिलने वाले टेसू के फूलों के पास क्यों आया है ? यह भ्रमर कमल के पास रहता हुआ भी चम्पा के रस का पान करने के लिए ललचाता रहता है। इस प्रकार इसकी गति या स्वभाव बड़ा विचित्र होता है। यही दशा इन उद्धव की है। ये भी कमल के समान सुन्दर, सुवासित कृष्ण का सान्निध्य त्याग, यहाँ हमें टेसू के फूल के समान कुरूप, रसहीन, गन्धहीन—निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देने भागे चले आए हैं। अर्थात् यह भ्रमर और ये उद्धव—दोनों ही रस-लोलुप, चंचल और विश्वासघाती हैं। हमारे स्वामी कृष्ण मथुरा में ऐसे ही लोगों की संगति में रहकर हमारी याद को भूल गए हैं और हमें त्याग, कुब्जा के प्रेम में डूबे रहते हैं।

विशेष—अन्योक्ति अलंकार है।

हमारे स्याम चलन चहत हैं दूरि।
मधुबन बसत आस ही सजनी ! अब मरिहैं जो बिसूरि ।।
कौने कही, कहाँ सुनि आई ? केहि दिसि रथ की धूरि।
संगहि सबै चलौ माधव के, नातरु मरिबो झूरि ।।
पच्छिम दिसि इक नगर द्वारका, सिंधु रह्यौ जल पूरि।
सूर स्याम क्यों जीवहिं बाला, जात सजीवन मूरि ।।३०८।।

शब्दार्थ—चलन=जाना। ही=थी। बिसूरि=रो-रोकर। नातरु=नहीं तो। झूरि=दुःख कर-करके।

भावार्थ—गोपियाँ कहीं से यह समाचार सुन आई हैं कि कृष्ण मथुरा छोड़ द्वारिका जा रहे हैं। इस समाचार को सुन अत्यन्त व्यथित और कातर हो वे आपस में कह रही हैं कि—

हे सखि ! मैंने यह समाचार सुना है कि कृष्ण मथुरा को छोड़ कहीं दूर चले जाना चाहते हैं। वह मथुरा में थे, तब तक तो यह आशा थी कि कभी-न-कभी यहाँ अवश्य आयेंगे। परन्तु अब उनके इतनी दूर चले जाने पर तो हम सब रो-रोकर मर जायेंगी। गोपी की यह बात सुनकर अन्य गोपियाँ अत्यन्त व्यग्र हो उससे पूछने लगीं कि तुमसे यह बात किसने कही ? तुम यह कहाँ सुन आई हो ? जाते हुए कृष्ण के रथ की धूल किस दिशा में दिखाई दे रही है ? चलो, सब माधव के साथ ही यहाँ से चली चलो, नहीं तो फिर उनके वियोग में कुढ़-कुढ़ कर मरना पड़ेगा। उस गोपी ने उत्तर दिया कि पश्चिम दिशा में द्वारिका नामक एक नगर है, जिसके तट पर सागर

लहराया करता है। कृष्ण वहीं जा रहे हैं। अब हम सब ब्रज-बालायें कैसे जीवित रह सकेंगी, क्योंकि हमारे लिए संजीवनी बूटी के समान जीवन-प्रदाता कृष्ण हमें छोड़कर बहुत दूर जा रहे हैं।

विशेष—अतिशयोक्ति में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

उती दूर तें को आवै हो।
जाके हाथ सँदेश पठाऊँ सो कहि कान्ह कहाँ पावै हो॥
सिंधुकूल इक देस कहत हैं, देख्यो सुन्यो न मन धावै हो।
तहाँ रच्यो नव नगर नंदसुत, पुरि द्वारका कहावै हो॥
कंचन के सब भवन मनोहर, राजा रंक न तृन छावै हो।
ह्वाँ के सब बासी लोगन को, ब्रज को बसिबो नहिं भावै हो॥
बहु बिधि करति बिलाप बिरहिनी, बहुत उपाब न चित लावै हो।
कहा करौं कहँ जाउँ सूर प्रभु, को मोहिं हरि पै पहुँचावै हो॥३०६॥

शब्दार्थ—उती=उतनी। सिंधुकूल=सागर तट पर। धावै=जाए। तृण=घास-फूस का छप्पर। ह्वै के=वहाँ के।

भावार्थ—कृष्ण मथुरा से द्वारिका चले गए हैं। गोपियाँ स्वयं को उनके पास पहुँचने में असमर्थ पा विलाप कर रही हैं कि—

अब उतनी दूर से हमारे पास कौन आयेगा? अर्थात् पहले तो मथुरा पास होने के कारण उद्धव यहाँ आ गए थे, मगर अब द्वारिका से यहाँ कौन आ सकेगा? और यदि हम यहाँ से ही किसी के द्वारा कृष्ण के लिए सन्देश भेजने का प्रयत्न करें तो बताओ वह कृष्ण को इतने दूर देश में कहाँ ढूँढ़ कर उनके पास पहुँच सकेगा? कहते हैं कि समुद्र तट पर एक देश है। उसे यहाँ न तो किसी ने देखा है और न उसके सम्बन्ध में कुछ सुना है। वह इतनी दूर है कि मन भी वहाँ नहीं पहुँच सकता। वहीं नन्द के सुत कृष्ण ने एक नया नगर बसाया है जो द्वारिकापुरी कहलाता है।

उस नगर में सारे भवन अत्यन्त सुन्दर और सोने के बने हुए हैं। वहाँ राजा से लेकर भिखारी तक, कोई भी घास-फूस के छप्पर-छाए घर में न रहकर सोने के महलों में ही रहते हैं। वहाँ के रहने वाले सब लोगों को ब्रज में रहना अच्छा नहीं लगेगा। फिर कृष्ण यहाँ क्यों आने लगे? इस तरह विरहिनी गोपियाँ तरह-तरह से विलाप करने और मन में कृष्ण से मिलने के अनेक उपाय सोचने लगीं। वे कहने लगीं कि हम अब क्या करें, कहा जायें, कौन हमें कृष्ण के पास पहुँचाये?

विशेष—(१) स्वभावोक्ति अलंकार है।

(२) भाव-व्यंजना और कला की दृष्टि से यह पद साधारण स्तर का है।

राग सारंग

हमैं नंदनँदन को गारो।
इंद्र कोप ब्रज बह्यो जात हो, गिरि धरि सकल उबारो।।
राम कृस्न बल बदति न काहू, निडर चरावत चारो।
सगरे बिगरे को सिर ऊपर, बल को बीर रखवारो।।
तब तें हम न भरोसो पायो, केसि तृनाव्रत मारो।
सूरदास प्रभु रंगभूमि में, हरि जीतो, नृप हारो।।३१०।।

शब्दार्थ—गारो=गौरव, गर्व। रामकृष्ण=बलराम और कृष्ण। बदति=गिनतीं। चारो=घास। बिगरे=बिगड़ी हुई बात। बल को बीर=बलराम के भाई कृष्ण। रखवारो=रक्षा करने वाला।

भावार्थ—कृष्ण-सम्बन्धी विगत स्मृतियों को दुलराती हुईं गोपियाँ उनके गुणों की प्रशंसा करती हुई कह रही हैं कि—

हमें अपने नन्दनन्दन कृष्ण पर गर्व है। पहले जब एक बार इन्द्र ने कुपित हो मूसलाधार वर्षा कर ब्रज को बहा देने का प्रयत्न किया था, तब कृष्ण ने उँगली पर गोवर्द्धन पर्वत धारण कर सम्पूर्ण ब्रज की रक्षा की थी। जब बलराम और कृष्ण—दोनों भाई यहाँ रहते थे तो हम उनके बल के कारण किसी को कुछ भी नहीं गिनती थीं, किसी की भी परवाह नहीं करती थीं और निडर हो वन में गाय चराया करती थीं। क्योंकि उस समय हमारे सम्पूर्ण संकटों को बलराम के भाई कृष्ण अपने ऊपर ले, हमारी रक्षा किया करते थे, हमारे सिर पर अपना वरद्-हस्त रखे रहते थे। परन्तु जब उन्होंने केसी और तृनाव्रत नामक राक्षसों का वध किया था, उसके बाद हमें उनका कोई ऐसा कार्य देखने-सुनने को नहीं मिला, जिससे हमें यह भरोसा होता कि वह अब भी हमारी रक्षा करेंगे। हाँ, केवल यह समाचार अवश्य मिला था कि उन्होंने मथुरा में जा, राजा कंस की रंगभूमि में उससे युद्ध किया था, जिसमें कृष्ण की विजय हुई थी और राजा कंस हार गया था। अर्थात् वहाँ उन्होंने रंगभूमि अर्थात् प्रेम के रण-क्षेत्र में कंस को पराजित कर उसकी दासी कुब्जा को उससे छीन लिया था। उन्होंने प्रेम-युद्ध में यहाँ हम पर विजय पाई थी और मथुरा जाकर कुब्जा पर भी वैसी ही विजय पाई थी। इसलिए प्रेम के रणक्षेत्र के इस सर्वत्र विजयी योद्धा कृष्ण पर हमें गर्व है। वह प्रेम-क्षेत्र के अद्वितीय योद्धा हैं।

विशेष—(१) अन्तिम पंक्ति में 'रंगभूमि' शब्द का अत्यन्त साभिप्राय और सार्थक प्रयोग किया गया है। गोपियाँ रणभूमि में कंस पर कृष्ण की विजय का उल्लेख न कर रंगभूमि में कुब्जा-विषयक उनकी विजय पर गर्व करती हुईं प्रच्छन्न रूप से उन पर व्यंग्य कस रही हैं।

(२) इसमें आई अन्तर्कथाओं का पीछे उल्लेख किया जा चुका है।

राग मलार

ऐसे माई पावस ऋतु प्रथम सुरति करि माधवजू आवै री।
बरन-बरन अनेक जलधर अति मनोहर वेष।
यहि समय यह गगन-सोभा सबन तें सुविसेष ॥
उड़त बक, सुक बृंद राजत, रटत चातक मोर।
बहुत भाँति चित हित-रुचि बाढ़त दामिनी घनघोर ॥
धरनि-तनु तृनरोम हर्षित प्रिय समागम जानि।
और द्रुम बल्ली बियोगिनि मिलीं पति पहिचानि ॥
हंस पिक, सुक, सारिका अलिपुंज नाना नाद।
मुदित मंगल मेघ बरसत, गत विहंग-बिषाद ॥
कुटज, कुंद कदंब, कोविद, कर्निकार, सु कंजु।
केतकी, करबीर, चिलक बसंत-सम तरु मंजु ॥
सघन तरु कलिका-अलंकृत, सुकृत सुमन सुमन सुबास।
निरखि नयन्ह होत मन माधव-मिलन की आस ॥
मनुज मृग पसु पच्छि परिमित औ अमित जे नाम।
सुख स्वदेस बिदेस प्रीतम सकल सुमिरत धाम ॥
ह्वै है न चित्त उपाय सोच न कछू परत बिचार।
नाहिं ब्रजबासी बिसारत निकट नंदकुमार ॥
सुमिरि दसा दयाल सुंदर ललित गति मृदु हास।
चारु लोल कपोल कुँडल डोल बलित-प्रकास ॥
बेनु कर कल गीत गावत गोपासिसु बहु पास।
सुदिन कब यहि आँखि देखैं बहुरि बाल-बिलास ॥
बार बारहिं सुधि रहति अति बिरह ब्याकुल होति।
बात-बेग सो लगै जैसो दीन दीपक - ज्योति ॥
सुनि बिलाप कृपाल सूरजदास प्रान प्रतीति।
दरस दै दुखि दूरि करिहैं, सहि न सकिहैं प्रीति ॥३११॥

शब्दार्थ—सुरति=स्मृति, याद। सुविसेष=अत्यन्त सुन्दर। वक=बगुल। राजत=शोभित। हित-रुचि=प्रेम की अभिलाषा। घनघोर=बादलों की गरज। धरनि-तनु=धरती का शरीर। तृनरोम=तिनके रूपी रोम। वल्ली=लताएँ। सारिका=मैना। गत=समाप्त। कोविद=कचनार। कर्निकार=कनियारी का वृक्ष। करबीर=कनेर। चिलक=चमक। कलिका-अलंकृत=कलियों से सुशोभित।

परिमित=तक। अमित=अगणित। बलित=चंचल। बात-वेग=हवा का झोंका। प्रतीति=विश्वास।

भावार्थ—वर्षा-ऋतु के आगमन ने गोपियों को कृष्ण की स्मृति से उद्वेलित बना रखा है। वे इसी का वर्णन करती हुईं आपस में कह रही हैं कि--

हे सखि ! पावस ऋतु आ गई है। प्रियतम कृष्ण पहले की ही तरह हमारी याद से व्याकुल हो यहाँ चले आयेंगे। आकाश में भिन्न-भिन्न रंग वाले अत्यन्त सुन्दर वेश धारण किए बादल छा रहे हैं। यही वह समय है जब आकाश की शोभा सर्वाधिक सुन्दर हो उठती है। बगुले उड़ते हैं, तोतों के झुण्ड शोभा दे रहे हैं और चातक और मोर शोर मचा रहे हैं। यह मादक वातावरण हृदय में अनेक प्रकार से प्रेम करने की अभिलाषा जाग्रत कर देता है। बादलों की गर्जन और बिजली की कड़क बढ़ जाती है। अपने प्रियतम मेघ के समागम की आशा से भर धरती के तृण रूपी रोम हर्ष के कारण खड़े हो जाते हैं। धरती का शरीर प्रिय-मिलन की आशा से रोमांचित हो उठता है। और ग्रीष्म काल में अपने वृक्ष रूपी पतियों से बिछुड़ी हुईं लताएँ रूपी वियोगिनी प्रियाएँ अपने-अपने प्रियतमों को पहचान उनसे लिपट जाती हैं।

हंस, कोयल, तोते, मैना और भ्रमरों के समूह नाना प्रकार के स्वरों में गीत गाने लगते हैं। मेघ बरसते हैं, चारों ओर हर्ष और मंगल छा जाता है और पक्षियों का दुःख मिट जाता है। कुटज, कुन्द, कदम्ब, कचनार, कनियारी, कमल, केतकी, कनेर आदि वृक्ष वर्षा के जल से धुल वसन्त ऋतु के समान चमक उठते हैं। सघन वृक्ष कलियों के समूह से अलंकृत हो जाते हैं। पुण्य कार्यों के यश-सौरभ के समान पुष्पों का सौरभ वातावरण में व्याप्त हो जाता है ! इस सबको आँखों से देखकर मन में कृष्ण से मिलने की अभिलाषा जाग्रत हो उठती है।

मनुष्य, मृग, पशु, पक्षी आदि तथा अन्य जितने भी नामधारी जीव-जन्तु हैं, सभी के विदेश-प्रवासी प्रियतम अपने देश और अपने घर के सुख की याद कर घर लौटने के लिए व्याकुल हो उठते हैं। हमें पूरा विश्वास है कि कृष्ण हमारे इतने पास मथुरा में रहते हैं कि हम ब्रजवासियों को कभी नहीं भूल सकते। हम ब्रजवासी इस वातावरण में उनकी याद से व्याकुल हो जाते हैं और उनके विविध रूप हमारे सामने साकार हो उठते हैं। उनकी वह दयालुता, सुन्दर, आकर्षक चाल और मधुर-कोमल मुस्कान, सुन्दर कोमल कपोल और उन कपोलों पर हिलते हुए कुण्डलों का पड़ने वाला चंचल प्रकाश—यह सब हमारी स्मृति में साकार हो उठते हैं।

कृष्ण हाथ में वंशी लेकर सुन्दर गीत गाया करते थे और गोपों के अनेक बालक उनके चारों ओर एकत्र हो उन्हें घेर कर बैठ जाते थे। ऐसे सुन्दर दिनों को, इस बाल-क्रीड़ा को देखने का सौभाग्य हमारे इन नेत्रों को अब कब मिलेगा ? हमें बार-बार इन्हीं बातों की याद आती रहती है और हम कृष्ण के विरह में अत्यधिक व्याकुल हो उठती हैं। जैसे हवा का झोंका दीपक की ज्योति को दीन और निष्प्रभ बना देता है, वैसे ही कृष्ण-सम्बन्धी उन बातों का स्मरण कर हम उनके विरह में दीन

और कातर हो उठती हैं। हमें विश्वास है कि हमारे इस करुण विलाप को सुन कृपालु, प्राणों के विश्वास कृष्ण हमें अपने दर्शन दे, हमारे दुःख को दूर कर देंगे। वे प्रेम की व्याकुलता को सहन न कर तुरन्त हमारे पास दौड़े चले आयेंगे।

विशेष—(१) इस पद में आलम्बन और उद्दीपन—दोनों ही रूपों में प्रकृति का मोहक, विस्तृत चित्रण किया गया है। यद्यपि नाम-परिगणनात्मक रुचि के कारण प्रकृति का एक संश्लिष्ट प्रभाव का रूप नहीं बन सका है।

(२) उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास अलंकारों का उपयोग किया गया है।

बलैया लैहों, हो बीर बादर !
तुम्हरे रूप सम हमरे प्रीतम गए निकट जल-सागर ॥
पा लागौं द्वारका सिधारौ बिरहिनि के दुखदागर।
ऐसो संग सूर के प्रभु को करुनाधाम उजागर ॥३१२॥

शब्दार्थ—बीर बादर=भाई बादल। दुखदागर=दुःख दूर करने वाले। उजागर=प्रसिद्ध।

भावार्थ—कृष्ण के मथुरा से द्वारिका चले जाने पर गोपियाँ उनके विरह में अत्यन्त कातर बन बादल से प्रार्थना कर रही हैं कि—

हे भइया बादल ! हम तुम्हारी बलैया लेंगी; अर्थात् तुम पर न्यौछावर हो जायेंगी। तुम्हारे ही जैसे रूप वाले हमारे प्रियतम कृष्ण समुद्र के निकट बसी द्वारिकापुरी चले गए हैं। हम तुम्हारे चरण छूकर तुमसे प्रार्थना करती हैं कि तुम शीघ्र द्वारिकापुरी चले जाओ और विरहिनियों के दुःख को दूर करने के यश-भागी बनो। भाव यह है कि वहाँ बादलों को देख, कृष्ण को भी गोपियों की याद सताने लगेगी और वे ब्रज लौट आयेंगे। हे बादल ! वहाँ तुम्हें करुणा के आधार कृष्ण के सत्संग का सुख मिलेगा। उनके सत्संग का सुख विश्व-प्रसिद्ध है। इसी से तुम अनुमान लगा सकोगे कि कृष्ण के सत्संग का सुख भोग लेने के उपरान्त उनसे बिछुड़ने पर कितनी मर्मान्तक वेदना सहन करनी पड़ती है। और हम उसी वेदना को सह रही हैं। अथवा कृष्ण तुम्हारे द्वारा हमारी करुण-कथा सुन तुरन्त यहाँ चले आयेंगे, क्योंकि वे करुणा के भण्डार के रूप में प्रसिद्ध हैं।

चलहु धौं लै आवहिं गोपालै।
पायँ पकरि कै निहुरि बिनति करि, गहि हलधर की बाँह बिसालै ॥
बारक बहुरि आनि कै देखहि, नंद आपने बालै।
गैयन गनत गोप - गोपी - सह, सीखत बेनु रसालै ॥
यदपि महाराज सुख - संपति, कौन गनैं मोतिन्न अरु लालै।
तदपि सूर आकरषि लियो मन, उर घुँघचिन की मालै ॥३१३॥

शब्दार्थ—निहुरि=निहोरा कर, खुशामद कर। बिसालै=विशाल। बालै=

बालक को। गनैं=गिने। आकरषि=आर्कषित। घुँघचिन की मालै=गुंजा अथवा रत्तियों की माला।

भावार्थ—गोपियाँ सारे प्रयत्न कर हार गईं, परन्तु कोई भी उन्हें कृष्ण के दर्शन न करा सका। अन्त में हताश हो उन्होंने यह निश्चय किया कि—

हे सखियो! चलो, सब मथुरा चलकर कृष्ण को यहाँ लिवा लाएँ। हम उनके चरण पकड़कर उनकी बहुत खुशामद करेंगी, प्रार्थना करेंगी और हलधर (बलराम) की विशाल भुजा को पकड़ उनसे भी प्रार्थना करेंगी कि किसी प्रकार एक बार कृष्ण को मथुरा ले चलो। उनके यहाँ आ जाने पर बाबा नन्द एक बार फिर अपने बालक कृष्ण को देख सकेंगे। बाबा नन्द उन्हें उनके पूर्व रूप में ही गायों की गणना करते और गोप-गोपियों के साथ रसीली बंशी बजाना सीखते हुए देखेंगे। (गोपियों को सन्देह है कि शायद कृष्ण मथुरा जाकर वंशी बजाना भूल गए होंगे, इसलिए यहाँ उन्हें फिर बंशी बजाना सिखाना पड़ेगा।) यद्यपि कृष्ण अब महाराज बन गए हैं, उनके पास अपार सुख-सम्पत्ति है और मोती और लाल तो इतने अगणित हैं कि कौन उनकी गणना कर सकता है। फिर भी घुँघचियों की माला ने उनके मन को आर्कषित कर लिया है और वे यहाँ आकर उसे ही अपने गले में धारण कर लेंगे।

विशेष—(१) गोपियों को अटल विश्वास है कि उनके वहाँ जाने पर कृष्ण उनके साथ अवश्य ब्रज लौट आयेंगे।

(२) गोपियाँ कृष्ण के तो चरण पकड़ने की बात कहती हैं, परन्तु पर-पुरुष बलराम की बाँह पकड़ने की। यह उनकी एकान्त पति-निष्ठा और संस्कारों की रक्षा करने की भावना का प्रमाण है।

राग सारंग

उपमा न्याय कही अंगन की।
गए मधुपुरी फिरि आवै, सोभा कोटि अनंगन की॥
मोरमुकुट सिर सुरधनु की, छबि दूरहिं तें दरसावै।
जो कोउ करै कोटि कैसेहू नेकहु छवन न पावै॥
अलक-भ्रमर भ्रमि भ्रमत सदा, बन बहु-बेलीरस चाखै।
कमल-कोस-बासी कहियत पै, बंस-बंस अपनो मन राखै॥
कुंडल मकर, नयन नीरज से, नासा सुक कबिकुल गावै।
थिर न रहै, सकुचै निसि-बस ह्वै, पंजर रहिकै बेन सुनावै।
भ्रू धनु प्रान - हरन - दसनावलि हीरक, अधर सुबिंब।
सहज कठिन, संगति बुधि-हर्ता, तहँ, कीन्हों अवलंब॥
भुजा प्रचंड महा-रिपु मारक, अंस सो क्यों ठहराय।
तामें सप्त-छिद्र-युत मुरली मनहर मंत्र पढ़ाय॥३१४॥

शब्दार्थ—न्याय=उचित, न्यायपूर्ण। अनंगन=कामदेवों। सुरधनु=इन्द्र-धनुष। दरसावै=दिखाई देती है। अलक=केश। भ्रमत=लहराते हैं। बेली=लता, वल्लरी। बंस-बंस=बाँसों का कुल या समूह। मकर=मगरमच्छ, मछली। नीरज=कमल। नासा=नासिका। थिर=स्थिर। निसि-बस=रात के वश में। पंजर=शरीर, पिंजरा। भ्रूधनु=धनुष के समान भौंहें। सुबिंब=सुन्दर बिम्बाफल। बुधि-हर्ता=बुद्धि को हर लेने वाला। अवलंब=आश्रय। मारक=मारने वाली। अंस=कन्धा। सप्त-छिद्र-युत=सात छेदों वाली। मनहर=मन को हर लेने वाला।

भावार्थ—विरह-व्यथित गोपियाँ कृष्ण के विभिन्न अंगों की कवियों द्वारा दी गई उपमाओं को व्यंग्यपूर्ण शब्दों द्वारा न्यायपूर्ण घोषित करती हुई कृष्ण की निष्ठुरता के प्रति संकेत कर रही हैं। वे कहती हैं कि—

कवियों ने कृष्ण के अंगों की जिन उपमानों द्वारा उपमाएँ दी हैं, वे पूर्णतः न्यायपूर्ण और उनके गुणों के अनुरूप हैं। उनके अङ्गों की शोभा को करोड़ों कामदेवों की शोभा से उपमा दी गई है; अर्थात् उनके अङ्ग करोड़ों कामदेवों के सम्मिलित सौन्दर्य के समान सुन्दर माने गए हैं। ऐसे अमित सौन्दर्यशाली अङ्गों वाले कृष्ण मथुरा जाकर फिर यहाँ क्यों लौटकर आयेंगे। क्योंकि वहाँ की युवतियाँ उनके सौन्दर्य पर मुग्ध हो उन्हें यहाँ नहीं आने देंगी। उनके सिर पर स्थित मयूर-पंखों के मुकुट की उपमा इन्द्रधनुष से दी जाती है। इन्द्र-धनुष अपनी छवि का प्रदर्शन ऊपर आकाश में स्थित रहकर करता रहता है। करोड़ों यत्न करने पर भी कोई उसका तनिक-सा स्पर्श तक नहीं कर पाता। कृष्ण भी अपने मयूर-मुकुट की शोभा का प्रदर्शन दूर से ही; अर्थात् मथुरा में रहकर ही करते रहते हैं। हम गोपियाँ अनेक यत्न करने पर भी उसका स्पर्श तक नहीं कर पातीं। अर्थात् कृष्ण यहाँ नहीं आते हैं।

उनके काले, लहराते केशों की उपमा भ्रमय से दी जाती है। भ्रमर सदैव चारों ओर घूमता हुआ वन में अनेक लताओं के रस (फूलों के पराग) को चखता फिरता है। कहा जाता है कि वह रात होने पर कमल-कोश में वास करता है, परन्तु वहाँ रहते हुए भी उसका मन अपने बाँस से झुरमुट में ही लगा रहता है। अर्थात् वह वहीं जाने की कामना करता रहता है। इसी प्रकार कृष्ण भी ब्रज में रहते समय युवतियों के साथ रस-क्रीड़ा कर उनके यौवन-रस का पान किया करते थे और नन्द-यशोदा के घर में रहते हुए भी उनका मन सदैव अपने वंश—यादव-वंश—में जाकर रहने के लिए उत्सुक रहा करता था। इसलिए अन्त में वे हम सबको त्याग अपने कुल में जाकर मिल गए और यहाँ लौटकर नहीं आए। कृष्ण के कुंडलों की उपमा मछली से, नेत्रों की कमल से, और नासिका की शुक से कविगण प्राचीन काल से देते आए हैं। कृष्ण भी मछली के समान एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रहते। ब्रज से मथुरा और मथुरा से द्वारिका चले गए हैं। वे हमारी दुर्भाग्य रूपी रात्रि को देख कमल के समान संकुचित मथुरा में बैठ गए हैं। अर्थात् हमारे दुर्भाग्य की ओर से उन्होंने अपनी आँखें फेर ली हैं, बन्द कर रखी हैं। तोता पिंजड़े में बन्द रहकर वंशी

के समान सुरीली ध्वनि सुना-सुनाकर सबको मोहित करता रहता है; परन्तु अवसर पाते ही धोखे से पिंजड़े का दरवाजा खुला रह जाने पर चुपचाप उड़कर भाग जाता है और फिर कभी लौटकर नहीं आता। कृष्ण भी मुरली बजा-बजाकर हम सबको मोहित करते रहे और अवसर मिलते ही हम सबको त्याग यहाँ से चले गए और फिर कभी लौटकर नहीं आए। वे तोताचश्म जो हैं।

उनकी भौंहों की उपमा धनुष से दी गई है। धनुष प्राण हरने वाला होता है। कृष्ण भी अपने भ्रू-कटाक्ष द्वारा हमारे प्राण हरण कर अपने साथ ले गए। उनकी दन्त-पंक्ति हीरे के समान मानी गई है। हीरा जहरीला होता है। मुँह से उसका स्पर्श होते ही प्राणान्त हो जाता है। कृष्ण के अधरामृत का पान करते समय उनके दाँतों का हमने अपने मुँह से स्पर्श कर लिया था, इसलिए अब (उनके वियोग में) हमारी दशा मरणासन्न हो रही है। अथवा कृष्ण हीरे के समान हृदय के अत्यन्त कठिन अर्थात् निर्मोही और निर्दयी हैं। उनके अधरों को बिम्बाफल के समान माना जाता है। बिम्बाफल बुद्धि को हरण करने वाला, भ्रमित करने वाला होता है। तोता उसके बाह्य सौन्दर्य को देख लालच वश उसके पास बैठा रहता है और चोंच मारने पर उसके हाथ कुछ भी नहीं लगता। कृष्ण भी बिम्बाफल के समान ऊपर से अत्यन्त आकर्षक और सुन्दर हैं परन्तु उनके भीतर अर्थात् हृदय में कोई तत्त्व नहीं है; अर्थात् वह हृदयहीन हैं। इसी कारण हमारे प्रेम को ठुकराकर, उसका महत्त्व न जान, हमें त्याग यहाँ से चले गए। हम उनके अधरों के सौन्दर्य पर रीझकर अपनी सुध-बुध खो बैठी थीं।

इस प्रकार इन सम्पूर्ण उपमानों ने कृष्ण के पास आश्रय पाया है और इनकी संगति के कारण कृष्ण भी इन जैसे ही बन गए हैं। उनकी भुजाएँ अत्यन्त प्रचण्ड और महान् शत्रुओं का वध करने वाली मानी गई हैं, फिर ऐसी भुजाएँ हमारे कन्धों पर कैसे स्थिर रह सकती हैं? वे भुजाएँ उन्हें हमसे प्रेम न कर, शत्रुओं का वध करने के लिए प्रेरित करती रहती हैं। इन सबके ऊपर उनके पास सात छेदों वाली मुरली (मुरली में सात स्वरों को ध्वनित करने वाले सात छेद होते हैं) रहती है, जो उन्हें सदैव दूसरों में मन को हरण करने वाला मंत्र सिखाती रहती है। कृष्ण मुरली बजा-बजाकर दूसरों को मोहित करते रहते हैं। फिर वह हमारे पास लौटकर क्यों आने लगे? भाव यह है कि इन सब की संगति के कारण ही कृष्ण हमसे विमुख हो गए हैं और इसीलिए लौटकर यहाँ नहीं आते।

विशेष—(१) इस पद में गोपियाँ वाक्-चातुर्य द्वारा कृष्ण के प्रत्येक अंग के उपमान की व्याख्या करती हुई उन सबके गुणों को दुर्गुण प्रमाणित कर कृष्ण के स्वभाव में उनका आरोप कर रही हैं। यहाँ सूर का वाग्वैदग्ध्य चरम-सीमा को स्पर्श कर रहा है। काव्य-चमत्कार की दृष्टि से पद उत्कृष्ट है।

(१) 'गए····की' में उपमा; 'अलक····चाखै' में रूपक; 'वंस-बंस में यमक;

'सप्त छिद्र····पढ़ाय' में श्लेष तथा परिकरांकुर; 'मोट-मुकुट····पावै' में काव्यलिंग; तथा 'भ्रू धनु····बुधि-हर्ता' में यथाक्रम अलंकार है।

(३) बिम्बाफल को बुद्धि-नाशक कहा गया है—"सद्यः प्रज्ञाहरा तुंडी सद्यः प्रज्ञाकरी वचा।"

(४) मुरली को 'सप्त-छिद्र' कहकर उसे चरित्रहीन और कुटिनी कहा गया है। वही सदैव नई-नई नायिकाओं को कृष्ण की ओर आकर्षित करती रहती है।

(५) 'संगति बुद्धि-हर्ता' से एक यह भाव भी हो सकता है कि निरन्तर अपने अधर रूपी बिम्बाफल की संगति में रहने के कारण कृष्ण की बुद्धि मारी गई है, इसलिए वे हमारे निर्मल अगाध प्रेम का महत्त्व नहीं जान सके हैं और हमें त्याग कर चले गए हैं।

निसिदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पै, जब तें स्याम सिधारे।।
दृग अंजन लागत नहिं कबहूँ, उर-कपोल भए कारे।
कंचुकि नहिं सूखत सुनु सजनी ! उर-बिच बहत पनारे।।
सूरदास प्रभु अंबु बढ़्यो है, गोकुल लेहु उबारे।
कहँ लौं कहौं स्यामघन सुंदर, बिकल होत अति भारे।।३१५।।

शब्दार्थ—सिधारे=चले गए। अंजन=काजल। कंचुकि=चोली। उर-बिच=हृदय के बीच। अंबु=जल। उबारे=उबारना, बचा लेना। अति भारे=अत्यधिक।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण-विरह में बहुत संतप्त हो रात-दिन रोती रहती हैं। अपनी इसी दशा का वर्णन करती हुईं कह रही हैं कि—

हे सखि ! कृष्ण के वियोग में हमारे नेत्र आँसुओं के रूप में दिन-रात बरसते रहते हैं। जब से वह हमें छोड़ यहाँ से चले गए हैं, तब से हम पर सदैव वर्षा ऋतु ही छायी रहती है। अर्थात् हमारे कभी न रुकने वाले आँसुओं के रूप में वर्षा ऋतु छाई रहती है। इन आँसुओं के कारण हमारे नेत्रों में कभी काजल ही नहीं रह पाता, आँसुओं के साथ बह-बहकर उसने हमारे गालों और छाती को काला कर दिया है। हे सखि ! हमारी कंचुकी कभी सूख नहीं पाती क्योंकि हमारे हृदय पर हमेशा आँसुओं के पनाले (धारायें) बहते रहते हैं जिनके कारण हमारी कंचुकी सदैव गीली बनी रहती है। हे स्वामी ! गोकुल में हमारी अश्रु वर्षा के कारण जल की बाढ़ आ गई है और उसमें गोकुल के डूब जाने का खतरा उत्पन्न हो गया है। अब तुम्हीं आकर पहले के समान (जब इन्द्र ने कुपित हो ब्रज को बहा देने का प्रयत्न किया था और तुमने गोवर्धन पर्वत को उँगली पर उठा उसकी रक्षा की थी) आकर पुनः गोकुल को इस बाढ़ में डूबने से बचा लो। हे श्यामघन के समान सुन्दर कृष्ण ! हम तुमसे अपनी विरह-व्यथा की बात कहाँ तक कहें ? हमारा हृदय अत्यधिक व्याकुल हो रहा है।

विशेष—(१) गोपियों की विरह-व्यथा की व्यंजना अत्यन्त सहज रूप में अपनी सम्पूर्ण मार्मिकता और द्रवणशीलता के साथ व्यंजित हो रही है।

(२) निसिदिन····सिधारे' में रूपक; तथा 'सदा····पनारे' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

राग मलार

बारक जाइयो मिलि माधौ।
को जानै कब छूटि जायगो, स्वाँस रहै जिय साधौ॥
पहुनेहु नंद बबा के आबहु, देखि लेहुँ पल आधौ।
मिलि ही में बिपरीत करी बिधि, होत दरस को बाधौ॥
सो सुख सिव सनकादि न पावत, जो सुख गोपिन लाधौ।
सूरदास राधा बिलपति है, दरि को रूप अगाधौ॥३१६॥

शब्दार्थ—बारक=एक बार। साधौ=साध, अभिलाषा। पहुनेहु=पाहुने बनकर, महमान बनकर। मिल ही में=सब बातें बन जाने पर भी। बाधौ=बाधा। लाधौ=उपलब्ध किया, पाया। अगाधौ=अथाह।

भावार्थ—गोपियाँ समझती हैं कि शायद हमारे बुलाने से कृष्ण यहाँ न आएँ, इसलिए वे राधा की करुण-दशा का समाचार उनके पास भेज उनसे प्रार्थना कर रही हैं कि वह एक बार महमान बनकर ही दर्शन दे जायँ—

हे माधव ! तुम कम-से-कम एक बार ही यहाँ आकर हमसे मिल जाओ। न जाने हमारी यह साँस कब छूट जाय, कब हमारे प्राण निकल जाएँ। ऐसा हो जाने पर हमारी तुमसे मिलने की साध अधूरी ही रह जायगी। तुम यदि यहाँ रहने के लिए नहीं आना चाहते तो नन्द बाबा के पाहुने बनकर ही कुछ समय के लिए आ जाओ। हम उसी आधे पल के लिए तुम्हें देखकर अपनी साध पूरी कर लेंगी। सब बातें बन जाने पर भी विधाता ने सब कुछ उल्टा कर दिया। अर्थात् हमें तुम्हारे संयोग का पूर्ण सुख मिल रहा था कि एकाएक विधाता ने हमारे उस सुख को नष्टकर तुम्हें हमसे दूर कर दिया और अब हमारी ऐसी विषम दशा हो गई है कि तुम्हारे दर्शन करने में भी बाधा पड़ गई है।

अनन्त साधना और तपस्या करने पर भी शिव और सनकादिक तुम्हारे मिलन के जिस सुख को प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं, प्राप्त नहीं कर पाते, वही सुख गोपियों को अनायास ही उपलब्ध हो गया था। अर्थात् गोपियों ने बिना तपस्या किए ही तुम्हारे इस मिलन के उस अलभ्य सुख को प्राप्त कर लिया था। आज उसी सुख से वंचित हो जाने के कारण राधा तुम्हारे उस अगाध रूप-सौन्दर्य का दर्शन न कर पा कर रात-दिन विलाप करती रहती है। अर्थात् अतुलनीय सौन्दर्य की साम्राज्ञी विश्वविमोहिनी राधा भी तुम्हारे उस अगाध सौन्दर्य का दर्शन करने के लिए व्याकुल हो निरन्तर विलाप करती रहती है।

विशेष—(१) यहाँ 'शिव सनकादि' का उल्लेख कर गोपियाँ कृष्ण के ब्रह्म-रूप का संकेत दे रही हैं।

(२) कृष्ण का रूप अद्भुत और अगाध है, यह व्यंजना अन्तिम पंक्ति में मिलती है।

आछे कमल कोस-रस-लोभी द्वै अलि सोच करे।
कनक बेलि औ नवदल के ढिग बसते उझकि परे॥
कबहुँक पच्छ सकोचि मौन ह्वै अंबु-प्रबाह झरे।
कबहुँक कंपति चकित निपट ह्वै लोलुपता बिसरे॥
बिधु-मंडल के बीच बिराजत अमृत अंग भरे।
एतेउ जतन बचत नहिं तलफत बिनु मुख सूर उचरे॥
कीर, कमठ, कोकिला उरग-कुल देखत ध्यान धरे।
आपनु क्यों न पधारौ सूर प्रभु, देखे कह बिगरे॥३१७॥

शब्दार्थ—आछे=अच्छे। द्वै अलि=दो पुतलियों रूपी दो भ्रमर। कनक-बेलि=स्वर्ण लता। ढिग=पास। उझकि परे=उचट कर चले गए। पच्छ=पंख। सकोचि=संकुचित, बन्द कर। अंबु प्रवाह=जल की धारा। बिसरे=भूल जाते हैं। बिधु मंडल=चन्द्रमंडल अर्थात् मुख। एतेउ=इतने पर भी। उंचरे=उच्चारण करते हैं। कमठ=कछुआ। उरग-कुल=साँपों का समूह अर्थात् केशि-राशि। कह बिगरे=क्या बिगड़ जायगा।

भावार्थ—अद्भुत वाक्-चातुर्य द्वारा गोपियाँ अपने नेत्रों की दोनों पुतलियों रूपी भ्रमरों के विचित्र स्वभाव के माध्यम से अपनी विरह-व्यथा और विवशता को प्रकट करती हुई कह रही हैं कि—

ये दो कमल-कोश के रस के लोभी अच्छे अर्थात् विचित्र भ्रमर हैं जो सदैव सोच में ही डूबे रहते हैं, सदैव चिन्ता ही किया करते हैं। ये यद्यपि निरन्तर स्वर्ण-लता और उसके नये कोमल पत्तों के ही पास रहते हैं, परन्तु फिर भी उनकी ओर आकर्षित न हो, उचट कर दूर भाग जाते हैं। (यहाँ गोपियों की आँखों की दोनों पुतलियाँ विचित्र स्वभाव वाले दो भ्रमर, स्वर्णलता गोपियों का गोरा, सुन्दर, कोमल, छरहरा शरीर तथा नवदल उनके सुचिक्कण, कोमल अंग-प्रत्यंग हैं।) भाव यह है कि गोपियों की पुतलियाँ गोपियों के इतने सुन्दर शरीर और अंगों की ओर आकर्षित न हो, सदैव कृष्ण के मुख रूपी कमल का रसपान अर्थात् दर्शन करने की चिन्ता में ही डूबी रहती हैं।

कभी ये दोनों भ्रमर अपने पंख समेटकर (पलकें बन्द कर) मौन हो, जल की धारा (आँसू) बहाते रहते हैं। और कभी काँपकर और अत्यन्त चकित हो, कृष्ण के मुखरूपी कमल के रसपान की लोलुपता में अपना आपा भूल जाते हैं, आत्म-विस्मृत

हो उठते हैं। यद्यपि ये चन्द्रमंडल (गोपियों के चन्द्रमुख) के बीच विराजमान रहते हैं और उसके अमृत (गोपियों के मुख सौन्दर्य रूपी अमृत) से इनके अंग-प्रत्यंग भरे रहते हैं। अर्थात् ये सदैव गोपियों के उस अमृतमय सौन्दर्य से ओत-प्रोत रहते हैं, परन्तु इतने यत्न करने पर भी (कृष्ण के मुखकमल के वियोग की यातना से) इनकी रक्षा नहीं हो पाती। ये रात-दिन उसके लिए तड़पते रहते हैं और मुख न रखते हुए अपनी वेदना को स्पष्ट रूप से प्रकट करते रहते हैं। अर्थात् अश्रु-प्रवाह द्वारा अपनी वेदना को प्रकट कर देते हैं।

ये तोता, कोयल, कछुआ और साँपों के समूह को देखकर और अधिक चिन्ता में डूब जाते हैं। क्योंकि इन्हें देखकर इन पुतलियों रूपी भ्रमरों को कृष्ण की शुक-नासिका, कछुए के समान चौड़ी, पुष्ट पीठ, कोयल के समान मधुर वाणी और सर्प-समूह के समान काले, लहराते केशों का ध्यान हो आता है और उन्हें स्मरण कर ये उन्हीं के ध्यान में डूब जाते हैं। हे स्वामी! तुम स्वयं यहाँ पधार कर इनकी इस विचित्र दशा को अपनी आँखों से क्यों नहीं देख लेते? इन्हें देखने में आखिर तुम्हारा क्या बिगड़ जायगा?

विशेष—(१) प्रथम पंक्ति में आए 'आछे' का अर्थ है—अच्छा अर्थात् विचित्र।

(२) आलंकारिक भाषा में गोपियों के सौन्दर्य-वर्णन के साथ-साथ कृष्ण के प्रति उनके नेत्रों के अमित-अनन्य अनुराग का अत्यन्त कलात्मक चित्रण हुआ है। कला की दृष्टि से यह पद अत्यन्त श्रेष्ठ माना जा सकता है।

(३) 'बिधु-मंडल····भरे' तथा 'कीर····धरे' में रूपकातिशयोक्ति; और 'बिधु-मंडल····उचरे' में विशेषोक्ति अलंकार है।

राग अडानो

सबन अबध, सुंदरी बधै जनि।
मुक्तामाल, अनंग! गंग नहिं, नवसत साजे अर्थ स्यामघन॥
भाल तिलक उडुपति न होय यह, कबरि-ग्रंथि अहिपति सहस-फन।
नहिं बिभूति दधिसुत न भाल जड़! यह मृगमदचंदन-चर्चित तन॥
न गजचर्म यह असित कंचुकी, देखि बिचारि कहा नंदीगन।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु, बरबस काम करत हठ हम सन॥३१८॥

शब्दार्थ—सबन अबध=सबके लिए अवध्य, वध न करने योग्य। जनि=मत। अनंग=कामदेव। नवसत=नौ+सात अर्थात् सोलह शृंगार। अर्थ=लिए, निमित्त। उडुपति=चन्द्रमा। कबरि-ग्रन्थि=वेणी का जूड़ा। अहिपति=शेषनाग। बिभूति=भस्म। दधिसुत=चन्द्रमा। जड़=मूर्ख। मृग-मद=कस्तूरी। चर्चित=शोभित। गजचर्म=हाथी की खाल। असित=काली। हम सन=हम से, हमारे साथ।

भावार्थ—कृष्ण-विरह में व्यथित गोपियों को काम सताता है। गोपियों को सन्देह है कि कामदेव उन्हें शिव समझकर अपने पुराने वैर का प्रतिशोध लेने के लिए उन्हें सता रहा है। कामदेव के इसी भ्रम को दूर करने के लिए गोपियाँ अपने शृंगार का वर्णन करती हुई उसे समझा रही हैं कि—

हे कामदेव ! सारा संसार सुन्दरियों को अवध्य (न मारने योग्य) मानता है, इसलिए तू हम सुन्दरी गोपियों को न मार, हमें न सता। तुझे शायद भ्रम हो गया है कि हम गोपियाँ न होकर तेरे शत्रु शिव हैं। इसलिए हम तुझे यह समझा रही हैं कि हम शिव न होकर गोपियाँ ही हैं। हमने अपने घनश्याम को रिझाने के लिए सोलह शृंगार धारण किए हैं। इसी का एक अंग हमारे गले में पड़ी यह सफेद मोतियों की माला है जिसे तू भ्रमवश शिव की जटाओं से बहती गंगा समझ बैठा है। वस्तुतः यह गंगा न होकर मुक्ताओं की माला है। हमारे भाल पर लगा हुआ सफेद चन्दन का तिलक शिव के भाल पर स्थित चन्द्रमा नहीं है। और हमारे सिर पर बँधा हुआ वैरागी का यह जूड़ा भी शिव के सिर पर स्थित हजार फनों वाला शेषनाग नहीं है। साथ ही हमारे शरीर पर लगा हुआ कस्तूरी और चन्दन का लेप, शिव के शरीर पर लगी हुई भस्म और उनके शरीर पर छाई चन्द्रमा की सफेद चाँदनी नहीं है। हमने तो कस्तूरी और चंदन द्वारा अपने शरीर को सजा रखा है।

हमारी यह काले रंग वाली चोली शिव के शरीर पर लिपटी हुई हाथी की खाल भी नहीं है। यदि तू हमें शिव ही समझता है तो जरा यह तो सोच कि हमारे साथ नन्दी और शिव के गण कहाँ हैं ? अर्थात् यदि हम शिव होतीं तो हमारे साथ नन्दी और शिव के गण भी अवश्य होते, क्योंकि शिव इनके बिना अकेले कभी नहीं रहते। हम तो नितान्त अकेली और असहाय हैं। फिर तू हमें क्यों सता रहा है ?

इसके उपरान्त विलाप करती हुई—कृष्ण से कामदेव की शिकायत करती हैं कि हे स्वामी ! तुम्हारे दर्शन न होने के कारण यह कामदेव बलपूर्वक हठी बनकर हमें कष्ट दे रहा है। इसलिए तुम आकर हमें दर्शन दे, इस कष्ट से बचा लो।

विशेष—(१) समस्त पद में भ्रान्तापह्नुति अलंकार की छटा दर्शनीय है।

(२) कामदेव द्वारा शृंगार-प्रसाधित गोपियों को भ्रमवश शिव समझ उन्हें सताने का यह रूपक प्राचीन काल से कवियों का अत्यन्त प्रिय विषय रहा है। संस्कृत-साहित्य तथा सूर-पूर्व-हिन्दी साहित्य में इसके कई उदाहरण मिलते हैं। इसी भाव को ध्वनित करने वाला संस्कृत का एक पद तथा मैथिल-कोकिल विद्यापति के एक पद की प्रारम्भिक पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

संस्कृत का पद—

"जटा नेयं वेणी कृतकचकलापोनगरलं,
गले कस्तूरीयं शिरसिशशिलेखा न कुसुमम्।
इयंभूतिर्नाङ्गे प्रियविरह जन्मा धवलिमा,
पुराराति भ्रान्त्या कुसुमशर ! किं मा व्यथयसि ?"

विद्यापति का पद—

"कतन बदन मोहि देसि मदना,
हर नहिं बल मोहि जुवति जना।"—आदि

इसी भाव को हिन्दी के अन्य अनेक कवियों ने भी इसी प्रकार पल्लवित किया है।

राग मलार

कोकिल ! हरि को बोल सुनाव।
मधुबन तें उपटारि स्याम कहँ, या ब्रज लै कै आव॥
जाचक सरनहि देत सयाने, तन-मन-धन सब साज।
सुजस बिकात बचन के बदले, क्यों न बिसाहत आज॥
कीजै कछु उपकार परायो, यहै सयानो काज।
सूरदास प्रभु कहु या अवसर, बन-बन बसंत बिराज॥३१६॥

शब्दार्थ—बोल=वाणी। उपटारि=उचाट कर। कहँ=को। जाचक=याचक। सरनहि=शरण में आए हुए। सयाने=चतुर, सज्जन। बिकात=बिक रहा है। बिसाहत=खरीद लेती।

भावार्थ—कोकिल की वाणी काम को उद्दीप्त करने वाली होती है। उसे सुन गोपियाँ व्यथित हो कोकिल से प्रार्थना करती हैं कि वह कृष्ण के पास जा, उन्हें अपनी वाणी सुनाए जिससे वह भी काम से व्याकुल हो गोपियों के पास चले आएँ। गोपियाँ कोकिल से प्रार्थना करती हुई कहती हैं कि—

हे कोकिल ! तू कृष्ण के पास जाकर उन्हें अपनी मधुर-रसीली वाणी सुना इस प्रकार उन्हें मथुरा से विरक्त कर, उनके मन को वहाँ से उचाट कर, उन्हें यहाँ ब्रज में ले आ। सज्जन और चतुर पुरुष अपनी शरण में आए हुए याचक को तन, मन, धन और सब तरह का सामान देकर दानी होने का यश प्राप्त करते हैं। परन्तु तुझे तो यहाँ केवल अपनी वाणी के बदले में ही इतना सुन्दर यश मिल रहा है। अर्थात् तुझे तो बिछुड़े हुओं को परस्पर मिलाने का यश प्राप्त हो रहा है। फिर तू आज ही उस यश को थोड़ा-सा ही मूल्य—वाणी का—देकर हमसे सौदा क्यों नहीं कर लेती, क्यों नहीं उसे आज ही खरीद लेती।

सज्जन पुरुषों का काम सदैव दूसरों का थोड़ा-सा उपकार करना होता है। तू भी सज्जन है, इसलिए हमारा यह जरा-सा काम कर, उपकार कर दे। कृष्ण के पास जाकर उनसे यह कहना कि ब्रज में इस समय वन-वन में वसन्त छाया हुआ है। इसलिए मिलन के लिए यह समय सबसे अच्छा है। यह सुनते ही कृष्ण व्याकुल हो तुरन्त यहाँ चले आयेंगे।

राग सारंग

कहाँ रह्यो, माई ! नंद को मोहन ।
वह मूरति जिय तें नहिं बिसरति, गयो सकल-जग-सोहन ।।
कान्ह बिना गोसुत को चारै, को ल्यावै भरि दोहन ?
माखन खात संग ग्वालन के, और सखा सब गोहन ।।
ज्यों-ज्यों सुरति करति हौं, सखि री ! त्यों-त्यों अधिक मनमोहन ।
सूरदास स्वामी के बिछुरे, क्यों जीवहिं इन छोहन ।।३२०।।

शब्दार्थ—माई=सखी । सोहन=शोभा । चारै=चराए । दोहन=दोहनी, दूध का वर्तन । गोहन=साथ । छोहन=क्षोभ से, दुःख से ।

भावार्थ—कृष्ण की स्मृति से व्याकुल हो, गोपियाँ उनके बाल्य-काल की क्रीड़ाओं और कार्यों का स्मरण करती हुईं परस्पर कह रही हैं कि—

हे सखि । नन्द के मोहन कृष्ण कहाँ जाकर बैठ गए हैं । अभी तक लौटकर नहीं आए । सम्पूर्ण संसार को शोभा प्रदान करने वाली अर्थात् अद्वितीय सौन्दर्यशाली उनकी वह मोहिनी मूर्ति हमें क्षण भर के लिए भी नहीं भूलती । कृष्ण के बिना अब यहाँ कौन गाएँ चराए और कौन दूध दुहकर दोहनी भर कर लाए ? वह जब यहाँ रहते थे तो ग्वाल-बालों के साथ मिलकर माखन खाते थे और सारे सखाओं के साथ मिल नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ किया करते थे । हे सखि ! हम जैसे-जैसे उनकी याद करती हैं, वे हमें वैसे ही वैसे और अधिक मन को मोहने वाले लगने लगते हैं । यह बताओ कि ऐसे स्वामी से बिछुड़ कर, उनके वियोग में ऐसे कष्ट सहते हुए हम कैसे जीवित रह सकेंगी ?

विशेष—स्मरण अलंकार है ।

परम चतुर सुंदर सुख-सागर तन को प्रिय प्रतिहार ।
रूप-लकुट रोके रहतो, सखि ! अनुदिन नंदकुमार ।।
अब ता बिनु उर-भवन भयो है सिव-रिपु को संचार ।
दुख आवत मन, हटक न मानत, सूनो देख अगार ।।
असु स-उसास जात अंतर तें करन न सकुच विचार ।
निसा निमेष-कपाट लगे बिनु ससि सत-सत सर मार ।।
यह गति मेरी भई है हरि बिनु, नाहिं कछू परिहार ।
सूरदास प्रभु बेगि मिलहु, तुम नागर नंदकुमार ।।३२१।।

शब्दार्थ—प्रतिहार=पहरेदार, द्वारपाल । रूप-लकुट=अपने सुन्दर रूप रूपी लाठी से । उर-भवन=हृदय रूपी भवन । सिव-रिपु=कामदेव । हटक=निषेध,

मना करना। अगार=घर। असु=प्राण। स-उसास=साँस के साथ। निमेष-कपाट=पलक रूपी किवाड़। सर=वाण। परिहार=दूर करने का, रक्षा करने का।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण के बिना अनेक संकटों का सामना कर रही हैं। वे अपने इन्हीं संकटों का वर्णन करती हुई कह रही हैं कि—

हे सखि! परम चतुर और सुख के सागर प्रियतम कृष्ण पहले हमारे इस शरीर के पहरेदार थे, इसकी रखवाली किया करते थे, वे अपने रूप रूपी लाठी लिए रात-दिन हमारे शरीर के भीतर प्रवेश करने की चेष्टा करने वाले दुष्टों को रोके रहते थे। भाव यह है कि गोपियों का हृदय कृष्ण के अनिन्द्य रूप में डूब, रात-दिन उन्हीं का ध्यान करता रहता था, इसलिए वहाँ अन्य कोई भावना या विकार प्रवेश नहीं कर पाता था। परन्तु जब से कृष्ण हमारे इस हृदय-रूपी भवन को सूना करके चले गए हैं, उस दिन से उनके बिना शून्य बने इस हृदय-रूपी भवन में शिव के शत्रु कामदेव का संचार (प्रवेश) हो गया है। अर्थात् गोपियों को काम सताने लगा है। इसके सूने हृदय में प्रविष्ट हो जाने से मन में बहुत दुःख होता है। घर को सूना देख कर, अर्थात् हमको अबला समझ और हृदय-रूपी घर को रक्षक-हीन सूना जान, यह दुःख भी हमारे मना करने पर, रोकने पर भी नहीं मानता। और घर में घुस हमें व्यथित करता है।

प्राणाधार कृष्ण के न रहने से अब हमारे ये प्राण भी इतने स्वतन्त्र और स्वच्छन्द हो गए हैं कि साँसों के साथ हृदय से बाहर निकल जाते हैं और ऐसा करते समय तनिक भी संकोच या विचार नहीं करते। अर्थात् विरह की अतिशयता के कारण साँस लेने में प्राणान्तक कष्ट होता है। रात के समय पलक-रूपी किवाड़ बन्द न होने के कारण चन्द्रमा सैकड़ों वाण मार-मारकर हमें व्यथित करता रहता है। अर्थात् विरह के कारण रात को नींद नहीं आती, आँखें झपकती तक नहीं और चन्द्रमा की कामोद्दीपक किरणों के प्रभाव से शरीर में कामोद्दीपन उत्पन्न हो, भयानक कष्ट पहुँचाता है। अब हमारी ऐसी विषम और दयनीय दशा हो गई है। कृष्ण के बिना हमारी रक्षा का कोई उपाय नहीं है। अर्थात् कृष्ण के आने पर ही हमारी यह विरह-वेदना शान्त हो सकेगी। इसलिए हे चतुर नन्दकुमार! तुम शीघ्र आकर हमसे मिलो और इस दुःख से हमें बचाओ।

विशेष—(१) गोपियों की विरह-व्यथा का अप्रत्यक्ष वर्णन शैली द्वारा मार्मिक चित्रण हुआ है। ऐसे पदों में सूर का काव्य-चमत्कार दर्शनीय बन गया है।

(२) 'उर-भवन' तथा 'रूप-लकुट' में रूपक; "दुख..............अगार" में रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार है।

राग मलार

ऐसो सुनियत है द्वै सावन।
बहै बात फिरि-फिरि सालति है स्याम कह्यो है आवन॥

तब तौ प्रीति करी, अब लागीं अपनो कीयौ पावन।
यहि दुख सखी निकसि उत जैये जितै सुनै कोउ नावँ न।।
एकहि बेर तजी हम्ह, लागे मथुरा नेह बढ़ावन।
सूर सुरति करत होति हमारी, लागीं नीकी भावन।।३२२।।

शब्दार्थ—सुनियत है=सुना जाता है। बहै=वही। सालति=दुःख देती है। कीयौ पावन=किए हुए का फल पाने लगीं। उत=उधर। नीकी=अच्छी या सुन्दरी। भावन=अच्छी लगने लगीं। नावँ=नाम।

भावार्थ—सावन का महीना विरह की वेदना सहने वालों के लिए अत्यधिक कष्टकारी होता है। विरहिनी गोपियाँ कहीं से यह सुन आई हैं कि यह वर्ष 'अधिक मास' का वर्ष है और इस वर्ष सावन का महीना एक के स्थान पर दो हैं। अर्थात् दो महीने तक सावन मास ही रहेगा। इससे अत्यधिक व्याकुल हो गोपियाँ परस्पर कह रही हैं कि—

ऐसा सुना जाता है कि इस वर्ष सावन के दो महीने हैं। यह सुनकर हमें कृष्ण की वही बात कि—वह शीघ्र लौटकर आयेंगे, बार-बार पीड़ा पहुँचाती है। अर्थात् कृष्ण अपना वायदा पूरा कर लौटकर नहीं आए और अब उनके बिना सावन के ये दो महीने हमें बहुत सन्ताप देंगे। परन्तु इसमें दोष हमारा ही है। तब तो हम लोक-लाज, कुल-कानि आदि की परवाह न कर, कृष्ण से प्रेम करने लगी थीं और अब अपने उस किये हुए का फल भोग रही हैं। हे सखि! इस दुःख के कारण यह मन करता है कि घर से निकलकर वहाँ चली जायँ जहाँ कोई हमारा नाम तक न जानता हो। कृष्ण तो ऐसे निर्मोही निकले कि उन्होंने हमें एक बार ही; अर्थात् पूर्ण रूप से त्याग दिया और मथुरा में अन्य नारियों (कुब्जा) से स्नेह बढ़ाने लगे। अब उन्हें हमारी याद क्यों आती होगी, क्योंकि अब तो उन्हें नगर की सुन्दर स्त्रियाँ अच्छी लगने लगी होंगी। इसलिए वे उन्हें त्याग हम गँवरिनों के पास क्यों आने लगे?

विशेष—(१) गोपियाँ अन्तिम दो पंक्तियों में कृष्ण की विलासी-प्रवृत्ति पर व्यंग्य कर रही हैं। यही व्यंग्य उन्होंने एक और पद में भी किया है—

"श्याम विनोदी रे मधुबनियाँ।
अब हरि गोकुल काहे को आवहिं, चाहत नव जोवनियाँ।।"

(२) किसी वर्ष में अधिक मास होता है जिसे "लोंद का महीना" कहते हैं। इसके अनुसार वर्ष का कोई भी मास दो महीने का होता है। गोपियों के अनुसार उस वर्ष दो सावन का योग है।

राग सारंग

कहा होत अब के पछिताने?
खेलत खात हँसत अँग-संग रहि, हम न स्याम-गुन जाने।,

को बसुदेव, कौन की थाती, को है साखि जबहिं उन आने।
सो बतराय देहु, ऊधो ! हमैं तुमहूँ तौ अति निपट सयाने।।
यह नहिं कथा काक कोकिल की, कपट रंग मन माहिं समाने।
सूर, समय ऋतुराज बिराजे, मिले जाय निज कुल पहिचाने।।३२३।।

शब्दार्थ—थाती=धरोहर। साखि=साक्षी, गवाह। आने=लाए। बतलाय=बता दो। काक=कौआ।

भावार्थ—कृष्ण के अपने प्रति कपटपूर्ण व्यवहार पर क्षुब्ध हो गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

अब पछताने से क्या होता है ? कृष्ण के साथ खेलते, खाते, हँसते और उनके शरीर के साथ रहते हुए; अर्थात् उनके साथ केलि-क्रीड़ा करते हुए भी हम उनके असली गुणों को न पहचान सकीं। अर्थात् हम यह न जान सकीं कि कृष्ण स्वभाव के कपटी निकलेंगे। हे उद्धव ! तुम हमें यह बता दो कि कौन तो वसुदेव हैं, कृष्ण किस की धरोहर के रूप में यहाँ रहे थे, और जब उनको यहाँ लाया गया था, उस समय का प्रत्यक्षदर्शी कौन-सा गवाह है ? हे उद्धव ! तुम तो अत्यन्त चतुर माने जाते हो, हमारे इन प्रश्नों का उत्तर दो। अर्थात् तुम्हारा यह कहना झूठ है कि वसुदेव कृष्ण का जन्म होते ही उन्हें यहाँ ब्रज में लाकर नन्द के पास धरोहर के रूप में रख गए थे।

यह कौए और कोयल की-सी कथा नहीं है कि जन्म लिया कोयल के यहाँ, पले कौए के यहाँ, और बड़े होने पर उड़कर अपने कुल में जा मिले। हमें ऐसा लगता है कि उनके मन में कपट पहले से ही समाया हुआ था। अर्थात् वह अपनी स्वार्थ-सिद्धि (भोग-विलास) के लिए हमसे प्रेम का दिखावा किया करते थे और स्वार्थ-सिद्धि हो जाने पर हमें त्याग चले गए। इसका प्रमाण यह है कि यहाँ ब्रज में जब तक वसन्त की छटा छाई रही अर्थात् गोपियों का यौवन वसन्त के समान खिला रहा, तब तक तो वह यहाँ रह उसका उपभोग करते रहे और वसन्त बीत जाने पर (गोपियों का यौवन ढल जाने पर) ब्रज को त्याग, अपने कुल को पहचान, उसी के साथ जा मिले।

विशेष—(१) 'यह नहिं⋯कोकिल की' में दृष्टान्त अलंकार है।
(२) कृष्ण के कपट-प्रेम पर व्यंग्य है।

बिनु माधव राधा-तन, सजनी ! सब विपरीत भई।
गई छपाय छपाकर की छबि, रही कलंकमई।।
लोचनहू तें सरद-सारसै, कुछबि निचोय लई।
आँच लगे च्योनो सोनो ज्यों, त्यों तन-धातु हई।।
कदली-दल सी पीठि मनोहर, सो जनु उलटि गई।
संपति सब हरि हरी, सूर प्रभु, बिपदा दई दई।।३२४।।

शब्दार्थ—छपाय=छिप। छपाकर=चन्द्रमा। कलंकमई=काली, कलंकित।

सरद-सारसै=शरद-ऋतु का कमल। निचोय=निचोड़। च्योनो=रसायनी की घरिया। तन-धातु=शरीर रूपी धातु। हुई=भस्म हो गई, मारी गई। कदली-दल=केले के पत्ते के समान चिकनी और चौड़ी। उलटि गई=उलटी हो गई। हरी=हर ली। दई=दैव, विधाता। दई=दे दी।

भावार्थ—कृष्ण के विरह में व्यथित राधा के शरीर की क्षीणता और मलिनता का उल्लेख करती हुई गोपियाँ कह रही हैं कि—

हे सखि! कृष्ण के बिना राधा के शरीर की दशा बिल्कुल विपरीत हो गई है। अर्थात् अब उसके शरीर की सम्पूर्ण विशेषताएँ नष्ट होकर उसकी दशा कुछ और ही हो गई है। राधा के मुखचन्द्र की चन्द्रमा के समान उज्ज्वल कान्ति अब जाती रही है और केवल चन्द्रमा का कलंक (कालिमा) शेष रह गया है। अर्थात् अब राधा का मुख कान्तिहीन हो काला पड़ गया है। पहले राधा के नेत्र शरद-कालीन कमल के समान उज्ज्वल, कोमल और सौन्दर्यशाली थे, परन्तु अब ऐसा लगता है—मानो किसी ने उनका सम्पूर्ण सौन्दर्य निचोड़ लिया हो। इसलिए वे निष्प्रभ जड़ और श्री-हीन हो गए हैं। जिस प्रकार कोई रसायन-शास्त्री सोने को घरिया में बन्द कर, अग्नि में तपा उसे भस्म कर देता है, उसी प्रकार विरह के इस ताप ने राधा के कंचन की-सी कान्ति वाले शरीर को दग्ध कर उसे भस्म कर दिया है। अर्थात् विरह-ताप के कारण उसके शरीर की स्वर्ण की-सी कान्ति नष्ट हो गई है और वह राख के समान काला और निःसत्व हो गया है।

राधा की जो पीठ पहले केले के पत्ते के समान चिकनी और चौड़ी थी, वह अब विरह-ताप के कारण ऐसी हो गई है—मानो केले के पत्ते को उलटा करके रख दिया गया हो। (केले के पत्ते का दूसरा भाग खुरदरा होता है, और उसमें डण्डल का लम्बा डण्डा काफी उभरा रहता है। राधा की पीठ भी वैसी ही खुरदरी हो गई है और शरीर कृश हो जाने के कारण उसकी रीढ़ की हड्डी उस डण्ठल के समान ऊपर उभर आई है।) इस प्रकार कृष्ण ने राधा के शरीर की सारी सम्पत्ति का हरण कर लिया है; अर्थात् उसका सम्पूर्ण शारीरिक सौन्दर्य नष्ट कर दिया है और इसके बदले में विधाता ने उसे अनेक विपदाएँ दे दी हैं। अर्थात् राधा अब बहुत दुःखी रहती है। कृष्ण-विरह ने उसके सारे सुखों को नष्ट कर डाला है।

विशेष—(१) 'गई छपाय···कलंकमई' में रूपकातिशयोक्ति; 'कदली-दल सी' में उपमा; 'जनु उलटि' में उत्प्रेक्षा; 'हरी-हरी' में परिकरांकुर; 'दई-दई' में यमक अलंकार है तथा सम्पूर्ण पद में परिवृत्ति अलंकार माना जा सकता है।

(२) राधा के सौन्दर्य का सूक्ष्म निरीक्षण तथा रस की पूर्ण व्यंजना द्रष्टव्य है।

कराव रैं, सारंग! स्यामहिं सुरति कराव।
प्रौढ़े होहिं जहाँ नँदनंदन, ऊँची टेर सुनाव॥
गयो ग्रीषम, पावस ऋतु आई, सब काहू चित चाव।
उन बिनु ब्रजबासी यों सोहत, ज्यों करिया बिनु नाव॥

तेरो कह्यो मानिहैं मोहन, पाँय लागि लै आव।
अब की बेरि सूर के प्रभु को, नैनन आनि दिखाव ॥३२५॥

शब्दार्थ—कराव=कराओ। सारंग=पपीहा। प्रौढ़े=लेटे हुए। टेर=स्वर। करिया=मल्लाह।

भावार्थ—वर्षा ऋतु आने पर गोपियाँ विरह से व्यथित हो पपीहा से प्रार्थना कर रही हैं कि—

हे पपीहा! तू जाकर कृष्ण को हमारी याद दिला दे। जहाँ नन्दनन्दन लेटे हों, तू वहीं पहुँचकर ऊँचे स्वर में पुकार यह कहना कि अब ग्रीष्म ऋतु बीत गई है, वर्षा ऋतु आ गई है और सबके मन उमंगित हो उठे हैं। ऐसी दशा में कृष्ण के बिना सम्पूर्ण ब्रजवासी ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे बिना मल्लाह की नाव। हे पपीहे! हमें विश्वास है कि मोहन तेरा कहना मान जायेंगे। तू उनके चरण पकड़ कर उन्हें यहाँ ले आ। तू केवल इस बार कृष्ण को यहाँ लाकर हमारे इन नयनों को उनके दर्शन करा दे।

विशेष—(१) प्रथम पंक्ति में 'कराव' शब्द की दो बार आवृत्ति गोपियों की आतुरता और उनके विरहोन्माद को ध्वनित कर रही है।

(२) द्रष्टान्त अलंकार की छटा दर्शनीय है।

सखी री! हरि आवैं केहि हेत?
वै राजा तुम ग्वाल, बुलावत यहै परेखो लेत॥
अब सिर छत्र कनक-मनि राजै, मोरचंद नहिं भावत।
सुनि ब्रजराज पीठि दै बैठत, जदुकुल-बिरद बुलावत॥
द्वारपाल प्रति पौरि बिराजत, दासी सहस अपार।
गोकुल गाय-दुहन-दुख लौं, सूर, सहै सुकुमार॥३२६॥

शब्दार्थ—केहि हेत=किस लिए। परेखो=उलाहना, मलाल। मोरचन्द=मयुर-पंखों का मुकुट। भावत=अच्छा लगता। पीठि दै=मुँह मोड़कर। बिरद=यश। प्रति=प्रत्येक। पौरि=ड्यौढ़ी।

भावार्थ—गोपियाँ यदुपति, मथुराधीश। कृष्ण पर व्यंग्य कसती हुई कह रही हैं कि—

हे सखि! अब कृष्ण यहाँ किसलिए आने लगे? अर्थात् अब उनके लिए यहाँ ब्रज में कौन-सा आकर्षण रह गया है? अब वे राजा हैं और तुम ग्वालिनें हो। तुम्हारी उनकी समानता ही क्या है! फिर भी तुम उन्हें यहाँ बुलाती हो, इस बात का उन्हें बड़ा परेखा (मलाल) रहता है। अर्थात् तुम्हारी यह हरकत उन्हें अच्छी नहीं लगती। अब तो उनके सिर पर मणि-जटित स्वर्ण-छत्र शोभा देता रहता है, इसलिए उन्हें अब मोर-पंखों पर बने चन्द्रमा अर्थात् मयूर-पंखों का मुकुट अच्छा नहीं

लगता। अब यदि कोई उन्हें 'ब्रजराज' कह देता है तो वे उसकी ओर पीठ करके बैठ जाते हैं और हमेशा यादव-वंश की प्रशंसा के गीत ही गवाया करते हैं। अर्थात् अब उन्हें यह तनिक भी अच्छा नहीं लगता कि कोई उन्हें यह याद दिलाए कि कभी ब्रज से भी उनका कोई सम्बन्ध रहा था।

उनके महल की प्रत्येक ड्योढ़ी पर द्वारपाल (पहरेदार) खड़े रहते हैं और हजारों दासियाँ उनकी सेवा में प्रस्तुत रहती हैं। इसलिए उनका वह सुकुमार शरीर अब गोकुल में आकर गाय दुहने के कष्ट को कब तक सहन कर सकेगा। इसी कारण अब वह मथुरा के उस वैभव और उसके सुख को त्याग यहाँ गोकुल में कष्ट सहने नहीं आना चाहते। उन्होंने ब्रज को पूरी तरह से भुला दिया है।

विशेष—इस पद में गोपियाँ कृष्ण के वैभव पर व्यंग्य कसती हुई मानो इस कहावत को चरितार्थ कर रही हैं कि 'सम ही सों कीजिए, ब्याह, बैर अरु प्रीति।'

राग टोड़ी

परम सुखद सिसुता को नेहु।
सो जनि तजहु दूर के बासे, सुनहु सुजान! जानि गति येहु।।
भँवर, भुजंग, काक अरु कोकिल, जनि पतियाहूँ चितै तुम देहु।
ऊधो अरु अक्रूर क्रूरकृत उपबन कुटिल किए रचि गेहु।।
ये द्वै बिनतै लिखी कृपानिधि सो आदर करि लेहु।
सूरदास प्रभु क्यों न मिलहु अब, तौ तन-मन फागुन के मेहु।।३२७।।

शब्दार्थ—सिसुता=बचपन। बासे=निवास। येहु=यह। पतियाहु=विश्वास करो। जनि=मत। क्रूरकृत=क्रूर कर्म करने वाले। लेहु=स्वीकार करो। फागुन के मेहु=न रहने वाले, बिना जल या जीवन के।

भावार्थ—विरह-व्यथित गोपियाँ अपने और कृष्ण के बचपन के स्नेह का कृष्ण को स्मरण कराती हुई उन्हें पत्र लिखकर शीघ्र मिलने की प्रार्थना कर रही हैं—

हे सुजान! बचपन का प्रेम अत्यन्त सुखद होता है। इसलिए तुम हमारे इस बचपन के प्रेम को दूर मथुरा में बस जाने के कारण मत तोड़ो। तुम भी इस प्रेम को जानते हो कि यह कितना प्रगाढ़ और अटूट होता है। तुम भ्रमर, सर्प तथा कौए और कोयल के प्रेम की ओर ध्यान मत दो और उनका विश्वास मत करो; क्योंकि इनका प्रेम स्वार्थ-भरा होता है। स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर ये उस प्रेम को भंग कर देते हैं। इसके विपरीत, बचपन का प्रेम निःस्वार्थ और स्थायी होता है। हमारा-तुम्हारा ऐसा ही प्रेम रहा है। उद्धव और अक्रूर के कर्म तो अत्यन्त क्रूरता भरे रहे हैं। उन्होंने फलते-फूलते उपवनों और घरों को अपने क्रूर कर्मों द्वारा उजाड़ और वीरान बना दिया है। अर्थात् अक्रूर तुम्हें अपने साथ लिवा ले गए और ब्रज को सूना बना गए। उद्धव हमसे तुम्हारी स्मृति तक को छीन लेने के लिए पधारे और हमारे रहे-सहे सुख को भी नष्ट कर गए।

हे कृपानिधि ! हमने अपने पत्र में तुम्हारे लिए यही दो प्रार्थनाएँ लिख दी हैं, उन्हें सम्मान के साथ, अर्थात् हमारे उस बचपन के प्रेम का सम्मान कर स्वीकार कर लेना । ये दो प्रार्थनाएँ यह हैं कि—एक तो भ्रमर, सर्प, कौआ, कोयल आदि के प्रेम का अनुसरण मत करना, और दूसरे, अक्रूर और उद्धव की बातों में मत आना । हे स्वामी ! तुम अब भी आकर हमसे क्यों नहीं मिलते क्योंकि अब हमारा यह तन और मन—दोनों ही फागुन के मेह के समान जलहीन हो उठे हैं । अर्थात् न जाने कब हमारा प्राणान्त हो जाय । इसलिए तुम शीघ्र आकर हमें दर्शन दो ।

विशेष—'फागुन के मेह' से अभिप्राय यह है कि फागुन मास के बादल प्रायः जल-हीन होते हैं । थोड़ी-सी वर्षा कर फिर पूर्णतः गायब हो जाते हैं । यहाँ गोपियों के शरीर और मन के अत्यधिक क्षीण और शक्तिहीन हो जाने से अभिप्राय है ।

राग सारंग

बिनु धर वह उपराग गह्यो ।
ना जानौं यह राहु उमापति, कित ह्वै सोध लह्यो ।।
ताके बीच नीच नयनन में, अंजन-रूप रह्यो ।
बिरह-सिंधु-बल पाय प्रगट भयो, नाहिन परत कह्यो ।।
दुसह दसन-दुख दलि नैनन जल, परस न परत सह्यो ।
मानहुँ स्रवत सुधा अंतर तें, उर पर जात बह्यो ।।
अब मुखससि ऐसो लागत ज्यों, बिनु माखनहि मह्यो ।
सूर दरस-हरि दान दिए बिनु, सुख-प्रकास निबह्यो ।।३२८।।

शब्दार्थ—धर=धड़, शरीर । उपराग=ग्रहण, राहु, उमापति=शिव । सोध=शोध, पता । अंजन-रूप=काजल के रूप में, राहु का रंग काला माना गया है । दसन-दुख=दाँतों का दुःख । दलि=दलन कर, मर्दन कर । परस=स्पर्श । स्रवत=बहता है । मह्यो=मट्ठा, छाछ । निबह्यो=नष्ट हो गया है ।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण-विरह में अत्यन्त व्यथित हो विरह को कामदेव रूपी राहु और गोपियों या राधा के मुख को चन्द्रमा सिद्ध कर राहु द्वारा चन्द्रमुख को ग्रसित किये जाने का रूपक बाँधती हुई कह रही हैं कि—

इस धड़-हीन अर्थात् शरीर-हीन कामदेव रूपी राहु ने राधा के मुख रूपी चन्द्रमा को ग्रस लिया है । (यहाँ 'बिनु धर' से अभिप्राय राहु और कामदेव—दोनों से है । राहु का केवल मुख होता है, धड़ नहीं; और कामदेव धड़हीन अर्थात् शरीरहीन—अनंग माना गया है । राहु का शत्रु चन्द्रमा होता है और कामदेव का शिव ।) भाव यह है कि राधा के सम्पूर्ण शरीर पर अनंग कामदेव का अधिकार हो गया है और वह राधा को सता रहा है । न जाने इस राहु रूपी कामदेव ने अपने शत्रु उमापति

शिव का पता किधर से लगा लिया। (शिव के मस्तक पर चन्द्रमा विराजमान रहता है, इसलिए राहु चन्द्रमा की तलाश करता हुआ शिव के पास जा पहुँचा है।)

हमें तो ऐसा लगता है कि यह राहु उस चन्द्रमा (भाल रूपी चन्द्रमा) के नीचे ही नयनों में काजल के रूप में छिपा बैठा रहा था। (राहु और कामदेव—दोनों का रंग काला माना गया है। यहाँ काजल ही राहु है।) और विरह रूपी सागर का बल पाकर प्रकट हो गया है। यह हमें ग्रस कर कितनी पीड़ा पहुँचा रहा है, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। भाव यह है कि विरह के कारण आँखों से बहने वाले आँसुओं के साथ यह काजल रूपी राहु प्रकट हो गया है। काजल भरे आँसुओं ने सारे मुख को काला कर दिया है।

यह कामदेव रूपी राहु अपने दाँतों से राधा के मुखचन्द्र को चबा-चबाकर उन्हें असह्य दुःख दे रहा है। इस दुःख के कारण उसके नेत्रों से जल बह रहा है। और विरह के ताप के कारण आँसुओं रूपी यह बहता हुआ जल इतना गर्म हो उठा है कि उसका स्पर्श तक सहन नहीं होता। भाव यह है कि विरहाधिक्य के कारण राधा के नेत्रों से गर्म आँसू बह रहे हैं। उन्हें देखकर ऐसा लगता है, मानो राहु द्वारा चन्द्रमा को मुँह में दबा लेने के कारण चन्द्रमा के भीतर भरा हुआ अमृत बाहर निकलकर सारे वक्ष-स्थल पर बहता चला जा रहा हो। (यहाँ आँसू को अमृत इसलिए माना है कि ये आँसू अमृत के समान सुखद-शीतल प्रेम के प्रतीक हैं, जिन्हें विरह ने उत्तप्त बना दिया है।)

कामदेव रूपी राहु द्वारा ग्रस लिए जाने के कारण राधा का मुखचन्द्र ऐसा निष्प्रभ हो उठा है, जैसे मक्खन से रहित छाछ। अर्थात् काम की वेदना के कारण राधा के मुख की कान्ति नष्ट हो गई है। (राहु द्वारा ग्रसित चन्द्रमा भी फीका और काला-सा पड़ जाता है।) अब कृष्ण-दर्शन के दान के अभाव में इस मुखचन्द्र का सम्पूर्ण मुख और प्रकाश नष्ट हो गया है। अर्थात् जिस प्रकार चन्द्र-ग्रहण होने पर राहु से उसकी मुक्ति करवाने के लिए नाना प्रकार के दान किये जाते हैं, उसी प्रकार राधा को यदि कृष्ण-दर्शन रूपी दान मिल जाय तो तभी उसके सुख और मुखचन्द्र की कान्ति की रक्षा हो सकती है। भाव यह है कि कृष्ण के दर्शन पाते ही राधा के मुख की गई कान्ति लौट आयगी और वह सुखी हो उठेगी।

विशेष—(१) इस पद में राहु और कामदेव में रूप तथा क्रिया का साम्य मान उनके द्वारा सुन्दर रूपक की रचना की गई है।

(२) विरह-व्यथिता राधा के कान्तिहीन मुख का चन्द्र-ग्रहण से सांगरूपक प्रस्तुत किया गया है।

(३) 'बिनु·······गह्यो' में रूपक और रूपकातिशयोक्ति; 'मानहु·······बह्यो' में उत्प्रेक्षा; 'अब·······मह्यो' में उपमा, तथा 'सूर·······निबह्यो' में भ्रम नामक अलंकार है।

गोपालहि बालक ही तें टेव ।
जानति नाहिं कौन पै सीखे, चोरी के छल-छेव ।।
माखन-दूध धर्‌यो जब खाते, सहि रहती करि कानि ।
अब क्यों सही परति, सुनि सजनी ! मनमानिक की हानि ।।
कहियो, मधुप ! सँदेस स्याम सों, राजनीति समुझाय ।
अजहूँ तजत नाहिं वा लोभै, जुगुत नहीं जदुराय ।।
बुधि बिबेक सरबस या ब्रज को, लै जो रहे मुसकाय ।
सूरदास प्रभु के गुन-अवगुन, कहिए कासों जाय ।।३२९।।

शब्दार्थ—टेव=आदत । छल-छेव=छल-छन्द । करि कानि=मर्यादा का ख्याल कर । जुगुत=युक्त, ठीक, उचित ।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण की बचपन की चोरी की आदत पर व्यंग्य करती हुई भ्रमर से कह रही हैं कि—

कृष्ण की तो बचपन से ही यह आदत है । न मालूम वे चोरी करने के छल-छन्द किससे सीख आये थे । बचपन में जब वे यहाँ चोरी करके दूध और मक्खन खाया करते थे, तब तो हम लिहाज के मारे उनकी ये हरकतें सह लेती थीं, उनसे कुछ भी नहीं कहती थीं—क्योंकि दूध-मक्खन ऐसी कोई कीमती चीजें नहीं होतीं । परन्तु हे सखि ! जब उन्होंने हमारे मन रूपी माणिक्य जैसी अमूल्य वस्तु चुरा ली है, इसलिए अब उनकी इस हरकत को कैसे सहन किया जा सकता है ?

इसके उपरान्त गोपियाँ मधुप को सम्बोधित कर उससे कहती हैं कि हे मधुप ! तुम जाकर श्याम को राजनीति की ऊँच-नीच समझाते हुए उनसे हमारा यह सन्देश कह देना कि हे यदुराज ! तुम्हारी यह बात उचित नहीं है कि तुम आज भी अपनी उस पुरानी लोभी प्रवृत्ति, चोरी करने की आदत को नहीं छोड़ते । अर्थात् यदि उन्होंने अपनी यह आदत नहीं छोड़ी तो हम राजा से शिकायत कर उन्हें चोरी करने का दण्ड दिलवायेंगी । वह इतने पक्के चोर और लुटेरे हैं कि इस ब्रज का बुद्धि और विवेक-रूपी सम्पूर्ण धन चुराकर अब वहाँ मुस्करा रहे हैं, हमारा मजाक उड़ा रहे हैं । भाव यह है कि कृष्ण के विरह में सम्पूर्ण ब्रज अपनी सारी बुद्धि और विवेक खो, किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन पागल हो उठा है । हे मधुप ! हमारे स्वामी कृष्ण में इतने गुण और अवगुण भरे हुए हैं कि उनकी किससे शिकायत की जाए !

विशेष—(१) इस पद में व्याज-स्तुति की छटा और चमत्कार एक अद्‌भुत सौन्दर्य उत्पन्न कर रहा है ।

(२) 'राजनीति समुझाय' से अभिप्राय यह है कि अब कृष्ण राजा हो गए हैं, इसलिए उन्हें यह चोरी करने की आदत छोड़ देनी चाहिए । क्योंकि अब वही राजा हैं,

इसलिए हम उनकी शिकायत किससे करने जायँ ? वह अपनी इस हरकत द्वारा वही कहावत चरितार्थ कर कह रहे हैं कि—

"राजा ह्वै चोरी करै, न्याय कौन पै जाय ?"

(३) सम्पूर्ण पद में रूपक अलंकार है।

जदपि मैं बहुतै जतन करे।
तदपि मधुप ! हरि-प्रिया जानि कै काहु न प्रान हरे।।
सौरभ-युत सुमनन लै निज कर संतत सेज धरै।
सनसुख होति सरद-ससि, सजनी ! तऊ न अंग जरे।।
चातक मोर कोकिला मधुकर सुर सुनि स्रवन भरे।
सादर ह्वै निरखति रतिपति को नैक न पलक परे।।
निसदिन रटति नंदनँदन, या उर तें छिन न टरे।
अति आतुर चतुरंग चमू सजि अनँग न सर सँचरे।।
जानति नाहिं कौन गुन या तन, जातें सबै डरे।
सूरदास सकुचन श्रीपति के, सुभटन बल बिसरे।।३३०।।

शब्दार्थ—हरि-प्रिया=कृष्ण की प्रेयसि। संतत=निरन्तर। तऊ=तो भी। परे=झपके। चमू=सेना। सर=वाण। सँचरे=चलाए। सकुचन=संकोच, कारण। सुभटन=योद्धगण।

भावार्थ—कृष्ण-विरह के असह्य सन्ताप को सहन करते हुए भी राधा या गोपियों का प्राणान्त क्यों नहीं हुआ, इसका कारण बताती हुई राधा आलंकारिक भाषा में भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से कह रही है कि—

हे मधुप ! यद्यपि मैंने अपना प्राणान्त करने (मर जाने) के अनेक यत्न किए, परन्तु मुझे कृष्ण की प्रिया जानकर किसी को भी मेरे प्राण हरण करने का साहस नहीं हुआ; क्योंकि कृष्ण का बल-विक्रम जगत-प्रसिद्ध है। मैं सुगन्धित पुष्पों को लेकर निरन्तर अपने हाथ से उन्हें अपनी शय्या पर बिछाती रही, जिससे काम उद्दीप्त होकर मेरे प्राणों को समाप्त कर दे। परन्तु उसका भी ऐसा करने का साहस नहीं हुआ। हे सखि ! मैं शरद्-ऋतु के चन्द्रमा की ओर मुख कर टकटकी बाँधे उसकी ओर देखती रही, परन्तु फिर भी उसके ताप से मेरे अंग नहीं जल पाए। मैंने चातक, मोर, कोकिल और मधुकर के स्वरों को अपने कानों में भर लिया, खूब तन्मय होकर सुना। रति के स्वामी कामदेव की ओर मैं आदर सहित, बिना पलक झपकाए टकटकी बाँधे देखती रही। परन्तु इन सारे प्रयत्नों का कोई भी अनुकूल परिणाम नहीं निकला। अर्थात् मैं मर नहीं सकी। भाव यह है कि पुष्प, शारदीय-चन्द्र, चातक-मोर-कोकिल-मधुकर तथा कामदेव विरह को उद्दीप्त करने वाले होते हैं। राधा इन सबको अपनाने पर भी जीवित बनी रही, उसे इसी बात का आश्चर्य है।

अपने न मरने का कारण स्पष्ट करती हुई राधा आगे कहती है कि इसका कारण यह था कि मैं दिन-रात कृष्ण का ही नाम रटा करती हूँ। कृष्ण मेरे इस हृदय से क्षण भर के लिए भी दूर नहीं होते। यद्यपि मुझ पर आक्रमण करने के लिए कामदेव अत्यन्त आतुर हो अपनी चतुरंगिणी सेना को सजाकर चढ़ आया था, परन्तु उसका यह साहस नहीं हुआ कि मुझ पर अपने बाणों द्वारा प्रहार कर सकता। भाव यह है कि कृष्ण के सदैव हृदय में स्थिति रहने के कारण ही काम राधा को पीड़ित करने में असमर्थ रहा था। मैं नहीं जानती कि मेरे इस शरीर में ऐसा कौन-सा गुण है जिसके कारण सब इसके पास तक आने में डरते हैं। मुझे तो इसका एक ही कारण प्रतीत होता है कि श्रीपति कृष्ण के बल-विक्रम से संकुचित हो, सारे योद्धा अपना बल भूल गए हैं, भयभीत रहते हैं, इसी कारण मेरे पास तक नहीं फटक पाते।

विशेष--(१) इस पद में अत्यन्त कलात्मक विचित्र पद्धति द्वारा विरह की अभिव्यक्ति की गई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इस पद का मूलभाव 'मालती-माधव' में भवभूति के इस श्लोक से मिलता है—

"धत्ते चक्षुर्मुक्तुलिनि रणत्कोकिले बालचूते;
मार्गेगात्रं क्षिपति बकुलामोदगर्भस्यवायो।
दाव प्रेम्णा सरस बिसनीपत्र मात्रोत्तरीयः
ताम्यन्मूर्त्तिः श्रयति बहुशो मृत्यवे चन्द्र पादान् ॥"

(२) सम्पूर्ण पद में काव्यलिंग अलंकार है।

राग धनाश्री

माधव सों न बनै मुख मोरे।
जिन्ह नयनन्ह ससि स्याम बिलोक्यो तें क्यों जात तरनि सो जोरे ?
मुनि-मन-रमन ये जोग, कमठ तन मंदर-भार सहै क्यों, ओ रे !
तरुनी-हृदय-कुमुद के बंधन कुंजर क्यों न रहत बिनु तोरे॥
नीलाम्बर-घनस्याम नीलमनि पैयत है क्यों धूम के भोरे।
सूर भृंग कमलन के बिरही चंपक मन लागत कहुँ थोरे॥३३१॥

शब्दार्थ--मोरे=मोड़ते। तरनि=सूर्य। कमठ=कछुआ। मंदर=मन्दराचल पर्वत। क्यों=कैसे। कुमुद=कमल। कुंजर=हाथी। धूम=धुँआ। भोरे=धोखे से। भृंग=भ्रमर। थोरे=थोड़े ही।

भावार्थ--उद्धव के ज्ञानोपदेश को सुन गोपियाँ विभिन्न द्रष्टान्तों के माध्यम से कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य प्रेम-निष्ठा को व्यक्त करती हुई कह रही हैं कि--

हमसे कृष्ण से मुख मोड़ते हुए नहीं बनता। अर्थात् हम उनसे प्रेम करना नहीं छोड़ सकतीं। क्योंकि अपने जिन नेत्रों से हमने शीतल-सुखद कृष्ण रूपी चन्द्रमा के दर्शन किए हैं, उन नेत्रों से अब हमसे सूर्य के समान दाहक निर्गुण ब्रह्म की ओर

कैसे देखा जायगा ? हे उद्धव ! तुम्हारा यह योग तो ऐसा है; जिसकी साधना करने में केवल मुनियों का मन ही रमता है। अर्थात् यह मुनियों के मन को ही अपनी ओर आकर्षित करता है; हम जैसी युवतियों को नहीं। तुम्हारे इस योग की साधना करने के लिए तो कछुए की पीठ के समान कठोर शरीर और मन्दराचल के भार को सहन कर सकने वाली शक्ति चाहिए। हमारा यह कोमल शरीर योग-साधना की विषम-कठोर क्रियाओं के भार को कैसे सहन कर सकेगा ? अतः यह योग-साधना हमारे लिए सर्वथा अग्राह्य है। यह बताओ यदि कमल के रेशों से हाथी को बाँध दिया जाय तो हाथी उस बंधन को बिना तोड़े कैसे रह सकता है ? इसी प्रकार यदि हम युवतियाँ अपने हृदय रूपी कमल द्वारा तुम्हारे योग-रूपी हाथी को बाँधने का प्रयत्न करेंगी तो वह हमारे इस शरीर को तोड़ डालेगा। अर्थात् योग-साधना करने से हमारा यह कोमल शरीर नष्ट हो जायगा और फिर भी हमें ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो पायगी।

हमारे घनश्याम नीले आकाश और नीली मणि के वर्ण वाले हैं। परन्तु क्या धोखे से नीले धुँए को कृष्ण समझकर उन्हें प्राप्त किया जा सकता है ? अर्थात् वर्ण-साम्य धोखा देने वाला होता है। भाव यह है कि कृष्ण को तो केवल प्रेम-साधना द्वारा ही पाया जा सकता है। तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म तो धुएँ के समान निस्सार और कड़वा है। इसलिए उसकी साधना करने से हमें क्या लाभ होगा ? भ्रमर कमल का विरही होता है, इसलिए वह चम्पा के फूल से अपना मन थोड़े ही लगा सकता है ! अर्थात्-जो जिसे प्रेम करता है उसका ही विरह उसे सताता है। परन्तु इस विरह के कारण वह अपने प्रिय को त्याग, अन्य में कभी अनुरक्त नहीं होता। अतः हम भी अपने प्रिय कृष्ण को त्याग, तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म की उपासना नहीं कर सकतीं।

विशेष—(१) 'मुनि-मन-रमन……ओ रे' में रूपक तथा 'सूर……थोरे' में निदर्शना अलंकार है।

(२) गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य निष्ठा और ब्रह्म के प्रति उपेक्षा प्रकट कर रही हैं।

राग जैतश्री

> **और सकल अंगन तें, ऊधो ! अँखियाँ अधिक दुखारी।**
> **अतिहि पिराति, सिराति न कबहूँ, बहुत जतन करि हारी॥**
> **एकटक रहति, निमेष न लावति, बिथा बिकल भइ भारी।**
> **भरि गइँ बिरह-बाय बिनु दरसन, चितवति रहति उघारी॥**
> **रे रे अलि ! गुरु ज्ञान-सलाकहि क्यों सहि सकति तुम्हारी।**
> **सूर सुअंजन आनु रूप-रस आरति हरन हमारी॥३३२॥**

शब्दार्थ—पिराति=दुखती हैं। सिराति=ठण्डी होतीं : निमेष=पलक। बिथा=व्यथा। बिरह-बाय=विरह रूपी सन्निपात। उघारी=खुली हुई, नंगी। गुरु=भारी। सुअंजन=अच्छा अंजन। आरति=दुःख, पीड़ा।

भावार्थ---विरह-व्यथिता गोपियों के सम्पूर्ण अंगों में आखें ही सबसे अधिक दुःखी हैं। गोपियाँ उन्हीं की विपन्नावस्था का वर्णन करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! हमारे अन्य सम्पूर्ण अङ्गों की तुलना में हमारी आँखें सबसे अधिक दुःखी हो रही हैं। इन्हें अत्यन्त पीड़ा होती है, कभी ठण्डक नहीं पड़ती। हम अनेक यत्न कर-कर हार गईं, मगर इन्हें शान्ति न मिली। (आँखें दूखने या आ जाने पर भी ऐसी ही पीड़ा होती है।) इसका कारण यह है कि ये एकटक टकटकी बाँधे कृष्ण की बाट जोहती रहती हैं, क्षण भर के लिए भी पलक नहीं झपकातीं और विरह-व्यथा के कारण अत्यन्त व्याकुल बनी रहती हैं। कृष्ण के दर्शन प्राप्त न होने के कारण इनमें विरह-रूपी वायु भर गई है। इसी कारण ये अपनी सुध-बुध भूल, खुली हुई सदैव उसी मार्ग को देखती रहती हैं। (वैद्यों के अनुसार आँखों में वायु भर जाने से वे खुली की खुली रह जाती हैं।)

हे भ्रमर ! ऐसी विषम दशा में ये तुम्हारी ज्ञान की भारी शलाका (काजल लगाने की सलाई) को कैसे सहन कर सकती हैं। इनके लिए तो कृष्ण के रूप-रस रूपी सुन्दर अंजन लाओ और उसे इनमें लगाकर इनके दुःख को दूर करो। अर्थात् इनका यह कष्ट कृष्ण के दर्शन से ही दूर हो सकेगा, अन्य कोई भी उपाय नहीं है। तुम्हारे ज्ञान द्वारा इनका अहित होगा, इसलिए हम उसे स्वीकार नहीं कर सकतीं। योग-साधना में आँखें बन्द कर ध्यान करना पड़ेगा और ये आँखें कृष्ण के दर्शन बिना खुली ही रहेंगी, बन्द नहीं होंगी।

विशेष—(१) रूपक अलंकार।

(२) 'रे रे अलि' में 'रे' की दो बार आवृत्ति होना, गोपियों की व्याकुलता और ज्ञान के प्रति उनके भय को व्यक्त कर रहा है।

राग कान्हरो

भूलति हौ कत मीठी बातन।
ये अलि हैं उनहीं के सँगी, चंचल चित्त, साँवरे गातन।।
वै मुरली धुनि क जग मोहत, इनकी गुंज सुमन-मन-पातन।
वै उठि आन आन मन रंजत, ये उड़ि अनत रंग-रस-रातन।।
वै नवतनु मानिनि-गृह-बासी, ये निसिदिवस रहत जलजातन।
ये षटपद, वै द्विपद चतुर्भुज, इनमें नाहिं भेद कोउ भाँतन।।
स्वारथ-निपुन सर्बरस-भोगी, जनि पतियाहु बिरह दुख-दातन।
वै माधव, ये मधुप सूर सुनि, इन दोउने कोऊ घटि घाट न।।३३३।।

शब्दार्थ—कत=क्यों, कैसे। गातन=शरीर वाले। सुमन-मन-पातन=फूलों का मन ढालने, अर्थात् आकर्षित करने वाली। आन जान=दूसरों के। रंजत=

प्रसन्न करते हैं। रातन=अनुरक्त रहते हैं। नवतनु=नवयुवती। जलजातन=कमलों। षटपद=छः पैरों वाले। भाँतन=प्रकार का। दुख-दातन=दुःख देने वाले। घटि घाट=घट कर, कम!

भावार्थ—भ्रमर रूपी उद्धव की योग-सन्देश की बातों को सुन गोपी उद्धव को धोखेबाज सिद्ध करती हुईं और कृष्ण के साथ उनके स्वभाव और रूप-साम्य को दिखाती हुईं अपनी सखियों से कह रही हैं कि—

हे सखियों! तुम इस भ्रमर (उद्धव से अभिप्राय है) की इन मीठी बातों को सुन क्यों भुलावे में पड़ती हो। अर्थात् इसका विश्वास क्यों करती हो। क्योंकि यह भ्रमर भी उन्हीं कृष्ण का साथी है। (उद्धव कृष्ण के सखा थे।) उन्हीं के समान इसका चित्त चंचल और शरीर साँवला है। कृष्ण अपनी मुरली की ध्वनि द्वारा सारे संसार को मोहते हैं और यह भ्रमर अपनी मधुर गुंजार द्वारा फूलों के मन को अपनी ओर आकर्षित करता है। कृष्ण एक स्थान को त्याग दूसरे स्थान (मथुरा) पर जा दूसरों (कुब्जा) का मनोरंजन करते हैं या अपना मन बहलाते हैं और यह भ्रमर एक फूल से उड़ अन्य फूलों पर बैठ उनका रसपान करने में निमग्न हो जाता है।

कृष्ण नवयुवती और मान करने वाली नायिका (कुब्जा) के घर के वासी बन गए हैं और यह भ्रमर रात-दिन कमलों के पास ही बना रहता है। यह भ्रमर छः पैरों वाला है और कृष्ण दो पैर और चार भुजाओं वाले हैं अर्थात् संख्या दोनों की ही बराबर अर्थात् छः है। इस प्रकार इन दोनों में किसी भी प्रकार का कोई भी भेद (अन्तर) नहीं है। दोनों ही अपना स्वार्थ सिद्ध करने में निपुण, सब प्रकार के रसों का भोग करने वाले तथा अपने प्रियजनों को विरह का दुःख देने वाले हैं। इसलिए इनका विश्वास मत करो। वे कृष्ण माधव कहलाते हैं और यह भ्रमर मधुप कहलाता है। अर्थात् दोनों ही विलासी और मधु के लोभी हैं। इन दोनों में से कोई भी एक-दूसरे से घट कर नहीं है।

विशेष—इस पद में दो अनुरूप वस्तुओं का सम्बन्ध होने के कारण सम अलंकार माना गया है।

राग सारंग

बारक कान्ह करौ किन फेरो ?
दरसन दै मधुबन को सिधारो, सुख इतनो बहुतेरो ।।
भलेहि मिले बसुदेव देवकी जननि जनक निज कुटुम्ब घनेरो।
केहि अवलंब रहैं हम ऊधो ! देखि दुःख नँद-जसुमति केरो ।।
तुम बिनु को अनाथ-प्रतिपालन, जाजरि नाव कुसंग सबेरो।
गए सिंधु को पार उतार, अब ब्रज यह सूर थक्यो ब्रज-बेरो ।।३३४।।

शब्दार्थ—किन=क्यों नहीं। फेरो=चक्कर लगाना। घनेरो=विशाल।

अवलंब=सहारा। केरो=का। जाजरि=जर्जर, जीर्ण। सबेरो=सब, सम्पूर्ण। गए=कृष्ण के चले जाने पर। ब्रज-बेरो=ब्रज रूपी बेड़ा।

भावार्थ—कृष्ण-विरह में आतुर-व्यथित गोपियाँ उद्धव द्वारा कृष्ण के पास अपना प्रार्थना-भरा सन्देश भेजती हुईं कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम जाकर कृष्ण को हमारा यह सन्देश कह देना कि गोपियाँ यह प्रार्थना कर रही हैं कि हे कृष्ण ! तुम एक बार यहाँ ब्रज में एक चक्कर क्यों नहीं लगा जाते, एक बार यहाँ क्यों नहीं हो जाते ? तुम हमें बस एक बार दर्शन देकर मथुरा लौट जाना। हमारे लिए इतना ही सुख बहुत होगा। तुम भले ही मथुरा जाकर अपने पिता-माता वसुदेव और देवकी के पास पहुँच उनसे मिल गए हो। वहाँ तुम्हारा अपना लम्बा-चौड़ा परिवार है। यह अच्छी बात है, परन्तु हे उद्धव ! यह तो बताओ कि हम यहाँ नन्द और यशोदा के दुःख को देख-देख कर किसके सहारे रहें ?

हे स्वामी ! तुम्हारे सिवाय अनाथों का पालन करने वाला और दूसरा कौन है ? हमारी जीवन-रूपी नौका जर्जर हो गयी है और सम्पूर्ण संगी-साथियों का संग हमारे लिए कुसंग के समान दुःखदायक हो उठा है अर्थात् हमसे अब जीवन काटे नहीं कटता और ऊपर से सम्पूर्ण प्रकृति हमें तुम्हारे विरह के कारण सदैव दुःख देती रहती है। तुम्हारे यहाँ से चले जाने से कौन हमें इस संसार-रूपी समुद्र को पार कराए ? अब ब्रज-रूपी यह बेड़ा बहुत थक गया है। तुम्हीं एकमात्र इसके कर्णधार थे, खिवैया थे। तुम्हारे बिना इससे अब आगे नहीं बढ़ा जाता। अर्थात् तुम्हारे बिना हमारा जीवन नीरस, हताश और असहाय हो उठा है। अब तुम्हीं आकर हमारी इस जीवन-नौका को पार लगा सकते हो।

विशेष—अन्तिम दो पंक्तियों में रूपक अलङ्कार है।

मानौ ढरे एक ही साँचे।
नखसिख कमल-नयन की शोभा एक भृगुलता-बाँचे ॥
दारुजात कैसे गुन इनमें, ऊपर अन्तर, स्याम।
हमको धूम गयंद बतावत, बचन कहत निष्काम ॥
ये सब असित देह धरे जेते, ऐसेई सखि ! जानि।
सूर एक तें एक आगरे, वा मथुरा की खानि ॥३३५॥

शब्दार्थ—ढरे=ढाले हुए। भृगुलता=विष्णु के वक्ष पर बना भृगु ऋषि के चरण का चिह्न। बाँचे=बचा हुआ। दारुजात=भ्रमर। ऊपर अंतर=बाहर-भीतर, शरीर और हृदय से। धूम गयंद=धुएँ का हाथी, धोखे की वस्तु अर्थात् निर्गुण ब्रह्म। निष्काम=बेकार। असित=काला। आगरे=बढ़कर।

भावार्थ—उद्धव की ज्ञानोपदेश और निर्गुण ब्रह्म-सम्बन्धी बातें सुनकर गोपियाँ उद्धव और कृष्ण को एक ही से शरीर और स्वभाव वाला अर्थात् धोखेबाज घोषित करती हुईं परस्पर कह रही हैं कि—

हे सखि ! ये कृष्ण और उद्धव दोनों ही मानो एक ही साँचे में ढालकर बनाए गए हैं। अर्थात् दोनों एक से ही हैं। इन उद्धव का नख-शिख अर्थात् सम्पूर्ण शरीर कमल-नयन कृष्ण के शरीर के समान ही सुन्दर और शोभायुक्त है। अन्तर केवल इतना ही है कि कृष्ण के वक्ष पर (कृष्ण विष्णु के अवतार माने गए हैं) महर्षि भृगु के चरण का चिह्न बना हुआ है, परन्तु उद्धव के वक्ष पर यह चिह्न नहीं है। ये इससे बच गए हैं। इन दोनों में ही भ्रमर के से गुण है। अर्थात् दोनों ही रस-लोलुप, चंचल और विश्वासघाती हैं। ये दोनों—शरीर और मन, दोनों के ही काले हैं। अपने इसी छली स्वभाव के कारण ये उद्धव हमें धुँए के हाथी अर्थात् धुएँ के हाथी के समान भ्रमोत्पादक, अस्तित्वहीन, निस्सार वस्तु निर्गुण ब्रह्म को अपना लेने का उपदेश दे रहे हैं। इनकी निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी ये सारी बातें व्यर्थ की बकवास हैं। इनमें कोई तत्त्व अर्थात् काम की बात नहीं है।

हे सखि ! तुम इस बात को अच्छी तरह से जान लो कि ये जितने भी काले शरीर वाले हैं, सब-के-सब ऐसे ही धोखेबाज और विश्वासघाती हैं। वह मथुरा तो ऐसे लोगो की खान है। वहाँ ऐसे विश्वासघाती एक-से-एक बढ़कर भरे पड़े हैं। इसलिए इनका विश्वास नहीं करना चाहिए। (यहाँ गोपियाँ काले शरीर वाले कृष्ण और अक्रूर की ओर संकेत कर रही हैं। इन दोनों ने ही गोपियों के साथ विश्वास-घात किया था।)

विशेष—(१) 'धूम गयंद' कह कर गोपियाँ निर्गुण-ब्रह्म का उपहास कर रही हैं।

(२) मानौ····साँचे' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

'भृगुलता'—एक बार महिष भृगु, जो अत्यन्त क्रोधी थे, किसी काम से क्षीर-शायी विष्णु के पास उनसे मिलने गए। विष्णु शयन कर रहे थे, इसलिए उनके आगमन को वे न जान सके। महर्षि ने समझा कि विष्णु अहंकार-वश, उनकी उपेक्षा करने के लिए, जान-बूझकर आँखें बन्द कर लेटे हैं। यह सोच महर्षि ने क्रोध से उन्मत्त हो उनके वक्ष पर लात से प्रहार किया। कहा जाता है कि उसी प्रहार के कारण विष्णु के वक्ष पर महर्षि के पग का चिह्न अंकित हो गया था।

राग सोरठ

बातैं कहत सयाने की सी।
कपट तिहारो प्रगट देखियत, ज्यों जल नाए सीसी ।।
हौं तो कहत तिहारे हित की, काहे को तू भरमत।
हमहूँ मया तिहारी हैं कछु, थोरी सी है मैमत।
छाय बसाय गए सुफलकसुत, नेकहु लागी बार न।
सूर कृपा करि आए ऊधो, तापै ढेबा डारन ।।३३६।।

शब्दार्थ—सयाने=चतुर, बुद्धिमान। प्रगट=स्पष्ट, साफ। नाए=डालने से। सीसी=काँच की शीशी। भरमत=भ्रमित होता है। मया=माया-मोह। मैमत=ममता, स्नेह। सुफलकसुत=अक्रूर। बार=देर। ढेबा=खेप, गीली मिट्टी का ढेर जो दीवार बनाने के लिए लगाया जाता है। डारन=डालने के लिए।

भावार्थ—उद्धव की निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी बातों को कपट-भरी घोषित करती हुई गोपियाँ उनसे कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम बातें तो बुद्धिमानों की-सी करते हो, परन्तु तुम्हारी इन बातों के भीतर छिपा हुआ तुम्हारा कपट उसी प्रकार स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहा है, जैसे खाली शीशी को जल में डालने से उसके भीतर से बुलबुले उठ-उठकर यह बता देते हैं कि यह शीशी भीतर से बिल्कुल खाली है। अर्थात् उसके भीतर शून्य ही शून्य है, कुछ भी तत्त्व नहीं है। इसी प्रकार तुम्हारी इन बातों से ही उनका खोखलापन साफ प्रकट हो रहा है कि तुम हमें इन बातों से भुलावे में डाल हमसे हमारे कृष्ण की स्मृति छीन हमारे ऊपर अपने निस्सार निर्गुण ब्रह्म को थोपने का प्रयत्न कर रहे हो।

हे उद्धव ! हम तो ये बातें तुम्हारे भले के लिए ही कर रही हैं। तुम यह मत समझो कि हम तुम्हारी असलियत नहीं जानतीं। इसलिए तुम क्यों भ्रम में पड़कर बराबर हमें अपना यह उपदेश दिए चले जा रहे हो ? हम इसे कभी स्वीकार नहीं कर सकेंगी। तुम कृष्ण के सखा हो, इसलिए हमें भी उसी नाते से तुम्हारे प्रति थोड़ा-सा माया-मोह और कुछ ममता उत्पन्न हो गई है। इसीलिए तुम्हें बराबर इस तरह बकते हुए देख हमें कष्ट होता है और तुम पर दया आती है। तुम्हारी ही तरह पहले एक बार यहाँ अक्रूर आए थे। वह यहाँ अपनी करतूतों की झोंपड़ी बनाकर हमें उसके नीचे बसा गए। और ऐसा करने में उन्हें तनिक भी देर नहीं लगी। अर्थात् अक्रूर कृष्ण को यहाँ से लिवा ले गए और शीघ्र ही लौट लाने का वायदा कर गए। हम उनके उसी वायदे रूपी झोंपड़ी में बैठीं कृष्ण की प्रतीक्षा करती रहीं। और हे उद्धव ! अब तुम हमारे ऊपर कृपा कर यहाँ पधारे हो। तुम इसलिए आए हो कि हमारी उस अवधि रूपी झोंपड़ी के चारों ओर मिट्टी की दीवारें उठाकर उसे चारों ओर से बन्द कर दो, जिससे हम उसी के भीतर घुट-घुटकर मर जायँ। अर्थात् तुम हमसे कृष्ण की स्मृति तक छीन लेने के लिए यहाँ आए हो। इसलिए हम तुम्हारी बात नहीं मान सकतीं।

विशेष—इस पद में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

राग सारंग

हरि सों कहियो, हो, जैसे गोकुल आवैं।
दिस दस रहे सो भली कीन्ही, अब जानि गहरु लगावैं॥
नाहिन कछू सुहात तुमहिं बिनु, कानन भवन न भावैं।
देखे जात आपनी आँखिन्ह, हम कहि कहा जनावैं ?

बाल बिलख, मुख गउ न चरति तृत, बछरा पीवत पय नहिं धावैं।
सूर स्याम बिनु रटति रैन-दिन, मिलेहि भले सचु पावैं ।।३३७।।

शब्दार्थ—भली कीन्ही=अच्छा किया। गहरु=देर। कानन=वन। जनावैं =बतायें। पय=दूध। सचु=सुख।

भावार्थ—विरहोत्कण्ठिता गोपियाँ उद्धव द्वारा कृष्ण को शीघ्र व्रज लौट आने का सन्देश भेजती हुई कह रही हैं कि—

हे उद्धव ? तुम जाकर कृष्ण से यह कहना कि जैसे भी बने, वे तुरन्त गोकुल चले आएँ। वे दस दिन अर्थात् कुछ समय मथुरा में रह लिए, यह अच्छा किया, परन्तु अब यहाँ लौटने में देर न लगाएँ। हे प्रियतम कृष्ण ! तुम्हारे बिना यहाँ हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता। न वन अच्छा लगता है और न घर। अर्थात् कहीं भी हमारा मन नहीं रमता। हे उद्धव ! तुम स्वयं अपनी आँखों से यहाँ हम सबकी हालत देखकर जा रहे हो, फिर हम तुम्हें और क्या कहकर समझायें। कृष्ण के वियोग में यहाँ बच्चे बिलखते रहते हैं, गायों ने घास का तिनका तक चरना बन्द कर दिया है और उनके बछड़े दौड़कर उनके पास दूध पीने के लिए नहीं आते। हम सब और ये पशु रात-दिन कृष्ण का ही नाम रटते रहते हैं। हम सबको कृष्ण से मिलने पर ही सुख प्राप्त हो सकेगा।

विशेष—व्याज-स्तुति और अतिशयोक्ति अलंकार हैं।

राग सोरठ

सखी री ! मथुरा में द्वै हंस।
एक अक्रूर और ये ऊधो, जानत नीके गंस ।।
ये दोउ छीर नीर पहिचानत, इनहि बधायो कंस।
इनके कुल ऐसी चलि आई, सदा उजागर बंस ।।
अजहूँ कृपा करौ मधुवन पर, जानि आपनो अंस।
सूर सुयोग सिखावत अबलन्ह, सुनत होय मनभ्रंस ।।३३८।।

शब्दार्थ—गंस=मन की गाँठ, कुटिलता। छीर नीर=दूध-पानी। बधायो= मरवाया, वध करवाया। उजागर=प्रसिद्ध। मनभ्रंस=व्याकुलता।

भावार्थ—उद्धव के ज्ञानोपदेश और कृष्ण को भुला निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने की बात सुन, गोपियाँ उनका मज़ाक उड़ाती हुई परस्पर कह रही हैं कि—

हे सखि ! उस मथुरा में दो हंस रहते हैं। (यहाँ हंस से अभिप्राय सज्जन और विवेकी पुरुष से है, परन्तु काकु-वक्रोक्ति से उलटा अर्थ—दुष्ट और कुटिल निकलता है।) इन दो हंसों में एक तो अक्रूर हैं जो कृष्ण को धोखा देकर यहाँ से लिवा ले गए थे; और दूसरे उद्धव हैं जो हमसे कृष्ण की स्मृति तक छीन ले जाने के लिए यहाँ पधारे है। ये दोनों ही कुटिल कर्म करने में पारंगत हैं। ये दोनों दूध और पानी को

पहचानते हैं अर्थात् सच्चे-झूठे, अच्छे-बुरे की इन्हें पक्की पहचान है। अपने इसी गुण द्वारा इन्होंने कंस को मरवा डाला था। इनकी ये हरकतें कोई नई नहीं हैं। इनके कुल में तो सदा ऐसा ही होता चला आया है। अपने इस गुण अर्थात् कुटिलता के लिए इनका वंश दूनिया भर में प्रसिद्ध है।

इसलिए हम इन उद्धव से यह प्रार्थना करती हैं कि तुम अब भी जाकर मथुरा पर ही अपनी कृपादृष्टि रखो, क्योंकि ये वहीं के वासी हैं और इनके संगी-साथी भी वहीं रहते हैं। इसलिए इनके इस ज्ञानोपदेश का मथुरावासी ही स्वागत कर सकेंगे। जरा इनकी मूर्खता तो देखो कि ये हम अबलाओं को अपना सुन्दर योग सिखाने पधारे हैं। इनकी ऐसी अनर्गल और अटपटी बातें सुन-सुनकर हमारा मन व्याकुल हो रहा है।

विशेष—काकु-वक्रोक्ति का चमत्कार द्रष्टव्य है।

मनौ दोउ एकहि मते भए।
ऊधो अरु अक्रूर बधिक दोउ, ब्रज आखेट ठए॥
बचन-पास बाँधे माधव-मृग, उनरत घालि लए।
इनहीं हती मृगी-गोपीजन, सायक-ज्ञान हए॥
बिरह-ताप को दावा देखियत, चहुँ दिसि लाय दए।
अब धौं कहा कियो चाहत हैं, सोचत नाहिन ए॥
परमारथी ज्ञान उपदेसत, बिरहिन प्रेम-रए।
कैसे जियहि स्याम बिनु सूरज, चुंबक मेघ गए॥३३६॥

शब्दार्थ—एकहि मते=एक ही राय वाले। ठए=ठाना, निश्चय किया। पास=पाश, बन्धन। उनरत=उछलते हुए। घालि=पकड़। सायक-ज्ञान=ज्ञान-रूपी वाण। हए=मारे। दवा=दावाग्नि। लाय दए=लगा दी। परमारथी ज्ञान=पारिमार्थिक ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान। प्रेम-रस=प्रेम में रंगे।

भावार्थ—उद्धव के ज्ञानोपदेश के भीतर अक्रूर और उद्धव—दोनों की किसी दुरभिसन्धि का सन्देह करती हुई गोपियाँ परस्पर कह रही हैं कि—

इन उद्धव और अक्रूर के कर्म और बातों को देखकर ऐसा लगता है, मानो दोनों मिलकर एक ही मत के बन गए हों। अर्थात् दोनों मिलकर एक ही कार्य को सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हों। इन दोनों ने दो वधिकों (बहेलियों) के समान हमारे इस ब्रज में ही शिकार करने का निश्चय कर रखा है। इन्होंने अपने वचन रूपी जाल में कृष्ण रूपी मृग को बाँध लिया और जब उन्होंने उस जाल में से उछल कर निकल भागने का प्रयत्न किया तो उन्हें (कुब्जा के प्रेम रूपी) बन्धन में बाँधकर वहीं डाल दिया। इन्होंने गोपियों रूपी मृगियों को अपने ज्ञान रूपी वाण मार-मार कर घायल कर डाला।

देखो, इन दोनों ने ही यहाँ ब्रज रूपी वन में चारों ओर विरह की ज्वाला रूपी दावाग्नि को प्रज्ज्वलित कर रखा है। अर्थात् अक्रूर कृष्ण को यहाँ से लिवा ले जाकर हमारे हृदय में विरह उत्पन्न कर गए थे, और अब ये उद्धव कृष्ण को भूल निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने का उपदेश दे, उस विरहाग्नि को भयंकर दावाग्नि के समान प्रज्ज्वलित कर रहे हैं। सारा ब्रज कृष्ण-विरह में, दावाग्नि में जलते वन के समान धू-धू कर जल रहा है। अब ये उद्धव और क्या करना चाहते हैं ? हमारी दशा को देख ये मन में जरा भी नहीं सोचते कि इन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए।

इनकी मूर्खता और अत्याचार का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि ये कृष्ण-प्रेम में रंगी हुई हम गोपियों को पारमार्थिक ज्ञान (ब्रह्म ज्ञान) का उपदेश दे रहे हैं। भला कहीं विरहिनियों को ऐसे ज्ञान का उपदेश दिया जाता है। यह बतातों कि जिस प्रकार मेघों के चले जाने पर चातक जीवित नहीं रह सकता, उसी प्रकार हम अपने प्रियतम कृष्ण के बिना कैसे जीवित रह सकती हैं ?

विशेष—(१) अन्तिम पंक्ति में 'चुंबक' के स्थान पर 'चातक' पाठ होना चाहिए। तभी अर्थ की संगति बैठ सकती है। 'चुम्बक' से भाव और अर्थ स्पप्ट नहीं होता।

(२) उद्धव और अक्रूर की इसी मिली-भगत का 'रत्नाकर' ने भिन्न रूप में वर्णन किया है—

> "ले गए अक्रूर क्रूर तब तुख सूर कान्ह,
> आए तुम आज प्रान व्याज उगहन को।"

(३) उपर्युक्त पद में रूपक और निदर्शना अलंकार है।

राग सारंग

> **आए नँदनंदन के नेव।**
> **गोकुल आय जोग बिस्तार्‌यो, भली तुम्हारी टेव।।**
> **जब बृंदाबन रास रच्यो हरि, तबहिं कहाँ तू हेव।**
> **अब जुवतिन को जोग सिखावत, भस्म अधारी सेव।।**
> **हम लगि तुम क्यों यह मत ठान्यो, ज्यों जोगिन के भोग।**
> **सूरदास प्रभु सुनत अधिक दुख, आतुर बिरह-बियोग ।।३४०।।**

शब्दार्थ—नेव=नायब, मंत्री। टेव=स्वभाव, आदत। हेव=ह्यौ, था। सेव=सेवा करना, साधना करना। लगि=से। जोगिन को भोग=जैसे योगियों के लिए भोग-विलास।

भावार्थ—युवतियों के लिए योग-साधना को सर्वथा अनुचित सिद्ध करतीं गोपियाँ उद्धव का मजाक उड़ाती हुई कह रही हैं कि—

देखो ! अब ये नन्दनन्दन के सहायक अर्थात् उनके मंत्री यहाँ पधारे हैं। हे

उद्धव ! तुमने यहाँ गोकुल में आकर अपने योग-मार्ग का विस्तार किया है, उसका प्रचार किया है। तुम्हारी यह आदत बड़ी विचित्र है। यह बताओ कि अब तो तुम यहाँ हमें योग-साधना करने का उपदेश देने आए हो, परन्तु उस समय कहाँ थे जब कृष्ण यहाँ वृन्दावन में हमारे साथ रास-लीला रचाया (किया) करते थे। अब तुम यहाँ आकर हम युवतियों को भस्म लगा, अधारी का आधार ले, योग-साधना करना सिखा रहे हो।

तुमने हमें यह इतना कठिन (असाध्य) मत (साधना-मार्ग) सिखाने का प्रण क्यों ठान लिया ? यह हमारे लिए वैसा ही अग्राह्य और असाध्य है, जैसे योगियों के लिए भोग-विलास की साधना करना। अर्थात् जैसे कोई योगी अपनी योग-साधना को त्याग भोग-विलास में अनुरक्त नहीं हो सकता, वैसे ही हम कृष्ण से प्रेम करना त्याग तुम्हारी इस योग-साधना को स्वीकार नहीं कर सकतीं। क्योंकि इन दोनों के मार्ग सर्वथा भिन्न और विपरीत हैं। हे उद्धव ! तुम्हारी इन योग-सम्बन्धी बातों को सुन हमें बहुत दुःख होता है और हम कृष्ण की और अधिक याद आने के कारण उनके विरह में अत्यधिक व्याकुल होने लगती हैं। इसलिए तुम ऐसी बातें करना बन्द कर दो।

विशेष—'ज्यों जोगिन को भोग' में उपमा अलंकार है।

या ब्रज सगुन-दीप परगास्यौ।
सुनि ऊधो ! भृकुटी त्रिबेदि तर, निसिदिन प्रगट अभास्यो ।।
सब के उर-सरवनि सनेह, भूरि सुमन तिली को बास्यो।
गुन अनेक ते गुन कपूर सम, परिमल बारह मास्यो ।।
बिरह-अगिनि अंगन सब के, नहिं बुझत परे चौमास्यो।
ताके तीन फुँकैया हरि से, तुम से, पंचसरा स्यो ।।
आन-भजन तृन सम परिहरि, सब करतीं जोति उपास्यो।
साधन भोग निरंतर तें रे, अन्धकार तम नास्यो ।।
जा दिन भयो तिहारो आवन, बोलत ही उपहास्यो।
रहि न सके तुम, सींक रूप ह्वै, निर्गुन-काज उकास्यो ।।
बाढ़ी जोति सो, केस-देस लौं, टूट्यो ज्ञान-मवास्यो।
दुरबासना-सलभ सब जारे, जे छै रहे अकास्यो ।।
तुम तौ निपट निकट के बासी, सुनियत हुते खवास्यो।
गोकुल कछु रस-रीति न जानत, देखत नाहिं तमास्यो ।।
सूर, करम की खोर परोसी, फिरि-फिरि चरत जवास्यो ।।३४१।।

शब्दार्थ—सगुन-दीप=सगुण ज्योति को प्रकाशित करने वाला दीपक अर्थात्

सगुण रूप कृष्ण। परगास्यो=प्रकाशित हुआ। त्रिवेदि=तिपाई। तर=नीचे। उर-सरबनि=हृदय रूपी सकोरा या प्याला। भूरि=बहुत-सा। बास्यो=सुगन्धित। गुन =बत्ती। परिमल=सुगन्धि। मास्यो=मास, महीना। चौमास्यो=चौमासा या वर्षा ऋतु। फुँकैया=फूँक-फूँककर आग दहकाने वाले। पंचसरा=पंचशर, कामदेव। आन-भजन=दूसरों का भजन। परिहरि=त्याग कर। उपास्यो=उपासना। निरंजन =अनासक्त, निर्लिप्त। उपहास्यो=उपहास भरी बातें। उकास्यो=उकसाया, बत्ती ऊपर खिसकाई। केस-देस=मस्तक, सिर। मवास्यो=गढ़, किला। सलभ=शलभ, पतिंगे। छै रहे=छा रहे थे। खवास्यो=खवास, मंत्री। करम की=सुन्दर। जवास्यो =जवासा।

भावार्थ—उद्धव के ज्ञानोपदेश को सुन गोपियाँ कृष्ण-प्रेम की उपासना को सगुण की उपासना सिद्ध करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव! सुनो। इस व्रज में तो सगुण ज्योति को प्रकाशित करने वाला दीपक अर्थात् सगुण-रूप कृष्ण का प्रकाश चारों ओर विकीर्ण हो रहा है। हमारी भृकुटी रूपी तिपाई के नीचे रात-दिन इसी दीपक का प्रकाश छाया रहता है। यहाँ सबके हृदय रूपी सकोरों में प्रेम भरे सुन्दर मनों रूपी तिली का स्नेह-रूपी सुगन्धित तेल लबालब भरा रहता है। अर्थात् सब कृष्ण से हृदय से स्नेह करते हैं और उस स्नेह के कारण कृष्ण सदैव उत्फुल्ल बने रहते हैं। कृष्ण के जो अनेक गुण हैं, वे ही मानो इस दीपक में पड़ी हुई बत्ती के समान हैं, और उन गुणों की विमल सुगन्धि कपूर की सुगन्धि के समान बारहों मास यहाँ छाई है। अर्थात् हम सदैव कृष्ण के गुणों का स्मरण करती रहती हैं।

यहाँ सबके अंगों में विरह की जो अग्नि प्रज्ज्वलित होती रहती है, उसी से यह दीपक जलता रहता है। चौमासे अर्थात् वर्षाऋतु में भी भी कभी नहीं बुझता। अर्थात् भयानक रूप से उद्दीपनकारी वर्षाऋतु भी हमें अत्यधिक व्याधि करने पर भी कृष्ण के प्रति हमारे प्रेम को दूर नहीं कर पाती। अथवा रात-दिन हमारी आँखों से अश्रुवर्षा होने पर भी कृष्ण का रूप हमारे हृदय से दूर नहीं हो पाता। इस विरहाग्नि के शान्त न होने का कारण यह है कि तीन व्यक्ति ऐसे हैं जो इसे निरन्तर फूँक-फूँक-कर दहकाते रहते हैं। पहले कृष्ण हैं जो ऐसा योग-साधना का सन्देश भेज इसे और बढ़ाते रहते हैं। दूसरे तुम (उद्धव) हो जो इन उपदेशों द्वारा उसे और अधिक दहका रहे हो। और तीसरा वह कामदेव है जो रात-दिन हमारे हृदय में कामोद्दीपन कर इसे भयंकर रूप प्रदान करता रहता है।

हम सब अन्य सभी का भजन त्याग कर केवल इसी ज्योति (कृष्ण का सौंदर्य) की उपासना करती रहती हैं। हमने सम्पूर्ण भोगों से निर्लिप्त (अनासक्त) बन, इस साधना द्वारा अपने हृदय के अन्धकार को नष्ट कर दिया है। अर्थात् हमारे हृदय में सदैव कृष्ण के रूप का ही प्रकाश भरा रहता है। जिस दिन से तुम्हारा आगमन हुआ है और तुमने ऐसी उपहास भरी (योग-साधना की) बातें सुनाना प्रारम्भ किया

है, उस दिन से यह ज्योति और अधिक तीव्र हो उठी है। तुम हमें यह उपदेश देने से स्वयं को रोक नहीं सके। और तुमने सींक का-सा रूप धारण कर अर्थात् सींक का काम कर अपने निर्गुण-ब्रह्म के लिए इस ज्योति को और अधिक उकसा दिया है, प्रकाशित कर दिया है। अर्थात् जैसे सींक द्वारा दीपक की बत्ती को ऊपर उकसा या सरका कर लौ को तेज कर दिया जाता है, उसी प्रकार उद्धव ने अपनी ज्ञान-चर्चा द्वारा गोपियों के हृदय में व्याप्त कृष्ण के सौन्दर्य रूपी प्रकाश को और अधिक बढ़ा दिया है, क्योंकि गोपियाँ कृष्ण के सदैव के लिए दूर हो जाने की सम्भावना से त्रस्त हो, उनसे (उनकी स्मृति से) और अधिक प्रगाढ़ रूप से आवद्ध हो गई हैं।

हमारे हृदय में स्थित इस दीपक की ज्योति इतनी अधिक बढ़ गई है कि हमारे सिर तक जा पहुँची है और उसने वहाँ स्थित ज्ञान रूपी गढ़ को ध्वस्त कर डाला है। अर्थात् कृष्ण-विरह के कारण हम अपना सारा ज्ञान अर्थात् चेतना खो बैठी हैं। (ज्ञान का स्थान मस्तक में माना गया है।) इस दीपक की लौ में हमारे हृदय रूपी आकाश में छाए हुए समस्त दुर्वासना रूपी पतंगे जल कर भस्म हो गए हैं। अर्थात् हमारी सम्पूर्ण कलुषित भावनाएँ नष्ट हो गई हैं। (प्रेम हृदय को निर्मल बना देता है, यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है।) हे उद्धव! हमने सुना है कि तुम तो उन कृष्ण के सदैव अत्यन्त निकट रहते हो और उनके मंत्री अर्थात् सलाहकार भी हो। परन्तु फिर भी तुम, उनके सत्संग में रहने पर भी, गोकुल की इस प्रेम-पद्धति (प्रेम-साधना) के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते। हमें इसी बात का आश्चर्य है। तुम यहाँ आकर भी प्रेम के इस कौतुक को नहीं देख पा रहे। परन्तु इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं, तुम्हारा भाग्य ही ऐसा है। हमने तुम्हारे सामने प्रेमरस की सुन्दर, स्वादिष्ट खीर परोसी थी, परन्तु तुम ऐसे आभागे हो कि उसे त्याग पशु के समान बार-बार जवासा खाने का प्रयत्न कर रहे हो। अर्थात् तुम कृष्ण की खीर के समान आनन्ददायिनी इस प्रेम-लक्षणा भक्ति को न अपना कर जवासे के समान कड़वी, नीरस निर्गुण-ब्रह्म की साधना ही करना चाहते हो।

विशेष—(१) इस पद में नीरस निर्गुण-भक्ति की तुलना में सरस सगुण-भक्ति की स्थापना की गई है।

(२) सम्पूर्ण पद में श्लेष से पुष्ट सांगरूपक अलंकार है।

'विरह····चौमास्यो' में विशेषोक्ति; और साधारण दीपक से 'सगुण-दीप' की श्रेष्ठता प्रतिपादित किए जाने के कारण व्यतिरेक अलंकार है। साथ ही रूपक और विभावना अलंकार भी है।

सब जल तजे प्रेम के नाते।
तऊ स्वाति चातक नहिं छाँड़त, प्रकट पुकारत ताते।।
समुझत मीन नीर की बातें, तऊ प्रान हठि हारत।
सुनत कुरंग नादरस पूरन, जदपि ब्याध सर मारत।।

निमिष चकोर नयन नहिं लावत, ससि जोवत जुग बीते।
कोटि पतंग जोति बपु जारे, भए न प्रेम-घट रीते॥
अब लौं नहिं बिसरीं वे बातें, सँग जो करीं ब्रजराज।
सुनि ऊधो! हम सूर स्याम को छाँड़ि देहिं केहि काज? ॥३४२॥

शब्दार्थ—तजे=त्याग दिए। ताते=इसलिए। कुरंग=हरिण। नादरस=संगीत का आनन्द। निमिष=पलक। लावत=लगाता, बन्द करता। जोवत=देखते हुए। बपु=शरीर। रीते=खाली। केहि काज=किसलिए।

भावार्थ—प्रेम में अनुरक्त गोपियाँ सच्चे और एकनिष्ठ प्रेम के विभिन्न उदाहरण देती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव। चातक केवल स्वाति-नक्षत्र के जल से प्रेम करता है। इसलिए उसने इस जल के लिए अन्य सभी प्रकार के जलों को त्याग दिया है। वह स्वाति जल के प्रभाव में निरन्तर प्यासा बना रहता है, परन्तु फिर भी उससे प्रेम करना नहीं छोड़ता और इसी कारण ऊँचे स्वर में बराबर उसे पुकारता रहता है। मछली जल से प्रेम करती है। साथ ही यह भी जानती है कि जल उसका मोह त्याग निरन्तर आगे ही प्रवाहित होता रहता है। परन्तु फिर भी मछली उसका मोह नहीं त्याग पाती और उससे विमुक्त होने पर, हठपूर्वक उसके वियोग में तड़प-तड़प कर अपने प्राण दे देती है। हिरण वीणा के नाद से प्रेम करता है। यद्यपि वधिक उसे उस नाद द्वारा मोहित कर उसका वध कर डालता है, परन्तु फिर भी हिरन उसे सुनते हुए कभी तृप्त नहीं होता। चकोर चन्द्रमा से प्रेम करता है। यद्यपि वह युगों से चन्द्रमा की ओर टकटकी बाँधे देखता आ रहा है, परन्तु फिर भी क्षण-भर के लिए भी अपनी पलकें बन्द नहीं करता। पतंगे दीपक की लौ से प्रेम करते हैं और अब तक करोड़ों की संख्या में उस लौ में अपना शरीर भस्म कर चुके हैं, परन्तु फिर भी उनके हृदय का प्रेम समाप्त नहीं हुआ है। वे अब भी उसी प्रकार लौ पर अपनी आहुति देते रहते हैं।

इसी प्रकार हम भी कृष्ण से ऐसा ही प्रेम करती हैं। हम आज तक कृष्ण की उन मधुर बातों और क्रीड़ाओं को नहीं भूल सकीं जा ब्रजराज कृष्ण ने हमारे साथ की थीं। इसलिए हे उद्धव! यह बताओ कि हम किस लिए अथवा किस लालचवश कृष्ण को त्याग तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लें? अर्थात् हमारे लिए कृष्ण और उनकी मधुर स्मृतियों को त्यागना सर्वथा असम्भव है, इसलिए हम तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार नहीं कर सकतीं।

विशेष—तुल्योगिता अलंकार है। क्योंकि चातक, मीन, मृग, चकोर तथा पतंगों का एक ही धर्म बताया गया है। काव्य में इन्हें आदर्श प्रेम का रूप स्वीकार किया गया है।

ऊधो! मन की मन ही माँझ रही।
कहिए जाय कौन सों, ऊधो! नाहिंन परति सही॥

अवधि अधार आवनहि की तन, मन ही बिथा सही।
चाहति हुतौ गुहार जहा तें, तहँहि तें धार बही।।
अब यह दसा देखि निज नयनन, सब मरजाद ढही।
सूरदास प्रभु के बिछुरे तें, दुसह बियोग-दही।।३४३।।

शब्दार्थ—माँझ=में। अधार=आधार, सहारा। आवनहि की=आने की। गुहार=रक्षा के लिए पुकारना। देखि=तू देख। ढही=नष्ट हो गई। दही=जली।

भावार्थ—कृष्ण का उद्धव द्वारा भेजा हुआ योग-सन्देश सुन गोपियाँ सर्वथा हताश और कातर हो उठीं। वह कृष्ण को ही अपना एकमात्र अवलम्ब समझती थीं और अब उन्हीं का भेजा हुआ हृदय-विदारक सन्देश सुन अत्यन्त हताश और कातर वाणी में उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! हमारे मन की मन में ही रह गई। अर्थात् सोचा था कि कृष्ण यहाँ लौटकर अवश्य आयेंगे और तब हम उनके विरह में सहे हुए सम्पूर्ण कष्टों की गाथा उन्हें सुनायेंगी। परन्तु अब तो उन्होंने स्वयं को भुलाकर निर्गुण-ब्रह्म की आराधना करने का सन्देश भेजा है। हे उद्धव ! तुम्हीं बताओ कि उनके द्वारा त्याग किए जाने पर हम अपनी इस असह्य विरह-व्यथा की कहानी किसे जाकर सुनाएँ ? अब हमसे यह और अधिक नहीं सही जाती। अब तक हम उनके आने की अवधि के सहारे अपने तन और मन से इस विरह-व्यथा को सहती आ रही थीं। विरह-सागर में डूबती हुई हम गोपियों को जहाँ से सहायता मिलने की आशा थी, अर्थात् यह आशा थी कि हमारे पुकारने पर कृष्ण यहाँ दौड़े चले आयेंगे और हमारी रक्षा कर लेंगे, अब उसी स्थान से इस योग-सन्देश रूपी जल की ऐसी तीव्र धारा बही है कि हमारे प्राण लेकर ही रुकेगी। अर्थात् जिसे हम अपना रक्षक समझती थीं, वही हमारा भक्षक बन गया है। कृष्ण ने स्वयं को भुला योग-साधना करने का सन्देश भेज हमारे प्राण ले लेने का उपक्रम किया है।

हे उद्धव ! तुम हमारी इस दशा को अब अपनी आँखों से देख लो कि हमारी सम्पूर्ण मर्यादा नष्ट हो चुकी है। अर्थात् हम संसार, वंश और परिवार की मर्यादा तो पहले ही कृष्ण के लिए त्याग चुकी थीं और केवल कृष्ण ही हमारी मर्यादा बन गए थे। परन्तु अब उन्हें भी, जिनके लिए हमने अन्य सारी मर्यादाएँ त्याग दी थीं, त्याग देने से हमारी सम्पूर्ण मर्यादा नष्ट हो जायगी। हम अपने प्रभु से बिछुड़कर असह्य वियोग-व्यथा में दग्ध हो रही हैं।

विशेष—गोपियाँ अपनी सम्पूर्ण वाचालता भूल अत्यन्त व्यथित और कातर बन विरह की असह्य स्थिति का वर्णन कर रही हैं।

राग मलार

स्याम को यहै परेखो आवै।
कत वह प्रीति चरन जावक कृत, अब कुब्जा मन भावै।।

तब कत पानि धर्‌यो गोबर्धन, कत ब्रजपतिहि छुड़ावै ?
कत वह बेनु अधर मोहन धरि, लै लै नाम बुलावै ?
तब कत लाड़ लड़ाय लड़ैते, हँसि-हँसि कंठ लगावै ?
अब वह रूप अनूप कृपा करि, नयनन हू न दिखावै ॥
जा मुख-संग समीप रैनि-दिन, सोई अब जोग सिखावै ;
जिन मुख दए अमृत रसना भरि, सो कैसे विष प्यावै ?
कर मीड़िति पछिताति हियो भरि, क्रम-क्रम मन समुझावै ।
सूरदास यहि भाँति बियोगिनि, तातें अति दुख पावै ॥३४४॥

शब्दार्थ—परेखो=मलाल । जावक=महावर । कृत=किया, बनाया । पानि=हाथ । ब्रजपतिहि=ब्रज के राजा नन्द को । लाड़ लड़ाय=प्रेम करके । लड़ैते=प्रिय, प्रियतम । रसना=वाणी, वचन । कर मीड़ति=हाथ मलती । क्रम-क्रम=धीरे-धीरे । तातें=इसलिए ।

भावार्थ—कृष्ण के सन्देश से मर्माहत हो, गोपियाँ अपने प्रति कृष्ण के पुराने प्रेम और अन्य कार्यों की याद करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! कृष्ण के इस सन्देश को सुन हमें उनके कार्यों को याद कर-कर मन में मलाल आता है । कहाँ तो वह हमसे इतना प्रेम करते थे कि हमारे पैरों में महावर लगाया करते थे और अब उन्हें कुब्जा अच्छी लगती है । कहाँ तो उन्होंने हाथ पर गोवर्धन पर्वत धारण कर इन्द्र के कोप से ब्रज को बचाया था और वरुण के बंधन से ब्रज के राजा नन्द की रक्षा की थी । कहाँ तो वह अपने अधर पर मुरली रख उसे बजाते हुए हमें नाम ले-लेकर वन में अपने पास बुलाया करते थे और हम सबके प्रियतम बन हमसे प्रेम करते थे तथा हँस-हँसकर हमें अपने कण्ठ से लगा लेते थे । अर्थात् कहाँ तो वह हमसे इतना प्रेम करते थे और अब यह स्थिति आ गई है कि अपने उस अनुपम रूप को हमें नेत्रों से दिखाते तक नहीं, अर्थात् दर्शन तक नहीं देते ।

हम उनके जिस मुख के साथ रात-दिन सदैव साथ ही बनी रहती थीं, अब उनका मुख हमें योग की शिक्षा दे रहा है, हमारे लिए योग का सन्देश भेज रहा है । परन्तु हमें उद्धव की इस बात पर विश्वास नहीं आता कि कृष्ण ने हमारे लिए योग-सन्देश भेजा होगा, क्योंकि अपने जिस मुख द्वारा उन्होंने अपनी मधुर प्रेमभरी बातों का हमें अमृत पिलाया था, अब उनकी वही वाणी हमें विष कैसे पिला सकती है ? अर्थात् हमारे लिए विष के समान घातक यह योग-सन्देश कैसे भेज सकती है ? अब हम अपनी उस गलती के लिए कि हमने अक्रूर की बातों में आकर कृष्ण को यहाँ से जाने ही क्यों दिया था, हाथ मल-मल मन भर कर पछताती रहती हैं और धीरे-धीरे अपने मन को समझाने का प्रयत्न करती रहती हैं । अपनी इसी गलती के कारण हम वियोगिनी गोपियाँ और भी अधिक दुःख पाती रहती हैं । भाव यह है कि यदि हम वह गलती न करतीं तो हमें उनके वियोग का यह दुःख न सहना पड़ता ।

विशेष—प्रतिवस्तूपमा अलंकार है ।

सखी री ! मो मन धोखे जात ।
ऊधो कहत, रहत हरि मधुपुरि, गत आगत न थकात ।।
इत देखौं तौ आगे मधुकर, मत्त-न्याय सतरात ।
फिरि चाहौं तौ प्राननाथ उत, सुनत कथा मुसकात ।।
हरि साँचे ज्ञानी सब झूठे, जे निर्गुन-जस गात ।
सूरदास जेहि सब जग डहक्यो, ते इनको डहकात ।।३४५।।

शब्दार्थ—धोखे=अनजाने ही । मधुपुरि=मथुरा । गत-आगत=जाते-आते । मत्त-न्याय=पागल । सतराज=अकड़ता है । फिरि चाहौं=मुड़कर जो मथुरा की ओर देखती हूँ । गात=गाते हैं । डहक्यो=ठगा ।

भावार्थ—गोपियों को इस बात का पूर्ण विश्वास है कि उद्धव द्वारा दिया जाने वाला यह योग-सन्देश कृष्ण का भेजा हुआ नहीं है । यदि उन्होंने इसे भेजा भी है तो केवल उद्धव को मूर्ख बनाने के लिए । इसी बात को स्पष्ट करती हुई कोई गोपी अगली सखी से कह रही है कि—

हे सखि ! उद्धव जो यह कहते हैं कि कृष्ण मथुरा में रहते हैं, इसलिए मेरा मन धोखे से अर्थात् अनजाने ही मथुरा में फेरे लगाता रहता है । वहाँ जाता है और फिर लौट आता है । और इतना परिश्रम करते हुए तनिक भी नहीं थकता । जब मैं यहाँ (गोकुल में) देखती हूँ तो ज्ञान-गर्व में डूबे इन उद्धव को पागल के समान अकड़ता और बड़बड़ाता पाती हूँ, और जब फिर मुड़कर मथुरा की ओर देखती हूँ तो वहाँ उद्धव की ज्ञानकथा को सुन कृष्ण को मुस्कराती हुई पाती हूँ । अर्थात् मथुरा और गोकुल के बार-बार चक्कर लगाने वाला मेरा मन दोनों ही स्थानों की बातों को बराबर देखता-सुनता रहता है । कृष्ण की वह मुस्कान यह प्रकट करती है कि कृष्ण उद्धव की इन मूर्खता भरी बातों पर हँस रहे हैं । वस्तुतः असलियत यह है कि केवल कृष्ण ही सत्य हैं और ये सब ज्ञानी झूठे हैं जो सदैव निर्गुण-ब्रह्म का यश गाते रहते हैं । अर्थात् साकार-रूप कृष्ण ही एकमात्र सत्य हैं और निर्गुण-ब्रह्म असत्य और भ्रम की उत्पत्ति है ।

उद्धव जैसे ये ज्ञान-मार्गी इतना भी नहीं जानते कि जो भगवान् कृष्ण अपनी माया द्वारा इस सारे संसार को ठगते रहते हैं, भ्रम में डाले रहते हैं, वही इन ज्ञान-मार्गियों को छलते रहते हैं । अर्थात् ये ज्ञान-मार्गी भगवान् की माया के प्रभाव में आ सदैव भटकते रहते हैं, पूर्ण सत्य का दर्शन नहीं कर पाते ।

विशेष—(१) इस पद में स्पष्ट रूप से सगुण-रूप कृष्ण को एकमात्र सत्य और निर्गुण-ब्रह्म को असत्य घोषित कर सगुण की स्थापना की गई है । ज्ञान-मार्गियों को झूठा कहा गया है ।

(२) विशेषोक्ति अलंकार है ।

राग गौरी

ब्रज तें द्वै ऋतु पै न गई।
पाबस अरु ग्रीषम प्रचंड, सखि! हरि बिनु अधिक भई।।
ऊरध स्वास समीर, नयन घन, सब जलजोग जुरे।
बरषि जो प्रगट किए दुख दादुर, हुते जे दूरि दुरे।।
बिषम बियोग दुसह दिनकर सम, दिनप्रति उदय करे।
हरि बिधु बिमुख भए कहि सूरज, को तनताप हरे।।३४६।।

शब्दार्थ—तें=से। पै=परन्तु। जलजोग=जल-वर्षा का योग। जुरे=इकट्ठे हो गए। दादुर=मेंढ़क। दुरे हुते=छिपे हुए थे। बिधु=चन्द्रमा। को=कौन। हरे=दूर करे।

भावार्थ—अनूठी व्यंजना द्वारा गोपियाँ अपनी प्रचण्ड विरह-व्यथा का रूपक बाँधती हुईं आपस में कह रही हैं कि—

हे सखि! इस ब्रज से दो ऋतुएँ तो कभी समाप्त ही नहीं हुईं। कृष्ण के बिना यहाँ पावस (वर्षा) और प्रचण्ड ग्रीष्म ऋतुएँ अत्यन्त भयानक रूप धारण कर सदैव इस ब्रज पर छाई रहती हैं। वर्षा ऋतु इस तरह रहती है कि कृष्ण-विरह के कारण उठने वाले हमारे दीर्घ निश्वास ही मानो ऋतु में चलने वाले प्रचण्ड पवन के समान तथा हमारे नेत्र मानो मेघ बनकर जल-योग अर्थात् वर्षा होने के सम्पूर्ण साधन एकत्र कर देते हैं। नेत्रों से निरन्तर बहने वाले आँसू ही मानो जल की निरन्तर होती रहने वाली वर्षा है। आँसुओं रूपी इस वर्षा ने जल-वर्षा कर हमारे दुःख-रूपी उन मेंढ़कों को पुनः जीवित कर प्रकट कर दिया है जो इससे पूर्व बहुत दूर अर्थात् जमीन के भीतर छिपे हुए थे। भाव यह है कि इस वर्षा-ऋतु ने हमारे शरीर में कामोद्दीपन कर हमारे दुःखों को बढ़ा दिया है, उन दुःखों को, जो कृष्ण के यहाँ रहते समय अस्तित्वहीन बने रहते थे।

यहाँ प्रचण्ड ग्रीष्म ऋतु इस तरह छाई रहती है कि कृष्ण का भयंकर वियोग ग्रीष्म ऋतु के प्रचण्ड, दाहक सूर्य के समान प्रतिदिन उदय होता रहता है। अर्थात् हम सदैव कृष्ण-वियोग की भीषण ज्वाला में दग्ध होती रहती हैं। हे सखि! अब कृष्ण रूपी चन्द्रमा के बिना हमारे शरीर के इस ताप (जलन) को कौन दूर कर सकता है? अर्थात् चन्द्रिका के समान शीतलता प्रदान करने वाले कृष्ण के चन्द्रमुख के दर्शन करने पर ही हमारा यह विरह-ताप दूर हो सकता है।

विशेष—(१) इस पद में गोपियाँ अपने अद्भुत वाक्-चातुर्य द्वारा असम्भव को सम्भव सिद्ध कर रही हैं। साधारणतः ग्रीष्म के उपरांत वर्षा ऋतु आती है परन्तु गोपियों के अनुसार ग्रीष्म और वर्षा—दोनों ऋतुएँ एक साथ ही ब्रज पर छाई रहती हैं। यही असम्भव को सम्भव सिद्ध करना है।

(२) सम्पूर्ण पद में रूपक अलंकार है।

तुमहिं मधुप ! गोपाल-दुहाई।
कबहुँक स्याम करत ह्याँ को मन, किधौं निपट चित सुधि बिसराई ।।
हम अहीरि मतिहीन बापुरी, हटकत हू हठि करहिं मिताई।
वै नागर मथुरा निरमोही, अंग-अंग भरे कपट चतुराई ।।
साँची कहहु देहु स्रवनन सुख, छाँड़हु जिया कुटिल धूताई।
सूरदास प्रभु बिरद-लाज धरि, मेटहु ह्याँ की नेकु हँसाई ।।३४७।।

शब्दार्थ—दुहाई=शपथ। किधौं=अथवा। बापुरी=बेचारी। हटकत=मना करने पर। हू=की। मिताई=मित्रता। नागर=चतुर, नागरिक। स्रवनन=कानों को। जिया=हृदय। धूताई=धूर्त्तता। विरद-लाज=यश के सम्मान के लिए। धरि=ग्रहण कर, स्वीकार कर। नेकु=तनिक। हँसाई=जग-हँसाई।

भावार्थ—गोपियों ने संसार, कुल, गृह आदि सभी की मर्यादाओं का उल्लंघन कर कृष्ण से प्रेम किया था। और अब कृष्ण द्वारा उन्हें इस तरह त्याग देने पर उनकी जग-हँसाई हो रही है। इसी को दूर करने के लिए गोपियाँ भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव से प्रार्थना कर रही हैं कि—

हे मधुप ! तुम्हें हमारे प्रियतम गोपाल की शपथ है। हमें सच-सच बताओ कि क्या कभी कृष्ण यहाँ का मन करते हैं अर्थात् क्या यहाँ आने की इच्छा प्रकट करते हैं ? या उन्होंने अपने हृदय से हमारी स्मृति को बिलकुल भुला दिया है, हमें पूरी तरह से भूल गए हैं ? हम तो मूर्ख, दीन अहीर जाति की नारियाँ हैं। सब लोग हमें कृष्ण से प्रेम करने से रोकते हैं, मना करते हैं परन्तु हम फिर भी हठपूर्वक उन्हीं से अपनी मित्रता, प्रेम-सम्बन्ध निभाए चली जा रही हैं। कृष्ण अब तो मथुरा निवासी बन चतुर नागरिक और निर्मोही हो गए हैं और उनके अंग-अंग में कपट और चालाकी भर गई है।

इसलिए हे मधुप ! तुम अपने हृदय की सम्पूर्ण कुटिलता और धूर्त्तता को त्याग अर्थात् हमें धूर्त्तता भरा निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश न दे, कृष्ण-सम्बन्धी ऐसी सत्य बातें बताओ जिन्हें सुन हमारे कानों को सुख मिले। हे मधुप ! तुम स्वामी कृष्ण से जाकर हमारी यह प्रार्थना और सन्देश कह देना कि वे अपने यश के सम्मान की रक्षा करने के लिए हमें थोड़ा-सा इस जग-हँसाई से बचा लें। अर्थात् एक बार यहाँ पधार, हमें अपने दर्शन दे हमारी इस बदनामी के कलंक को दूर कर दें कि कृष्ण हमसे प्रेम नहीं करते। सारा संसार हम पर हँस रहा है, हमारा मज़ाक उड़ा रहा है। और इससे कृष्ण के निर्मल यश पर—कि वह सदैव अपने भक्तों की रक्षा करते हैं—कलंक लग रहा है।

विशेष—(१) इस पद की अन्तिम पंक्ति में व्यक्त भाव को हिन्दी के एक आधुनिक कवि ने इस प्रकार का पल्लवित किया है—

"हे प्रभो ! हम भक्त हैं और भक्तवत्सल आप हैं।
भक्त वत्सलता विरद अपना निभाते क्यों नहीं ॥"

(२) ग्रामीण जनों की सरलता और निश्छलता के साथ नागरिक जनों की कुटिलता, धूर्त्तता और निर्ममता का सुन्दर चित्रण हुआ है। सूर के अनेक पदों में इन दोनों जीवनों का यह वैषम्य उभर कर सामने आता है।

राग सोरठ

बिरही कहँ लौं आपु सँभारै ?
जब तें गंग परी हरिपद तें, बहिबो नाहिं निवारै ॥
नयनन तें रबि बिछुरि भँवत रहै, ससि अजहूँ तन गारै।
नाभि तें बिछुरे कमल कंट भए, सिंधु भए जरि छारै ॥
बैन तें बिछुरी बानि अबिधि भई बिधि ही, कौन निवारै।
सूरदास सब अंग तें बिछुरी, केहि बिधा उपचारै ॥३४८॥

शब्दार्थ—कहँ लौं=कहाँ तक। आपु=स्वयं को। हरिपद=विष्णु के चरण। निवारै=बन्द नहीं करती। भँवत रहै=घूमता रहता है। गारै=घटता-बढ़ता रहता है। कंट=कंटक, कमलनाल में महीन काँटे होते हैं। छारै=भस्म। अबिधि=विपरीत, अनुचित। उपचारै=उपचार, इलाज करे।

भावार्थ—गोपियाँ विभिन्न द्रष्टान्त देती हुईं कृष्ण-वियोग के कारण उत्पन्न अपनी असह्य व्यथा का वर्णन करती हुईं कह रही हैं कि—

आखिर विरही अपने को कहाँ तक सम्हाले, अर्थात् कृष्ण के असह्य विरह में निरन्तर दग्ध होती रहने वाली हम गोपियाँ कैसे अपना होश-हवास कायम रखें ? अपने प्रिय अथवा आश्रयदाता से बिछुड़ जाने पर बिछुड़ने वाले उन वियोगियों की जो भयङ्कर दशा हो उठती है, उसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत करती हुईं गोपियाँ आगे कहती हैं कि गंगा जब से विष्णु के चरणों से बिछुड़ नीचे धरती पर आ पड़ी है, तब से वह निरन्तर इधर-उधर भागती फिरती है। क्षण भर को भी अपनी इस भटकन को रोक नहीं पाती। (गंगा की उत्पत्ति विष्णु के चरणों से मानी गई है।) जब से सूर्य और चन्द्रमा विष्णु के नेत्रों से बिछुड़े हैं तब से सूर्य निरन्तर चक्कर काटता रहता है, उदय होता है फिर अस्त हो जाता है। प्रतिदिन उसका इसी प्रकार भटकना चलता रहता है। और चन्द्रमा आज भी उस वियोग में दग्ध हो, अपने शरीर को निरन्तर क्षीण करता रहता है, घटता-बढ़ता रहता है। (सूर्य और चन्द्र विष्णु के दो नेत्र माने गए हैं।) विष्णु की नाभि से बिछुड़ जाने के कारण कमल में काँटे उत्पन्न हो गए हैं और सागर विष्णु से बिछुड़कर बड़वाग्नि की ज्वाला में जलता हुआ भस्म होता रहता है। (विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति मानी गई है। विष्णु के कृष्ण-

रूप में अवतार धारण कर लेने से सागर विष्णु से बिछुड़ गया है। विष्णु क्षीर-शायी माने गए हैं।)

जब वाणी अर्थात् सरस्वती विष्णु के वचनों से बिछुड़ गई तो अनुचित कार्य कर बैठी। अर्थात् ब्रह्मा की पुत्री होकर भी ब्रह्मा की पत्नी बन गई (सरस्वती को ब्रह्मा की पुत्री और पत्नी—दोनों माना गया है।) आखिर विश्व में घटित होने वाली इन अनुचित घटनाओं को कौन रोक सकता है ? क्योंकि विरही विरह-ताप की ज्वाला से त्रस्त हो, अपना होश-हवाश खो अनुचित कार्य करने लगते हैं। जब कृष्ण के एक-एक अङ्ग से बिछुड़ जाने पर इन लोगों की ऐसी भयानक दशा हो उठी है तो हम गोपियों की, जो उनके सम्पूर्ण अंगों से बिछुड़ गई हैं, कैसी भयानक दशा हो उठी होगी, इसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। ऐसी हम विरहिणियों का किस प्रकार, किस विद्या द्वारा उपचार किया जा सकता है। अर्थात् इसका एक ही उपचार है कि कृष्ण आकार हमें अपना लें और इस विरह-ज्वर से मुक्ति दिला दें।

विशेष—(१) अन्तिम पंक्ति में आए 'सब अंग तें बिछुरी' से अभिप्राय यह है कि गंगा, सूर्य-चन्द्र, कमल, सरस्वती आदि को तो भगवान के एक-एक अंग का ही सान्निध्य प्राप्त हुआ था, परन्तु गोपियाँ तो कृष्ण के सम्पूर्ण शरीर का सान्निध्य और सुख-भोग प्राप्त कर चुकी थीं। इसलिए उनकी विरह-व्यथा कितनी भयानक है, इसका सहज ही अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

(२) विभिन्न पौराणिक उपाख्यानों द्वारा गोपियों की असह्य, विषम विरह-व्यथा की मार्मिक व्यंजना कर कृष्ण को विष्णु का अवतार माना गया है।

(३) तुलसी ने भी इस भाव को व्यक्त करने वाला एक पद लिखा है—

"सुन मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरिपद विमुख लह्यो न काहू सुख, सठ, यह समुझि सबेरो ॥
बिछुरे ससि रवि मन नैननि तें, पावत दुख बहुतेरो।
भ्रमित भ्रमित निस-दिवस गगन महँ, तहँ रिपु राहु बड़ेरो ॥
जद्यपि अति पुनीत सर सरिता, तिहुँ पुर सुजस घनेरो।
तजे चरन अजहूँ न मिटत, नित बहिबो ताहू केरो ॥"

(४) पूर्ण पद में अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

'विरही····निवारै' में काव्यलिंग; 'जब तें·······निवारै' में अर्थान्तरन्यास तथा हेतूत्प्रेक्षा; और 'सूरदास·······उपचारै' में व्यतिरेक अलंकार है।

(५) इस पद में सूर भावात्मक रहस्यवाद के अनुसार सम्पूर्ण विश्व को ब्रह्म के वियोग में पीड़ित और व्यथित दिखाकर रहस्यवाद का संकेत देते प्रतीत होते हैं। परन्तु यह रहस्यवाद कबीर आदि के रहस्यवाद के समान अस्पष्ट और दुरूह न होकर स्पष्ट है।

राग नट

हे गोपाल गोकुल के बासी।
ऐसी बातैं सुनि-सुनि ऊधो! लोग करत हैं हाँसी।
मथि-मथि सिंधु-सुधा सुर पोषे, संभु भए बिष-आसी ।।
इमि हति कंस, राज दै औरनि, आपु चाहि लई दासी।
बिसर्‌यो सूर बिरह-दुख अपनो, सुनत चाल औरासी ।।३४६।।

शब्दार्थ—हे=थे। सुर=देवता। पोषे=पालन-पोषण किया। विष-आसी =विष की आशा, अर्थात् पान करने वाले। इमि=इस प्रकार। हति=मारकर। औरासी=विचित्र, बेढंगी।

भावार्थ—कृष्ण के स्त्री-लोभ और चंचलता का दृष्टान्त देती हुई गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव! पहले तो कृष्ण गोकुल के निवासी थे। परन्तु अब उनकी ऐसी विचित्र अर्थात् निर्गुण-ब्रह्म की उपासना सम्बन्धी बातें सुन-सुन लोग उनकी हँसी उड़ाते हैं। अर्थात् जब वह यहाँ रहते थे, तब तो सगुण-साकार रूप में नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करते रहते थे और अब मथुरा जाकर निराकर-निर्गुण बन गए हैं। परन्तु उनके स्वभाव की यह चंचलता कोई नई बात नहीं है, क्योंकि उनका स्वभाव तो अनादि काल से ऐसा ही चंचल रहा है। प्राचीन काल में उन्होंने जब समुद्र-मंथन कराया था, तब भी ऐसी ही चालकी और चंचलता दिखाई थी। बड़े परिश्रम के उपरान्त समुद्र से निकला हुआ अमृत देवताओं को दे दिया था और विष महादेव को; और स्वयं सब कुछ त्याग केवल लक्ष्मी को ले उड़े थे। इससे इनकी नारी-लोलुपता सिद्ध होती है।

इसी प्रकार कृष्ण ने इस बार भी यही खेल खेला था। अपने प्राणों की परवाह न कर, राजा कंस का वध किया था, और उसके राज्य को स्वयं न ग्रहण कर औरों को—राजा उग्रसेन को दे दिया था। और अपने लिए कंस की दासी कुब्जा की चाहना कर उसे अपने पास रख लिया था। कृष्ण के स्वभाव की, इस चपलता की ऐसी विचित्र-बेढंगी चालों की बातें सुन-सुनकर हम भी अपना विरह-दुःख भूल गई हैं। अर्थात् ऐसे चंचल और कपटी, नारी-लोभी स्वभाव वाले कृष्ण के विरह में दुःख उठाना व्यर्थ है। वह कभी किसी के भी सगे नहीं हो सकते।

विशेष—प्राचीन समुद्र-मंथन के पौराणिक उपाख्यान द्वारा गोपियाँ कृष्ण के स्वभाव की चपलता, धूर्त्तता और स्वार्थी नारी-लोभी प्रवृत्ति का मार्मिक उल्लेख कर रही हैं।

राग सारंग

बदले को बदलो लै जाहु।
उनकी एक हमारी द्वै, तुम सबै जनैया आहू ।।

तुम तौ हमैं जानि कै भोरो, सोई सारो दावँ।
हमरी बेर मुकरि कै भागत, हिये चौगुनो चाव ।।
अब तुम सखा बेगि ही जैयो, मेटहु उनको दाहु।
सूरदास ब्योहार भए तें, हम तुम दोऊ साहु ।।३५०।।

शब्दार्थ—जनैया=जानने वाले, ज्ञानी। आहु=हो। भोरो=भोली। सारो दाँव=चाल चली। बेर=पारी। मुकरि कै=नट कर, इन्कार कर। दाहु=दाह, दुःख। साहु=साहूकार।

भावार्थ—विरह-जनित अपनी सम्पूर्ण कातरता और दीनता त्याग, गोपियाँ उद्धव के द्वारा कृष्ण को खूब खरी-खोटी सुनाती हुई कह रही हैं कि—

हे उद्धव! तुम हमारे लिए जो कुछ लाए थे, उसके बदले में हमसे भी कुछ लेते जाओ। इस प्रकार हमारा-तुम्हारा लेन-देन बराबर हो जायगा। तुम तो परम ज्ञानी और सब कुछ जानने वाले हो। तुम उनकी एक ही चीज अर्थात् निर्गुण-ब्रह्म लेकर हमारे पास आए थे। अब उस एक के बदले में हमसे दो चीजें लेते जाओ। अर्थात् हम उनके निर्गुण-ब्रह्म को तो उन्हें लौटा ही रही हैं, साथ ही उनकी स्मृति को भी अपने साथ ही ले जाओ। हम ऐसे छली और कपटी की स्मृति को अपने पास रखकर क्या करेंगी! तुमने तो यह समझ लिया था कि हम भोली-भाली हैं, आसानी से तुम्हारी चाल में आ जायेंगी। यही सोचकर तुमने हमारे सामने यह चाल चली थी कि कृष्ण को भूल, हम निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार कर लें। तुम अपनी चाल तो चल चुके, परन्तु अब हमारा दाँव आने पर खेलने से इन्कार कर क्यों भाग रहे हो? तुम्हारी यह दशा देख, हमारे हृदय में तुम्हें छकाने और हराने के लिए चौगुना चाव भर उठा है। तुमने हमें समझ क्या रखा था!

इसलिए हे उद्धव! अब तुम शीघ्र ही अपने सखा कृष्ण के पास लौट जाओ। वह तुम्हारी प्रतीक्षा में यह सोच-सोचकर बड़ा कष्ट पा रहे होंगे कि हमारी भेजी हुई चीज (निर्गुण-ब्रह्म) के बदले में हम उन्हें कुछ देंगी भी या नहीं। इसलिए तुम उनके पास जाकर हमारी ये दोनों चीजें—उनका निर्गुण-ब्रह्म और उनकी स्मृति—उन्हें लौटा देना। यह व्यवहार हो जाने पर हम और तुम—दोनों साहूकार हो जायेंगे। क्योंकि लेन-देन के व्यवहार में बराबरी और ईमानदारी पहली शर्त होती है। अब न उनका हमारे पास कुछ शेष रहा है और न हमारा उनके पास।

विशेष—(१) इस पद में सूर के प्रसिद्ध पद—'खेलत में को काको गुसैंया' की ध्वनि लक्षित है। इस पद को निस्संकोच रूप से सूर की सख्य-भक्ति के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस पद का व्यंग्यार्थ मार्मिक और सुन्दर है।

(२) परिवृत्ति अलंकार है।

राग परज

ऊधो ! सूधे नेकु निहारो ।
हम अबलनि को सिखवन आए, सुन्यो सयान तिहारो ।।
निर्गुन कह्यो; कहा कहियत है ! तुम निर्गुन अति भारी ।
सेवत सगुन स्यामसुन्दर को, लई मुक्ति हम चारी ।।
हमैं सालोक, सरूप, सयुज्यौ रहत समीप सदाई ।
सो तजि कहत और की औरै, तुम अलि ! बड़े अताई ।।
हम मूरख तुम बड़े चतुर हौ, बहुत कहा कहिए ।
बे ही काज सदा भटकत हौ, अब मारग गहिए ।।
अहो अज्ञान ! ज्ञान उसदेसत ज्ञानरूप हम हीं ।
निसदिन ध्यान सूर प्रभु को आलि ! देखत जित तितहीं ।।३५१।।

शब्दार्थ—निहारो=देखो । सयान=सयानापन, चतुराई । कहा कहियत है =तुम्हारी बात का क्या कहना है । चारी=चारों । अताई=अत्याचारी, दुष्ट । बे =बिना ।

भावार्थ—पूर्व पदों की मूढ़, अज्ञानी गोपियाँ अपने अकाट्य तर्कों द्वारा उद्धव को निरुत्तर और लज्जित करती हुई उनसे कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! अब तुम बगलें क्यों झाँक रहे हो, मुँह ऊपर उठा तनिक हमारी ओर सीधे देखो न ! झेंपते क्यों हो ? तुम हम अबलाओं को ज्ञान सिखाने आये थे, सो हमने तुम्हारा वह चतुराई भरा उपदेश सुन लिया । तुमने हमें निर्गुण का स्वरूप समझाया । क्या कहने हैं तुम्हारे इस निर्गुण के ! तुम स्वयं बड़े निर्गुणी अर्थात् गुण-हीन महामूर्ख हो । तुम्हारी समझ में सीधी-सादी सी बात भी नहीं आती । तुम हमें निर्गुण की आराधना द्वारा चारों मुक्तियों के प्राप्त होने का लालच दिखाते हो परन्तु हमने तो श्यामसुन्दर कृष्ण की सेवा करते हुए तुम्हारी उन चारों मुक्तियों को पहले ही प्राप्त कर लिया है । सालोक्य, सारूप्य, सायुज्य और सामीप्य नामक तुम्हारी चारों मुक्तियाँ सदैव हमारे पास ही रहती हैं । परन्तु हे भ्रमर ! तुम ऐसे दुष्ट हो कि उन मुक्तियों की तो बातें नहीं करते, इधर-उधर की अन्य बातें हाँके चले जा रहे हो ।

तुम्हारी इस मूर्खता और जड़ता को देख, इससे अधिक और क्या कहा जाय कि हम तो मूर्ख हैं और तुम बड़े बुद्धिमान हो । (यद्यपि वास्तविकता इसके सर्वथा विपरीत है ।) तुम ऐसे महामूर्ख हो कि बिना ही काम के इधर-उधर भटकते रहते हो । इसलिए अब अच्छा यही है कि तुम अपना रास्ता पकड़ो, यहाँ से दफा हो जाओ, चले जाओ । हे अज्ञानी ! तुम हमें ज्ञान का उपदेश देते हो और यह भी नहीं जानते कि हम गोपियाँ स्वयं ज्ञान-रूप हैं, साकार ज्ञान हैं । हे भ्रमर ! हम तो रात-दिन सदैव अपने स्वामी कृष्ण का ही ध्यान-चिन्तन करती रहती हैं और इधर-उधर

अर्थात् सर्वत्र सम्पूर्ण विश्व में उन्हीं को व्याप्त देखती हैं। अर्थात् हमारे लिए सम्पूर्ण विश्व कृष्ण-मय है। हम स्वयं कृष्ण-मय हैं।

विशेष—(१) इस पद में एक प्रकार से शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। ज्ञानमार्ग में 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति' के अनुसार आराधिका गोपियाँ प्रेम-मार्ग का अवलम्बन कर, सहज ही इस अवस्था को प्राप्त हो गई हैं। शुक्लजी के अनुसार—"जैसे ज्ञान की अवस्था में ज्ञाता और ज्ञेय में भेद नहीं रहता, वैसे ही प्रेम या भक्ति की परमावस्था में उपास्य और उपासक का भेद मिट जाता है।" गोपियों का अभिप्राय यह है कि हम तो स्वयं कृष्णमय हो रही हैं।

(२) गोपियाँ स्वयं को ज्ञान-रूप कहती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि प्रेम-भक्ति द्वारा वे ज्ञान की उस पूर्ण दशा को उपलब्ध कर चुकी हैं, जिसके सम्बन्ध में कहा गया है कि—

"यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति।"

यह कहकर गोपियाँ उपनिषदों की ब्रह्म-सम्बन्धी धारणाओं की पुष्टि कर रही हैं, जैसे—

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।"—आदि

(३) 'हम····भारी' में काकु वक्रोक्ति; 'हम····गहिए' में विपरीत लक्षणा; 'निर्गुन····भारी' में श्लेष अलंकार है।

'सेवत····सदाई' में आनुप्रासिक चमत्कार द्रष्टव्य है।

(४) अन्तिम पंक्ति का भाव तुलसी की इस पंक्ति में मिलता है—

"सियाराम मय सब जग जानी।"

राग नट

ऊधो धनि तुम्हारो ब्यवहार।
धनि वै ठाकुर, धनि वै सेवक, धनि तुम बर्तनहार॥
आम को काटि बबूर लगावत, चंदन को कुरवार।
सूर स्याम कैसे निबहैगी, अंधधुन्ध सरकार॥३५२॥

शब्दार्थ—धनि=धन्य। बर्तनहार=व्यवहार करने वाले। कुरवार=खोद कर।

भावार्थ—उद्धव के ज्ञानोपदेश पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव! हमारे साथ किया जाने वाला तुम्हारा यह व्यवहार धन्य है। (यहाँ काकु-वक्रोक्ति द्वारा विपरीत भाव प्रकट हो रहा है कि हे उद्धव! तुम्हें धिक्कार है।) तुम्हारे वे स्वामी निर्गुण-ब्रह्म धन्य हैं, उनके वे सेवक अर्थात् ज्ञानमार्गी धन्य हैं, और उस ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करने वाले तुम धन्य हो। तुम मधुर आम और सुगन्धित चन्दन के वृक्षों को कटवा और उखड़वा कर उनके स्थान पर कसैला, सुगन्धिरहित बबूल का वृक्ष लगाना चाहते हो, अर्थात् हमसे हमारे प्रियतम कृष्ण को

छीनकर हमारे हृदय में बबूल के समान साधना-मार्ग के कंटकों से भरे, नीरस, फल-हीन निर्गुण ब्रह्म की स्थापना करना चाहते हो। तुम्हारा यह प्रयत्न घोर अन्यायपूर्ण है। तुम्हारे ऐसे अन्यायपूर्ण कार्यों द्वारा तुम्हारे ब्रह्म का यह स्वार्थ भरा, अल्प-व्यवस्थित शासन कैसे चल पाएगा।

विशेष—(१) इस पद में कृष्ण-भक्ति को आम और चन्दन के समान मधुर फलदाता और शीतलता प्रदान करने वाला तथा निर्गुणोपासना को बबूल के समान कंटकाकीर्ण, नीरस और फलहीन सिद्ध किया गया है।

(२) अन्योक्ति अलंकार और व्यंग्य का प्राधान्य है। काकु-वक्रोक्ति अलंकार भी माना जा सकता है।

जाहु-जाहु ऊधो ! जाने हौ पहचाने हौ।
जैसे हरि तैसे तुम सेवक, कपट-चतुराई-साने हौ॥
निर्गुन-ज्ञान कहाँ तुम पायो, केहि सिखाए ब्रज आने हौ।
यह उपदेस देहु लै कुबजहि, जाके रूप लुभाने हौ।
कहँ लगि कहौ योग की बातैं, बाँचत नैन पिराने हौ।
सूरदास प्रभु हम हैं खोटी, तुम तो बारह बाने हौ॥३५३॥

शब्दार्थ—साने=सने हुए, युक्त। आने हौ=आए हो या लाए हो। बाँचत =पढ़ते-पढ़ते। पिराने=दुखने। बारह बाने=बारहबानी सोने के समान खरे, अच्छे।

भावार्थ—उद्धव द्वारा योग का उपदेश दिए जाने पर गोपियाँ उन्हें फटकारती हुई कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम यहाँ से चले जाओ। तुम्हें हम खूब अच्छी तरह से जानती और पहचानती हैं। अर्थात् तुम्हारी असलियत हमें मालूम है। क्योंकि जैसे कपटी और विश्वासघाती तुम्हारे स्वामी कृष्ण हैं, वैसे ही तुम उनके सेवक हो। तुम भी उन्हीं के समान कपट और मीठी-चुपड़ी मक्कारी भरी बातें करने में निपुण हो। तुम्हारे हर व्यवहार में कपट और छल भरा हुआ है। यह बताओ कि निर्गुण-ब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञान तुम्हें कहाँ से मिल गया, और किसके सिखाने पर तुम इस ज्ञान को लेकर यहाँ ब्रज में पधारे हो ? हमें तुम्हारा यह ज्ञान नहीं चाहिए। इसे वापस ले जाकर उस कुब्जा को ही सौंप दो, जिसके रूप पर तुम लुभा रहे हो, आकर्षित हो रहे हो।

तुम कहाँ तक हमें योग की ये बातें सुनाओगे; इन्हें पढ़ते-पढ़ते अर्थात् सुनते-सुनते हमारी आँखें दुखने लगी हैं। हाँ, हम तो खोटी (बुरी) हैं ही; परन्तु तुम्हारे स्वामी कृष्ण तो बारहबानी सोने के समान खरे और निर्मल हैं ! फिर तुम हमारी जान क्यों खा रहे हो ?

विशेष—(१) बारहबानी सोना शत-प्रतिशत शुद्ध माना जाता है। उसमें कोई मिलावट नहीं होती।

(२) कृष्ण और उद्धव पर गोपियों का व्यंग्य द्रष्टव्य है।

राग धनाश्री

जा-जा रे भौंरा ! दूर-दूर ।
रँग रूप औ एकहि मूरति, मेरो मन कियो चूर-चूर ।।
जौ लौं गरज निकट तौ लौं रहै, काज सरे पै रहै धूर ।
सूर स्याम अपनी गरजन कों, कलियन रस लै घूर-घूर ।।३५४।।

शब्दार्थ—एकहि मूरति=एक-सी ही आकृति । गरज=मतलब, स्वार्थ । काज सरे=काम पूरा हो जाने पर । धूर=धुर, ऊपर, ऊँचे । लै=लेता है । घूर-घूर=घूम-घूमकर ।

भावार्थ—कृष्ण की निष्ठुरता और विश्वासघात के कारण गोपियाँ क्रुद्ध हो, भ्रमर के माध्यम द्वारा उद्धव को खरी-खोटी सुनाती हुईं कह रही हैं कि—

रे भ्रमर ! तू यहाँ से भाग जा, दूर—बहुत दूर चला जा । क्योंकि तेरा रंग और रूप बिल्कुल कृष्ण के ही समान है । तुम दोनों एक-सी ही आकृति और रंग-रूप वाले हो । तुम दोनों ने ही मेरे मन को चूर-चूर कर डाला है—कृष्ण ने हमारे साथ विश्वासघात कर हमें त्याग दिया, और तू हमें कृष्ण को भुला–निर्गुण ब्रह्म की आराधना करने का उपदेश दे रहा है । जब तक कृष्ण का हमसे स्वार्थ सधता रहा, अर्थात् जब तक हमारा रूप-यौवन सुरक्षित रहा और वे उसका भोग करते रहे, तब तक तो हमारे पास बने रहे । और जब उनका मतलब पूरा हो गया, जी भरकर हमारे रूप-यौवन का उपभोग कर चुके तो राजा बन हमसे बहुत दूर जा बैठे, स्वयं को हमसे बहुत ऊँचा और श्रेष्ठ समझने लगे । उन्हीं के समान तू भी अपने मतलब के लिए घूम-घूमकर कलियों का रस-पान करता रहता है, और जब वे रसहीन (नीरस) हो जाती हैं तो उन्हें छोड़ दूर चला जाता है । इसलिए हमें तेरी यहाँ उपस्थिति अच्छी नहीं लगती । अतः तू यहाँ से भाग जा ।

विशेष—'जा-जा', 'दूर-दूर', 'चूर-चूर', 'घूर-घूर' में पुनरुक्ति-प्रकाश; तथा सम्पूर्ण पद में अन्योक्ति अलंकार है ।

राग सारंग

मधुबन सब कृतज्ञ धर्मीले ।
अति उदार परहित डोलत हैं, बोलत बचन सुसीले ।।
प्रथम आय गोकुल सुफलकसुत, मधुपुरिहि सिधारे ।
वहाँ कंस ह्याँ हम दीनन को, दूनो काज सँभारे ।।
हरि को सिखै सिखावन हमको, अब ऊधो पग धारे ।
ह्वाँ दासी-रति की कीरति कै, यहाँ जोग बिस्तारे ।।

अब या बिरह-समुद्र सबै हम, बूड़ी चहति नही।
लीला सगुन नाव ही, सुनु अलि, तेहि अवलम्ब रही।।
अब, निर्गुनहि गहे जुवतीजन, पारहि कहौ गई को।
सूर अक्रूर छपद के मन में, नाहिन त्रास दई को।।३५५।।

शब्दार्थ—धर्मीले=धर्मात्मा। डोलते हैं=घूमते-फिरते हैं। सुसीले=सुशील। पग धारे=पधारे। दासी-रति=दासी कुब्जा के साथ रति-क्रीड़ा। बूड़ी=डूबना। नही=नथी हुईं, जुती हुईं। अवलम्ब=सहारा। पारहि=उस पार। छपद=षट्-पद, भ्रमर। त्रास=भय। दई=दैव, विधाता।

भावार्थ—कृष्ण के विश्वासघात और छल से मर्माहत गोपियाँ सम्पूर्ण मथुरा-वासियों पर व्यंग्य कसती हुई उद्धव से कहती हैं कि—

हे उद्धव ! तुम्हारी उस मथुरा में तो सब कृतज्ञ (उपकार मानने वाले) और धर्मात्मा लोग ही रहते हैं। सारे मथुरावासी हृदय के अत्यन्त उदार हैं और परोपकार के निमित्त चारों ओर घूमते रहते हैं तथा अत्यन्त सुशील वचन बोलते हैं। (भाव यह है कि मथुरावासी अपने ऊपरी व्यवहार से बहुत भले आदमी प्रतीत होते हैं। परन्तु व्यंग्यार्थ द्वारा यह ध्वनि निकलती है कि सब-के-सब पक्के धूर्त्त और मक्कार हैं।) सबसे पहले वहाँ से अक्रूर यहाँ पधारे थे और अपने साथ कृष्ण को लेकर पुनः वहीं सिधार गये थे, चले गये थे। और अपने इस कार्य द्वारा उन्होंने वहाँ कंस का और यहाँ हम दीन अबलाओं का अर्थात् दो काम एक साथ पूरे कर दिये थे। अर्थात् वहाँ कंस की हत्या करवा डाली और यहाँ हमें कृष्ण के विरह में तड़पने को बाध्य कर दिया था। दोनों का ही सत्यानाश कर डाला था।

और हे उद्धव ! तुम पहले वहाँ कृष्ण को हमारे विरुद्ध सिखा-पढ़ाकर अब हमें यहाँ शिक्षा देने के लिए पधारे हो। तुम्हारी इस शिक्षा को ग्रहण कर वहाँ तो कृष्ण दासी कुब्जा के साथ रति-क्रीड़ा करने का यश लूट रहे हैं और यहाँ तुम अपने योग-मार्ग का विस्तार कर रहे हो, हमें योग का उपदेश दे रहे हो। हम तो कृष्ण के प्रेम-पाश में इतनी बुरी तरह से नथी हुईं अर्थात् बँधी हुई हैं, इसलिए विवश-निरुपाय हो, इस विरह-सागर में डूबना चाहती हैं अथवा डूबी जा रही हैं। हे भ्रमर ! सुन, इस विरह-सागर से पार होने के लिए तो सगुण-रूप कृष्ण की लीलाएँ ही एकमात्र अवलम्ब (सहारा) हैं। परन्तु तुम ऐसे निर्दयी हो कि हमें हमारी वह नाव (सगुण रूप (कृष्ण) न देकर निर्गुण ब्रह्म रूपी नाव दे रहे हो। (यहाँ 'सगुन' और 'निगुन' में श्लेष है। 'सगुन' का अर्थ है—रस्सी-सहित और 'निगुन' का—बिना रस्सी वाली। गोपियाँ सगुण कृष्ण के साथ प्रेम की रस्सी से बँधी हुई हैं और निर्गुण-ब्रह्म निराकार होने के कारण गोपियों की सहायता नहीं कर सकता।)

हे उद्धव ! जब तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म के पास प्रेम रूपी रस्सी ही नहीं है तो यह बताओ कि हम युवतियाँ इस प्रेम रूपी डोर से रहित तुम्हारी निर्गुण-ब्रह्म रूपी

नाव को कैसे तो पकड़ सकेंगी और कैसे इस विरह-सागर के पार जा सकेंगी। क्या आज तक कोई भी युवती इस निर्गुण का आश्रय ले उस पार जा सकी है, मुक्ति प्राप्त कर सकी है ? तुम्हारे उस षट्पद भ्रमर के समान स्वार्थी और कपटी अक्रूर के मन में भगवान का तनिक भी डर नहीं है। अर्थात् वह हमारे कृष्ण को हमें न लौटाकर उनके विरह में हमें तड़पता छोड़, हमारी हत्या का पाप अपने सिर ले रहे हैं। इसमें उनका भी दोष नहीं, क्योंकि तुम सब मथुरावासी एक-से अकृतज्ञ, अधर्मी और कपटी हो।

विशेष—(१) इस पद में वैसे तो प्रारम्भ से अन्त तक काकु-वक्रोक्ति की छटा दर्शनीय है, परन्तु चौथी पंक्ति में यह प्रधान हो उठी है। इसी पंक्ति में कंस और गोपियों के एक साथ काम सँवारने के भाव से तुल्योगिता अलंकार भी है। साथ ही सम्पूर्ण पद में तिरस्कृत वाच्य ध्वनि, रूपक तथा श्लेष अलंकार है।

(२) पूरा पद वक्रोक्ति और व्यंग्य से ओत-प्रोत है। व्यंजना की दृष्टि से उत्तम है।

ऊधो ! भूलि भले भटके।
कहन कही कछु बात लड़ैते, तुम ताही अटके॥
देख्यो सकल सयान तिहारो, लीन्हे छरि फटके।
तुमहिं दियौ बहराय इतै कौं, वै कुबजा सों अटके॥
लीजो जोग सँभारि आपनो, जाहु तहाँ टटके।
सूर स्याम तजि कोउ न लैहे, या जोगहि कटुके॥३५६॥

शब्दार्थ—लड़ैते=लाड़ले कृष्ण। सयान=चतुराई। छरि फटके=छर-फटककर, खूब जाँचकर। बहराय=बहला। टटके=शीघ्र ही। कटुके=कड़वे।

भावार्थ—उद्धव के ज्ञानोपदेश को सुन, गोपियाँ उनका मजाक बनाती हुईं उनसे कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम तो कृष्ण की बातों में आ, भ्रम में पड़े, अच्छे इधर-उधर भटकते फिर रहे हो। तुमसे बातें करते हुए हमारे लाड़ले कृष्ण ने तुमसे वैसे ही कोई बात कह दी होगी और अब तुम हो कि उसी बात को पकड़, उसे सत्य मान उसी का प्रचार करते फिर रहे हो। हमने तुम्हारी सारी चतुराई देख ली और तुम्हारी चतुराई भरी बातों को खूब छर-फटककर उनकी असलियत भी जाँच ली। अर्थात् कृष्ण ने तुम्हें खूब मूर्ख बनाया है। तुम्हारी बातों में तत्त्व का अंश तक नहीं है। और हमारी समझ में कृष्ण ने तुम्हारे साथ इसलिए यह मजाक किया है कि तुम तो उनकी बातों में आकर (बहलकर) इधर व्रज में खाक छानते फिरो और उधर वह स्वयं कुब्जा के साथ मनमानी केलि-क्रीड़ाएँ करते रहने का अवसर पा सकें। इसीलिए उन्होंने तुमसे अपना पीछा छुड़ाने के लिए यहाँ हमारी जान खाने भेज दिया है।

हमने तुम्हें असली बात बता दी है, इसलिए तुम अपने इस योग को अच्छी

तरह से सम्हाल कर पोटली में बाँध लो और तुरन्त मथुरा के लिए प्रस्थान कर दो। क्योंकि तुम्हारे इस कड़वे, नीरस योग को कृष्ण के अतिरिक्त और कोई भी नहीं लेगा, स्वीकार नहीं करेगा। इसलिए तुम मथुरा लौट, उनकी चीज उन्हें ही जाकर सौंप दो।

विशेष—कृष्ण द्वारा उद्धव को मूर्ख बनाए जाने की गोपियों की कल्पना बहुत मनोरम है।

राग धनाश्री

जोग सँदेसो ब्रज में लावत।
थाके चरन तिहारे, ऊधो ! बार-बार के धावत॥
सुनिहै कथा कौन निर्गुन की, रचि-पचि बात बनावत।
सगुन-सुमेरु प्रकट देखियत, तुम तृन की ओट दुरावत॥
हम जानत परपंच स्याम के, बातन ही बहरावत।
देखी सुनी न अब लौं कबहूँ, जल मथे माखन आवत॥
जोगी जोग-आपार सिंधु में, ढूँढे हूँ नहिं पावत।
ह्याँ हरि प्रगट प्रेम जसुमति के, ऊखल आप बँधावत॥
चुप करि रहौ, ज्ञान ढँकि राखौ, कत हौ बिरह बढ़ावत ?
नन्दकुमार कमलदल लोचन, कहि को जाहि न भावत ?
काहे को बिपरीत बात कहि, सब के प्रान गँवावत ?
सोहै सो कित सूर अबलनि, जेहि निगम नेति कहि गावत ? ॥३५७॥

शब्दार्थ—थाके=थक गए। धावत=दौड़ने से। रचि-पचि=पूरा प्रयत्न कर। ओट दुरावत=पीछे छिपाते हो। बहरावत=बहला देते हैं। भावत=अच्छे लगते। सोहै=शोभित। नेति=नहीं है।

भावार्थ—उद्धव के ज्ञानापदेश को सुन, गोपियाँ सगुण की तुलना में निर्गुण को तुच्छ और हेय घोषित करती हुईं उद्धव का मजाक उड़ा रही हैं। वे उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! अपने इस योग-सन्देश को लेकर यहाँ ब्रज में आते हुए, बार-बार भाग-दौड़ करते रहने से तुम्हारे पैर थक गए होंगे। तुम यद्यपि पूरा प्रयत्न कर, बातें बना-बनाकर यहाँ इस योग-सन्देश का प्रचार करना चाह रहे हो, परन्तु यहाँ कौन तुम्हारी इस निर्गुण-ब्रह्म की कथा को सुनेगा ? अर्थात् कोई भी नहीं सुनेगा। न सुनने का कारण यह है कि तुम असम्भव को सम्भव सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हो। यहाँ साकार-सशरीर कृष्ण के रूप में पर्वत के समान स्पष्ट ब्रह्म का सगुण रूप दिखाई दे रहा है और तुम उसे तिनके के समान सूक्ष्म ब्रह्म की आड़ में छिपाना चाहते हो।

अर्थात् 'तिनके की ओट पहाड़' कहावत को चरितार्थ करने का प्रयत्न कर रहे हो। ब्रजवासियों ने सगुण कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त कर रखा है, फिर वे तुम्हारे इस सूक्ष्म निर्गुण-ब्रह्म को कैसे स्वीकार कर लेंगे।

हम जानती हैं कि इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। यह सारा प्रपंच कृष्ण का खड़ा किया हुआ है। उन्हीं ने तुम्हें अपनी बातों से बहलाकर, तुमसे अपना पीछा छुड़ाने के लिए, तुम्हें हमारे पास यहाँ भेज दिया है। हमने तो आज तक कभी जल को मथकर मक्खन ऊपर उतराते नहीं देखा। अर्थात् तुम्हारा हमें योग सिखाने का प्रयत्न अथवा तुम्हारी योग-साधना वैसी ही फलहीन और व्यर्थ प्रतीत होती है, जैसे जल को मथकर मक्खन प्राप्त करने का असम्भव प्रयत्न करना। जिस ब्रह्म को योगीजन योग के अथाह-अपार समुद्र में ढूँढ़ने पर भी अर्थात् पूर्ण योग-साधना करने पर भी नहीं प्राप्त कर पाते, यहाँ वही ब्रह्म कृष्ण के रूप में यशोदा के प्रेमाकर्षण से खिंच, अवतार धारण कर स्वयं को ऊखल से बँधवाते देखे हैं। अर्थात् सच्चे प्रेम के वशीभूत हो ब्रह्म सगुण रूप धारण कर प्रकट होता है, योग-साधना द्वारा नहीं।

इसलिए हे उद्धव ! अब तुम चुप हो जाओ, अपने ज्ञान को ढँककर, सम्हाल-कर अपने पास ही रख लो। ऐसी बातें कह-कहकर हमारे विरह को और अधिक क्यों बढ़ाते हो ? इस संसार में ऐसा कौन है, जिसे कमल की पँखुड़ियाँ जैसे सुन्दर नेत्रों वाले नन्दकुमार कृष्ण अच्छे नहीं लगते ? तुम यह बताओ कि तुम्हारे जिस ब्रह्म के सम्बन्ध में सारे वेद-शास्त्र 'नेति-नेति' (नहीं है, नहीं है) कहकर पुकार रहे हैं वह हम अबलाओं को कैसे शोभा दे सकता है ? अर्थात् जिस ब्रह्म का रहस्य आज तक कोई भी नहीं पा सका, उसे पाने के लिए योग-साधना करना हम अबलाओं को कैसे शोभा दे सकता है ?

विशेष—(१) सगुण की प्रतिष्ठा और निर्गुण का खण्डन किया गया है।
(२) रूपक और निदर्शना अलंकार है।

राग सारंग

कहा भयो हरि मथुरा गए।
अब, अलि ! हरि कैसे सुख पावत, तन द्वै भाँति भए॥
यहाँ अटक अति प्रेम पुरातन, ह्वाँ अति नेह नए।
ह्वाँ सुनियत नृप-वेष, यहाँ दिन देखियत बेनु लए॥
कहा हाथ पर्‌यो सठ अक्रूरहिं, वह ठग ठाट ठए।
अब क्यों कान्ह रहत गोकुल बिनु, जोगन के सिखए॥
राजा राज करौ अपने घर, माथे छत्र दए।
चिरंजीव रहौ, सूर नंदसुत, जीजत मुख चितए॥३५८॥

शब्दार्थ—भयो=हुआ। द्वै भाँति गए=दो रूपों का एक साथ निर्वाह करना

पड़ता है। अटक=बन्धन। दिन=प्रतिदिन, सदैव। लए=लिए हुए। ठए=रचने से। जीजत=जीती हैं। चितए=देखकर।

भावार्थ—कृष्ण की अनन्य अनुरागिनी गोपियाँ यह अनुमान कर कि कृष्ण को मथुरा में हमारे और कुब्जा के—दो प्रकार के प्रेम के आकर्षणों के कारण बड़ा कष्ट उठाना पड़ रहा होगा, भ्रमर के माध्यम से उद्धव से कह रही हैं कि—

हे भ्रमर! कृष्ण के मथुरा चले जाने से ही क्या हुआ? उन्हें क्या लाभ पहुँचा? अब कृष्ण को वहाँ दो रूपों का निर्वाह करना पड़ रहा होगा। ऐसी स्थिति में वे कैसे सुखी रहते होंगे? अर्थात् उनका एक शरीर तो मथुरा में कुब्जा के साथ रंगरेलियाँ करता होगा और दूसरा शरीर यहाँ गोकुल में हमारे साथ क्रीड़ाएँ करता रहता है। यहाँ गोकुल में तो अत्यन्त प्राचीन, जन्म-जन्मान्तर के प्रेम का बन्धन है। अर्थात् हमारा-उनका प्रेम अनादि काल से चला आ रहा है और उधर मथुरा में उन्हें कुब्जा का नया प्रेम प्राप्त हुआ है। इन दोनों प्रेमों के आकर्षण के कारण उनका बुरा हाल हो रहा होगा। उन्हें एक साथ ही अपने दोनों रूपों का निर्वाह करने में बड़ा कष्ट होता होगा। सुनते हैं कि वहाँ मथुरा में तो वह राजा वेश में रहते हैं और यहाँ हम उन्हें प्रतिदिन वंशी लिए हुए देखती हैं।

कृष्ण की यह विषम दशा देख, हम तो यह सोचती रहती हैं कि उस दुष्ट अक्रूर को कपट का वह जाल रच कर क्या मिल गया? वह कृष्ण को धोखा देकर यहाँ से क्यों ले गया? उसके इस छल से तो कृष्ण का कष्ट भी अधिक बढ़ा है। उन्हें एक साथ दो रूपों का निर्वाह करना पड़ रहा है। हम तो यही सोच-सोचकर मरी जा रही हैं कि मथुरावासी उन योगियों (योगमार्गियों) के सिखाने से, उन्हें सिखाकर अपने पास रख लेने से, कृष्ण गोकुल के बिना कैसे सुख-चैन से रह पाते होंगे? क्योंकि उन्हें गोकुल की याद हमेशा सताती रहती होगी। परन्तु फिर भी यदि वह विवश हो यहाँ नहीं आ पाते तो कोई बात नहीं। वह प्रसन्नता के साथ राजा बन, अपने सिर पर छत्र धारण किए सुख के साथ वहीं राज्य करते रहें। वह सदैव चिरंजीवी रहें। हम तो केवल नन्दकुमार का मुख देखकर ही जीवित रह लेंगी। भाव यह कि यदि कृष्ण हमें भूल जायँ तो उनका कष्ट तो कम हो जायगा। हम तो केवल उनके दर्शन कर ही जीवित रह लेंगी। भले ही वे हमसे प्रेम न करें।

विशेष—गोपियों की कृष्ण के कष्ट-सम्बन्धी कल्पना बड़ी मनोरम और मार्मिक है। यह कल्पना इस बात का संकेत दे रही है कि गोपियाँ कृष्ण को सर्वव्यापी ब्रह्म का सगुण रूप मानती हैं। और सच्ची प्रेमिका होने के कारण सच्चे भक्त के समान अपने आराध्य के साथ तदाकार हो चुकी हैं?

राग बिलावल

तुम्हारी प्रीति, ऊधो! पूरब जनम की अब तो भए मेरे तनहु के गरजी।
बहुत दिनन तें बिरमि रहे हौ, संग तें बिछोहि हमहिं गए बरजी॥

जा दिन तें तुम प्रीति करी ही घटति न, बढ़ति तूल लेहु नरजी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु, तन भयो ब्योंत, बिरह भयो दरजी ।।३५९।।

शब्दार्थ—तनहु के=शरीर के भी। गरजी=लेने वाले। बिरमि=विश्राम कर रहे हो। बिछोह=छोड़कर। बरजी=मना कर, रोक कर। करी ही=की थी। तूल=लम्बाई। लेहु नरजी=नाप लो। ब्योंत=नाप।

भावार्थ—कृष्ण के प्रति अपने अनन्य प्रेम और उसके कारण उत्पन्न विरह का वर्णन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! कृष्ण से हमारा प्रेम तो पूर्व जन्म का है। अर्थात् हम जन्म-जन्मान्तर से कृष्ण से प्रेम करती चली आ रही हैं। हम इस प्रेम को कैसे त्याग दें ? अब तुम तो यह योग-सन्देश सुनाकर हमारे शरीर को भी ले लेना, अर्थात् नष्ट कर देना चाहते हो। अर्थात् कृष्ण को भुला देने से हम जीवित नहीं रह सकेंगी। हे प्रियतम कृष्ण ! तुम तो बहुत दिनों से मथुरा में रह रहे हो। हमारा साथ छोड़ वहाँ जा रमे हो और हमसे वहाँ आने के लिए मना कर गए हो। इसलिए हम वहाँ आ भी नहीं सकतीं।

जिस दिन से तुमने हमसे प्रेम किया था, तुम्हारे प्रति हमारा प्रेम जरा भी नहीं घटता, अपितु निरन्तर लम्बाई में बढ़ता ही जा रहा है। यदि तुम्हें हमारी बात पर विश्वास न हो तो नाप कर देख लो। अर्थात् तुम हमसे इतनी दूर जा बैठे हो, मगर हमारा प्रेम वहाँ तक भी जा पहुँचा है। हे स्वामी ! तुम्हारे मिलन के बिना हमारा यह शरीर कपड़ा बन गया है और विरह दरजी बन इस शरीर रूपी कपड़े की सदैव नाप लेता रहता है, उसकी काट-छाँट करता रहता है। अर्थात् तुम्हारे विरह में हमारा यह शरीर दिन-प्रतिदिन क्षीण और दुर्बल होता चला जा रहा है।

विशेष—(१) विरह को दरजी और शरीर को कपड़ा माना गया है।
(२) उत्प्रेक्षा अलंकार है। नूतन लौकिक उपमानों की संयोजना की गई है।

राग मलार

गोपालहि लै आवहू मनाय।
अब की बेर कैसेहू करि, ऊधो ! करि छल-बल गहि पाय ।।
दीजौ उर्नाहं सुसारि उरहनो, संधि-संधि समुझाय।
जिनहिं छाँड़ि बढ़िया महँ आए, ते बिकल भए जदुराय ।।
तुम सों कहा कहौं, हो मधुकर ! बातै बहुत बनाय।
बहियाँ पकरि सूर के प्रभु की, नंद की सौंह दिवाय ।।३६०।।

शब्दार्थ—लै आवहू=ले आओ। बेर=बार। गहि पाय=चरण पकड़कर। सुसारि=अच्छी तरह से। उरहनो=उलाहना। संधि-संधि=धीरे-धीरे, एक-एक कर। बढ़िया=बाढ़। सौंह=सौगन्ध।

भावार्थ—विरह-सन्तप्त गोपियाँ उद्धव से किसी भी प्रकार कृष्ण को एक बार गोकुल लिवा लाने की प्रार्थना करती हुई कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! इस बार तुम किसी भी प्रकार से, छल-बल द्वारा कृष्ण के चरण पकड़ उन्हें मनाकर यहाँ ले आओ । तुम ऐसा करना कि अच्छी तरह से समझाते हुए एक-एक कर धीरे-धीरे हमारे उलाहना देने की बातें उन्हें समझाना । उनसे कहना है कि हे यदुराज ! तुम जिन्हें त्याग कर अपने विरह की बाढ़ में डूबता हुआ छोड़ आए हो, वे गोपियाँ बहुत व्याकुल हो रही हैं । हे मधुकर ! हम तुमसे बना-बनाकर ज्यादा बातें क्या कहें । अर्थात् तुम इतनी सी बात से ही हमारी मर्म-व्यथा का अनुमान कर सकते हो । इसलिए तुम स्वामी कृष्ण की बाँह पकड़, उन्हें बाबा नन्द की सौगन्ध दिला यहाँ अवश्य ले आना ।

विशेष—रूपकातिशयोक्ति अलंकार है ।

राग सोरठ

कै तुम सौं छूटैं लरि, ऊधो, कै रहिए गहि मौन ।
एक हम जरैं जरे पर जारत, बोलहु कुबची कौन ?
एक अंग मिले दोऊ कारे, काको मन पतियाए ?
तुम सी होय सौं तुम सो बोलै, लीने जोगहि आए ।।
जा काहू कों जोग चाहिए, सो लै भस्म लगावै ।
जिन्ह उर ध्यान नंदनंदन को, तिन्ह क्यों निर्गुन भावै ?
कहौ सँदेस सूर के प्रभु को, यह निर्गुन अँधियारो ।
अपनो बोयो आप लूनिह, तुम आपुहि निरवारो ।।३६१।।

शब्दार्थ—लरि=लड़कर । जारत=जलाते हो । कुबची=बुरे वचन कहने वाला । पतियाए=विश्वास करे । लीने=लिए हुए । भावै=अच्छा लगे । लूनिए=काटना । निरवारो=सुलझाओ, दूर करो ।

भावार्थ—उद्धव द्वारा बार-बार ज्ञानोपदेश दिए जाने से झुँझला और ऊब कर गोपियाँ उनसे कहती हैं कि—

हे उद्धव ! तुमसे अपना पीछा छुड़ाने के दो ही उपाय हैं—या तो हम तुमसे लड़ाई कर लें, या तुम मौन साधकर चुपचाप बैठे रहो । एक तो हम पहले से ही विरह में जल रही हैं, ऊपर से तुम हम जली को और अधिक जला रहे हो—हमसे कृष्ण को भूल निर्गुण-ब्रह्म की उपासना करने की बात कह रहे हो । अब तुम्हीं बता दो कि हम दोनों में से कौन बुरे वचन (बुरी बात) बोलने वाला है—तुम या हम ? परन्तु इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है क्योंकि तुम दोनों ही (कृष्ण और उद्धव) एक से शरीर और काले रंग वाले हो । अर्थात् दोनों ही विश्वासघाती और कपटी हो । फिर तुम्हारी बातों पर कौन विश्वास करे ? तुम योग के लिए यहाँ हमारे पास आये हो,

ऐसी स्थिति में कौन तुमसे बात करे ? क्योंकि तुमसे तो वही बात कर सकता है जो तुम्हारी ही जैसी प्रकृति का अर्थात् विश्वासघाती हो । अथवा कोई तुम जैसी योगिनी ही तुम्हारी योग-सम्बन्धी इन बातों में रुचि ले तुमसे बात कर सकती है, हम गोपियाँ नहीं ।

जिस किसी को योग की दरकार (जरूरत) हो, वही उसे स्वीकार कर अपने शरीर पर भस्म लगा सकता है, योगी का वेश धारण कर सकता है । परन्तु जो अपने हृदय में निरन्तर नन्दनन्दन कृष्ण का ध्यान किया करती हैं, उन्हें तुम्हारा यह निर्गुण कैसे अच्छा लग सकता है । तुम जाकर हमारे स्वामी कृष्ण से हमारा यह सन्देश कह देना कि तुम्हारा भेजा हुआ यह निर्गुण तो अन्धकार से भरा हुआ है । अर्थात् तुम्हें त्याग इस निर्गुण को स्वीकार कर लेने से हमारे जीवन में अन्धकार छा जायगा । अब तो तुम्हें ही अपना बोया हुआ काटना पड़ेगा । इस उलझन भरे निर्गुण ब्रह्म की समस्या को स्वयं तुम्हें ही सुलझाना पड़ेगा, क्योंकि यह तुम्हारे ही दिमाग की उपज है । हम इसे स्वीकार नहीं कर सकतीं । इसीलिए तुम्हारी चीज तुम्हें ही लौटाए दे रही हैं ।

राग सारंग

ऐसो, माई ! एक कोद को हेतु ।
जैसे बसन कुसुँभ-रंग मिलि कै, नेकु चटक पुनि सेत ।।
जैसे करनि किसान बापुरो, नौ नौ बाहैं देत ।
एतेहु पै नीर निठुर भयो, उमगि आय सब लेत ।।
सब गोपी भाखैं ऊधो सों, सुनियो बात सचेत ।
सूरदास प्रभु जन तें बिछरें, ज्यों कृत राई रेत ।।३६२।।

शब्दार्थ—माइ=सखी । कोद=ओर, तरफ । कुसुंभ=कुसुम्भीं, लाल । सेत=सफेद । बाहैं देत=कई बार जोतता है । बापुरो=बेचारा । उमगि= उमड़कर । भाखैं=कहती हैं । सचेत=सावधान होकर । कृत राई रेत=रेत में राई बिखेर दी हो ।

भावार्थ—गोपियाँ एकपक्षीय और उभयक्षीय प्रेम का अन्तर स्पष्ट करती हुईं आपस में कह रही हैं कि—

हे सखि ! एक ही तरफ का प्रेम (जिसमें एक पक्ष तो दूसरे पक्ष से प्रेम करता हो, परन्तु दूसरा पक्ष पहले पक्ष से प्रेम न करता हो अर्थात् एकपक्षीय प्रेम) तो वैसा ही होता है जैसे कुसुम्भी रंग से रंगा जाने वाला वस्त्र । वस्त्र पर रंग चढ़ाने से वह कुछ समय तक तो अपनी चटक (चमक) से उस वस्त्र को चमकीला बना देता है, परन्तु कुछ समय बाद उस रंग के उड़ जाने से वह वस्त्र पुनः सफेद निकल आता है ।

अर्थात् ऐसा एकपक्षीय प्रेम क्षणिक और अस्थायी होता है। यह प्रेम वैसा ही होता है, जैसे बेचारा किसान इस आशा से अपने खेत को नौ-नौ बार अर्थात् अनेक बार जोतता है कि अच्छी वर्षा होगी और खेत में खूब अनाज पैदा होगा। किसान तो मेघ से प्रेम करता है, परन्तु मेघ उसके प्रेम की चिन्ता न कर निष्ठुर बन भयंकर वर्षा कर सारे खेत को बहा ले जाता है, किसान की सारी मेहनत पर पानी फेर देता है।

सूरदास कहते हैं कि सम्पूर्ण गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव! हमारी बात सावधान होकर सुनो। हमारा यह प्रेम एकपक्षीय नहीं है, उभयपक्षीय है। भगवान् अपने भक्त से बिछुड़ जायँ, यह उसी प्रकार असम्भव है, जैसे रेत में राई मिल जाने से उन दोनों को अलग-अलग करना असम्भव है। अर्थात् भक्त भगवान् के साथ तदाकार हो जाता है, इसलिए वहाँ बिछुड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता।

विशेष—(१) गोपियाँ रेत और राई का द्रष्टान्त देकर अपने उभयपक्षीय प्रेम की दृढ़ता की स्थापना कर रही हैं।

(२) 'ज्यों कृत राई रेत' में द्रष्टान्त अलंकार है।

राग मलार

मधुकर मन सुनि जोग डरै।
तुमहु चतुर कहावत अति ही इतो न समुझि परै।
और सुमन जो अनेक सुगन्धित, सीतल रुचि सो करै।
क्यों तू कोकनद बनहिं सरै, औ और सबै अनरै?
दिनकर महाप्रताप पुंज-वर, सबको तेज हरै।
क्यो न चकोर छाँड़ि मृग-अंकहि, वाको ध्यान करै?
उलटोइ ज्ञान सबै उपदेसत, सुनि-सुनि जीय जरै।
जम्बू-बृक्ष कहौ क्यों, लंपट! फलवर अम्ब फरै॥
मुक्त अवधि मराल प्रान है, जौ लगि ताहि चरै।
निघटत निपट, सूर ज्यों जल बिनु, ब्याकुल मीन मरै॥३६३॥

शब्दार्थ—इतो=इतना भी। कोकनद=कमल। सरै=जाता है। अनरै=अनादर करता है। मृग-अंकहि=चन्द्रमा को। वाको=उसका। जंबू-वृक्ष=जामुन का वृक्ष। अंब=आम। निघटत=समाप्त।

भावार्थ—जो जिससे प्रेम करता है, वही उसे अच्छा लगता है। विभिन्न उदाहरण देती हुई गोपियाँ इसी तथ्य को सिद्ध कर उद्धव से भ्रमर के माध्यम से कह रही हैं कि—

हे मधुकर! तुम्हारी ये योग-सम्बन्धी बातें सुनकर हमारा मन भयभीत हो उठता है। तुम तो अत्यन्त चतुर और ज्ञानी कहलाते हो परन्तु फिर भी तुम्हारी समझ

में इतनी सी बात नहीं आती कि जो जिससे प्रेम करता है वही उसे अच्छा लगता है। प्रेमी अपने प्रेमास्पद को त्याग अन्य किसी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता, भले ही वह कितना ही महान् या सुन्दर क्यों न हो। इस संसार में अनेक ऐसे सुगन्धित पुष्प हैं जो शीतल और रुचिकर होते हैं, परन्तु यह बता कि तू अन्य सारे पुष्पों का अनादर और उपेक्षा कर केवल कमलों के वन में ही क्यों विचरण करता है? सूर्य महा प्रतापशाली और प्रकाश का पुञ्ज होता है और अपने प्रकाश द्वारा अन्य सभी का तेज हर लेता है, सब उसके सामने फीके पड़ जाते हैं। फिर भी चकोर चन्द्रमा का ध्यान करना त्याग, उस प्रकाश-पुञ्ज सूर्य का ध्यान क्यों नहीं करता? इसका कारण यही है कि जो जिसे अच्छा लगता है, वह उसे त्याग अन्य का ध्यान कभी नहीं कर सकता।

परन्तु हे मधुप! तू तो ऐसा महामूर्ख है कि इतनी साधारण सी बात को भी नहीं समझता और हमें उल्टे ज्ञान का उपदेश दे रहा है। अर्थात् हमसे कहता है कि हम अपने प्रेमास्पद कृष्ण को त्याग, तेरे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लें। तेरी ऐसी बातों को सुन-सुनकर हमारा हृदय जल रहा है। रे लम्पट! यह बता कि जामुन के वृक्ष में फलों में सर्वश्रेष्ठ आम कैसे लग सकते हैं? हंस जब तक जीवित रहता है, तब तक केवल मोती ही चुगा करता है, अन्य कुछ भी नहीं खाता। मछली जल के पूर्णतया समाप्ति हो जाने पर तड़प-तड़पकर मर जाती है। सच्चा प्रेम इसी को कहते हैं। सच्चे प्रेमी अपनी प्रेम-साधना से कभी विचलित नहीं होते। हम भी अपने प्रियतम कृष्ण को त्याग देने पर जीवित नहीं रह सकेंगी; उनके विरह में तड़प-तड़प कर मर जायेंगी।

विशेष—सम्पूर्ण पद में निदर्शना तथा 'ज्यों जल····मीन मरै' में उपमा अलंकार है।

बिरचि मन बहुरि राच्यो आय।
टूटी जुरै बहुत जतनन करि, तऊ दोष नहिं जाय॥
कपट हेतु की प्रीति निरंतर, नोइ चोखाई गाय।
दूध फटे जैसे भइ काँजी, कौन स्वाद करि खाय?
केरा पास ज्यों बेर निरंतर, हालत दुख द्वै जाय।
स्वाति-बूँद ज्यों परे फनकि-मुख, परत विषै ह्वै जाय॥
ऐसी केती तुम जौ उनकी, कहौ बनाय-बनाय।
सूरजदास दिगंबर-पुर में, कहा रजक-ब्यौसाय॥३६४॥

शब्दार्थ—बिरचि=विरक्त हो, उचट कर। राच्यो=अनुरक्त हुआ। नोई=पैर रस्सी से बाँधकर। चोखाई=दूध दुही हुई। काँजी=खटाई। केरा=केला। हालत=हिलने पर। फनिक=सर्प। दिगंबर-पुर=नंगों का नगर। रजक-ब्यौसाय=धोबी का व्यवसाय, धन्धा।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म की पूर्ण अवहेलना करती हुईं विभिन्न उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध कर रही हैं कि प्रेम एक बार टूट जाने पर उसमें पहले की-सी-गम्भीरता और एकनिष्ठता नहीं रहती। वे इसी बात को स्पष्ट करती हुईं उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! यदि मन एक बार किसी के प्रति विरक्त हो, पुनः किसी के प्रति अनुरक्त होता है तो उसमें पहले प्रेम की-सी वह गम्भीरता और अनन्यता की भावना नहीं रह पाती। जब रस्सी एक बार टूट जाती है तो अनेक यत्न कर उसे जोड़ देने पर भी उसका दोष नहीं जाता, उसमें गाँठ पड़ ही जाती है। अर्थात् हम एक बार कृष्ण से प्रेम कर धोखा खा चुकी हैं, इसलिए अब हम तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म से उसी तन्मयता और गम्भीरता के साथ प्रेम नहीं कर सकतीं। यदि प्रयत्न करेंगी भी तो उसमें कहीं-न-कहीं कमी या दोष रह ही जायगा। इसीलिए हम निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार करने में असमर्थ हैं। प्रेम पर से हमारा विश्वास उठ गया है। कपट-भरा प्रेम वैसा ही होता है, जैसे हम गाय को पहले खूब खिलाते-पिलाते हैं और फिर उसके पैरों में रस्सी बाँध उसका दूध दुह लेते हैं। दूध दुह लेने के उपरान्त उसके पैरों में रस्सी (पेंड़) बाँध उसे चरने छोड़ देते हैं, जिससे वह भाग न जाय। मन एक बार फट जाने पर फिर प्रेम करने में आनन्द नहीं आता। जैसे दूध फट जाने पर खट्टा और स्वादहीन हो जाता है और फिर कोई भी उसे खाना पसन्द नहीं करता।

दूसरी बात यह है कि प्रेम समान स्वभाव वालों में ही होता है। विपरीत स्वभाव वालों से प्रेम करने पर सदैव दुःख उठाना पड़ता है। जैसे बेर के वृक्ष के पास लगा हुआ केला दुःख पाता रहता है। बेर के वृक्ष के तनिक हिलते ही उसके काँटों से केले का वृक्ष विदीर्ण होता रहता है। तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म भी हमारे लिए बेर के वृक्ष के समान दुःखदायी बन जायगा। यदि अच्छी-से-अच्छी चीज भी अपात्र के हाथ पड़ जाती है तो भयानक रूप धारण कर लेती है। जैसे स्वाति नक्षत्र की बूँद जब सर्प के मुख में जा पड़ती है तो पड़ते ही घातक विष की बूँद बन जाती है। इसी प्रकार स्वाति नक्षत्र की बूँद के समान दुर्लभ हमारा, नाग के समान प्रेम तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म के पास जा विष बन जायगा, जिससे हमारा प्राणान्त हो जायगा।

हे उद्धव ! तुम चाहे अपने निर्गुण-ब्रह्म के सम्बन्ध में बना-बनाकर कितनी ही बातें क्यों न करो, परन्तु तुम्हारा यह प्रयत्न वैसा ही निष्फल सिद्ध होगा जैसे कोई धोबी नंगों के नगर में जा वहाँ अपना कपड़े धोने का व्यावसाय चलाना चाहे। जब उस नगर में कपड़े ही नहीं होंगे तो बेचारा धोबी धोएगा क्या ? अतः तुम अच्छी तरह से समझ लो कि हम तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नहीं कर सकतीं, उससे प्रेम नहीं कर सकतीं। क्योंकि हम एक बार कृष्ण से प्रेम कर प्रेम का परिणाम भुगत रही हैं। अब प्रेम करने से हमारा मन उचट गया है। अथवा यहाँ सब कृष्ण से प्रेम करती हैं, इसलिए यहाँ तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म की दाल नहीं गल सकती।

विशेष—(१) द्वितीय पंक्ति का भाव रहीम की इन पंक्तियों में भी व्यक्त हुआ है—

> "रहिमन धागा प्रेम का, मत तोड़ो चटकाय।
> टूटे से फिर ना जुड़े, जुड़े गाँठ परि जाय।"

इस सम्पूर्ण पद का भाव इन्हीं पंक्तियों में अभिव्यक्त हो रहा है।

(२) 'कपट-हेतु·······गाय' में द्रष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा; 'केरा·······जाय' में उपमा; 'स्वाति·······जाय' में विषम; और 'दिगम्बर' में श्लेष अलंकार है।

राग नट

कहत कत परदेसी की बात ?
मंदिर-अरध-अवधि बदि हम सों, हरि-अहार चलि जात ॥
ससि-रिपु बरष सूर-रिपु युग वर, हर-रिपु किए फिरै घात।
मघ-पंचक लै गए स्यामघन, आय बनी यह बात ॥
नखत, बेद, ग्रह जोरि अर्ध करि, को बरजै हम खात।
सूरदास प्रभु तुमहिं मिलन कों, कर मीड़ति पछितात ॥३६५॥

शब्दार्थ---मंदिर-अरध-अवधि=मंदिर—घर, अरध—आधा भाग, एक पाख या पक्ष, अर्थात् एक पक्ष या पन्द्रह दिन की अवधि। हरि-अहार=हरि—सिंह, अहार—भोजन, माँस अर्थात् एक महीना। ससि-रिपु=दिन, अर्थात् एक दिन एक वर्ष के समान। सूर-रिपु=रात्रि। हर-रिपु=कामदेव। घात=ताक लगाना। मघ-पंचक=मघा से लेकर पाँचवाँ नक्षत्र चित्रा अर्थात् चित्त। नखत=नक्षत्र २७+वेद ४+ग्रह ९=४०। अर्ध करि=आधा कर अर्थात् बीस (२०) अर्थात् विष। बरजै=रोके, मना करे।

भावार्थ—उद्धव द्वारा कृष्ण का सन्देश सुनाने पर विरह-व्यथिता गोपियाँ झल्लाकर कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम हमसे उस परदेशी (मथुरा में जाकर बस गए) कृष्ण की बातें क्यों कहते हो। अब वह हमारे लिए परदेशी बन गए हैं, अतः हम उनकी बातें नहीं सुनना चाहतीं। वह तो ऐसे झूठे और मक्कार हैं कि हमसे लौटने का जो वायदा कर गए थे, उसे उन्होंने पूरा नहीं किया। वह हमसे एक मास के एक पक्ष अर्थात् पन्द्रह दिन में लौटने का वायदा कर गए थे, परन्तु उन्हें गए पूरा एक मास बीत गया है और वह अभी तक लौटकर नहीं आए। चन्द्रमा का शत्रु, अर्थात् दिन हमें वर्ष के समान लम्बा लगता है, और सूर्य का शत्रु अर्थात् रात्रि हमें युग के समान कभी न समाप्त होने वाली-सी प्रतीत होती है। रात्रि वैसे ही काटे से नहीं कटती, ऊपर से शिव का शत्रु (कामदेव) हमारे ऊपर आघात करता रहता है, सदैव हमारी ताक में लगा रहता है। अर्थात् रात्रि के समय हमें काम-वासना बहुत अधिक सताती है।

हमारे चित्त (मन) को तो श्यामघन कृष्ण अपने साथ ही मथुरा ले गए थे, इसीलिए आज हमारी ऐसी दशा हो रही है। अर्थात् हम कृष्ण-विरह में अत्यधिक व्याकुल बनी रहती हैं।

(२७ नक्षत्र+४ वेद+९ ग्रह को जोड़कर उसका आधा—बीस अर्थात् विष) हम कृष्ण-विरह में इतनी व्यथित हो उठी हैं कि अब विष खाने का मन करता है और कृष्ण के बिना अब हमें उसे खाने से कौन रोक सकता है ? अर्थात् अब यह विरह-वेदना इतनी असह्य हो उठी है कि मर जाने को मन करता है, जिससे इस प्राणान्तक वेदना से मुक्ति मिल जाय। हे स्वामी कृष्ण ! हम तुमसे मिलने के लिए हाथ मलती और पछताती रहती हैं कि हमने अक्रूर और तुम्हारी बातों पर विश्वास कर तुम्हें यहाँ से जाने ही क्यों दिया था।

विशेष—(१) यह पद 'दृष्टकूट' है। काव्य-शास्त्र के अनुसार दृष्टकूट की गणना अधम-काव्य की श्रेणी में की जाती है। इसमें अर्थ स्पष्ट न होकर अत्यन्त क्लिष्ट होता है। इसे स्पष्ट करने में बहुत मानसिक श्रम करना पड़ता है, और 'क्लिष्टत्व' काव्य का एक दोष माना गया है। चमत्कार प्रिय कवि ही प्राय: ऐसे दृष्टकूटों की रचना करते आये हैं। सूर पर भी इस काव्य-परम्परा का प्रभाव ऐसे पदों के रूप में देखा जा सकता है। उनके 'साहित्य-लहरी' नामक ग्रन्थ में ऐसे अनेक दृष्टकूट मिलते हैं। ऐसे पदों को 'चित्र-काव्य' भी कहते हैं।

(२) अलंकार की दृष्टि से इस पद में 'दृष्टकूट' अलंकार है।

(३) क्लिष्ट शब्दों का अर्थ ऊपर 'शब्दार्थ' में किया जा चुका है। पाठक वहीं देख लें।

राग धनाश्री

ऊधो ! मन माने की बात।
दाख छहारा छाँड़ि अमृत-फल बिस-कीरा बिस खात ।।
जौ चकोर को दै कपूर, कोउ तजि अंगार अघात ?
मधुप करत घर कोरि काठ में बँधत कमल के पात ।।
ज्यों पतंग हित जानि आपनो, दीपक सों लपटात।
सूरदास जाको मन जासों, सोई ताहि सुहात ।।३६६।।

शब्दार्थ—अमृत-फल=अमृत के समान मीठे फल। अघात=तृप्त होता है। कोरि=कुरेद, कुतर कर। हित=भलाई। सुहात=अच्छा लगता है।

भावार्थ—प्रेम का क्षेत्र अद्भुत होता है। प्रेमी सुन्दर और अच्छी वस्तुओं को त्याग खराब चीजों से प्रेम करने लगते हैं। कृष्ण के प्रति अपनी दृढ़ता और अनन्यता का यही मनोवैज्ञानिक कारण बताती हुई गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! यह तो मन द्वारा किसी को अपना मान लेने की बात है। अर्थात्

जिसमें हमारा मन एक बार रम जाता है, फिर उसके सामने हमें और कुछ भी अच्छा नहीं लगता। जैसे विष का कीड़ा दाख और छुहारे जैसे अमृत के समान जीवनदायक और मीठे फलों को न खाकर केवल प्राणघातक विष खाने में ही सुख मानता है। वही उसे अच्छा लगता है। यदि चकोर को कोई शीतलता प्रदान करने वाला कपूर खाने को दे तो वह उसे त्याग अंगार खाने में ही पूर्ण तृप्ति का अनुभव करता है। यद्यपि भ्रमर काठ जैसी कठोर वस्तु में भी कुरेद-कुरेद कर, उसे काट अपना घर बना लेता है, परन्तु वही भ्रमर कमल के कोमम पत्तों में बन्दी बन जाता है और उन्हें काट मुक्त होने का प्रयत्न नहीं करता। क्योंकि वह कमल से प्रेम करता है।

जैसे पतिंगा दीपक की लौ में अनुरक्त होने के कारण उसी से लिपटने में अपना हित समझता है और भस्म हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिसका मन जिसमें एक बार अनुरक्त हो जाता है, उसे वही अच्छा लगता है। भाव यह है कि तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म चाहे कितना ही महान् और स्पृहणीय क्यों न हो, परन्तु हमारा मन कृष्ण में अनुरक्त है, इसलिए हम अपने कृष्ण को त्याग तुम्हारे महान् निर्गुण ब्रह्म से प्रेम नहीं कर सकतीं। हमें तो अपने कृष्ण ही प्यारे हैं।

विशेष—(१) एक उर्दू शायर ने यही बात इस प्रकार कही है—

"हुआ लैला पै मजनूं, कोहकन शीरी पै शैदाई।
मोहब्बत दिल का सौदा है कि जिसकी जिससे बन आई॥"

(२) पूरे पद में समुच्चय अलंकार है।

राग बिलावल

कर-कंकन तें भुज-टाँड़ भई।
मधुबन चलत स्याम मनमोहन, आवन-अवधि जो निकट दई॥
जोहति पंथ मनाबति संकर, बासर निसि मोहिं गनत गई।
पाती लिखत बिरह तन व्याकुल, कागर ह्वै गयो नीरमई॥
ऊधो ! मुख के बचनन कहियो, हरि सों सूल नितप्रतिहि नई।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस को, बिरह बियोगिनि बिकल भई॥३६७॥

शब्दार्थ—भुज-टाँड़=बाहु में कोहनी से ऊपर पहनने का एक आभूषण। मधुबन=मथुरा। आवन=आने की। जोहति=ताकती, देखती। गनत=गिनते हुए। कागर=कागज। नीरमई=जलमय। बचनन कहियो=जबानी कहना।

भावार्थ—विरह-व्यथिता गोपियाँ अत्यन्त कृश-गात हो गई हैं। अपनी इसी विरह-वेदना और कृशता का वर्णन करती हुई वह उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! हम कृष्ण-विरह में निरन्तर दग्ध होते रहने के कारण इतनी दुबली हो गई हैं कि हमारी पहुँची (कलाई) में पड़ा हुआ कंकण अब हमारी भुजा का टाँड़ नामक आभूषण बन गया है। अर्थात् हमारी बाँहें इतनी पतली हो गई हैं

कि कंकण ऊपर खिसकर टाँड़ के स्थान पर जा पहुँचता है। कृष्ण जब मथुरा के लिए प्रस्थान कर रहे थे, उस समय उन्होंने अपने लौट आने की अवधि थोड़ी-सी ही केवल पन्द्रह दिन की बताई थी कि वह पन्द्रह दिन में लौट आयेंगे। परन्तु वह अवधि दिन-रात एक-एक दिन गिनते, उनका रास्ता देखते और शंकर की मनौतियाँ मनाते हुए समाप्त हो गई। कृष्ण लौटकर नहीं आए। जब शरीर विरह के कारण व्याकुल हो उठता है तो हम कृष्ण के लिए चिट्ठी लिखती हैं। परन्तु आँखों से निरन्तर बहते रहने वाले आँसुओं से कागज भीग जाता है और चिट्ठी गल जाती है। हम चिट्ठी लिखें तो आखिर कैसे लिखें ?

इसलिए हे उद्धव ! तुम हमारी इस विरह-व्यथा का वर्णन कृष्ण से मुँह-जबानी ही कह देना कि हम नित्यप्रति भयानक कष्ट सहती रहती हैं। हे स्वामी ! हम सारी वियोगिनियाँ विरह के कारण अत्यधिक व्याकुल हो, तुम्हारे दर्शनों के लिए छटपटाती रहती हैं।

विशेष—'कर-कंकन····भई' में सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार है। विरह के ऐसे चित्रण, ऊहात्मक-चित्रण माने जाते हैं। गोपियों के कंकण तो कृशता के कारण भुज-बन्ध (बरा) का काम देने लगे थे, परन्तु तुलसी की सीता की अँगूठी तो कंकण बन गई थी; जैसे—

> **"तुम पूछत कहि मुद्रिके मौन होत यदि नाम।**
> **कंकन की पदवी दई तुम बिन या कहं राम॥"**

ऐसी अतिशयोक्तियाँ कभी-कभी अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर देती हैं।

राग धनाश्री

फूल बिनन नहिं जाउँ सखी री ! हरि बिन कैसे बीनौं फूल।
सुन री, सखी ! मोहिं रामदोहाई, फूल लगत तिरसूल॥
वे जो देखियत राते-राते, फूलन फूली डार।
हरि बिनु फूल झार से लागत, झरि-झरि परत अंगार॥
कैसे कै पनघट जाउँ सखी री ! डोलौं सरिता-तीर।
भरि-भरि जमुना उमड़ि चलति है, इन नैनन के नीर॥
इन नैनन के नीर सखी री ! सेज भई घरनाउँ।
चाहति हौं याही पै चढ़िकै स्याम-मिलन कौं जाउँ॥
प्रान हमारे बिन हरि प्यारे, रहे अधरन पर आय।
सूरदास के प्रभु सों सजनी, कौन कहै समुझाय॥३६८॥

शब्दार्थ—बिनन=बीनने को। तिरसूल=त्रिशूल। राते-राते=लाल-लाल। झार=अग्नि की ज्वाला। डोलौं=घूमूँ। घरनाऊँ=घड़नई, बाँस में उल्टे घड़े बाँध कर बनाई गई नाव।

भावार्थ—विरह-व्यथा से अत्यधिक त्रस्त और व्याकुल हो, गोपियाँ आपस में कह रही हैं कि—

हे सखि ! मैं फूल बीनने (तोड़ने) के लिए नहीं जाऊँगी, क्योंकि कृष्ण के बिना मैं कैसे फूल बीन सकूँगी ? (फूल कामोद्दीपक होते हैं, इसलिए उन्हें देख गोपियों को कृष्ण की याद सताने लगती है।) हे सखि ! सुन, मैं राम की सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि फूल मुझे त्रिशूल के समान भयानक और प्राणघातक लगने लगते हैं। वह जो दूर लाल-लाल फूलों से लदी डाल दिखाई दे रही है, कृष्ण के बिना वे फूल मुझे अग्नि के दहकते हुए अंगारे से लगते हैं और उस डाल पर से ,जो फूल नीचे झड़ रहे हैं, वे ऐसे लगते हैं—मानो अंगारे नीचे गिर रहे हों, अंगारों की वर्षा हो रही हो।

हे सखि ! मैं पनघट पर कैसे जाऊँ ? कैसे नदी के तीर (तट) पर घूमूँ ? क्योंकि इन्हें देखते ही मेरे इन नयनों से आँसुओं की धारा ऐसे प्रबल वेग से बहने लगती है—मानो यमुना जल से आपूरित हो उमड़कर बह रही हो। हे सखि ! मेरे इन नयनों के जल के कारण मेरी शय्या घड़नई बन जाती है। अर्थात् आँसुओं के जल में तैरने लगती है। मेरा मन कहता है कि मैं अपनी उस शय्या रूपी घड़नई नाव पर चढ़ कृष्ण से मिलने के लिए जाऊँ। प्रियतम कृष्ण के बिना मेरे प्राण होठों पर आ गए हैं; अर्थात् मैं प्राणान्तक वेदना सह रही हूँ। परन्तु स्वामी कृष्ण को जाकर कौन समझाए कि तुम्हारे बिना गोपियों की ऐसी दशा हो रही है, इसलिए तुम लौट कर उन्हें दर्शन दे, इस यातना से मुक्ति दिला दो।

विशेष—(१) विरहात्युक्ति होने के कारण अतिशयोक्ति अलंकार है।

(२) संगीत की दृष्टि से यह पद अत्यन्त सुन्दर है।

(३) प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण है।

राग बिहागरो

ऊधो जू ! मैं तिहारे चरनन लागौं, बारक या ब्रज करबि भाँवरी।
निसि न नींद आवै, दिन न भोजन भावै, मग जोवत भई दृष्टि झाँवरी।।
वहै बृन्दाबन स्याम सघन बन, वहै सुभग सरि साँवरी।
एक स्याम बिनु स्यामं न भावै, सुधि न रही जैसे बकत बावरी।।
लाज छाँड़ि हम उतहिं आवतीं, चलि न सकति आवै बिरह-ताँवरी।
सूरदास प्रभु बेगि दरस दीजै, होय है जग में कीरति रावरी।।३६६।।

शब्दार्थ—बारक=एक बार। करबि=करें। भाँवरी=चक्कर, फेरा। झाँवरी=धुँधली। वहै=वही। सरि साँवरी=श्याम रंग वाली यमुना नदी। स्याम=काला रंग। बावरी=पगली। ताँवरी=ताप, ज्वर, चक्कर। रावरी=तुम्हारी।

भावार्थ—कोई गोपी या राधा उद्धव से प्रार्थना कर रही है कि—

हे उद्धव जी ! मैं तुम्हारे चरण छूती हूँ। कोई ऐसा यत्न करो जिससे प्रियतम

कृष्ण एक बार इस ब्रज का चक्कर लगा जाएँ। यहाँ हो जाएँ। उनके वियोग में हमें रात को नींद नहीं आती, दिन में खाना-पीना अच्छा नहीं लगता और निरन्तर उनकी राह ताकते-ताकते दृष्टि धुँधली पड़ गई है। यह वृन्दावन भी वही है, यहाँ श्यामल सघन वन और सुन्दर साँवली यमुना भी वही है, परन्तु केवल एक श्याम (कृष्ण) के बिना हमें ब्रज की यह श्यामलता तनिक भी अच्छी नहीं लगती। हम अपना होश-हवाश तक खो बैठी हैं और रात-दिन पगली के समान अनर्गल प्रलाप करती रहती हैं। हम सम्पूर्ण लोक-लाज त्याग उधर मथुरा ही चली आतीं, परन्तु करें क्या, हमसे चला नहीं जाता क्योंकि इस विरह-ज्वर के कारण चलने में झाँई अर्थात् चक्कर आने लगते हैं। इसलिए हे स्वामी! तुम शीघ्र आकर हमें अपने दर्शन दो। ऐसा करने से संसार में तुम्हारी कीर्त्ति फैलेगी कि तुमने दुखिनी गोपियों का विरह-दुःख से उद्धार किया था। सारा संसार तुम्हारा यश गायेगा।

ऊधो ! जबहिं जाव गोकुलमनि आगे पैयाँ लागन कहियो।
अब मोहि बिपति परी दर्शन बिनु, सहि न सकत तन दारुन दहियो।।
सरदचंद मोहि बैरि महाभयो, अनिल सहि न परै किहि सूधि दहियो।
सूर स्याम बिनु गृह बन सूनो, बिन मोहन काको मुख चहियो।।३७०।।

शब्दार्थ—जाव=जाओ। गोकुलमनि=कृष्ण। पैयाँ लागन=चरण छूना, पालागन। दहियो=जलना। बैरि=शत्रु। अनिल=शीतल पवन। चहियो=देखें।

भावार्थ—अपनी असह्य, असीम विरह-व्यथा का वर्णन करती हुई, गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव! तुम जब गोकुल-मणि कृष्ण के सामने जाओ तो उनसे हमारा पालागन (चरण-स्पर्श) कह देना। साथ ही हमारा यह सन्देश भी कहना कि तुम्हारे दर्शनों के बिना हम पर भयानक संकट आ पड़ा है। हमारा यह शरीर विरह की इस जलन को सहन नहीं कर पाता। शरद् ऋतु का चन्द्रमा हमारा महाभयंकर शत्रु बन गया है और शीतल पवन का स्पर्श तक हमसे नहीं सहा जाता। अब तुम्हीं बताओ कि हम किस तरह जीवित रहें (विरह में शरद चन्द्र और शीतल पवन उद्दीपनकारी बन जाते हैं।) स्वामी कृष्ण के बिना यह घर और वन हमें सूने लगते हैं। अब कृष्ण के अतिरिक्त और किसका मुँह देख हम जीवित रहें। अर्थात् कृष्ण के मुख को देखे बिना हमारा मरण निश्चित है।

विशेष—(१) प्रकृति का उद्दीपन-रूप है।

(२) अतिशयोक्ति अलंकार है।

राग सोरठ

मैं जान्यो मोको माधव हित है कियो।
अति आदर अलि ज्यों मिलि कमलहि मुख-मकरन्द लियो।।

बरु वह भली पूतना जाको, पय-सँग प्रान पियो।
मनमधु अँचै निपट सूने तन, यह दुख अधिक दियो।।
देखि अचेत अमृत-अवलोकनि, चालि जु सींचि हियो।
सूरदास प्रभु वा अधार के, नाते परत जियो।।३७१।।

शब्दार्थ—हित=प्रेम। मकरन्द=पराग। बरु=इससे तो। पय-सँग=दूध के साथ। मनमधु=मन रूपी मधु। अँचै=पीकर। अवलोकनि=दृष्टि। चाल=चले गए। अधार=आधार, सहारा।

भावार्थ—अपने प्रति कृष्ण की निष्ठुरता पर उपालम्भ देती हुई गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव! हमने तो यह समझा था कि कृष्ण हमसे प्रेम करते हैं। परन्तु उनका वह प्रेम तो कपट-प्रेम निकला। जिस प्रकार भ्रमर कमल के प्रति अत्यन्त आदर प्रदर्शित करता हुआ उससे मिलता है और फिर उसके मुख का मकरन्द (पराग) पान करता है परन्तु फिर उसे त्याग कर चला जाता है। बिल्कुल ऐसा ही व्यवहार कृष्ण ने हमारे साथ किया है। पहले उन्होंने हमारे प्रति स्नेह प्रदर्शित कर हमारे अधर-रस का पान किया और फिर हमें त्याग चले गए। हमसे तो वह पूतना अच्छी और भाग्यशालिनी थी, जिसका दूध पीते समय कृष्ण ने उसके प्राण भी पी लिए थे, उसके प्राण खींच लिए थे। परन्तु कृष्ण जाते समय हमारे प्राण न ले, हमें अपने विरह का यह दुःख दे गए। उन्होंने हमारे मन रूपी मधु का पान कर अर्थात् हमारे मन को अपने साथ ले जाकर हमारे मन-हीन इस नितान्त शून्य शरीर को अधिक दुःख दिया है। अर्थात् हमारा मन सदैव कृष्ण में ही रमा रहता है, इसलिए उनके विरह में हमें अत्यधिक वेदना सहनी पड़ रही है।

परन्तु कृष्ण ने हमारे ऊपर एक उपकार अवश्य किया था। जब उनके यहाँ से जाते समय हम उनके बिछुड़ने के दुःख से अचेत हो रही थीं, उस समय उन्होंने अमृत के समान जीवन-दायिनी अपनी दृष्टि द्वारा हमारी ओर देख, हमारे मुरझाये और दुःखी हृदय को सींच चैतन्य कर दिया था। उस दृष्टि को देख हमें विश्वास हो गया था कि कृष्ण हमसे सच्चा प्रेम करते हैं। अब हम उसी प्रेम भरी अमृत के समान मधुर दृष्टि के सहारे ही जी रही हैं। उस दृष्टि ने हमें विश्वास दिला दिया था कि कृष्ण हमारे ही हैं और लौटकर अवश्य आयेंगे।

विशेष—'अति······लियो' में उपमा और रूपक; 'मनमधु' तथा 'अमृत अवलोकनि' में निरंग रूपक; तथा 'देखि······जियो' में काव्यलिंग अलंकार है।

राग सारंग

देखौ माधव की मित्राई।
आई उघरि कनक-कलई ज्यों, दै निज गए दगाई।।

हम जाने हरि हितू हमारे, उनके चित्त ठगाई।
छाँड़ी सुरति सबै ब्रजकुल की, निठुर लोग बिलमाई ॥
प्रेम निबाहि कहा वै जानैं साँचेई अहिराई।
सूरदास बिरहिनी बिकल-मति, कर मींजै पछिताई ॥३७२॥

शब्दार्थ—मित्राई=मित्रता। निज=केवल, बिल्कुल। दगाई=दगा, धोखा। हितू=हितैषी। सुरति=स्मृति। बिलमाई=बिरम रहे हैं, रह रहे हैं। निबाहि= निभाना। अहिराई=सर्पराज।

भावार्थ—गोपियाँ कृष्ण के विश्वासघात से व्यथित हो, उनकी निष्ठुरता पर व्यंग्य करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम ही देख लो कि कृष्ण की मित्रता कैसी होती है। उनके कपट-प्रेम की असलियत अब अच्छी तरह से खुल गई जब वह हमारे साथ पूरी तरह से दगा कर, धोखा दे, हमें छोड़कर चल दिये। जिस तरह किसी बर्तन पर चढ़ी हुई सोने की कलई (पानी) छूट जाने से उनका असली रूप सामने आ जाता है, वैसे ही अब कृष्ण के कपट-प्रेम की कलई (बाह्य रूप) स्पष्ट हो उठी है। हम तो यह समझती थीं कि कृष्ण हमारे शुभचिन्तक और हितैषी हैं, परन्तु उनके हृदय में तो विश्वासघात भरा हुआ था। अब वह सम्पूर्ण ब्रज की याद भुलाकर मथुरा में निष्ठुर लोगों के बीच जा रमे हैं। मथुरा के लोग निष्ठुर इसलिए हैं कि पहले अक्रूर धोखा दे, कृष्ण को लिवा ले गए थे और अब उद्धव गोपियों से कृष्ण की स्मृति तक छीन लेने यहाँ पधारे हैं।

ऐसे कृष्ण, प्रेम निभाना क्या जानें ! वे तो सचमुच ही सर्पराज सिद्ध हुए। अर्थात् जिस तरह सर्प अपने पालक सपेरे के स्नेह की पूर्ण उपेक्षा कर, अवसर पा उसे डस लेता है और फिर भाग जाता है, उसी प्रकार कृष्ण ने गोपियों के स्नेह की पूर्ण उपेक्षा कर, उन्हें अपने विरह रूपी दंश से मर्माहत कर मरणासन्न बना दिया था और स्वयं उन्हें छोड़ मथुरा भाग गए थे। इसी कारण गोपियाँ कृष्ण को अहिराज (सर्प-राज) कह रही हैं। सूरदास कहते हैं कि विरहिनी गोपियाँ कृष्ण की याद कर हाथ मल-मल कर पछताने लगीं।

विशेष—(१) 'कनक-कलई' में उपमा अलंकार है।

(२) 'अहिराई' में श्लेष है। पहला अर्थ 'अहीरों का राजा' तथा दूसरा 'सर्पों का राजा'।

राग मलार

मेरे मन इतनी सूल रही।
बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं, जे नँदलाल कही ॥
एक दिवस मेरे गृह आए, मैं ही मथति दही।
देखि तिन्हें मैं मान कियो सखि, सो हरि गुसा गही ॥

सोचति अति पछताति राधिके मूर्छित धरनि ढही।
सूरदास प्रभु के बिछुरे तें, बिथा न जाति सही ॥३७३॥

शब्दार्थ—सूल=शूल, दुःख, मलाल। बतियाँ=बातें। ही=थी। गुसा गही=क्रोध किया। ढही=गिर पड़ी।

भावार्थ—विरह-व्यथित राधा कृष्ण-सम्बन्धी प्राचीन स्मृतियों का स्मरण कर अपनी सखी से कह रही है कि—

हे सखि ! मेरे मन में एक बात का बहुत भारी दुःख और मलाल है। एक ऐसी घटना घटी थी कि उस समय कृष्ण ने जो बातें कही थीं, वे मेरे हृदय में अंकित हो गई हैं, अभी तक चुभ रही हैं। ऐसा हुआ कि एक दिन कृष्ण मेरे घर आए। उस समय मैं दही मथ रही थी। मैंने कृष्ण को देखकर मान किया। सो हे सखि ! मेरे उस मान करने से कृष्ण नाराज हो गए। सम्भवतः मेरी उस नादानी से ही नाराज हो, वह हमें छोड़कर चले गए।

राधा इतना कहकर उस पुरानी घटना के सम्बन्ध में सोचती और बहुत पछताती रही। अन्त में दुःख से अत्यधिक व्याकुल बन, मूच्छित हो धरती पर गिर पड़ी। स्वामी कृष्ण से बिछुड़े जाने के कारण राधा से वह विरह-व्यथा सही नहीं जाती, इसीलिए उसकी ऐसी दशा हो रही थी।

विशेष—(१) इस पद में विप्रलम्भ शृंगार का पूर्ण परिपाक हुआ है। राधा प्रोषितपतिका नायिका और कृष्ण आलम्बन हैं। रति स्थायी भाव, कृष्ण का स्मरण उद्दीपन विभाव, मूर्च्छा अनुभाव तथा स्मरण संचारी भाव है।

(२) स्मरण संचारी का मार्मिक चित्रण हुआ है। सूर के ऐसे छोटे, सरल पद मार्मिकता की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर और सफल बन पड़े हैं। भावों की सरलता और निश्छलता—इनका प्रधान गुण और आकर्षण है।

तब तें बहुरि न कोऊ आयो।
वहै जो एक बार ऊधो पै, कछुक सोध सो पायो ॥
यहै बिचार करें, सखि माधव इतो गहरु क्यों लायो।
गोकुलनाथ कृपा करि कबहूँ लिखियौ नाहिं पठायो ॥
अवधि आस एती करि यह मन अब जैहै बौरायो।
सूरदास प्रभु चातक बोल्यो, मेघन अम्बर छायो ॥३७४॥

शब्दार्थ—बहुरि=फिर। सोध=खबर, समाचार। गहरु=देर, विलम्ब। लायो=लगाया, किया। लिखियौ=लिखकर भी। बौरायो=पागल। अम्बर=आकाश।

भावार्थ—उद्धव गोपियों को अपना योग-सन्देश सुना मथुरा लौट गए। तब

से बहुत दिन बीत गए परन्तु मथुरा से फिर कोई सन्देश नहीं मिला। गोपियाँ इसी बात को आपस में कह रही हैं कि—

तब से (उद्धव के ब्रज से जाने के बाद से) यहाँ फिर कोई भी नहीं आया। बस, उसी समय, जब उद्धव एक बार यहाँ आए थे, वहाँ का (कृष्ण का) थोड़ा-सा समाचार मिल गया था। हे सखि ! हम यही सोच रही हैं कि कृष्ण ने आने में या अपना कोई समाचार भेजने में इतनी देर क्यों लगा दी ? न जाने इसका क्या कारण है ? गोकुलनाथ ने कभी कृपा कर हमारे लिए एक चिट्ठी तक लिखकर नहीं भेजी। हमने उनके आने की अवधि की आशा पर इतने दिन तो काट लिए, परन्तु अब यह मन अपना सारा धीरज खो पागल हो जायगा। अर्थात् अब हमसे उनका वियोग और अधिक नहीं सहा जायगा। क्योंकि अब वर्षा ऋतु आ गई है, चातक 'पिउ-पिउ' पुकार उठे हैं और आकाश में मेघ छा गए हैं। भाव यह कि इस वर्षा ऋतु के आ जाने से हमें कृष्ण की स्मृति और अधिक सताने लगेगी और कामोद्दीपन होने के कारण हमारा मन पागल बन जायगा।

विशेष—यह पद 'भ्रमर गीत' के कथा-क्रम में व्याघात उत्पन्न करता है; क्योंकि इसके बाद भी अनेक पद ऐसे मिलते हैं, जिनमें गोपी-उद्धव सम्वाद चलता रहता है।

यशोदा के उद्धव के प्रति वचन

राग सोरठ

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, कृपा करत ही रहियो ॥
उबटन तेल और तातो जल, देखत ही भजि जाते।
जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती, करम-करम न्हाते ॥
तुम तौ टेव जानतिहि ह्वै हौ, तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतेहि, माखन रोटी भावै ॥
अब यह सूर मोहिं निसिबासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक-लड़ैते लालन ह्वै हैं करत संकोच ॥३७५॥

शब्दार्थ—धाय=धात्री, दाई, पालने-पोसने वाली। करम-करम करि=क्रम-क्रम से, धीरे-धीरे। टेव=आदत, स्वभाव। तऊ=तो भी, फिर भी। अलक-लड़ैते=लाड़ले, दुलारे।

भावार्थ—अपने लाड़ले पुत्र कृष्ण के विरह में दुःखी और पुत्र की सुख-चिन्ता में व्यग्र माता यशोदा उद्धव द्वारा देवकी के लिए सन्देश भेजती हुई कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम जाकर देवकी से मेरा यह सन्देश कह देना कि मैं तो तुम्हारे पुत्र की धाय हूँ, इसलिए इसी नाते से मुझ पर अपनी कृपा बनाए रखना। कृष्ण जब

यहाँ मेरे पास रहते थे, तब जब मैं उन्हें स्नान कराने के लिए उबटन, तेल और गर्म पानी इकट्ठा करती थी तो वे उन चीजों को देखकर भाग जाते थे, नहाने को तैयार नहीं होते थे। इस पर मैं उनकी सारी माँगें पूरी करती, वे जो-जो चीज माँगते, वही उन्हें दे-देकर बहलाती। इस प्रकार वे धीरे-धीरे बड़ी मुश्किल से स्नान करते।

यद्यपि अब कृष्ण तुम्हारे पास रहते हैं और तुम उनकी आदतों को जानती ही होगी, परन्तु फिर भी उनकी आदतों के सम्बन्ध में मुझसे कहे बिना रहा नहीं जाता। मेरे लाड़ले लाल को प्रातः उठते ही मक्खन और रोटी खाना अच्छा लगता है। इसलिए मेरे मन में रात-दिन यही चिन्ता समाई रहती है कि अब वहाँ तुम्हारे पास पहुँच जाने पर मेरे लाड़ले कृष्ण सुबह उठते ही मक्खन-रोटी माँगने में संकोच करते होंगे। भाव यह है कि इसलिए तुम उन्हें बिना माँगे ही सुबह उठते ही मक्खन-रोटी दे दिया करना, जिससे वे भूखे न रहें।

विशेष—(१) इस पद में विप्रलम्भ-वात्सल्य का सरल भाषा में मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। माता यशोदा अपने लाड़ले की चिन्ता में घुल रही हैं, परन्तु देवकी के पास यह सन्देश नहीं भेजतीं कि तुम कृष्ण को मेरे पास भेज दो। स्वयं को कृष्ण की 'धाय' कहना उनकी विवशता को प्रकट कर रहा है, जो कृष्ण की जन्मदात्री न होने के कारण उनके मन में उत्पन्न हुई है। इसी कारण यशोदा केवल कृष्ण की आदतों का ही उल्लेख कर चुप रह जाती हैं। यह 'धाय' शब्द यशोदा की अगाध ममता, असह्य विरह-वेदना और नारी-हृदय की विवशता का प्रतीक बन गया है। ऐसे मर्मस्पर्शी पद हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ ही हैं। इस पद के रूप में वात्सल्य भाव जैसे सजीव साकार हो उठा है—अपने सम्पूर्ण विस्तार और गहनता के साथ।

(२) अन्तिम पंक्ति में कृष्ण के संकोच का उल्लेख कर बाल-मनोविज्ञान के उस तथ्य के प्रति संकेत किया गया है कि बच्चे अपनों से तो जिद कर मनचाही चीज प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु दूसरों से संकोच कर चुप रह जाते हैं। कृष्ण यशोदा को ही अपनी माँ मानते और समझते थे। देवकी उनकी असली माँ होते हुए भी उनके लिए नई और पराई थीं। यशोदा इसी कारण अपने पालित-पुत्र की सुख-चिन्ता से व्याकुल हो रही हैं।

(३) इस पद में स्थिति के साथ-साथ हेतुओं की मनोरम कल्पना की गई है।

(४) स्मृति संचारी की सम्यक् उद्भावना है।

(५) अपनी सहज-सरल भावाभिव्यक्ति, प्रभविष्णुता और मनोवैज्ञानिक तथ्यों के समावेश ने इस पद को सरल-शुद्ध कला की चरम कोटि पर स्थित कर दिया है।

यद्यपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखिकै, मोहन के मुख-जोग॥
प्रात-समय उठि माखन-रोटी, को बिन माँगे दैहै ?
को मेरे बालक कुँवर कान्ह को, छन-छन आगो लैहै ?

कहियो जाय पथिक ! घर आवैं, राम स्याम दौउ भैया ।
सूर वहाँ कत होत दुखारी, जिनके मो सी मैया ।।३७६।।

शब्दार्थ—सूल=शूल, दुःख । नवनीत=मक्खन । जोग=योग्य । आगो लैहै=आगे बढ़ इच्छा पूरी करेगा । मो-सी=मुझ जैसी ।

भावार्थ—कृष्ण के बिछुड़ने के दुःख से व्यथित यशोदा मैया अपने मन की व्यथा को प्रकट करती हुई किसी पथिक से कह रही हैं कि—

मुझे दुःखी देख लोग यद्यपि तरह-तरह से मेरे मन को बहलाने की कोशिश करते रहते हैं परन्तु जब मैं प्रातःकाल दही बिलोती (मथती) हूँ और जब उसके ऊपर उतराते हुए मक्खन को देखती हूँ तो मेरे मन में हूक-सी उठती है, यह सोच कर कि यह मक्खन तो मेरे कन्हैया के खाने लायक है । वह हमेशा इसे ही खाया करते थे । अब वहाँ मथुरा में प्रातः उठते ही उन्हें बिना माँगे कौन मक्खन-रोटी देता होगा ? यहाँ तो मैं दे देती थी । अब वहाँ कौन क्षण-क्षण में मेरे बच्चे कुँवर कन्हैया की आगे बढ़कर हर इच्छा और माँग को पूरा करता होगा ? इसलिए हे पथिक ! तुम मथुरा जाकर कृष्ण और बलराम से यह कह देना कि दोनों भाई घर चले आएँ । जिनकी मुझ जैसी मैया है, वे मेरे बच्चे वहाँ किसलिए इतना दुःख पा रहे हैं । तुरन्त अपनी मैया के पास चले आएँ ।

विशेष—(१) 'मो सी मैया' शब्द यशोदा माता के हृदय की सम्पूर्ण ममता, उद्वेग, वात्सल्य और करुणा को अभिव्यक्त कर रहे हैं । इन शब्दों में मातृ-हृदय का सम्पूर्ण ममत्व आर्त्त-क्रन्दन कर उठा है । माता सदैव यही सोचती रहती है कि उसके बिना उसके बच्चों की कोई भी ढङ्ग से सेवा और पालन नहीं कर सकता । इसलिए वह उनके बिछुड़ जाने पर सदैव इसी आशंका से त्रस्त और चिन्तित बनी रहती है । यशोदा मैया भी ऐसी ही माँ है ।

(२) द्रवणशीलता—इस पद का प्रधान आकर्षण है । सरलतम शब्दों और सहजतम अभिव्यक्ति का—ऐसी अभिव्यक्ति का जो बरबस आँखों में आँसू ला देती है, ऐसा मार्मिक संयोजन सूर-काव्य की श्रेष्ठतम उपलब्धि है । इन पदों की केवल अनुभूति सम्भव है, व्याख्या नहीं ।

राग सारंग

जो पै राखति हौ पहिचानि ।
तौ बारेक मेरे मोहन को, मोहिं देहु दिखाई आनि ।।
तुम रानी बसुदेव-गिरहिनी, हम अहीर ब्रजवासी ।
पठ देहु मेरो लाल लड़ैतो, बारौं ऐसी हाँसी ।।
भली करी कंसादिक मारे, अवसर-काज कियो ।
अब इन गैयन कौन चरावै, भरि-भरि लेत हियो ।।

खान, पान, परिधान, राजसुख केतोउ लाड़ लड़ावै।
तदपि सूर मेरो यह बालक माखन ही सचु पावै ।।३७७।।

शब्दार्थ—पहिचानि=सम्बन्ध । बारेक=एक बार । आनि=लाकर । बारों ऐसी हाँसी=ऐसी हँसी भाड़-चूल्हे में जाय । अवसर-काज=अवसर के अनुकूल कार्य । परिधान=वस्त्राभूषण । केतोउ=कितना भी । सचु=सुख ।

भावार्थ—यशोदा माता उद्धव द्वारा देवकी के पास सन्देश भेजती हुईं कह रही हैं कि—

हे उद्धव ! तुम देवकी से मेरा यह सन्देश कह देना कि यदि तुम मेरे साथ सम्बन्ध रखना चाहती हो तो एक बार मोहन को यहाँ लाकर मुझे दिखा दो। हममें और तुम में कोई समानता नहीं है। तुम तो रानी और वसुदेव की गृहिणी (पत्नी) हो और हम ब्रज के अहीर हैं। इसलिए तुम मेरे लाड़ले लाल को मेरे पास वापस भेज दो । मैं ऐसी हँसी से बाज आई कि जिसके कारण मेरा लाल मुझसे दूर हो गया। भाव यह है कि अक्रूर कुछ दिनों के लिए ही कृष्ण को मथुरा लिवा ले गए थे, सदैव के लिए नहीं । इसलिए यशोदा ने उन्हें भेज दिया था । परन्तु अब कृष्ण के न लौटने पर यशोदा को यह सन्देह हो रहा है कि हँसी-हँसी में ही उनका लाल उनसे सदैव के लिए छीन लिया गया है । इसीलिए वे उसे वापस माँग रही हैं ।

यशोदा कहती हैं कि यह तो कृष्ण-बलराम ने अच्छा किया कि कंस आदि का वध कर अवसर के अनुकूल उपयुक्त कार्य किया । क्योंकि कंस दोनों का वध करना चाहता था, इसलिए दोनों भाइयों ने आत्म-रक्षार्थ उसका वध कर ठीक काम किया। परन्तु अब उनके बिना यहाँ इन गायों को कौन चराये ? ये गायें उनके बिना बहुत दुःखी हो रही हैं, उनकी याद कर-कर रम्भाती रहती हैं। हे देवकी ! तुम मथुरा में मेरे लाल को कितना ही अच्छा खिलाओ-पिलाओ सुन्दर वस्त्राभूषण पहनाओ, सारे राजसुख दो और चाहे कितना ही लाड़ (प्रेम) करो, परन्तु मेरा यह बालक सदैव मक्खन खाने से ही सुखी होता है । उसे मक्खन सबसे अधिक प्रिय है । इसलिए उसे मेरे पास यहाँ भेज दो ।

विशेष—प्रथम पंक्ति में यशोदा का आत्म-सम्मान देवकी को, बात न मानने पर, सम्बन्ध तोड़ देने की धमकी दे रहा है । भोली यशोदा मैया समझ रही हैं कि कृष्ण को उनके पास वापस न भेज लोग उनके साथ हँसी कर रहे हैं, उन्हें परेशान कर रहे हैं । यशोदा की यह सरलता और कृष्ण के प्रति उनकी अगाध ममता मर्म-स्पर्शी है ।

राग मलार

नैन घट घटत न एक घरी ।
कबहुँ न मिटत सदा पावस ब्रज लागी रहति झरी ।।

बिरह इन्द्र बरसत निसिबासर, यहि अति अधिक करी।
उरध उसास समीर तेज जल, उर भुवि उमँगि भरी।।
बूड़ति भुजा रोम द्रुम अम्बर, अरु कुच उच्च थरी।
चलि न सकत थकि रहे पथिक, सब चंदन कीच खरी।।
सब ऋतु मिटी एक भई ब्रज महि, यहि बिधि उलटिधरी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे बिछुरे, मिटि मर्यादा टरी।।३७८।।

शब्दार्थ—नैन घट=नेत्रों रूपी घड़े। पावस=वर्षा ऋतु। करी=की। भुवि=भूमि, पृथ्वी। उमँगि=उमड़कर। द्रुम=वृक्ष। अंबर=वस्त्र, आकाश। उच्च थरी=ऊँचे स्थल, टीले। महि=में। टरी=टल गई, नष्ट हो गई।

भावार्थ—राधा कृष्ण-विरह में निरन्तर रोती रहती है। उसके आँसुओं के कारण ब्रज में सदैव वर्षाऋतु ही छाई रहती है। उद्धव राधा की इसी व्यथित दशा का वर्णन करते हुए कृष्ण से कह रहे हैं कि—

हे कृष्ण ! राधा के नेत्र रूपी घड़े कभी एक घड़ी के लिए भी कम या खाली नहीं होते। अर्थात् उसके नेत्रों के आँसू कभी समाप्त नहीं होते। वह निरन्तर रोती ही रहती है। उसकी इस निरन्तर होती रहने वाली अश्रुवर्षा के कारण ब्रज में सदैव वर्षा ऋतु की-सी झड़ी लगी रहती है, निरन्तर वर्षा होती रहती है, जो कभी समाप्त नहीं होती। वहाँ विरह रूपी इन्द्र रात-दिन आँसुओं रूपी जल की वर्षा करता रहता है और इसी कारण वहाँ वर्षा ने भयानक रूप धारण कर लिया है। वर्षा की इस अति (अधिकता) ने वहाँ का सारा जीवन अस्त-व्यस्त कर रखा है। राधा की दीर्घ ऊँची साँसें तेज पवन (आँधी) के समान हैं और आँसुओं रूपी जल ने उमड़कर शरीर-रूपी सम्पूर्ण पृथ्वी को आप्लावित कर रखा है, चारों ओर जल ही जल भर रहा है। जल की इस बाढ़ में भुजाओं पर खड़े (रोमाँच होने के कारण) रोम रूपी वृक्ष, वस्त्र-रूपी आकाश तथा स्तन रूपी ऊँचे टीले डूब रहे हैं। शरीर रूपी पृथ्वी पर लगे हुए चन्दन के जल में घुल जाने से गहरी कीचड़-सी जम गई है, जिसके कारण अंग-रूपी पथिक चल नहीं पाते; अर्थात् विरहाधिक्य के कारण सारे अंग शिथिल बन निष्क्रिय से हो गए हैं।

राधा की निरन्तर होने वाली इस अश्रु-वर्षा के कारण ब्रज में अन्य सारी ऋतुएँ नष्ट हो गई हैं और केवल यह एक ही ऋतु—वर्षा ऋतु—सदैव बनी रहती है। इस प्रकार राधा ने ब्रज में विधि के विधान (ईश्वरीय नियम) को भी उल्टा कर दिया है, भंग कर डाला है। हे स्वामी ! तुम्हारे बिछुड़ जाने से ब्रज में सारी मर्यादाएँ—नियम—नष्ट होकर समाप्त हो गये हैं। अर्थात् अब छः ऋतुओं के स्थान पर केवल एक वर्षा ऋतु ही सदैव छायी रहती है, जो विधि के विधान और मर्यादा के प्रतिकूल है।

विशेष—(१) इस पद में सूर ने अपनी काव्य-मर्मज्ञता का परिचय देते हुए

अलंकृत-भाषा में राधा की निस्सीम वियोग-व्यथा का हृदयग्राही चित्रण किया है। यद्यपि भावानुभूति की दृष्टि से ऐसे पदों को श्रेष्ठ और प्रभविष्णु नहीं माना जा सकता है, परन्तु कला-सौन्दर्य की दृष्टि में ऐसे पदों का अपना एक विशिष्ट महत्त्व और स्थान होता है।

(२) रत्नाकर जी ने भी सूर के ही समान ब्रज में सदैव वर्षाऋतु बनी रहने का वर्णन किया है—

"लागी रहै नैननि सौं नीर की झरी औ,
उठै चित्त में चमक सो चमक चपला की है।
बिनु घनस्याम धाम-धाम ब्रज मण्डल में,
ऊधो नित बसत बहार बरसा की है।"

(३) सम्पूर्ण पद में सांगरूपक; तथा 'अम्बर' में श्लेष; और 'घट घटत न एक घरी' में अनुप्रास अलङ्कार है।

उद्धव-गोपी संवाद

उद्धव-वचन

राग सारंग

हौं तुम पै ब्रजनाथ पठायो। आतमज्ञान सिखावन आयो॥
आपुहि पुरुष आपुही नारी। आपुहि बानप्रस्थ ब्रतधारी॥
आपुहि पिता, आपुहिं माता। आपुहि भगिनी, आपुहि भ्राता॥
आपुहि पंडित, आपुहि ज्ञानी। आपुहि राजा, आपुहि रानी॥
आपुहि धरती, आपु अकासा। आपुहि स्वामी, आपुहि दासा॥
आपुहि ग्वाल, आपुहि गाई। आपुहिं आप चरावन जाई॥
आपुहि भँवर, आपुहि फूल। आतमज्ञान बिना जग भूल॥
रंक राव दूजो नहिं कोय। आपुहि आप निरंजन सोय॥
यहि प्रकार जाको मन लागै। जरा मरन, जी तें भ्रम भागै॥

गोपी-वचन

सुनु ऊधो! ह्याँ कौन सयानी?। तुम तौ महापुरुष बड़ज्ञानी॥
जोगी होय सो जोगहि जानै। नवधा भक्ति सदा मन मानै॥
भाव-भगति हरिजन चित धारे। ज्योति-रूप सिव सनक बिचारे॥
तुम कह रचि-रचि कहत सयानी। अबला हरि के रूप दिवानी॥
जात-पीर बंझा नहिं जानै। बिनु देखे कैसे रुचि मानै॥
फिरि-फिरि कहै बहै सुधि आवै। स्याम रूप बिनु और न भावै॥
जोग-समाधि जोति चित लावै। परमानन्द परमपद पावै॥

नवकिसोर को जबहिं निहारै। कोटि ज्योति वा छबि वै वारै ।।
सजल मेघ घनस्याम सरीर। रूप ठगी हलधर के बीर ।।
सिर श्रीखंड, कुंडल, बनमाल। क्यों बिसरैं वै नयन विसाल ?
मृगमद तिलक अलक घुँघरारे। उन मोहन मन हरे हमारे ।।
भ्रकुटी बिकट, नासिका राजै। अरुन अधर मुरली कल बाजै ।।
दाड़िम-दसन-दमक दुति सोहै। मृदु मुसकानि मदन-मन मोहै ।।
चारु चिबुक, उर पर गजमोती। दूरि करत उडुगन की जोती ।।
कंकन, किंकिन, पदिक बिराजै। चलत चरन कल नूपुर बाजै ।।
बन की धातु चित्र तनु किये। वह छबि चुभि जु रही हम हिये ।।
पीत बसन छबि बरनि न जाई। नखसिख सुन्दर कुँवर कन्हाई ।।
रूपरासि ग्वालन को संगी। कब देखैं वह रूप त्रिभंगी ।।
जो तुम हित की बात सुनावौ। मदनगोपालहि क्यों न मिलावौ ?

उद्धव-वचन

ताहि भजहु किन सबै सयानी ? खोजत जाहि महामुनि ज्ञानी ।।
जाके रूप-रेख कछु नाहीं। नयन मूँदि चितवहु चित माहीं ।।
हृदय कमल में जोति बिराजै। अनहद नाद निरन्तर बाजै ।।
इड़ा पिंगला सुखमन नारी। सून्य सहज में बसैं मुरारी ।।
मात पिता नहिं दारा भाई। जल थल घट-घट रहे समाई ।।
यहि प्रकार भव दुस्तर तरिहौ। जोग-पन्थ क्रम-क्रम अनुसरहौ ।।

गोपी-वचन

यह मधुकर ! मुख मूँदहु जाई। हमरे चित बित हरि यदुराई ।।
ब्रजबासिनि गोपाल-उपासी। ब्रह्मज्ञान सुनि आवै हाँसी ।।
अब लौं जोग कबहुँ नहिं आयो। मानो कुबजा-रूपहि पायो ।।
खोलि सुगाहक पाय दिखायो। माधव मधुकर-हाथ पठायो ।।
अबला ठगी सकल ब्रज हेरी। सो ठग ठग्यो कंस की चेरी ।।
राम-जनम-तपसी जदुराई। तिहि फल बधू कूबरी पाई ।।
सीता-बिरह बहुत दुख पायो। अब कुबजा मिलि हियो सिरायो ।।
ज्ञान निरास कहा लै कीजै। जोग-मोट दासी-सिर दीजै ।।

उद्धव-वचन

वह अच्युत अबिगत अबिनासी। त्रिगुन-रहित बपु, धरे न दासी ।।

हे गोपी ! सुनु बात हमारी । है वह सून्य सुनहु ब्रजनारी ।।
नहिं दासी ठकुराइनि कोई । जहँ देखहु तहँ ब्रह्महि सोई ।।
आपुहि औरहिं ब्रह्म जानै । ब्रह्म बिना दूसर नहिं मानै ।।

गोपी-वचन

बार-बार ये बचन निवारो । भक्ति-बिरोधी ज्ञान तुम्हारो ।।
होत कहा उपदेसे तेरे ? नयन सुबस नाहीं, अलि, मेरे ।।
हरिपथ जोवत निमिष न लागै । कृस्न-बियोगिनि निसिदिन जागै।।
नन्दनन्दन के देखे जीवैं । रुचि वह रूप, पवन नहिं पीवैं ।।
जब हरि आवैं तब सुख पावैं । मोहन मूरति निरखि सिरावैं ।।
दुसह बचन अलि हमहिं न भावैं । जोगकथा ओढ़ैं कि डसावैं ।।

उद्धव-वचन

ऊधो कहैं, 'धन्य ब्रजबाल । जिनके सर्बस मदनगोपाल ।।
वह मत त्याग्यो, यह मति आई । तुम्हरे दरस भगति मैं पाई ।।
तुम मम गुरु मैं दास तुम्हारो । भगति सुनाय जगत निस्तारो' ।।
'भ्रमरगीत' जे सुनैं सुनावैं । प्रेमभक्ति सो प्रानी पावैं ।।
सूरदास गोपी बड़भागी । हरिदरसन की ठगौरी लागी ।।३७६।।

शब्दार्थ—आतमज्ञान=ब्रह्मज्ञान । जरा=वृद्धवस्था । सनक=सनकादिक मुनि । रचि-रचि=बना-बनाकर । सयानी=ज्ञान की बातें । जात-पीर=प्रसव-पीड़ा । वंझा=बन्ध्या नारी । रूप ठगी=अपने रूप द्वारा ठग लेने वाले । वीर=भाई । श्रीखंड=चन्दन । मृगमद=कस्तूरी । अलक=बाल । बिकट=टेढ़ी । राजै=शोभित । कल=सुन्दर । मदन=कामदेव । चिबुक=ठोढ़ी, ठुड्ठी । उडुगन=तारा-गण । पदिक=वक्ष का एक आभूषण । बन की धातु=गेरू । नारी=नाड़ी । दारा=पत्नी । दुस्तर=भयानक, जिसे पार न किया जा सके । बित=वित्त, धान । सुगाहक=अच्छा ग्राहक । हेरी=देखकर । सिरायो=शीतल हुआ । मोट=गठरी । बपु=शरीर । ठकुराइन=स्वामिनी । निवारो=बन्द करो । सुबस=अपने वश में । डसावैं=बिछाएँ । मति=बुद्धि । निस्तारो=पार कराया ।

भावार्थ—इस लम्बे गोपी-उद्धव संवाद के रूप में सूरदास ने सम्पूर्ण 'भ्रमर-गीत' की पूरी कथा, मूल उद्देश्य और महत्त्व अंकित किया है । उद्धव गोपियों को कृष्ण सन्देश सुनाते हुए कहते हैं कि—

मुझे ब्रजनाथ कृष्ण ने तुम्हारे पास भेजा है और मैं उनकी आज्ञानुसार तुम्हें आत्मज्ञान (ब्रह्मज्ञान) की शिक्षा देने के लिए आया हूँ । इस विश्व में एक मात्र निर्गुण ब्रह्म ही सत्य है । वह स्वयं ही पुरुष और स्वयं ही नारी है । वह स्वयं ही वानप्रस्थ

का व्रत धारण करने वाला है। वह स्वयं ही पिता, माता, बहिन, भाई है और स्वयं ही पंडित और ज्ञानी तथा राजा और रानी–सभी कुछ है। वही पृथ्वी और आकाश तथा स्वामी और दास है। वह स्वयं ग्वाल है और स्वयं ही गाय है और आप ही उन्हें चराने जाता है। वही भ्रमर और वही पुष्प है। परन्तु ब्रह्मज्ञान के प्रभाव के कारण सारा संसार उसे भूल भ्रम में पड़ा रहता है। निर्धन और राजा भी उसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी नहीं है। वह स्वयं ही निरंजन रूप है। ब्रह्म के स्वरूप के इन ज्ञान में भी जिसका मन रम जाता है, जो इस आत्मज्ञान को समझ लेता है, उसके हृदय से वृद्धावस्था और मृत्यु का भ्रम दूर हो जाता है।

उद्धव के उपर्युक्त उपदेश का उत्तर देती हुई गोपियाँ कहती हैं कि—

हे उद्धव ! सुनो, यहाँ हम में ऐसी कौन चतुर है जो तुम्हारे इस ब्रह्म-ज्ञान को समझ सके। तुम तो महापुरुष और परम ज्ञानी हो। योग को तो योगी ही जान सकता है। हमारा मन तो सदैव नवधा-भक्ति में ही लीन रहता है। भगवान् के भक्त तो भाव-भक्ति को ही हृदय में धारण करते हैं। भगवान् को ज्योति-स्वरूप मान बेचारे शिव और सनकादिक मुनि उनकी आराधना करते हैं। तुम बना-बनाकर इतनी चतुराई भरी ज्ञान की बातें क्यों कह रहे हो ? यहाँ ब्रज ही सम्पूर्ण अबलाएँ तो एकमात्र कृष्ण के रूप की ही दीवानी हैं। जिस प्रकार वन्ध्या नारी प्रसव-पीड़ा को नहीं जानती, उसी प्रकार हम तुम्हारे ब्रह्म के अपनी आँखों द्वारा दर्शन किए बिना उससे कैसे प्रेम कर सकती हैं। तुम्हारे द्वारा बार-बार निर्गुण ब्रह्म की चर्चा करने से हमें कृष्ण की याद आने लगती है। हमें कृष्ण के रूप के अलावा और कुछ भी अच्छा नहीं लगता। तुम्हारी योग-साधना में योग की समाधि लगा ज्योति-स्वरूप ब्रह्म में ध्यान केन्द्रित किया जाता है और उससे परम आनन्द और कैवल्य-पद की प्राप्ति होती है।

परन्तु जब हम नई अवस्था वाले किशोर कृष्ण को देखती हैं तो उनकी उस छवि पर करोड़ों ज्योति-रूपी ब्रह्म को न्यौछावर कर डालती हैं। हमारे कृष्ण का साँवला शरीर जलभरे श्यामल मेघों के समान सुन्दर है। हलधर (बलराम) के भाई कृष्ण अपने रूप द्वारा सबको ठगते रहते हैं, सब उनके रूप को देख उन पर मद मिटते हैं। उनके मस्तक पर चन्दन, कानों में कुण्डल और वक्ष पर वनमाला शोभित है। उनके उन विशाल नेत्रों की छवि को कैसे भुलाया जा सकता है ? उनके कस्तूरी का तिलक लगा रहता है और बाल घुँघराले हैं। ऐसे उन मोहक मोहन कृष्ण ने हमारे मन हर लिए हैं। उनकी भौंहें तिरछी और नासिका सुन्दर है। वह अपने लाल होठों पर मुरली रख सुरीली ध्वनि में बजाते हैं। उनके दाँत अनार के दानों के समान तथा उनकी चमक बिजली की चमक के समान शोभा देती है। उनकी मधुर-कोमल मुस्कान मन को मोह लेती है। उनकी ठुड्डी सुन्दर है और हृदय पर मोतियों की माला शोभा देती है, जिसके मोती अपनी मन्द-उज्ज्वल आभा द्वारा तारागणों की ज्योति को भी लज्जित करने वाले हैं। उनके हाथों में कंकण, कटि में करधनी और वक्ष पर पदिक शोभायमान हैं। उनके चलते समय नूपुर सुन्दर-मधुर ध्वनि के साथ

बजने लगते हैं। उनके शरीर पर गेरू से चित्र बने रहते हैं। उनकी वही छवि हमारे इस हृदय में चुभ रही है। उनके पीताम्बर की छवि का वर्णन करना असम्भव है। इस प्रकार हमारे प्रियतम कृष्ण-कन्हैया नख से लेकर शिखा-पर्यन्त अमित सौन्दर्य के स्वामी हैं, अद्भुत रूप से सुन्दर हैं। ऐसे वह रूप की राशि (कृष्ण) ग्वालों के साथी हैं। हम उनकी उस त्रिभंगी छवि को न जाने कब देख पायेंगी, कब उनके दर्शन होंगे। हे उद्धव ! यदि तुम हमारे हित की ही बातें सुनाना चाहते हो तो मदन-मोहन कृष्ण को लाकर हमसे क्यों नहीं मिला देते।

गोपियों के उपर्युक्त तर्कों और कृष्ण के रूप-वर्णन को सुन, उद्धव उत्तर देते हुए कहते हैं कि—

हे चतुर गोपियो ! तुम उसकी (ब्रह्म की) आराधना क्यों नहीं करतीं, जिसकी महान् मुनिगण और ज्ञानी जन निरन्तर खोज किया करते हैं। जिसकी कोई रूप-रेखा नहीं है, तुम आँखें मूँदकर हृदय में उसी के दर्शन करो। वह ज्योति-रूप ब्रह्म सदैव हृदय रूपी कमल में स्थित रहता है और वहाँ निरन्तर अनहद नाद का घोष होता रहता है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों के ऊपर शून्य स्थान में सहजावस्था में मुरारि स्थित रहते हैं। उनके न माता-पिता हैं और न पत्नी या भाई। वह जल और स्थल—सर्वत्र घट-घट में समाए रहते हैं। जब तुम धीरे-धीरे क्रमिक योग-साधना करोगी तभी इस दुस्तर संसार-सागर को पार कर सकोगी।

उद्धव की उपर्युक्त बातों का उत्तर देती हुई गोपियाँ कहती हैं कि—

हे मधुकर (उद्धव) ! तुम अपना मुख बन्द कर लो और यहाँ से चले जाओ। हमारे हृदय की एकमात्र निधि यदुराज कृष्ण हैं। सारे ब्रजवासी गोपाल कृष्ण के ही उपासक हैं। तुम्हारे इस ब्रह्मज्ञान को सुन हमें हँसी आती है। अब तक तो कृष्ण ने हमें योग की शिक्षा कभी नहीं दी थी। हमें तो ऐसा लगता है, मानो कुब्जा के रूप में उसी से उन्हें यह योग भी मिल गया हो। कृष्ण ने मधुकर (उद्धव) के हाथ उसी योग को हमारे पास भेज दिया है और उद्धव ने हमें अच्छा ग्राहक समझ, अपनी गठरी खोल, उस योग को हमें दिखाया है और आशा कर रहे हैं कि हम इसे खरीद लेंगी, स्वीकार कर लेंगी। परन्तु ब्रज की सम्पूर्ण अबलाओं को तो कृष्ण ने अपनी मोहक दृष्टि डाल ठग लिया है, अपने वश में कर लिया है। ऐसे माहिर ठग कृष्ण को कंस की दासी उस कुब्जा ने ठग लिया है, अपना गुलाम बना लिया है। यदुपति कृष्ण पहले जन्म में जब राम के रूप में अवतरित हुए थे और सीता के वियोग में उन्होंने जो भयंकर तपस्या की थी, उनकी उसी तपस्या के फल-स्वरूप इस जन्म में उन्हें यह कुबड़ी पत्नी (कुब्जा) मिली है। राम ने सीता के विरह में बहुत दुःख पाया था। अब कुब्जा से मिलकर उनका हृदय शीतल हो गया है। हम प्रेम से निराश गोपियाँ तुम्हारे इस ज्ञान को लेकर क्या करेंगी ? योग की इस गठरी को तो उस दासी के सिर पर ही रख देना।

उद्धव गोपियों के व्यंग्य को न समझ, पुनः निर्गुण-ब्रह्म का वर्णन करने लगते हैं कि—

वह ब्रह्म अच्युत, अविगत, अविनाशी—तीनों गुणों से रहित शरीर वाला है। ऐसे ब्रह्म को दासी अपने वश में नहीं कर सकती। हे गोपियो! हमारी बात सुनो। हे ब्रजनारियो! सुनो, वह ब्रह्म शून्य रूप है। उसके लिए न कोई दासी है, न कोई स्वामिनी। संसार में जिधर देखो, वहाँ उसी ब्रह्म का रूप दिखाई देता है। अर्थात् ब्रह्म सर्वव्यापी है। जब जीव स्वयं ही ब्रह्म को जान लेता है, उसे आत्मज्ञान हो जाता है तो फिर वह ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी को भी नहीं मानता।

उद्धव द्वारा पुनः पुनः ब्रह्म की व्याख्या किए जाने से चिढ़कर गोपियाँ उनसे कहती हैं कि—

हे उद्धव! तुम बार-बार ऐसी बातें कहना बन्द कर दो, ऐसी बातें मत करो। क्योंकि तुम्हारा यह ज्ञान भक्ति का विरोधी है। हे भ्रमर! तुम्हारे इस उपदेश देने से क्या होता है, क्योंकि मेरे यह नेत्र तो मेरे वश में ही नहीं रहे। ये बिना पलक झपकाए सदैव कृष्ण के आने की बाट देखते रहते हैं। हम कृष्ण की वियोगिनी गोपियाँ रात-दिन उनकी प्रतीक्षा में जागती रहती हैं। हम नन्दनन्दन को देखकर ही जीवित रहती हैं। हमें तो उनका वह रूप ही अच्छा लगता है। हम पवन का भक्षण अर्थात् तुम्हारी प्राणायाम-साधना नहीं कर सकतीं। हम तो कृष्ण के यहाँ आने पर ही सुख पा सकतीं हैं और कृष्ण की मोहिनी मूर्त्ति को देखने पर ही हमारे हृदय की जलन ठण्डी हो सकती है। हे भ्रमर! हमें तुम्हारे ये योग के वचन अच्छे नहीं लगते। तुम्हारी इस योग-कथा को हम ओढ़ें या बिछाएँ, इसे लेकर क्या करें? यह हमारे काम की नहीं।

कृष्ण के प्रति गोपियों की इस अनन्य प्रेम-निष्ठा को देख, उससे प्रभावित हो उद्धव उनकी प्रशंसा करते हुए उनसे कहते हैं कि—

हे ब्रजबालाओ! तुम धन्य हो, क्योंकि मदनगोपाल कृष्ण तुम्हारे सर्वस्व हैं। तुम्हारी इस प्रेम-निष्ठा को देख, मैंने अपना योग-मत त्याग दिया है। और अब मेरी आँखें खुल गई हैं। तुम्हारे दर्शन कर मैंने भक्ति को प्राप्त किया है। तुम मेरी गुरु हो और मैं तुम्हारा दास (शिष्य) हूँ। तुमने भक्ति की बातें सुनाकर मुझे इस संसार से उबार लिया है। जो लोग इस 'भ्रमर गीत' की कथा को सुनेंगे या दूसरों को सुनायेंगे, ऐसे वे प्राणी प्रेम-भक्ति को प्राप्त करेंगे। तुम सब गोपियाँ अत्यन्त भाग्य-शालिनी हो, क्योंकि तुम सदैव ठगे हुए से व्यक्ति के समान हरि-दर्शन के लिए व्याकुल बनी रहती हो।

विशेष—(१) यह पद 'भ्रमर गीत सार' में संग्रहीत तीन भ्रमर गीतों में से दूसरा भ्रमर गीत है।

(२) इस पद में सगुण का मंडन और उसकी सफलता तथा निर्गुण का खंडन और उसकी विफलता के साथ मध्यकालीन भक्ति-सम्बन्धी भक्त-कवियों की धारणा की

स्थापना की गई है। साथ ही अन्त में 'रामचरितमानस' के महत्त्व के समान भ्रमर-गीत के महत्त्व की स्थापना की गई है।

मथुरा लौटने पर कृष्ण के प्रति उद्धव के वचन

राग सोरठ

माधव जू ! मैं अति सचु पायो।
अपने जान संदेस-ब्याज करि, ब्रजजन-मिलन पठायो।।
छमा करौ तौ करौं बीनती, जो उत देखि हौं आयो।
श्रीमुख ज्ञानपंथ जो उचर्‌यो, तिन पै कछु न सुहायो।
सकल निगम-सिद्धान्त जन्म-स्रम, स्यामा सहज सुनायो।
नहिं स्रुति, सेष, महेष, प्रजापति, जो रस गोपिन गायो।।
कटुक कथा लागी मोंहि अपनी, रस-सिंधु समायो।
उत तुम देखे और भाँति मैं, सकल तृषांहि बुझायो।।
तुम्हरी अकथ-कथा तुम जानो, हम जन नांहि बसायो।
सूरदास सुन्दर पद निरखत, नयनन नीर बहायो।।३८०।।

शब्दार्थ—सचु=सुख। संदेस-ब्याज=सन्देश के बहाने। उत=उधर। श्री-मुख=कृष्ण का मुख। उचर्‌यो=कहा। जन्म-स्रम=जन्म भर श्रम करने से साध्य। स्यामा=राधा अथवा गोपियाँ। कटुक=कड़वी। बसायो=हमारे बस की नहीं है।

भावार्थ—गोपियों की प्रेमा-भक्ति से पूर्णतः प्रभावित हो, अपने ज्ञान-मार्ग की साधना को सम्पूर्णतः भूल उद्धव ब्रज से लौट, मथुरा आते हैं और वहाँ कृष्ण के पास पहुँच उनसे कहते हैं कि—

हे कृष्ण जी ! मैंने ब्रज में बड़ा सुख पाया। आपने तो अपनी समझ में गोपियों को सन्देश देने के बहाने मुझे ब्रज के लोगों से मिलने के लिए भेजा था। यदि आप क्षमा करें तो मैं वहाँ जो कुछ देखकर आया हूँ, उसे आपको सुनाऊँ। आपने अपने श्रीमुख से जिस ज्ञान-मार्ग का वर्णन किया था, वह उन पर (गोपियों पर) तनिक भी शोभा नहीं दे सका। अर्थात् वह उनके लिए सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध हुआ। वेदों का वह सम्पूर्ण ज्ञान, जिसे जन्म भर परिश्रम करने से साध्य (ग्राह्य) बनाया जा सकता है; अर्थात् जिसे समझने के लिए जीवन भर परिश्रम करना पड़ता है, उस ज्ञान को राधा ने अत्यन्त सरलता और सहजता के साथ ही सुना दिया। प्रेम-भक्ति के रस की महिमा गोपियों ने गाकर सुनाई, उस महिमा को वेद, शेषनाग, शंकर, प्रजापति आदि कोई भी प्राप्त नहीं कर सका है। अर्थात् प्रेम के महत्त्व को आज तक गोपियों के समान कोई भी नहीं समझ सका है।

मुझे अपनी ज्ञान-कथा उनके प्रेम के सामने स्वयं कड़वी और अग्राह्य प्रतीत

हुई और मैं प्रेम से उस सिन्धु में आकण्ठ निमग्न हो उठा। मैंने आपका जो रूप यहाँ देखा था, उससे नितान्त भिन्न रूप मुझे यहाँ दिखाई पड़ा और आपके उस रूप को देख मेरी सारी तृष्णा, मेरी सम्पूर्ण ज्ञान-पिपासा शान्त हो गई। मुझे ज्ञान के वास्तविक रूप के दर्शन हो गए। आपकी कथा अकथनीय है। उसे स्वयं आप ही जान सकते हैं। हम जैसे साधारण व्यक्तियों के लिए उसका रहस्य समझ लेना असम्भव है। सूरदास कहते हैं कि इस प्रकार उद्धव ये बातें कह, कृष्ण के सुन्दर चरणों को देखते हुए आँखों से आँसू बहाते रहे।

विशेष—(१) इस पद में उद्धव के मुख द्वारा ज्ञान-मार्ग की निस्सारता और विफलता के ऊपर भक्ति की गरिमा और प्रेम की तल्लीनता की स्थापना कर भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। और यही 'भ्रमर गीत' का प्रधान उद्देश्य रहा है।

राग गौरी

दिन दस घोष चलहु गोपाल।
गैयन की अवसेर मिटावहु, भेंटहु भुज भरि ग्वाल॥
नाचत नहीं मोर वा दिन तें, आए बरषा-काल।
मृग दूबरे दरस तुम्हरे बिनु, सुनत न बेनु रसाल॥
बृन्दाबन भावतो तुम्हारो, देखहु स्याम तमाल।
सूरदास मैया जसुमति के, फिरि आवहु नंदलाल॥३८१॥

शब्दार्थ—घोष=गोकुल, अहीरों का गाँव। अवसेर=दुःख, परेशानी। दूबरे=दुबले, क्षीण।

भावार्थ—गोपियों की प्रेम-भावना में आकण्ठ-निमग्न उद्धव ब्रज से मथुरा लौट कृष्ण से ब्रज चलने की प्रार्थना करते हुए कह रहे हैं कि—

हे गोपाल! तुम दस दिन अर्थात् कुछ समय के लिए गोकुल चलो। वहाँ चल कर अपने विरह में दुःखी गायों का दुःख दूर करो और गोप-ग्वालों के साथ भुजा मिलाकर उनसे भेंट करो, आलिंगन करो। जिस दिन से तुम गोकुल से यहाँ आए हो, उस दिन से वर्षा ऋतु आने पर भी वहाँ मोर नहीं नाचते। और तुम्हारे दर्शन तथा वंशी की मधुर ध्वनि न सुन पाने के कारण मृग दुबले हो गए हैं। वृन्दावन तो तुम्हें बहुत अच्छा लगता है, इसलिए अब वहाँ चलकर अपने शरीर के ही समान सुन्दर श्याम रंग वाले तमाल वृक्षों को देखो। हे नन्दलाल! तुम वहाँ चलकर माता यशोदा के पास एक बार फिर हो आओ।

विशेष—उद्धव पर गोपियों की प्रेम-भावना का इतना गहरा प्रभाव पड़ा है कि वे अपना सारा ज्ञान-गर्व भूल स्वयं कृष्ण से ब्रज चलने का आग्रह करते हैं। इसी परिवर्तन को ज्ञान पर भक्ति की विजय माना जा सकता है। और 'भ्रमर गीत' की रचना करने में सूर का यही लक्ष्य था।

राग सारंग

अब अति पंगु भयो मन मेरो ।
गयो तहाँ निर्गुन कहिबे को, भयो सगुन को चेरो ।।
अति अज्ञान कहत कहि आयो, दूत भयो वहि केरो ।
निज जन जानि जतन तें, तिनसों कीन्हों नेह घनेरो ।।
मैं कछु कही ज्ञानगाथा ते, नेकु न दरसति नेरो ।
सूर मधुप उठि चल्यो मधुपुरी, बोरि जोग को बेरो ।।३८२।।

शब्दार्थ—चेरो=दास । पंगु=लँगड़ा, स्थिर । अज्ञान=अज्ञान भरी बातें । केरो=का । घनेरो=बहुत । नेरो=पास । बोरि=डुबाकर । बेरो=बेड़ा, नाव ।

भावार्थ—गोपियों की प्रेम-साधना के सम्मुख अपनी ज्ञान-साधना की पराजय और हीनता को स्वीकार करते हुए उद्धव ब्रज से मथुरा लौटने पर कृष्ण से कह रहे हैं कि—

मेरा मन अब पूरी तरह से लँगड़ा अर्थात् चलने में असमर्थ हो गया है । अर्थात् अब अपनी सम्पूर्ण चंचलता-जनित भटकन त्याग, प्रेम में स्थिर हो गया है। मैं वहाँ गया तो था निर्गुण-ज्ञान का उपदेश देने, परन्तु वहाँ से सगुण ब्रह्म का सेवक बन कर लौटा हूँ । मैं अपनी अत्यन्त अज्ञान (मूर्खता) भरी बातें गोपियों से कहते तो कह आया—क्योंकि मैं योग-साधना का सन्देश-वाहक बनकर ही तो वहाँ गया था; परन्तु उनके प्रेम को देख जब मुझे अपनी भूल मालूम पड़ी तो उन्हें अपना ही स्वजन, आत्मीय समझ मैंने बड़े यत्न के साथ उनसे खूब प्रेम बढ़ाया । अर्थात् गोपियों को अपने आराध्य कृष्ण की अनन्य आराधिका समझ मेरा मन उनके प्रति स्नेह से भर उठा । मैंने उनके सामने थोड़ी-सी ज्ञानकथा कही, निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध में उन्हें समझाया, परन्तु वे गोपियाँ तो उसके पास फटकती भी नहीं दिखाई दीं । अर्थात् मैं बराबर ज्ञान-कथा कहे चला जा रहा था और गोपियाँ उस ज्ञान-कथा से पूर्णतया निर्लिप्त बनीं कृष्ण के ध्यान में डूबी रहीं । उन्होंने मेरी ज्ञान-कथा की ओर ध्यान तक नहीं दिया । जब मैंने यह स्थिति देखी तो अपने योग के बेड़े (नाव) को वहीं उनके प्रेम-समुद्र में डुबा, वहाँ से उठकर मथुरा चल आया । अर्थात् मैंने अपनी ज्ञान-साधना की निस्सारता को खूब अच्छी तरह से समझ लिया, उसे त्याग प्रेम-साधना का पथ अपनाया । अब मेरा मन अपनी सम्पूर्ण चंचलता त्याग, कृष्ण-प्रेम में समाधिस्थ हो उठा है ।

राग धनाश्री

माधवे ! सुनौ ब्रज को नेम ।
बूझि हम षट मास देख्यौ गोपिकन को प्रेम ।।

हृदय तें नहिं टरत उनके स्याम राम-समेत।
अस्रु-सलिल-प्रवाह उर पर अरघ नयनन देत॥
चीर अंचल, कलस कुच, मानो पानि पदुम चढ़ाय।
प्रगट लीला देखि, हरि के कर्म, उठतीं गाय॥
देह गेह-समेत अर्पन कमललोचन-ध्यान।
सूर उनके भजन आगे, लगै फीको ज्ञान॥३८३॥

शब्दार्थ—नेम=नियम। षट मास=छ: महीना। राम=बलराम। पानि=हाथ। पदुम=पद्म, कमल।

भावार्थ—गोपियों की एकनिष्ठ कृष्ण-भक्ति का वर्णन करते हुए उद्धव ब्रज के नियम व आचार के सम्बन्ध में कृष्ण को बता रहे हैं कि—

हे माधव! सुनो कि ब्रजवासी किस निष्ठा और नियम-व्रत के साथ तुम्हारी आराधना करते हैं। हमने वहाँ छ: मास तक रहकर गोपियों के प्रेम को देखा और समझा है। उनके हृदय से बलराम सहित कृष्ण की मूर्त्ति क्षण भर के लिए भी दूर नहीं होती। वे सदैव तुम दोनों का ही ध्यान करती रहती हैं। उनके नेत्रों से आँसुओं की धारा निरन्तर वक्ष पर बहती रहती है। ऐसा लगता है, मानो हृदय में स्थित तुम दोनों की मूर्त्ति पर उनके नेत्र आँसुओं का अर्घ्य चढ़ाते रहते हों। उनके उस प्रेम-मग्न आँसू बहाते रूप को देख ऐसा लगता है—मानो वे अपने अंचल रूपी वस्त्र, कुच रूपी कलश और हाथ रूपी कमलों को अपने हृदय में स्थित अपने आराध्य की मूर्त्ति पर निरन्तर चढ़ाती रहती हों। यहाँ यह भाव है कि गोपियाँ कृष्ण-विरह में अत्यन्त व्यथित हो अपने वक्ष को आँचल से ढक हाथों से दबा लेती हैं।) वे कृष्ण की सम्पूर्ण लीलाओं और कर्मों को अपने सामने प्रत्यक्ष होता हुआ देख, उनके गीत गाने लगती हैं। अर्थात् गोपियाँ अपने अडिग-स्थिर ध्यान में ऐसी समाधिस्थ-सी हो जाती हैं कि कृष्ण-सम्बन्धी सम्पूर्ण स्मृतियाँ उनके सामने साकार-सजीव हो उठती हैं और उन्हें इस बात का होश नहीं रहता कि कृष्ण उनसे दूर हैं। गोपियाँ सदैव कृष्ण को अपने सामने प्रत्यक्ष क्रीड़ा करते हुए अनुभव करती हैं।

गोपियाँ कमल-नयन कृष्ण के ध्यान में निरन्तर डूबी हुई अपना शरीर और घरबार—सब कुछ उन्हीं पर न्यौछावर कर चुकी हैं। अर्थात् उन्हें न अपने शरीर का होश रहता है और न घरबार की चिन्ता। उनके इस भजन के सामने हमें अपना ज्ञान फीका, नीरस प्रतीत होता है।

विशेष—(१) 'चीर····चढ़ाय' में उत्प्रेक्षा और रूपक; तथा 'देह····ध्यान' में याचक लुप्तोमा अलंकार है।

(२) सगुण-भक्ति की तुलना में ज्ञान-साधना को फीका और नीरस बताया गया है, और वह भी भूतपूर्व ज्ञान-मार्गी उद्धव द्वारा।

कहँ लौं कहिए ब्रज की बात ।
सुनहु स्याम ! तुम बिनु उन लोगन जैसे दिवस बिहात ।।
गोपी, ग्वाल, गाय, गोसुत, सब मलिन-बदन, कृसगात ।
परम दीन जनु सिसिर-हेम-हत, अंबुजगन बिनु पात ।।
जो कोउ आवत देखति हैं, सब मिलि बूझति कुसलात ।
चलन न देत प्रेम-आतुर उर, कर चरनन लपटात ।।
पिक, चातक बन बसन न पावहिं, बायस बलिहि न खात ।
सूर स्याम संदेसन के डर, पथिक न वा मग जात ।।३८४।।

शब्दार्थ—बिहात=बीतते हैं । गोसुत=बछड़े । बदन=मुख । हेम=पाला । हत=मारे हुए । अँबुजगन=कमल । बूझति=पूछती हैं । बायस=कौआ । मग=रास्ता ।

भावार्थ—ब्रज से लौटकर उद्धव कृष्ण से ब्रजवासियों की व्याकुल दशा का वर्णन कर रहे हैं कि—

हे श्याम ! मैं कहाँ तक ब्रज की बातें सुनाऊँ । सुनो ! कि तुम्हारे बिना उन लोगों के दिन कैसे बीत रहे हैं । सारे गोप, गोपी, गाय, बछड़े शरीर से दुबले हो गए हैं, बहुत थक गए हैं और उदास मुख लिए घूमते रहते हैं । उन सबकी दशा ऐसी दीन हो गई है—जैसे शिशिर ऋतु में पाले से मारे हुए पत्र-हीन कमलों की हो जाती है । अर्थात् उनका सारा सौन्दर्य और चेतना नष्ट हो गई है । गोपियाँ जिस किसी को मथुरा से ब्रज की ओर आता हुआ देखती हैं, सब मिलकर उससे तुम्हारी कुशलता का समाचार पूछने लगती हैं । आते हुए पथिक को देख, तुम्हारी कुशलता का समाचार पाने की आशा से उनका हृदय प्रेम से आतुर हो उठता है और वे उस पथिक को वहाँ से जाने नहीं देतीं, अपने हाथों से उसके चरण पकड़ लेती हैं, उससे लिपट जाती हैं ।

गोपियों द्वारा निरन्तर सन्देश ले जाने की प्रार्थना करते रहने के कारण कोयल और चातक भयभीत हो, वहाँ के वन में बस नहीं पाते और कौए बलि का भोजन नहीं खा पाते । क्योंकि गोपियाँ कौए को देखते ही कृष्ण के आने का शकुन विचारने के लिए उसे तुरन्त उड़ा देती हैं और कोयल और चातक से निरन्तर अपना सन्देश ले जाने की प्रार्थना करती रहती हैं । और पथिक भी गोपियों के इन सन्देशों के भय से उधर का रास्ता छोड़ गए हैं, उस रास्ते से गुजरते तक नहीं । क्योंकि गोपियाँ पथिकों को देख, उनसे प्रियतम के पास उनका सन्देश पहुँचा देने की प्रार्थना करने लगती हैं । इस मुसीबत में कौन पड़े, इसी कारण पथिक उधर होकर नहीं निकलते ।

विशेष—(१) इस पद में सम्पूर्ण ब्रज को कृष्ण-विरह में अत्यधिक व्यथित

दिखाया गया है। साथ ही गोपियों द्वारा पक्षियों को सन्देश ले जाने के लिए निरन्तर परेशान करते रहने का उल्लेख कर वियोग की विवश-आतुरता और गहनता का रूप स्पष्ट किया गया है।

(२) 'परम दीन····पात' में उत्प्रेक्षा; तथा 'पिक····खात' में अतिशयोक्ति अलंकार है।

राग केदारो

उनमें पाँच दिवस जो बसिए।
नाथ ! तिहारी सौं जिय उमगत, फेरि अपनपो कस ये ?
वह लीला बिनोद गोपिन के, देखे ही बनि आवै।।
मोको बहुरि कहाँ वैसो सुख, बड़भागी सो पावै।
मनसि, बचन, कर्मना कहत हौं, नाहिन कछु अब राखी।
सूर काढ़ि डार्‌यो हौं ब्रज तें, दूध-माँझ की माखी।।३८५।।

शब्दार्थ—बसिये=रहिये। सौं=सौगन्ध। कस=कैसा। माखी=मक्खी।

भावार्थ—उद्धव ब्रज से मथुरा लौट कृष्ण को गोपियों के प्रेम की विशेषता का वर्णन सुनाते हुए कह रहे हैं कि—

हे स्वामी ! यदि उन गोपियों के बीच पाँच दिन भी रह लिया जाय, तो मैं आपकी सौंगन्ध खाकर कहता हूँ कि उनके प्रेम को देख हृदय उमंगित होने लगता है। फिर अपने और पराये का भेदभाव कैसा होता है, सब कुछ भूल जाता है। अर्थात् गोपियों के प्रेम को देख, देखने वाला अपनत्व की भावना भूल, पूर्ण रूप से प्रेम में डूब आत्म-विस्मृत हो जाता है। गोपियों की यह लीला और विनोद बस देखते ही बनता है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। अब मुझे वैसा सुख फिर कहाँ मिल सकता है। इसे तो वही प्राप्त कर सकता है, जो अत्यन्त भाग्यशाली होता है। (उद्धव को भय है कि उनके ज्ञानोपदेश से कुपित और त्रस्त गोपियाँ अब उन्हें अपने पास तक नहीं फटकने देगीं।)

मैं मन, वचन और कर्म—तीनों से कहता हूँ कि मैंने वहाँ की सारी बातें आपको सच-सच बता दी हैं, कुछ भी कहने को शेष नहीं रखा है। उन गोपियों ने तो मुझे ब्रज से इस प्रकार उपेक्षित और तिरस्कृत कर भगा दिया है, जैसे दूध में पड़ी मक्खी को निकालकर फेंक देते हैं।

विशेष—'सूर काढ़ि····माखी' में उपमा और लोकोक्ति अलंकार है।

चित्त दै सुनौ, स्याम प्रबीन।
हरि तिहारे बिरह राधे, मैं जो देखी छीन।
कहन को संदेस सुन्दरि, गवन मो तन कीन।।

छुटी छुद्रावलि, चरन अरुझे गिरी बलहीन।
बहुरि उठि सँभारि, सुभट ज्यों परम साहस कीन ॥
बिन देखे मनमोहन मुखरो सब सुख उनको दीन।
सूर हरि के चरन-अम्बुज रही आसा-लीन ॥३८६॥

शब्दार्थ—प्रबीन=चतुर। गवन=चली। मो तन=मेरी ओर। छुद्रावलि=करधनी। अरुझे=उलझ गए। सुभट=योद्धा। दीन=हेय, तुच्छ। अंबुज=कमल।

भावार्थ—उद्धव ब्रज से मथुरा लौट कृष्ण को विरह-व्यथिता राधा की विषम दशा का हाल सुनाते हुए उनसे कह रहे हैं कि—

हे चतुर श्याम ! मेरी बात ध्यान से सुनो। तुम्हारे विरह में राधा को मैंने जैसा क्षीणकाय (दुबला) देखा है, मैं उसकी उसी दशा का हाल तुम्हें सुना रहा हूँ। वह सुन्दरी राधा तुम्हारे लिए अपना सन्देश कहने के लिए जैसे ही मेरी ओर चली, उसकी कमर में पड़ी हुई करधरी छूटकर नीचे गिर पड़ी और उसमें उसके दोनों चरण उलझ गए। वह इतनी शक्तिहीन हो गई है कि चरण उलझ जाने से तुरन्त धरती पर गिर पड़ी। परन्तु उसने हिम्मत नहीं हारी। जैसे रणभूमि में योद्धा आघात सह पृथ्वी पर गिर पड़ता है परन्तु अत्यन्त साहस कर पुनः उठ खड़ा होता है, राधा भी उसी प्रकार अपने को सम्हालकर पुनः उठ खड़ी हुई। यद्यपि उसे सारे सांसारिक सुख प्राप्त हैं, परन्तु अपने प्रियतम मदनमोहन के मुख को बिना देखे—ये सारे सुख उसके लिए हेय और त्याज्य बन गए हैं। अर्थात् वह केवल कृष्ण के मुख को देखकर ही सुखी होती है। वह सदैव तुम्हारे चरण-कमलों के पुनः दर्शन की आशा में ही डूबी रहती है।

विशेष—(१) करधनी का खिसक कर नीचे गिर जाना—राधा के अंग-प्रत्यंग के अत्यधिक क्षीण हो जाने का संकेत दे रहा है।

(२) 'बहुरि·······कीन' में रूपक तथा उपमा; और 'छुटी·······बलहीन' में अतिशयोक्ति अलंकार है।

माधव ! यह ब्रज को ब्योहार।
मेरो कह्यो पवन को भुस भयो, गावत नन्दकुमार ॥
एक ग्वारि गोधन लै रेंगति, एक लकुट कर लेति।
एक मंडली करि बैठारति, छाक बाँटि कै देति ॥
एक ग्वारि नटबर बहु लीला, एक कर्म-गुन गावति।
कोटि भाँति कै मैं समुझाई नेक न उर में ल्यावति ॥
निसिबासर ये ही ब्रत सब ब्रज दिन-दिन नूतन प्रीति।
सूर सकल फीको लागत है, देखत वह रस रीति ॥३८७॥

शब्दार्थ—पवन को भुस भयो=व्यर्थ गया। रेंगति=धीरे-धीरे चलती। लकुर=लाठी। मंडली=गोल घेरे में। छाक=मट्ठा, छाज।

भावार्थ—कृष्ण-वियोग में विरहिणी गोपियाँ किस प्रकार कृष्ण द्वारा ब्रज में हुई लीलाओं की नकल किया करती थीं, उद्धव उसी दृश्य का वर्णन करते हुए कृष्ण से कह रहे हैं कि—

हे माधव ! मैंने ब्रज में विचित्र व्यवहार देखा। मेरा कहा हुआ ज्ञान का उपदेश तो वहाँ उसी प्रकार गायब हो गया, व्यर्थ रहा, जैसे पवन में भुस उड़ जाता है, उसके सामने टिक नहीं पाता। मेरे ज्ञानोपदेश को सुन, गोपियाँ मेरी बातों की ओर कोई ध्यान न दे, कृष्ण के ही गीत गाती रहीं। एक गोपी हाथ में लाठी ले गायों के पीछे रेंगती हुई, धीरे-धीरे चलने लगी। एक अन्य गोपी ने सारी गोपियों को गोल घेरे में बैठा लिया और सब को बाँट-बाँटकर छाछ देने लगी। एक गोपी नटवर (कृष्ण) का वेश धारण कर नाना प्रकार की लीलाएँ करने लगी और एक कृष्ण की विभिन्न क्रीड़ाओं और गुणों के गीत गाती रही। मैंने उन्हें करोड़ों प्रकार से बहुत-कुछ समझाया, मगर मेरी बातों को उन्होंने रंगमात्र भी अपने हृदय में स्थान नहीं दिया, मेरी बातों का उन पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा।

सारे ब्रज में रात-दिन यही सब कुछ चलता रहता है और दिन-प्रतिदिन उनकी प्रीति नए-नए रूपों में प्रकट होती रही है। उनकी उस रस-रीति (प्रेम-क्रीड़ाओं) को देख संसार में अन्य सब कुछ फीका लगने लगता है। अर्थात् उनके उस प्रेम के सामने अपना यह निर्गुण-ज्ञान फीका और नीरस प्रतीत होने लगता है।

विशेष—अनुप्रास और लोकोक्ति अलंकार है।

कहिबे मैं न कछू सक राखी।
बुधि बिबेक अनुमान आपने, मुख आई सो भाखी।।
हौं पचि कहतो एक पहर में, वै छन माँहि अनेक।
हारि मानि उठि चल्यौ दीन ह्वै, छाँड़ि आपनी टेक।।
कंठ बचन न बोलि आयो, हृदय परिहस-भीन।
नयन भरि जो रोय दीन्हों, ग्रसित-आपद दीन।।
श्रीमुख की सिखई ग्रंथन की, कथि सब भई कहानी।
एक होय तेहि उत्तर दीजै, सूर उठी अबुहानी।।३८८।।

शब्दार्थ—सक=सक, कमी। भाखी=कही। पचि=प्रयत्न-परिश्रम कर। टेक=ज़िद। परिहस=परिहास। भीन=मुग्ध। ग्रसित-आपद=आपत्ति-ग्रस्त। अबुहानी=प्रेत-ग्रसित सी।

भावार्थ—ब्रज से मथुरा लौट अपनी असफलता के सम्बन्ध में सफाई-सी देते हुए उद्धव कृष्ण से कह रहे हैं कि—

हे कृष्ण ! मैंने गोपियों को ज्ञानोपदेश देने में अपनी तरफ से तो कोई भी कमी नहीं रहने दी थी। अपनी बुद्धि, विवेक और अनुमान के अनुसार मेरे मन में जो भी विचार या बातें उठीं, मैंने सब उनके सामने कह डालीं। मैं अत्यन्त परिश्रम कर एक प्रहर में जितनी बातें कहता, वे क्षण भर में ही उससे बहुत अधिक कह जातीं। अन्त में, मैं उनसे पार न पा सकने के कारण अपनी जिद छोड़, उनसे हार मान अत्यन्त दीन बन वहाँ से उठकर चला आया। उनकी उस प्रेम-विभोरता को देख मेरा कण्ठ गद्‌गद् हो उठा, मेरे मुँह से वचन ही नहीं निकलते थे और मेरा हृदय उनके परिहास से द्रवित और मुग्ध हो उठा था, भीग गया था। मैं सब तरह से परास्त हो, आँखों में आँसू भर उनके सामने उसी प्रकार रो उठा, जैसे कोई दीन व्यक्ति आपत्ति-ग्रस्त होने पर रोने लगता है।

तुमने अपने श्रीमुख से मुझे विभिन्न ग्रन्थों में संग्रहीत ज्ञान की जो कथा सिखाई थी, सुनाई थी, वह सब उनके सामने कहानी बनकर रह गई। अर्थात् समाप्त हो गई। मैं उस सम्पूर्ण ज्ञान-कथा को भूल गया। कोई एक प्रश्न करे तो उसका उत्तर भी दिया जाय, परन्तु वहाँ तो गोपियों की एक-सी हालत हो रही थी, जैसे सबके सिर पर प्रेत चढ़ बैठा हो। सब-की-सब एकसाथ बोलने लगती थीं। मैं किस-किस को उत्तर देता ?

विशेष—उद्धव बड़े कलात्मक ढङ्ग से व्यंजना भरे शब्दों द्वारा अपने निर्गुण-ज्ञान की निस्सारता और गोपियों के प्रेम-मार्ग की महानता की स्थापना कर रहे हैं। उनका अपने कार्य में असफल होने की सफाई देने का ढंग बड़ा सुन्दर और प्रभाव-शाली है।

कहौ तो सुख आपनो सुनाऊँ !
ब्रजजुवतिन कहिकथा जोग की, क्यों न इतो दुख पाऊँ ।।
हौं इक बात कहत निर्गुन की, वाही में अटकाऊँ ।।
वै उमड़ी बारिधि-तरंग ज्यों, जाकी थाह न पाऊँ ।।
कौन-कौन को उत्तर दीजै, तातें भज्यों अगाऊँ ।
वै मेरे सिय पाटी पारहिं, कंथा काहि ओढ़ाऊँ ।।
एक आँधरी, हिय की फूटी, दौरै पहिरि खराऊँ ।।
सूर सकल ब्रज षटदरसी, हौं बारहखड़ी पढ़ाऊँ ! ।।३८६।।

शब्दार्थ—इतो=इतना। वाही=उसी। अटकाऊँ=अटका रहता था। वारिधि-तरंग=समुद्र की लहरें। अगाऊँ=पहले ही। पाटी पारहिं=बालों की माँग काढ़ती थीं। कंथा=संन्यासियों की कथरी। हिय की फूटी=ज्ञानहीन, मूर्ख। दौरै=दौड़े। खराऊँ=खड़ाऊँ। षटदरसी=षट्-दर्शनों के ज्ञाता। बारहखड़ी=अक्षर-ज्ञान।

भावार्थ—गोपियों द्वारा की गई अपनी दुर्दशा का वर्णन करते हुए उद्धव कृष्ण से कह रहे हैं कि—

यदि आप आज्ञा दें तो मैंने ब्रज में जाकर जो सुख पाया उसका वर्णन करूँ। (यहाँ व्यंग्यार्थ यह है कि ब्रज में मेरी जो दुर्दशा हुई और मुझे जो दुःख भोगने पड़े, उन्हें सुनाऊँ।) यदि ब्रज में मुझे इतने दुःख भोगने पड़े तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं हैं, क्योंकि मैंने काम ही ऐसा किया था। ब्रज की युवतियों जैसी कृष्ण की अनन्य आराधिकाओं को योग की कथा सुनाने पर ऐसा दुःख भोगना नितान्त स्वाभाविक था। मैं उनसे निर्गुण के सम्बन्ध में एक बात कहकर उसी में अटका रहा जाता था, परन्तु वे समुद्र की उमड़ती लहरों के समान मुझ पर निरन्तर प्रश्नों की बौछार करने लगती थीं। और प्रश्न भी ऐसे कि जिनकी थाह पाना, उचित उत्तर देना मेरे लिए असम्भव था। मैंने सोचा कि इस मुसीबत में कौन पड़े, किस-किस के प्रश्नों का उत्तर दूँ, इसीलिए पहले ही वहाँ से भाग खड़ा हुआ। मैं तो उन्हें योग-मार्ग की शिक्षा दे, संन्यासिनी बनाने गया था, परन्तु वे तो उल्टी मेरे ही सिर पर माँग कढ़ाने लगीं, चोटियाँ निकालने लगीं। ऐसी स्थिति में मैं कथरी किसे उढ़ाता, किसे संन्यास-धर्म में दीक्षित करता? भाव यह है कि मैं तो उन्हें निवृत्ति-मार्ग (संन्यास) में दीक्षित करने गया था, परन्तु वे मुझे ही शृंगार-प्रधान प्रेम-मार्ग में दीक्षित करने का प्रयत्न करने लगीं।

मेरी तो वहाँ जाकर वैसी ही दशा हुई, जैसे कोई एक तो आँखों से अन्धी हो, साथ ही उसके हृदय की (ज्ञान-चक्षु) भी फूटी हो अर्थात् पूरी मूर्ख हो, और ऊपर से खड़ाऊँ पहन कर दौड़ रही हो अर्थात् जैसे ऐसी नारी इस तरह दौड़कर अपने हाथ-पैर तोड़ लेती है, वहाँ जाकर मेरी दशा भी वैसी ही हो गई थी। उन्हें ज्ञान-योग समझाने का मेरा सम्पूर्ण प्रयास घोर मूर्खतापूर्ण था। क्योंकि वहाँ ब्रज में तो सब लोग षट्दर्शनों के ज्ञाता हैं। और मैं ज्ञानयोग के रूप में मानो उन्हें बारहखड़ी पढ़ाने (अक्षर-ज्ञान कराने) का मूर्खतापूर्ण प्रयत्न कर रहा था। किसी पूर्ण पारंगत विद्वान् को अक्षर-ज्ञान कराने का प्रयत्न करना घोर मूर्खता है। गोपियों के उस प्रेम-योग के सम्मुख मेरा ज्ञान-योग का उपदेश देना ही मूर्खतापूर्ण कार्य था। इसीलिए मैं वहाँ से भाग आया।

विशेष—गोपियों के प्रेम-योग की तुलना में उद्धव के ज्ञान-योग को तुच्छ बताया गया है।

(२) उपमा अलंकार है।

तब तें इन सबहिन सचु पायो।
जब तें हरि-संदेस तिहारो, सुनत ताँवरो आयो॥
फूले व्याल, दुरे ते प्रगटे, पवन पेट भरि खायो।
सूले मृगा चौंकि चरनन तें, हुतौ जो जिय बिसरायो॥

ऊँचे बैठि बिहंग-सभा-बिच, कोकिल मंगल गायो।
निकसि कंदरा तें केहरि हू, माथे पूँछ हिलायो ॥
गृहबन तें गजराज निकसि कै, अँग-अँग गर्ब जनायो।
सूर बहुरिहौ, कह राधा, कै, करिहौ बैरिन भायो ? ॥३९०॥

शब्दार्थ—सचु=सुख । ताँवरो=ताप, जूड़ी, चक्कर । व्याल=सर्प । चरनन=चरते हुए । हुतौ=था । बिहंग-सभा-बिच=पक्षियों की सभा के बीच । बहुरिहौ=लौट आओ । कै=या । बैरिन भायो—दुश्मनों को अच्छा लगने वाला ।

भावार्थ—उद्धव ब्रज से लौटकर कृष्ण को विरिहणी राधा द्वारा उनके लिए भेजा हुआ सन्देश सुना रहे हैं । उन्होंने कहा है कि—

हे प्रभु ! राधा ने तुम्हारे लिए यह सन्देश भिजवाया है । उन्होंने कहलवाया है कि हे कृष्ण ! जब से तुम्हारा ज्ञान-योग सम्बन्धी सन्देश सुनकर मुझे ताप चढ़ आया है, मैं विरह-ज्वर से ग्रस्त हो उठी हूँ, तब से ये सर्प, मृग, कोकिल, सिंह गजराज आदि सभी सुखी हो उठे हैं । अर्थात् पहले मैंने इन सबकी विशेषताओं को छीनकर अपने पास संचित कर रखा था, परन्तु अब विरह-ज्वर ने मेरी सारी विशेषताएँ नष्ट कर दी हैं, इसलिए अब ये सब प्राणी पुनः प्रसन्न और सुखी हो उठे हैं । पहले मेरी वेणी की सुन्दरता, सुडौलता और चिकनेपन को देख सर्प लज्जित हो धरती के नीचे बिलों में जा छिपे थे, परन्तु अब मेरी वेणी का सौन्दर्य नष्ट हो जाने से वे प्रसन्न हो बाहर निकल आए हैं और पेट भर कर वायु का भक्षण कर रहे हैं । अर्थात् अब उन्हें यह भय नहीं रहा कि मेरी वेणी उनसे सुन्दर है । इसी प्रकार मेरे सुन्दर नेत्रों को देख जो हिरण लज्जित हो चौंक कर घास चरना भूल जाते थे, वही अब मेरे नेत्रों से लज्जित होने की अपनी सारी ग्लानि और दुःख भूल गए हैं और निश्शंक हो घास चरते रहते हैं, क्योंकि अब मेरे नेत्रों का सारा सौन्दर्य नष्ट हो गया है ।

विरह-ज्वर के कारण मेरी वाणी का सारा माधुर्य जाता रहा है, इसलिए अब कोकिल पक्षियों की सभा के बीच ऊँचे वृक्ष पर बैठ आनन्द के गीत गा रही है क्योंकि अब उसे मेरी वाणी से लज्जित होने का भय नहीं रहा है । मेरी इस विपन्नावस्था (दुःखी दशा) का समाचार सुन सिंह भी अपनी कन्दरा (गुफा) से बाहर निकल आया है और गर्व के साथ पूँछ ऊँची कर माथे के ऊपर हिला रहा है । क्योंकि अब उसे भी मेरी कटि से लज्जित होने का भय नहीं रहा है । और गजराज भी अब सघन वन से बाहर निकल गर्व के साथ अपने प्रत्येक अंग को हिलाता हुआ मस्त चाल से चल रहा है, क्योंकि उसे भी अब मेरी गज-गति जैसी सुन्दर चाल को देख संकुचित और लज्जित होने की आशंका नहीं रही है । भाव यह है कि कृष्ण-विरह में राधा के शरीर की सम्पूर्ण विशेषताएँ नष्ट हो गई हैं, इसलिए उसके विभिन्न अंशों के ये उपमान अब निर्भय हो उठे हैं । हे कृष्ण ! इसलिए राधा ने कहा है कि आप ब्रज में पुनः पधारकर मेरी इस दुर्दशा को दूर करने की कृपा करेंगे या मेरे इन शत्रुओं के मन को अच्छी लगने वाली बातें करेंगे ? अर्थात् यहाँ लौटकर नहीं आयेंगे ।

भाव यह है कि कृष्ण के लौट आने से राधा का नष्टप्राय सौन्दर्य पुनः पल्लवित हो उठेगा और उनके विभिन्न अंगों के ये उपमान पुनः तुच्छ से प्रतीत होने लगेंगे।

विशेष—(१) विभिन्न उपमानों के उल्लेख द्वारा विरहिणी राधा की शारीरिक क्षीणता का मार्मिक और कलात्मक चित्रण किया गया है। कला-चमत्कार की दृष्टि से यह पद महत्त्वपूर्ण और सुन्दर है। विरह की अतिशयता का वर्णन करने के साथ-साथ राधा के सौन्दर्य का नख-सिख वर्णन भी प्रस्तुत कर दिया गया है।

(२) 'जबतें····खायो' में हेतूत्प्रेक्षा; 'ऊँचे बैठि····हिलायो' में अतिशयोक्ति; तथा 'गृहबन····भायों' में प्रतीप अलंकार है।

राग जैतश्री

सुनहु स्याम जू वै ब्रज-बनिता, बिरह तुम्हारे भईं बावरी।
नाहिंन नाथ और कहि आवत, छाँड़ि जहाँ लगि कथा रावरी॥
कबहुँ कहति हरि माखन खायो, कौन बसै या कठिन गाँव री।
कबहुँ कहति हरि ऊखल बाँधे, घर-घर तें लै चलो दाँवरी॥
कबहुँ कहति ब्रजनाथ बन गए, जोवत मग भई दृष्टि झाँबरी।
कबहुँ कहति वा मुरली महियाँ, लै लै बोलत हमारो नाँव री॥
कबहुँ कहति ब्रजनाथ साथ तें, चन्द्र ऊग्यो है एहि ठाँव री।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु, अब वह मूरति भई साँवरी॥३६१॥

शब्दार्थ—ब्रज-बनिता=ब्रज की नारियाँ, गोपियाँ। रावरी=तुम्हारी। दाँवरी=रस्सी। वन=वन। झाँवरी=धुँधली। महियाँ=में। ऊग्यो=उदय हुआ है।

भावार्थ—उद्धव ब्रज से लौटकर मथुरा में कृष्ण से विरहोन्मादित गोपियों की विक्षिप्त-सी दशा का वर्णन करते हुए कर रहे हैं कि—

हे श्याम! सुनो, वे ब्रज-बालाएँ (गोपियाँ) तुम्हारे विरह में बावली (पागल) हो गई हैं। हे स्वामी! उनके मुख से तुम्हारी कथा को छोड़कर और कोई दूसरी ही बात नहीं निकलती। वे सदैव तुम्हारी ही बातें करती रहती हैं। कभी कहती हैं कि कृष्ण हमारा सारा माखन चुराकर खा गए, इसलिए अब ऐसे इस दुष्ट गाँव में, जहाँ ऐसे चोर बसते हों, कौन रहे? कभी कहती हैं कि माता यशोदा ने कृष्ण को ऊखल से बाँध दिया है, इसलिए सब अपने-अपने घर से रस्सी लेकर वहीं चलो। (जिससे कृष्ण को खूब कसकर बाँध दिया जाय और वे फिर यहाँ से भाग न सकें।) कभी कहती हैं कि ब्रजनाथ कृष्ण वन को गए हैं और उनकी राह देखते-देखते हमारी दृष्टि धुँधली पड़ गई है, मगर वे अभी तक लौटकर नहीं आए। कभी कहती हैं कि कृष्ण मुरली के स्वरों में हमारा नाम ले-लेकर हमें बुला रहे हैं।

और कभी कहती हैं कि ब्रजनाथ के साथ इसी स्थान पर चन्द्रमा उदय हुआ

था। अर्थात् चन्द्रमुखी राधा कृष्ण के साथ इसी स्थान पर दिखाई दी थीं। हे स्वामी ! अब तुम्हारे दर्शनों के बिना राधा का चन्द्रमा के समान वह उज्ज्वल मुख साँवला पड़ गया है। तुम्हारे विरह ने उनकी ऐसी दशा कर रखी है।

विशेष—(१) रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

(२) विरहोन्माद का अतिशयोक्तिपूर्ण परन्तु साथ ही स्वाभाविक मार्मिक चित्रण किया गया है।

राग बिहागरो

हरि आए सो भली कीनी।
मोहिं देखत कहि उठी राधिका अंक तिमिर को दीनी॥
तनु अति कँपति बिरह अति ब्याकुल उर धुकधुकी खेद कीनी।
चलत चरन गहि रही गई गिरि स्वेद-सलिल भय भीनी॥
छूटी लट, भुज फूटी बलया टूटी लर फटि कंचुकि झीनी।
मनो प्रेम के परन परेवा याही तें पढ़ि लीनी॥
अवलोकति यहि भाँति—मानो छूटी अहिमनि छीनी।
सूरदास प्रभु कहौं कहाँ लगि है, अयान मति हीनी॥३६२॥

शब्दार्थ—भली कीनी=अच्छा किया। तिमिर=अन्धकार। खेद=दुःख। स्वेद-सलिल=पसीने का जल। भीनी=ग्रस्त, डूबी हुई। बलया=बलय, एक आभूषण। झीनी=पतली, महीन। परेवा=कबूतरी। पढ़ि लीनी=समझ लिया। अहिमनि=सर्प की मणि। अयान=अज्ञानी। मतिहीनी=मतिहीन, पागल।

भावार्थ—कृष्ण-विरह में पागल-सी हो रही राधा की विषम दशा का वर्णन करते हुए उद्धव कृष्ण से कह रहे हैं कि—

हे कृष्ण ! तुम्हारे विरह में राधा इतनी ज्ञान-शून्य और क्षीण हो गई है कि मुझे देखकर कह उठी कि 'हे कृष्ण ! तुम आ गए, यह अच्छा किया।' यह कहकर वह अन्धकार को ही कृष्ण समझ उसे आलिंगन में भरने का प्रयत्न करने लगी। अर्थात् राधा ने अन्धकार को ही कृष्ण का साँवला शरीर समझ, अपनी भुजाएँ फैला अंक में भर लिया। परन्तु जब उसे अपनी गलती मालूम पड़ी तो उसका शरीर बुरी तरह से काँपने लगा, वह तुम्हारे विरह में अत्यन्त व्याकुल हो उठी और दुःख के कारण उसका हृदय बुरी तरह से धड़कने लगा। जब मैं वहाँ से चलने लगा, तो वह मेरे चरण पकड़ कर गिर पड़ी। उस समय उसका सारा शरीर पसीने से सराबोर हो रहा था और वह बुरी तरह से भयभीत थी। उसके बाल बिखर गए, भुजाओं में पड़े बलय (कड़े) टूट गए, गले की माला टूट कर गिर पड़ी और महीन चोली फट गई। मैंने उसकी उस व्याकुल, विक्षिप्त-सी दशा को देखकर ही यह समझ लिया कि वह प्रेम के प्रण में आबद्ध कपोती के समान प्रिय-विरह में छटपटा रही है।

राधा उस समय इस तरह देख रही थी—जैसे मणि छिन जाने पर सर्पिणी, मणि से वियुक्त हो जाने के कारण दीन और व्याकुल हो छटपटाने लगती है ! हे स्वामी ! मैं राधा की उस विरह-व्याकुल दशा का वर्णन कहाँ तक करूँ । यह समझ लीजिए कि वह तुम्हारे विरह में पूरी तरह से ज्ञानहीन और पागल (मतिहीन) हो रही है । उसकी सारी चेतना जाती रही है ।

विशेष—(१) इस पद में विरह की 'न्माद' और 'जड़ता' नामक दो दशाओं का मार्मिक, हृदयस्पर्शी चित्रण किया गया है ।

(२) 'मनो······परेवा' तथा 'मानो छूटी·······छीनी' में उत्प्रेक्षा तथा कई पंक्तियों में अनुप्रास अलंकारों का प्रयोग किया गया है ।

राग मलार

सुनो स्याम यह बात और कोउ क्यों समुझाय कहै ।
दुहुँ दिसि को रति-बिरह बिरहिनी कैसे कै जु सहै ।।
जब राधे तबहीं मुख माधो-माधो रटति रहै ।
जब माधो होइ जात सकल तनु राधा बिरह दहै ।।
उभय अग्र दौ दारु-कीट ज्यों सीतलताहि चहै ।
सूरदास अति बिकल बिरहिनी कैसेहु सुख न लहै ।।३९३।।

शब्दार्थ—दुहुँ दिसि को=दोनों ओर का । रति-बिरह=प्रेम का विरह । दहै=जलने लगता है । उभय अग्र=दोनों किनारों पर । दौ=दावाग्नि । दारु-कीट= लकड़ी का कीड़ा । लहै=प्राप्त करती ।

भावार्थ—विरहोन्माद के कारण निरन्तर विषम विरह-वेदना से ग्रस्त-त्रस्त राधा की दशा का वर्णन करते हुए उद्धव कृष्ण से कह रहे हैं कि—

हे कृष्ण । यह बात सुनो जिसे कोई अन्य कैसे समझाकर कह सकता है । अर्थात् राधा की उस विरह-व्यथित विषम दशा का वर्णन कोई भुक्तभोगी ही कर सकता है । कोई विरहिणी प्रेम के दोनों पक्षों के विरह को कैसे सहन कर सकती है ? अर्थात् राधा को कृष्ण के प्रति अपना विरह तो सहन करना ही पड़ता है, साथ ही राधा के प्रति कृष्ण की विरह-व्यथा को भी उसे ही झेलना पड़ रहा है । यह कैसे हो रहा है, यही बात मैं तुम्हें समझाना चाहता हूँ । जब राधा को होश रहता है, अपने अस्तित्व का ज्ञान रहता है, तब वह तुम्हारे विरह में व्याकुल हो, 'माधव माधव' की रट लगाए रहती है । और जब तुम्हारा नाम रटते-रटते वह तुम्हारे साथ तदाकार हो जाती है, अपने सम्पूर्ण अस्तित्व का स्मरण कर पूर्णत: कृष्णमय हो जाती है तो वह स्वयं को कृष्ण समझ कर राधा के विरह में दग्ध होने लगती है । इस तरह राधा को दोनों पक्षों का—अपना और कृष्ण, दोनों का—विरह एकाकी ही सहन करना पड़ रहा है ।

ऐसी स्थिति में राधा की दशा उस कीड़े की-सी विषम हो उठती है जो किसी लकड़ी के भीतर बन्द हो और उस लकड़ी के दोनों सिरों (किनारों) पर आग लगी

हुई हो। ऐसी स्थिति में वह कीड़ा अग्नि के उस दाह से बचने और शीतलता पाने के लिए बार-बार दौड़-दौड़कर एक सिरे से दूसरे सिरे की ओर भागता रहता है और अग्नि का ताप उसे निरन्तर दग्ध करता रहता है। उसी व्याकुल कीड़े के समान ही राधा को, जब वह राधा ही रहती है तो कृष्ण का और जब कृष्ण-रूप बन जाती है तो राधा का विरह निरन्तर दग्ध करता रहता है। इस प्रकार वह अत्यन्त व्याकुल विरहिणी राधा किसी भी स्थिति में सुख नहीं प्राप्त कर पाती।

विशेष—(१) राधा की इस विषम विरह-दग्धता का महाकवि विद्यापति ने भी ऐसा ही मार्मिक चित्रण करते हुए कहा है—

"राधा सयं जब पुनितहि माधव, माधव सयं जब राधा।
दारुन प्रेम तबहिं नहिं टूटत, बाढ़त बिरहक बाधा॥
दुहि दिसि दारु-दहन जैसे दगधई आकुल कीट परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि कबि विद्यापति भान॥"

(२) 'उभय अग्र·······चहैं' में उपमा अलंकार है।

(३) भक्तों की यह मान्यता रही है कि भगवान् का निरन्तर स्मरण करते-करते भक्त स्वयं भगवान् से तदाकार हो, भगवान् बन जाता है। सूरदास ने इसी मान्यता को विरह की अतिशयता के रूप में चित्रित कर अप्रत्यक्ष रूप से इसी सिद्धान्त की ओर संकेत किया है।

राग धनाश्री

उमँगि चले दोउ नैन बिसाल।
सुनि-सुनि यह संदेस स्यामघन, सुमिरि तिहारे गुन गोपाल॥
आनन बपु उरजनि के अन्तर, जलधारा बाढ़ी तेहि काल।
मनु जुग जलज सुमेर सृंग तें, जाय मिले सम ससिहि सनाल॥
भीजे बिय आँचर उर राजित, तिन पर बर मुकुतन की माल।
मनो इन्दु आए नलिनी-दलऽलंकृत-अमी-ओसकन-जाल॥
कहँ वह प्रीति राधा सों कहँ यह करनी उलटी चाल।
सूरदास प्रभु कठिन कथन तें, क्यों जीवै बिरहिनि बेहाल॥३६४॥

शब्दार्थ—बपु=शरीर। उरजनि=उरोजों। जुग=युग्म, दो। जलज=कमल। सृंग=शृंग, चोटी। सनाल=नाल सहित। भीजे=भीगे। बिय=दोनों। राजित=शोभित। बर=श्रेष्ठ। इंदु=चन्द्रमा : नलिनी-दलऽलंकृत=कुमुदिनी की पंखुड़ियों से शोभित, सजे। अमी=अमृत। ओसकन=ओस की बूँदें।

भावार्थ—कृष्ण के निष्ठुर योग-सन्देश को सुन राधा की जो व्याकुल दशा हो उठी थी, उसी का अलंकृत भाषा में वर्णन करते हुए उद्धव कृष्ण से कह रहे हैं कि—

हे गोपाल! तुम्हारे द्वारा भेजे गए उस निष्ठुर सन्देश को सुनकर और तुम्हारे श्यामघन के समान सुन्दर रूप तथा गुणों का स्मरण कर राधा के दोनों

विशाल नेत्रों से उमड़कर आँसुओं की धारा बहने लगी और आँसुओं की उस जल-धारा ने बढ़कर राधा के मुख, शरीर और दोनों उरोजों के मध्य-भाग को सिक्त कर दिया। उरोजों पर नेत्रों से गिरती उन दो जलधाराओं को देख, ऐसा प्रतीत हो रहा था—मानो उरोजों रूपी सुमेरु पर्वत की चोटी से नेत्र रूपी दो कमल जलधारा रूपी कमल-नाल के साथ ऊपर उठ, राधा के मुख रूपी चन्द्रमा के बराबर पहुँच, उससे जा मिले हों। (यहाँ उरोज सुमेरु पर्वत की चोटियाँ, आँसुओं की धारा कमल-नाल, दोनों नेत्र दो कमल और मुख चन्द्रमा के समान है।)

राधा के भीगे हुए दोनों उरोज उसके वक्ष पर शोभित हो रहे थे और उनके ऊपर श्रेष्ठ सुन्दर मोतियों की माला पड़ी हुई थी। आँसुओं के भीगे और मुक्ता-माल से सुशोभित वे दोनों उरोज ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो राधा के मुख रूपी चन्द्रमा के उदित होने पर उसमें से आँसुओं रूपी अमृत की बूँदें बन्द कमलिनी रूपी उरोजों पर ओस की बूँदों के समान शोभा पा रही हों। (यहाँ राधा का मुख चन्द्रमा, आँसू अमृत की बूँदें और उरोज ओस-कणों से आवृत्त कमलिनी के समान हैं। कवि-समय के अनुसार उरोजों की उपमा बन्द कमल से दी जाती है।)

हे कृष्ण! कहाँ तो तुम राधा से इतना अधिक प्रेम करते थे और कहाँ अब उसे योग-सन्देश भेजकर उसे और अधिक सताने के लिए ऐसा उल्टा (अनुचित) कार्य कर रहे हो और ऐसी उल्टी चाल चल रहे हो। हे स्वामी! तुम्हारे ऐसे कठोर वचनों (कृष्ण को भूल, निर्गुण की आराधना करने वाला उपदेश) को सुन, वह व्याकुल विरहिनी राधा कैसे जीवित रह सकेगी?

विशेष—(१) सूर ने अलंकृत भाषा द्वारा राधा के विरह का मार्मिक वर्णन करते समय उसके सौन्दर्य का भी चित्रण कर अद्भुत कार्य-मर्मज्ञता का प्रदर्शन किया है। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से यह पद श्रेष्ठ है।

(२) उत्प्रेक्षा और रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

राग सारंग

मैं समुझाई अति, अपनो सो।
तदपि उन्हें परतीति न उपजी, सबै लखो सपनो सो॥
कहीं तिहारी सबै कही, मैं और कछू अपनी।
श्रवन न बचन सुनत हैं उनके, जो घट महँ अकनी॥
कोइ कहै बात बनाइ पचासक, उनकी बात जु एक।
धन्य-धन्य जो नारी ब्रज की, बिनु दरसन इहि टेक॥
देखत उमँग्यो प्रेम, यहाँ की धरी रही सब, रोयो।
सूरस्याम हौं रह्यो ठगो सो, ज्यौं मृग चौंको भोयो॥३६५॥

शब्दार्थ—अपनो सो=भरसक, अपनी शक्ति भर। परतीति=विश्वास।

कही=कही हुई। अकनी=सुनकर भी। घट=घड़ा। टेक=प्रतिज्ञा। भोयो=भुलावे, धोखे में पड़ा हुआ।

भावार्थ—कृष्ण की आज्ञानुसार उद्धव ने गोपियों को योग-सन्देश समझाने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु सफलता न मिली। अपनी उसी असफलता का वर्णन करते हुए वे कृष्ण से कह रहे हैं कि—

हे स्वामी ! मैंने अपनी सामर्थ्य के अनुसार गोपियों को योग-सन्देश समझाने का अत्यधिक प्रयत्न किया, परन्तु फिर भी उन्हें मेरी बातों पर विश्वास नहीं हो सका। उन्हें मेरी बातें स्वप्न के समान असत्य और असम्भव प्रतीत होती थीं। मैंने उनसे तुम्हारी कही हुई सारी बातें तो कह ही दीं, साथ ही अपनी ओर से भी बहुत-कुछ कहा, परन्तु उनके कान जैसे मेरी बातों को सुन ही नहीं रहे थे। जैसे घड़े के भीतर मुँह डाल कोई बात कहने से वह बात घड़े से टकरा कर कहने वाले के कानों को ही सुनाई देती रहती है, उसी प्रकार मैं उनसे जो बात कहता था, वह उनके कानों से टकरा कर, भीतर न घुसा पा सकने के कारण, लौटकर मेरे ही कानों को सुनाई देती थी। अर्थात् अपनी कही हुई बातों को केवल मैं ही सुन रहा था, गोपियों ने उनकी तरफ से जैसे अपने कान बन्द कर रखे थे।

कोई उनके सामने बना-बनाकर चाहे पचासों (अनेक) बात कहता रहे, परन्तु वे तो अपनी एक ही जिद पर अड़ी हुई थीं कि उन्हें कृष्ण के दर्शन मिलने चाहिए। ब्रज की ऐसी वे नारियाँ धन्य हैं जो सदैव अपनी एक ही टेक (जिद) पर अड़ी रहती हैं कि उन्हें कृष्ण के दर्शनों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहिए। उनके इस दृढ़ प्रेम-व्रत को देख मेरे हृदय में भी प्रेम उमड़ने लगा और यहाँ मथुरा में तुम्हारे द्वारा प्राप्त मेरा सारा ज्ञान धरा रह गया, निष्फल हो गया और मैं प्रेमातिरेक के कारण रो उठा। उनके उस रूप को देख मैं उसी प्रकार चकित और भ्रमित-सा बन गया—जैसे कोई चरता हुआ मृग वीणा के स्वर को सुन चौंककर, चकित हो चरना छोड़ ठगा-सा भ्रमित-सा खड़ा रह जाता है।

विशेष—उपमा अलंकार का चमत्कार द्रष्टव्य है।

श्रीकृष्ण-वचन

राग सोरठ

ऊधो भलौ ज्ञान समुझायौ।
तुम मोसौं अब कहा कहत हौ, मैं कहि कहा पठायौ॥
कहवावत हौ बड़े चतुर, पै उहाँ न कछु कहि आयौ।
सूरदास ब्रजबासिनि कौ हित, हरि हिय माहँ दुरायौ॥३९५॥

शब्दार्थ—भलौ=भला, अच्छा। उहाँ=वहाँ। हित=प्रेम। दुरायौ=छिपा लिया।

भावार्थ—उद्धव ब्रज से लौट आए हैं। उनके मन-प्राण गोपियों की प्रेम-भावना से अप्लावित हो रहे हैं और वे कृष्ण से ब्रज लौट चलने की प्रार्थना कर रहे हैं। कृष्ण यह सुन, मन ही मन उन्हें बनाते हुए उनसे कह रहे हैं कि—

हे उद्धव ! तुमने गोपियों को अच्छा ज्ञान का उपदेश दिया ! क्या मैंने तुम्हें वहाँ इसी के लिए भेजा था कि लौट कर मुझसे ब्रज लौट चलने का आग्रह करने लगोगे ? तुम मुझसे अब क्या कह रहे हो, कैसी विरोधी बात कह रहे हो ? और मैंने तुमसे क्या कहकर वहाँ गोपियों से कहने के लिए यहाँ से भेजा था ? अर्थात् मैंने तो तुम्हें वहाँ इसलिए भेजा था कि तुम गोपियों को ब्रह्म-ज्ञान सिखाकर आओगे। और अब तुम स्वयं प्रेम से विभोर हो, मुझसे वहाँ लौट चलने का आग्रह कर रहे हो। तुम कहलाते तो बड़े ज्ञानी हो, परन्तु वहाँ गोपियों के पास पहुँच तुमसे कुछ भी कहते नहीं बना।

सूरदास कहते हैं कि कृष्ण ने उद्धव से इस तरह की बातें कह उनकी भर्त्सना की, परन्तु ब्रजवासियों के प्रति अपने हृदय में स्थित प्रेम को हृदय के भीतर ही छिपाए रखा, उसे उद्धव पर प्रकट नहीं होने दिया।

विशेष—यहाँ कृष्ण उद्धव को खूब मूर्ख बना रहे हैं। ब्रज में गोपियों ने उन्हें मूर्ख बनाया था और यहाँ आने पर कृष्ण उनकी छीछालेदर कर रहे हैं। सूर इस प्रकार का हास्य-रसपूर्ण वातावरण प्रस्तुत करने में अत्यन्त कुशल हैं।

उद्धव-वचन

सुनि लीन्हो उनही को कह्यो।
अपनी चाल समुझि मन ही मन, गुनि अरगाय रह्यो॥
अबलनि सों कहि परै जापै, बात तोरि कनिकानि।
अनबोले पूरो दै निबह्यौ, बहुत दिनन को जानि॥
जानि बूझि कै हौं क्यों पठयो, सठ बावरो अयानो।
तुमहू बूझि बहुत बातन को, वहाँ जाहु तौ जानो॥
आज्ञा-भंग होय क्यों मोपै, गयौ तिहारे ठीले।
सूर पठावन ही की ओरी, रह्यो जु गज सों लीले॥३६७॥

शब्दार्थ—गुनि=समझ, सोचकर। अरगाय=अलग। तोरि कनिकानि=एक-एक रहस्य को खोल कर कहना। अनबोले=बिना बोले ही। अयानो=अज्ञानी। बूझि=समझते हो। ठीले=ठेलने से, जोर देने से, बहाने से। ओरी=जिद, धुन।

भावार्थ—उद्धव ब्रज में गोपियों से पराजित हो मथुरा लौट आए हैं। अपनी इसी पराजय की कथा का वर्णन करते हुए वह कृष्ण से कर रहे हैं कि—

हे सखा ! मैंने गोपियों की ही कही हुई बात को सुन लिया। और उनकी बात सुन अपनी निर्गुणोपदेश सम्बन्धी छल-भरी चाल को मन-ही-मन समझ और

विचार कर मैं उनसे अलग हो गया। अर्थात् मेरा ज्ञान-गर्व और ज्ञान-मार्ग में विश्वास भंग हो गया और मैं गोपियों की बात सुन उनके ही समान प्रेम के रंग में रंग गया। इसलिए अब तुम उन अबलाओं के पास ऐसे व्यक्ति को अपना सन्देश-वाहक (दूत) बना कर भेजना जो स्त्रियों के सामने एक-एक रहस्य को खोल-खोलकर कहने की कला में दक्ष हो। मैं तो बिना बोले ही उनके साथ अपने कर्त्तव्य का पूरा निर्वाह कर आया और बहुत दिनों के लिए यह सबक सीख आया कि अबलाओं को योग की शिक्षा देने के समान मूर्खतापूर्ण कार्य और दूसरा नहीं हो सकता। (इस पंक्ति का दूसरा अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि मेरी बातों को सुन गोपियों ने बिना बोले ही मुझे निरुत्तर—बहुत दिनों के लिए चुप रहने का सबक सिखा दिया।)

मैं तुमसे यह पूछता हूँ कि तुमने यह जानकर भी कि मैं दुष्ट, पागल और मूर्ख हूँ, ऐसी उन गोपियों के पास क्यों भेज दिया था ? तुम तो बहुत बातें जानते हो, बहुत बड़े ज्ञानी हो। इसलिए यदि तुम स्वयं वहाँ जाकर गोपियों को योग-साधना सिखा आओ, तब तुम्हें मालूम पड़े कि ऐसा करना कितना असाध्य और असम्भव कर्म है ! मुझे तो वहाँ इसलिए जाना पड़ा था, क्योंकि तुमने मुझे ठेल-ठालकर जबरदस्ती वहाँ भेजा था और मैं तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन करने में असमर्थ था। परन्तु तुम्हें तो मुझे वहाँ भेजने की ऐसी जिद और उतावली हो रही थी, जैसे हाथी मुँह में आई चीज को निगलने के लिए उतावला हो उठता है। तुम्हारी इसी जिद से मजबूर होकर मुझे वहाँ जाना पड़ा था और उसका परिणाम यह भुगतना पड़ा।

विशेष—(१) 'तुमहू बूझि····तौ जानो' कहकर उद्धव एक प्रकार से कृष्ण को उत्तेजित कर, उन्हें चुनौती दे, ब्रज जाने के लिए उकसा रहे हैं।

(२) सम्पूर्ण पद में ज्ञान-गर्व भंग हो जाने पर उत्पन्न हुई उद्धव की निरीहता और दीनता—भक्ति-मार्ग का वह सोपान है, जिस पर चढ़ भक्त भगवान् का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है। अहं का विस्मरण—भक्ति की पहली शर्त है।

राग मलार

जो पै प्रभु करुना के आलै।
तौ कत कठिन कठोर होत मन, मोहिं बहुत दुख सालै॥
बहौ बिरद की लाज दीनपति, करि सुदृष्टि देखौ।
मोसों बात कहत किन, सनमुख कहा अवनि लेखौ॥
निगम कहत बस होत भक्ति तें, सोऊ है उन कीनी।
सूर उसास छाँड़ि हा हा, ब्रज जल अखियाँ भरि लीनी॥३६८॥

शब्दार्थ—आलै=आलय, घर। सालै=सालता है, पीड़ित करता है। बहौ =रक्षा करो। बिरद=यश। अवनि=धरती। लेखौ=देखते हो। निगम=वेद-शास्त्र। सोऊ=वह भी।

भावार्थ—गोपियों के प्रति कृष्ण का उपेक्षा भरा निर्मम व्यवहार ब्रज से लौटे हुए प्रेम-विभोर उद्धव को बहुत खल रहा था। इसलिए वे कृष्ण से कहते हैं कि—

हे स्वामी ! यदि तुम सचमुच करुणा के आलय (भण्डार) हो तो फिर तुमने गोपियों प्रति अपने मन को इतना कठोर क्यों बना रखा है। गोपियों के प्रति तुम्हारा ऐसा निर्मम व्यवहार देखकर मेरे मन को बहुत दुःख हो रहा है। तुम तो दीनों के स्वामी के रूप में प्रसिद्ध हो, दीनपति हो, इसलिए उन दीन-दुःखी गोपियों के प्रति अपनी कृपा भरी दृष्टि से देखकर, उनके ऊपर कृपा कर 'दीनपति' कहलाने के अपने इस यश की रक्षा करो। अब तुम मेरी ओर देखकर बातें क्यों नहीं करते, धरती की ओर क्या देख रहे हो ? अर्थात् अब तुम मेरी बात सुनकर लज्जा से धरती में क्यों गढ़े जा रहे हो, मुझसे आँखें मिलाकर बातें क्यों नहीं करते ?

वेद-शास्त्र यह कहते हैं कि तुम भक्ति करने से वश में हो जाते हो, सो उन गोपियों ने तुम्हारी भक्ति करके भी देख ली। परन्तु तुम फिर भी उनके वश में नहीं हुए और उन्हें त्याग यहाँ चले आए। सूरदास कहते हैं कि इतना कहकर उद्धव ब्रज का स्मरण कर 'हा ब्रज ! हा ब्रज !' कहते हुए लम्बी साँसें भरने लगे और प्रेमातिरेक के कारण उनके नेत्रों में जल भर आया।

विशेष—निर्गुण मार्गी ज्ञान-गर्वीले उद्धव में यह परिवर्तन दिखाना ही भ्रमर-गीत सार का अभीष्ट था। इसी को ज्ञान पर भक्ति की विजय कहा गया है। और 'भ्रमर गीत' के इन अन्तिम पदों में इस विजय को स्पष्ट होता हुआ देखा जा सकता है।

फिरि-फिरि मोपै कत दुख पावत।
अब की और चतुर कोउ पठावौ, बारन ह्वै है आवत॥
मैं परमारथ सब समुझायौ, रोष-सहित वै कोपी।
सुफलकसुत को कहो मानिहैं, आरति करिहैं गोपी॥
इतनी सुनत कमलदललोचन, खैंचि सूकर कर लीन्हो।
सूर स्याम मुसकाय जामि जिय, तरक जानि हँसि दीन्हो॥३६६॥

शब्दार्थ—मोपै=मेरे द्वारा, मेरे कारण। बारन=देर न होगी। परमारथ=पारमार्थिक ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान। कोपी=कुपित हो उठीं। सुफलकसुत=अक्रूर। कहो=कहा हुआ। आरति करिहैं=आरती उतारेंगी, खूब आदर-सत्कार करेंगी। सुकर=अपने हाथ से। तरक=तर्क, युक्ति।

भावार्थ—उद्धव एक बार ब्रज से पराजित होकर लौट आए हैं, परन्तु कृष्ण उन्हें पुनः वहाँ भेजना चाहते हैं। इस पर उद्धव कृष्ण से कह रहे हैं कि—

हे प्रभु ! तुम मुझे बार-बार वहाँ भेजकर मेरे कारण बार-बार क्यों दुःख उठाना चाहते हो ? अर्थात् गोपियों को योग-साधना सिखाने में मेरी असफलता के

कारण तुम्हें दुःखी होना पड़ता है, परन्तु फिर भी बार-बार मुझे ही वहाँ क्यों भेजना और दुःखी होना चाहते हो ? इस बार तुम किसी चतुर व्यक्ति को वहाँ भेजो। फिर देखना कि उसे वहाँ से लौटने में तनिक भी देर नहीं लगेगी। अर्थात् इस बार गोपियाँ उसे तुरन्त वहाँ से भगा देंगी और उसकी एक भी बात नहीं सुनेंगी। मैंने उन्हें सारा पारमार्थिक ज्ञान (ब्रह्म ज्ञान) समझाया था, परन्तु वे उसे सुन—रोष में भर, मुझ पर बरस पड़ीं, मुझे खूब खरी-खोटी सुनाने लगीं। मेरी सलाह तो यह है कि इस बार तुम अक्रूर को वहाँ भेजो। गोपियाँ उनकी कही बात पर विश्वास कर, उन्हें स्वीकार कर लेंगी और आरती उतार अक्रूर का खूब आदर-सत्कार करेंगी।

सूरदास कहते हैं कि उद्धव के मुँह से यह सुनते ही कमल की पंखुड़ियों जैसे सुन्दर नेत्रों वाले कृष्ण ने अपने सुन्दर हाथ से उद्धव को खींचकर अपनी भुजाओं में भर लिया, हृदय से लगा लिया। उद्धव के इस सुझाव में भरे व्यंग्य को मन-ही-मन समझ कृष्ण मुस्करा कर हँस दिए। भाव यह है कि अक्रूर को ब्रज भेजने का सुझाव देने में उद्धव का यह अभिप्राय था कि गोपियाँ अक्रूर से पहले ही खार खाए बैठी हैं, इसलिए इस बार वहाँ जाने पर अक्रूर की बुरी गत बनायेंगी। कृष्ण उद्धव के इस व्यंग्य को समझ गए थे, इसलिए हँसने लगे।

विशेष—(१) 'कमलदललोचन' में वाचक लुप्तोमा अलंकार है।

(२) उद्धव द्वारा अक्रूर को ब्रज भेजने का सुझाव अत्यन्त अर्थगर्भित, गूढ़ और मनोरंजक है।

उद्धव के प्रति कृष्ण के वचन

राग धनाश्री

ऊधो ! मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
हंससुता की सुन्दरि कगरी, अरु कुंजन की छाहीं॥
वै सुरभी, वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल-बाल सब करत कुलाहल, नाचत गहि-गहि बाहीं॥
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि-मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तनु नाहीं॥
अनंगन भाँति करी बहु लीला, जसुदा नन्द निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि-कहि पछिताईं॥४००॥

शब्दार्थ—मोहिं=मुझे। बिसरत=भूलता। हंस सुता=हंस—सूर्य, सुता—पुत्री, सूर्य की पुत्री, यमुना। कगरी=कगार, किनारा। छाहीं=छाया। सुरभी=गायें। दोहनी=दूध दुहने का बर्तन। खरिक=गोशाला, गायों का बाड़ा। जाहीं=जहाँ। सुरति=याद, स्मृति। तनु नाहीं=शरीर नहीं रह जाता, सारी सुध-बुध भूल जाती है। अनगन=अगणित। निबाहीं=निभाया था।

भावार्थ—उद्धव ने ब्रज से मथुरा लौटकर कृष्ण को ब्रजवासियों द्वारा भेजे हुए सारे सन्देश सुना दिए और उनसे ब्रज लौट जाने का आग्रह किया। उद्धव के उस आग्रह को सुन, कृष्ण उद्धव से कह रहे हैं कि—

हे उद्धव ! मुझसे ब्रज की याद नहीं भुलाई जाती। मुझे सदैव ब्रज की याद सताती रहती है। यमुना का वह सुन्दर तट और कुंजों की सघन छाया, वे गाएँ, वे उनके बछड़े और दोहनी लेकर गोशाला में जाना तथा ग्वाल-बालों का वह कोलाहल मचाना और एक-दूसरे के हाथ पकड़-पकड़कर नाचना—इन सबकी स्मृति को मैं क्षणभर के लिए भी नहीं भुला पाता। तुम्हारी यह मथुरा यद्यपि सोने की नगरी है, जहाँ मणि-मुक्ताओं के रूप में अगाध सम्पत्ति और वैभव बिखरा रहता है परन्तु फिर भी जब मुझे ब्रज में भोगे गए सुख की याद आती है तो मन वहाँ जाने के लिए उमड़ने लगता है, व्याकुल हो उठता है और मैं अपने शरीर की सारी सुध-बुध भूल जाता हूँ। मुझे अपने शरीर का तनिक भी होश नहीं रहता। ('तनु नाही' का यह अर्थ भी हो सकता है कि मेरा मन ब्रज जाने के लिए उमड़ने लगता है, परन्तु शरीर जाने को प्रस्तुत नहीं होता। क्योंकि यह शरीर यहाँ के राज-काज में इतना व्यस्त रहता है कि अपने इस कर्त्तव्य को त्याग मेरा मन ब्रज जाने को प्रस्तुत नहीं होता। यदि मैं यहाँ से चला गया तो फिर यहाँ का काम कौन सम्हालेगा ? साथ ही इससे यह भाव भी लिया जा सकता है कि मेरा मन तो ब्रजवासियों के उस स्नेह की याद कर वहाँ जाने को उत्सुक हो उठता है, परन्तु राज-सुख का अभ्यस्त बन गया यह शरीर वहाँ नहीं जाना चाहता।)

भाव यह है कि मथुरा के इस राजसुख और वैभव की तुलना में मुझे ब्रज ही अच्छा और प्रिय लगता है।

मैंने ब्रज में नाना की भाँति की अगणित लीलाएँ की थीं, बड़े ऊधम मचाए थे, परन्तु माता यशोदा और बाबा नन्द ने मुझे पूरी तरह से निभा लिया था, मेरी सारी शैतानियों को सह लिया था और कभी भी मन मैला नहीं किया था। सूरदास कहते हैं कि कृष्ण इतना कहकर, भावातिरेक के कारण कण्ठावरोध होने से मौन होकर रह गए, उनसे आगे कुछ भी नहीं बोला गया। फिर वह बार-बार इन्हीं बातों को कह-कहकर पछताते रहे कि ब्रजवासियों के ऐसे निर्मल, निश्छल स्नेह को त्याग वे मथुरा की राजनीति के प्रपंचों में क्यों आ फँसे कि जिनके कारण उनका ब्रज लौटकर जाना तक असम्भव हो उठा है।

विशेष—(१) इस पद में कृष्ण द्वारा ब्रज के प्रति अपनी भाव-भीनी श्रद्धांजलि अर्पित करा कर सूर ने भ्रमर गीत के मूल उद्देश्य को अन्तिम रूप से स्पष्ट कर दिया है। कृष्ण मथुरा के राजसी-वैभव के बीच रहते हुए भी ब्रज के उस निश्चल-निर्मल प्रेम को नहीं भुला सके थे। उन्होंने ज्ञान-गर्वीले उद्धव को इसी प्रेम की अनुभूति कराने को भेजा था। इसके माध्यम से वे निर्गुणोपासना की तुलना में निश्छल प्रेमा-भक्ति का महत्त्व स्थापित करना चाहते थे। यह पद उसी महत्ता की स्थापना कर रहा है।

(२) सम्पूर्ण पद में स्मरण अलंकार है।

कोमल भावों की अनुभूति-परक अभिव्यक्ति ने पद को अत्यन्त मार्मिक और प्रभविष्णु बना दिया है।

राग बिलावल

जो जन ऊधो मोहिं न बिसारत, तिहिं न बिसारौं एक घरी।
मेटौं जनम-जनम के संकट, राखौं सुख आनन्द भरी।।
जो मोहि भजै भजौं मैं ताकौं, यह परिमिति मेरे पाइँ परी।
सदा सहाइ करौं वा जन की, गुप्त हुती सों प्रगट करी।।
ज्यों भारत भरुही कै अंडा, राखे गज के घंट तरी।
सूरजदास ताहि डर काकौं, निसि बासर जौ जपत हरी।।४०१।।

शब्दार्थ—बिसारत=भुलाते। भरी=परिपूर्ण। भजै=भजन करता है। परिमिति=मर्यादा, सीमा। भरुही=एक छोटा-सा पक्षी। तरी=नीचे।

भावार्थ—ब्रज से लौटे प्रेम-विभोर उद्धव की ब्रज लौट चलने की प्रार्थना सुन भक्ति की महिमा की स्थापना करते हुए कृष्ण उनसे कह रहे हैं कि—

हे उद्धव ! जो लोग मुझे कभी नहीं भुलाते, मैं भी उन्हें घड़ी भर के लिए भी नहीं भुलाता। मैं अपने भक्त-जनों के जन्म-जन्मान्तर के संकटों (पापों) को दूर कर देता हूँ और उन्हें सुख और आनन्द से परिपूर्ण बनाए रखता हूँ। जो मेरा भजन करता है, मैं भी उसका भजन करता हूँ, मेरे पैरों में मर्यादा की यह बेड़ी पड़ी हुई है। अर्थात् मेरी मर्यादा ही इसमें है कि मैं सदैव अपने भक्तों का ध्यान रखूँ। मैं ऐसे भक्तों की सदैव सहायता करता रहता हूँ। मैंने आज तुम्हारे सामने अपने उस रूप को स्पष्ट कर दिया है, जिसे अभी तक तुमसे छिपाए रखा था। अर्थात् मैं प्रेम द्वारा ही वश में हो सकता हूँ, योग-साधना द्वारा नहीं।

मैं अपने भक्तों की सदैव उसी प्रकार रक्षा करता रहता हूँ, जिस प्रकार मैंने भरुही के अण्डों को हाथी के घण्टे के नीचे रखकर उसकी रक्षा की थी। उस व्यक्ति को इस संसार में किसका भय हो सकता है जो रात-दिन मेरा भजन करता रहता है।

विशेष—(१) यह 'सूर सागर' में संग्रहीत 'भ्रमर गीत-प्रसंग' का अन्तिम पद है। इस पद में कृष्ण अपना सम्पूर्ण छद्म-आवरण दूर कर भक्ति के एकान्त महत्त्व की स्थापना कर रहे हैं। और यही 'भ्रमर गीत' के रचयिता का मूल उद्देश्य था।

अनुक्रमणिका

अ

उ

ऊ

ए

ऐ

य

र